'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका चतुर्थ सुमन

(संरक्षक—श्रीमान् पं० मुरारीलालजी मेहता, कलकत्ता)

सनातनधर्मका विश्वकोष—

श्रीसनातनधर्मालोकः

(सनातनधर्मके मुख्य-विषयोंका निरूपण)

प्रणेता—

पं० दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि

[भूतपूर्व प्रिन्सिपल स० ध० सं० कालेज, मुलतान]

प्रिन्सिपल सं० हिं० महाविद्यालय, रामदल, दरीबाकलां, देहली

प्रकाशक

श्रीनारायण शर्मा शास्त्री०

श्रीसनातनधर्मालोक-ग्रन्थमाला कार्यालय

C/o रामदल, दरीबाकलाँ, देहली।

(अथवा) फस्ट बी० १६, लाजपतनगर, नई देहली।

श्रीव्यास पूर्णिमा सं० २०११] [मूल्य ४)

प्रकाशक—
श्रीनारायण शर्मा शास्त्री
श्रीसनातनधर्मालोक-ग्रन्थमाला कार्यालय,
C/o रामदल, दरीबाकलां, देहली।

प्रथम-संस्करण
मूल्य सवा चार रुपये

समर्पण

सेवा में :— (सनातनधर्म-संरक्षक—)

महनीय *सनातनधर्म* ! भगवान् पुराण-पुरुषने सृष्टिकी आदिमें ही तुम्हारी सृष्टि की थी। वेद तुम्हारी ही वन्दना करते हैं, स्मृतियाँ तुम्हें ही स्मरण करती हैं, श्रौत, गृह्य एवं धर्म-सूत्र तुम्हारा ही सेवन करते हैं। तुम्हारी ही छत्रच्छायाके आश्रयमें हम जीवन प्राप्त कर रहे हैं, तुम्हारे ही आश्रयणसे हम अपनी सत्ताको रखे हुए हैं। तुम पुराने होते हुए भी सदा नवीन हो। आज इस तुम्हारे ही देशसे, तुम्हारा ही समूलोन्मूलन करनेके लिए, तुम्हारे ही देशके निवासी, कतिपय सुधारकाभास-सम्प्रदायोंकी दुश्चेष्टाएँ दीख रही हैं। उन्हीं दुर्दान्तोंके

उपशमन-द्वारा तुम्हारी सेवा करनेके लिए इस लेखमयी पूजन-सामग्रीको तुम्हारे चरणोंमें समर्पित करता हुआ प्रार्थना करता हूँ कि—इसे स्वीकार करो, और अपने धनी-दानी या स्वभक्त सुपुत्रोंको प्रेरित करो कि—वे इस दशसहस्र पृष्ठके *'श्रीसनातनधर्मालोक'* महाग्रन्थको पूर्ण *प्रकाशित करने में हमारे* सहायक बनें, तथा सनातनधर्मकी सभाओं *एवं उनके संस्कृत-हिन्दी विद्यालय-महाविद्यालयों एवं* स्कूलोंके अधिकारियोंको प्रेरित करो कि—वे इस ग्रन्थमालाके पुष्पोंको अपनी संस्थाओंमें पाठ्य-पुस्तक रूपमें निर्धारित करें; और समर्थ-विद्वानोंको प्रेरित करो कि—वे तुम्हारी इस *ग्रन्थमालाके प्रचार* और *प्रसारमें हमारे दक्षिण-हस्त बन सकें।*

प्रार्थक, समर्पक एवं तुम्हारा तुच्छ-सेवक—

दीनानाथशर्मा सारस्वतः

C/o रामदल, दरीबाकलां, देहली।

'श्रीसनातनधर्मालोक'-ग्रन्थमालाके सर्व-प्रथम संरक्षक

श्रीमान् पं० मुरारीलालजी मेहता महोदय
(७८ विवेकानन्द रोड, कलकत्ता)

❀ श्रीः ❀

प्रारम्भिक-शब्द

'वन्दे वन्दारुमन्दारमिन्दुभूषणनन्दनम् ।
अमन्दानन्दसन्दोहबन्धुरं सिन्धुराननम् ।'

श्रीमनुजीने अपनी स्मृतिमें कहा है कि धर्मकी रक्षा की जावे, तो वह भी रक्षककी रक्षा करता है, धर्मको मारा जावे, तो वह भी मारने वालेको मारता है:—'धर्म एव एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः' (८।१५) यह बात सर्वथा सत्य है। अग्नि जब अपने सनातनधर्म, तापको छोड़ देती है, तब उसका स्वरूप भी नष्ट हो जाता है, वह भस्म हो जाती है। इसी प्रकार कोई भी जाति यदि अपने सनातन-धर्मको छोड़ देती है, तो उसका स्वरूप भी नष्ट हो जाता है। यह स्वाभाविक है। जबसे हिन्दु जातिने अपने सनातन-धर्मको छोड़ना प्रारम्भ कर दिया है, तबसे उसके स्वरूपमें भी विकृति आनी प्रारम्भ हो गई है।

अपने उस सनातन-धर्मका ज्ञान उसके साहित्यसे हुआ करता है, पर हिन्दु-जाति अपनी संस्कृत-भाषाको भुला देनेके कारण अपने उस साहित्यसे भी दूर हो चुकी है। तब उसे अपने सनातन-धर्मका ज्ञान भी कैसे हो? जब ज्ञान नहीं, तब उसका आचरण भी कैसे हो? जब आचरण नहीं, तो धर्मका संरक्षण भी नहीं। तब उसी अपने धर्मके नाशमें सहायक होनेसे जो कि हिन्दुजातिका भी स्वरूप नष्ट हो रहा है-यह अत्यन्त स्वाभाविक है। उसमें प्रोत्साहन देने वाले कई अर्वाचीन

सम्प्रदाय वा समाज भी हैं, जो कि उसके धार्मिक-सिद्धान्तों पर उपहास वा आक्षेप करके उससे अपना वह धर्म छुड़वाना चाहते हैं।

अपनी संस्कृत-भाषाका ज्ञान न रखनेसे वा ज्ञान होने पर भी अनवकाशवश प्राचीन साहित्यके अवगाहनका अवसर न होनेसे, वही हिन्दुजाति दूसरोंके दुष्प्रचारस्वरूप स्वयं भी अपने धर्मकी सत्यता-विषयमें शङ्कित हो उठी है पर बहुतोंको अपने धर्मकी जिज्ञासा हृदयसे है। यह देखकर मैंने अपने धर्म-बन्धुओंके स्वधर्मज्ञानार्थ—जैसा कि मैंने स्वयं समझा—प्राचीन-अर्वाचीन सनातनधर्म-साहित्यार्णवको मथ कर '*श्रीसनातनधर्मालोक*' नामक *दशसहस्र पृष्ठका* महाग्रन्थ संस्कृत-भाषामें तैयार किया, और उतना ही हिन्दीभाषामें भी। संस्कृतमें इसे अपनी की हुई टीकासे स्वयं प्रकाशित करनेका अभिमत सनातन-धर्मके महारथी *श्री पं० कालूरामजी शास्त्री* युक्ति-विशारद अमरौधा (कानपुर) ने प्रकट किया, और संस्कृतमें स्वयं प्रकाशित करनेके लिए अयोध्याके 'संस्कृत-कार्यालय' के उत्साही कार्यकर्ता श्री पं० कमला-कान्तजी त्रिपाठीने मांगा; पर दोनों ही महोदयोंका देहान्त-वृत्त सुनकर यह प्रकाशनकी आशा भी लुप्त होगई। तब इस ग्रन्थका अन्य विद्वानों पर क्या प्रभाव पड़ता है – इस बातकी परीक्षार्थ मैंने इसी महाग्रन्थके कई निबन्ध संस्कृत तथा हिन्दीके पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित कराये। विद्वानोंके स्वयम् आये हुए पत्रोंसे विदित हुआ कि उन्हें वे मेरे निबन्ध अतिशय रुचिकर प्रतीत हुए हैं। इससे मेरा उत्साह बढ़ा। बहुतोंने उस महाग्रन्थको मुद्रण-द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दीमें स्वयं प्रकाशन करनेका परामर्श दिया। पर इतने महाग्रन्थका प्रकाशन असम्भव प्रतीत हुआ--क्योंकि श्रीलक्ष्मीदेवीकी कृपापात्रता तो अपने पर थी नहीं। इधरसे देश-भङ्ग हो जानेसे अपना स्थान 'मुलतान' पाकिस्तानमें आ गया। उसे छोड़कर खण्डित हुए हिन्दुस्थानमें आना पड़ा। उस समय

तो अपनी जीवननिर्वाह-समस्या भी अतिशयित-जटिल हो उठी। पर परमात्माकी असीम कृपासे कुछ निर्वाहकी प्राप्ति हो गई—अध्यापनका कार्य मिल गया, *यद्यपि यह भी स्थायी नहीं है।*

अब 'श्रीसनातनधर्मालोक' के प्रकाशनका विचार उठा, पर इतने महाग्रन्थका प्रकाशन जब सम्भव न दिखाई पड़ा, तब उसे *ग्रन्थमालाके* रूपमें प्रकाशित करनेका विचार किया। पर प्रकाशनार्थ रुपया कहांसे आवे? इस पर मैं विचार कर ही रहा था कि—जायल (मारवाड़) के श्रीवेङ्कटेश्वर-संस्कृत-महाविद्यालयके मुख्याध्यापक श्रीमान् पं० *रामेश्वरजी शास्त्री* तथा सहायक श्री पं० *देवकृष्णजी शास्त्री* सारस्वतने इस विषयमें सबसे पूर्व प्रोत्साहन दिया, और रसीदबुकोंके प्रकाशनकी सम्मति दी, और स्वयं रुपया संग्रह करनेका वचन भी दिया, बादमें १०१) भेजा भी। फिर प्रथम-पुष्प निकालनेका व्ययभार * 'श्रीस्वाध्याय' के श्रद्धेय सम्पादक *श्री पं० हरदेवजी त्रिवेदी*-महोदयने स्वयं लिया।

सबसे पूर्व १००) की आर्थिक सहायता श्रीमान् पं० *रेवाशङ्करमेघजी* शास्त्री पुरोहित-महोदय मुख्याध्यापक डी० एल० संस्कृत पाठशाला बम्बईसे प्राप्त हुई और बहुत प्रोत्साहन भी उनसे प्राप्त हुआ। बल्कि इनकी सहायताका वचन तो हमें मुलतानमें ही प्राप्त हुआ कि—'आप अपना ग्रन्थ प्रकाशित करना प्रारम्भ करें और मैं सहायता करूंगा।' इस बार भी इन्होंने १००) भेज दिया है। फिर *श्री पं० ब्रह्मदत्तजी* शर्मा सहायकाध्यापक राजकीय संस्कृत-पाठशाला कादेड़ासे भी १०१) प्राप्त हुए; और इस बार भी। बल्कि इन्होंने तो कहा है कि—'मैं *यावज्जीवन 'श्रीसनातनधर्मालोक' की सहायता करता रहूँगा।'* फिर पूज्यपाद श्रीमज्जगद्गुरुश्रीशङ्कराचार्य श्रीद्वारका-शारदापीठाधीश

---

* 'श्रीस्वाध्याय' पत्र मंगाने योग्य है। मूल्य ४।) मंगानेका पता—श्रीस्वाध्यायसदन, सोलन (शिमला)।

श्री ११०८ *श्री श्री श्री अभिनवसच्चिदानन्दतीर्थ-स्वामीजी महाराजने* १०१) भेजकर हमें प्रोत्साहित किया और अन्य पीठाधीशोंके आगे एक आदर्श उपस्थित किया कि-'श्रीसनातनधर्मका सभीको तन, मन, धनसे सेवन करना चाहिये' इस बार भी श्रीचरणोंने २०) भेजे हैं। फिर सनातनधर्मके सुमधुर-व्याख्याता हमारे *श्री पं० हरिप्रसादजी शास्त्री पाराशर* संस्कृत-मुख्यशिक्षक स० ध० हाईस्कूलने जिन्होंने पठानकोटमें अपने व्याख्यानोंके प्रभावसे जनता-द्वारा विशाल सनातनधर्म-भवन बनवा दिया—१००) भेजकर हमारे शिष्यमण्डलके आगे यह आदर्श रक्खा कि सभीको इस महाग्रन्थके प्रकाशनार्थ सहायता करनी चाहिये। इन्हीं महोदयोंकी आर्थिक सहायतासे 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके द्वितीय तथा तृतीय पुष्प प्रकाशित हुए। तृतीय-पुष्पकी सहायकसूचीमें जितने नाम लिखे थे, उनमें कई महोदयोंने अपनी पूरी सहायता नहीं भेजी; तब तृतीय-पुष्प पर कुछ ऋण हो गया, जो अब तृतीय-पुष्पकी कुछ प्रतियोंके बिक जाने तथा कुछ सहायता प्राप्त हो जानेसे उतर चुका है।

सनातनधर्मके सुप्रसिद्ध-सेवक भक्त रामशरणदासजीसे २१) प्राप्त हुए, हमारे अपने श्री पं० देवेन्द्रकिशोरजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य गाजियाबादसे २५) तथा श्रीपं० श्यामसुन्दरजी शास्त्री ओ० टी० संस्कृत टीचर डी० बी० मिडल स्कूल सिवानीसे भी २५) मिल चुके हैं; शेष इनसे मिलने वाले हैं। अवशिष्ट सहायकोंके रुपये शीघ्र आजाने चाहियें-यह उन्हें प्रेरणा है। श्री पं० भवानीशङ्करजी शास्त्री संस्कृत-शिक्षक महारानी-गर्ल्स हाईस्कूल जयपुरसे तथा श्री स्वामी पुरुषोत्तम-दासजी वैष्णव यज्ञशालाकी बावड़ी,जयपुरसे भी पच्चीस-पच्चीस रुपये *अयाचित सहायता* प्राप्त हो चुकी है।

फिर श्रीमान् सेठ छोटेलालजी कानोडिया-महोदय (८७ बड़तल्ला

स्ट्रीट कलकत्ता)ने ४०) सहायता भेजी। इससे पूर्व इन्हीं श्रीमान्‌ने मेरी एक हो चुकी हुई निजी भारी आर्थिक-क्षतिकी भी पूर्ति की थी।

इस वार *श्रीमान् पं० मुरारीलालजी मेहता महोदय* (७० विवेकानन्द रोड कलकत्ता) १०००) देकर इस ग्रन्थमालाके *सर्वप्रथम संरक्षक* बने हैं—*इनका अनुकरण करके अन्य महोदयोंको भी इस ग्रन्थमालाके संरक्षक बनकर* इसके प्रकाशनमें सहायता करनी चाहिये। इन्हींकी *सहायतासे यह चतुर्थ पुष्प प्रकाशित हुआ है*। अब तक इस ग्रन्थमालामें सहायता *प्रायः ब्राह्मण-महोदयोंने* की है। *वैश्य-महोदयोंको भी* जिनका यह सबसे प्रथम कर्तव्य है—*इधर ध्यान देना चाहिये*, क्योंकि—वे हिन्दुधर्मके प्रचार-कार्यालयके कोषाध्यक्ष हैं। इस ग्रन्थमालाके संरक्षक भी उन्हीं श्रीमानोंको बनना चाहिये—जिससे यह ग्रन्थमाला शीघ्र निकल सके। कोई महोदय हमारे *निर्वाहकी समस्या* हल कर दें, तथा इस ग्रन्थमालाका व्यय भी अपने पर ले लें, तो उक्त महाग्रन्थ शीघ्र पूर्ण हो सकता है।

इस ग्रन्थमालाके हृदयतः सहायक श्री १००८ स्वामी करपात्रीजी महाराज हैं। उन्हींके मण्डलके धर्मनीति एवं राजनीतिके प्रवीण-विद्वान् श्री पं० गङ्गाशङ्करजी मिश्र (सम्पादक दैनिक 'सन्मार्ग' काशी) तथा सनातनधर्मके मर्मज्ञ-विद्वान् श्रीमान् पं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठी (प्रकाशक दैनिक 'सन्मार्ग' काशी) महोदयोंने इस ग्रन्थमालाके प्रचार-कार्यमें बहुत ही सहयोग दिया है। इनमें श्री त्रिपाठि-महोदयका तो हमें इस देशमें आनेसे ही सर्वविध सहयोग, सहानुभूति तथा सुझाव आदि प्राप्त होता रहा है। अस्तु।

तीन पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं—इनमें प्रथम तथा द्वितीय पुष्प तो लघुकाय हैं। प्रथममें 'नमस्ते' के एकपदत्व पर विचार तथा द्वितीयमें

श्री ११०८ *श्री श्री श्री अभिनवसचिदानन्दतीर्थ-स्वामीजी महाराजने* १०१) भेजकर हमें प्रोत्साहित किया और अन्य पीठाधीशोंके आगे एक आदर्श उपस्थित किया कि–'श्रीसनातनधर्मका सभीको तन, मन, धनसे सेवन करना चाहिये' इस बार भी श्रीचरणोंने २०) भेजे हैं। फिर सनातनधर्मके सुमधुर-व्याख्याता हमारे *श्री पं० हरिप्रसादजी शास्त्री पाराशर* संस्कृत-मुख्यशिक्षक स० ध० हाईस्कूलने जिन्होंने पठानकोटमें अपने व्याख्यानोंके प्रभावसे जनता-द्वारा विशाल सनातनधर्म-भवन बनवा दिया—१००) भेजकर हमारे शिष्यमण्डलके आगे यह आदर्श रखा कि सभीको इस महाग्रन्थके प्रकाशनार्थ सहायता करनी चाहिये। इन्हीं महोदयोंकी आर्थिक सहायतासे 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके द्वितीय तथा तृतीय पुष्प प्रकाशित हुए। तृतीय-पुष्पकी सहायकसूचीमें जितने नाम लिखे थे, उनमें कई महोदयोंने अपनी पूरी सहायता नहीं भेजी; तब तृतीय-पुष्प पर कुछ ऋण हो गया, जो अब तृतीय-पुष्पकी कुछ प्रतियोंके बिक जाने तथा कुछ सहायता प्राप्त हो जानेसे उतर चुका है।

सनातनधर्मके सुप्रसिद्ध-सेवक भक्त रामशरणदासजीसे २१) प्राप्त हुए, हमारे अपने श्री पं० देवेन्द्रकिशोरजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य गाजियाबादसे २१) तथा श्रीपं० श्यामसुन्दरजी शास्त्री ओ० टी० संस्कृत टीचर डी० बी० मिडल स्कूल सिवानीसे भी २१) मिल चुके हैं; शेष इनसे मिलने वाले हैं। अवशिष्ट सहायकोंके रुपये शीघ्र आजाने चाहियें–यह उन्हें प्रेरणा है। श्री पं० भवानीशङ्करजी शास्त्री संस्कृत-शिक्षक महारानी-गर्ल्स हाईस्कूल जयपुरसे तथा श्री स्वामी पुरुषोत्तम-दासजी वैष्णव यज्ञशालाकी बावड़ी.जयपुरसे भी पचीस-पचीस रुपये *अयाचित सहायता* प्राप्त हो चुकी है।

फिर श्रीमान् सेठ *छोटेलालजी कानोडिया*-महोदय (२७ बड़तल्ला

स्ट्रीट कलकत्ता)ने ५०) सहायता भेजी। इससे पूर्व इन्हीं श्रीमान्ने मेरी एक हो चुकी हुई निजी भारी आर्थिक-क्षतिकी भी पूर्ति की थी।

इस वार *श्रीमान् पं० मुरारीलालजी मेहता महोदय* (७० विवेकानन्द रोड कलकत्ता) १०००) देकर इस ग्रन्थमालाके *सर्वप्रथम संरक्षक* बने हैं—*इनका अनुकरण करके अन्य महोदयोंको भी इस ग्रन्थमालाके संरक्षक बनकर* इसके प्रकाशनमें सहायता करनी चाहिये। *इन्हींकी सहायतासे यह चतुर्थ पुष्प प्रकाशित हुआ है।* अब तक इस ग्रन्थमालामें सहायता *प्रायः ब्राह्मण-महोदयोंने* की है। *वैश्य-महोदयोंको भी* जिनका यह सबसे प्रथम कर्तव्य है—*इधर ध्यान देना चाहिये,* क्योंकि—वे हिन्दुधर्मके प्रचार-कार्यालयके कोषाध्यक्ष हैं। इस ग्रन्थमालाके संरक्षक भी उन्हीं श्रीमानोंको बनना चाहिये—जिससे यह ग्रन्थमाला शीघ्र निकल सके। कोई महोदय हमारे *निर्वाहकी समस्या* हल कर दें, तथा इस ग्रन्थमालाका व्यय भी अपने पर ले लें, तो उक्त महाग्रन्थ शीघ्र पूर्ण हो सकता है।

इस ग्रन्थमालाके हृदयतः सहायक श्री १००८ स्वामी करपात्रीजी महाराज हैं। उन्हींके मण्डलके धर्मनीति एवं राजनीतिके प्रवीण-विद्वान् श्री पं० गङ्गाशङ्करजी मिश्र (सम्पादक दैनिक *'सन्मार्ग'* काशी) तथा सनातनधर्मके मर्मज्ञ-विद्वान् श्रीमान् पं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठी (*प्रकाशक दैनिक 'सन्मार्ग' काशी*) महोदयोंने इस *ग्रन्थमालाके* प्रचार-कार्यमें बहुत ही सहयोग दिया है। इनमें श्री त्रिपाठि-महोदयका तो हमें इस देशमें आनेसे ही सर्वविध सहयोग, सहानुभूति तथा सुझाव आदि प्राप्त होता रहा है। अस्तु।

तीन पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं—इनमें प्रथम तथा द्वितीय पुष्प तो लघुकाय हैं। प्रथममें 'नमस्ते' के एकपदत्व पर विचार तथा द्वितीयमें

'नमस्ते' के निपातत्व पर विचार तथा 'श्रीसनातनधर्मालोक' महाग्रन्थ-की सम्पूर्ण विषय-सूची दी गई है। तृतीय-पुष्पसे आकार भी पुस्तकका आरम्भ किया गया है, यह पुष्प है भी महत्त्वपूर्ण, पृष्ठ-संख्या भी पर्याप्त है, और बारीक टाइप होनेसे उसमें सामग्री भी पर्याप्त है। इसमें स्त्री-शूद्रोंके वेदाधिकार पर दिये जाने वाले वेदादिशास्त्रोंके प्रमाणों पर खूब विचार किया गया है। उसमें प्रसिद्ध मन्त्र 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' के अर्थ पर तो बहुत विस्तारसे विचार किया गया है—प्रतिवादियोंकी सूक्तों पर भी आलोचना की गई है। ऐतरेय-महिदास, कवष-ऐलूष, औशिज-कक्षीवान्, सत्यकाम जाबाल, श्रीवाल्मीकि, शबरी, वसिष्ठ आदिको जो शूद्र, दासीपुत्र, वेश्यापुत्र आदि बताया जाता है—उस पर भी सम्यक् विचार प्रदर्शित किया गया है। अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण रखने वालोंके लिए तो यह तृतीय-पुष्प अवश्य ही द्रष्टव्य तथा उपादेय है। सहायता उसमें पूर्ण प्राप्त न होनेसे कागज साधारण लगाना पड़ा।

चतुर्थ पुष्प तो पाठकोंके समक्ष उपस्थित है ही। इसमें श्रीमेहताजी की सहायता प्राप्त हो जानेसे कागज़ मध्यम लगाया गया है। आदिम दो-तीन फार्मोंमें संस्कृतज्ञ-कम्पोज़ीटर नहीं मिल सके; अतः कुछ त्रुटियां रह गईं, और कुछ देरी भी बहुत हुई; आगे श्रीरघुवरदयाल तथा श्रीरामदेव नामक योग्य कम्पोज़ीटर प्राप्त हो गये, छपाई शीघ्र हुई, प्रायः शुद्ध भी हुई। इस पुष्पमें सनातनधर्मके मुख्य विषयों पर बीस निबन्धोंमें विचार किया गया है, अवान्तर-विषय भी इसमें बहुत आ गये हैं। आशा है—यह पुष्प भी पाठकोंको अतिशय-लाभप्रद प्रमाणित होगा। इसे वे क्रमसे और ध्यानसे पढ़ें। ये पुष्प प्रत्येक उपदेशक तथा कथावाचकको अपने पास अवश्य रखने चाहियें। पुस्तकालय तथा विद्यालयोंमें भी इसका संग्रह जनता तथा अध्यापकों एवं छात्रोंके

लाभार्थ नितराम् आवश्यक है। अब अग्रिम पुष्पके लिए *संरक्षक, सहायक, प्रेरक एवं प्रचारकोंकी* आवश्यकता है। जितनी शीघ्र सहायता प्राप्त होगी, उतना ही शीघ्र ग्रन्थमालाका प्रकाशन होगा। प्रेरक महोदय ध्यान दें।

अमूल्य कोई भी न ले

हमें इस ग्रन्थमालामें जो भी साहाय्य वा मूल्य प्राप्त होता है; वह सब आगेके पुष्पोंके प्रकाशनार्थ जमा कर लिया जाता है; उसे अपने *काममें नहीं लगाया जाता; अतः कोई भी महोदय इन ग्रन्थोंको बिना मूल्य न लें।* यदि अधिक-सहायता कोई महोदय न कर सकें; तो ग्रन्थका मूल्य अवश्य दें, और इन ग्रन्थोंके *प्रचारमें अवश्य सहायक बनें।* संरक्षकका एक-हज़ार रुपया नियत है, और सहायकोंका न्यूनसे न्यून १००) रुपया है, यह सबको स्मरण रखना चाहिये। संरक्षक-*महोदयका चित्र भी प्रकाशित होगा और सब प्रकाशनों पर नाम भी। स्थायी ग्राहकोंके लिए यह सुविधा रखी गई है कि—वे २) जमा करा* दें, फिर उन्हें सभी पुष्प पौने मूल्य पर दिये जावेंगे। उन्हें सब प्रकाशित पुष्प लेने पड़ेंगे।

इस पुष्पमें जिन महाशयोंके सनातनधर्म-विरुद्ध मतको आलोचित किया है, उसमें कोई ईर्ष्या-द्वेष कारण नहीं, किन्तु शास्त्रका वास्तविक अभिप्राय-प्रदर्शन ही वहाँ मुख्य- लक्ष्य है। फिर भी यदि किसी महोदयका मनः-क्षोभ हुआ हो, तो वे हमारे हृदयको जानते हुए हमें क्षमा करेंगे। विचारमें जो त्रुटि रह गई हो, विद्वान् हमें उसकी सूचना दें, इन शब्दोंके साथ यह भूमिका समाप्त है।

श्रीव्यासपूर्णिमा
गुरुवार
सं० २०११

निवेदकः—
दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वतः विद्यावागीशः,
C/o रामदल, दरीबाकलां, देहली

'नमस्ते' के निपातत्व पर विचार तथा 'श्रीसनातनधर्मालोक' महाग्रन्थ-की सम्पूर्ण विषय-सूची दी गई है। तृतीय-पुष्पमें आकार भी पुस्तकका प्रारम्भ किया गया है, यह पुष्प है भी महत्त्वपूर्ण, पृष्ठ-संख्या भी पर्याप्त है, और बारीक टाइप होनेसे उसमें सामग्री भी पर्याप्त है। इसमें स्त्री-शूद्रोंके वेदाधिकार पर दिये जाने वाले वेदादिशास्त्रोंके प्रमाणों पर खूब विचार किया गया है। उसमें प्रसिद्ध मन्त्र 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' के अर्थ पर तो बहुत विस्तारसे विचार किया गया है—प्रतिवादियोंकी सूझों पर भी आलोचना की गई है। ऐतरेय-महिदास, कवष-ऐलूष, औशिज-कक्षीवान्, सत्यकाम जाबाल, श्रीवाल्मीकि, शबरी, वसिष्ठ आदिको जो शूद्र, दासीपुत्र, वेश्यापुत्र आदि बताया जाता है—उस पर भी सम्यक् विचार प्रदर्शित किया गया है। अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण रखने वालोंके लिए तो यह *तृतीय-पुष्प अवश्य ही द्रष्टव्य तथा उपादेय* है। सहायता उसमें पूर्ण प्राप्त न होनेसे कागज साधारण लगाना पड़ा।

चतुर्थ पुष्प तो पाठकोंके समक्ष उपस्थित है ही। इसमें श्रीमेहताजी की सहायता प्राप्त हो जानेसे कागज़ मध्यम लगाया गया है। आदिम दो-तीन फार्मोंमें संस्कृतज्ञ-कम्पोज़ीटर नहीं मिल सके; अतः कुछ त्रुटियां रह गईं, और कुछ देरी भी बहुत हुई; आगे *श्रीरघुवरदयाल* तथा *श्रीरामदेव नामक योग्य कम्पोज़ीटर प्राप्त हो गये, छपाई शीघ्र हुई,* प्रायः शुद्ध भी हुई। इस पुष्पमें सनातनधर्मके मुख्य विषयों पर बीस निबन्धोंमें विचार किया गया है, अवान्तर-विषय भी इसमें बहुत आ गये हैं। आशा है—यह पुष्प भी पाठकोंको अतिशय-लाभप्रद प्रमाणित *होगा*। इसे वे क्रमसे और ध्यानसे पढ़ें। ये पुष्प प्रत्येक उपदेशक तथा कथावाचकको अपने पास अवश्य रखने चाहियें। पुस्तकालय तथा विद्यालयोंमें भी इसका संग्रह जनता तथा अध्यापकों एवं छात्रोंके

लाभार्थ नितराम् आवश्यक है। अब अग्रिम पुष्पके लिए संरक्षक, सहायक, प्रेरक एवं प्रचारकोंकी आवश्यकता है। जितनी शीघ्र सहायता प्राप्त होगी, उतना ही शीघ्र ग्रन्थमालाका प्रकाशन होगा। प्रेरक महोदय ध्यान दें।

अमूल्य कोई भी न ले

हमें इस ग्रन्थमालामें जो भी साहाय्य या मूल्य प्राप्त होता है; वह सब आगेके पुष्पोंके प्रकाशनार्थ जमा कर लिया जाता है, उसे अपने काममें नहीं लगाया जाता; अतः कोई भी महोदय इन ग्रन्थोंको बिना मूल्य न लें। यदि अधिक-सहायता कोई महोदय न कर सकें; तो ग्रन्थका मूल्य अवश्य दें, और इन ग्रन्थोंके प्रचारमें अवश्य सहायक बनें। संरक्षकका एक-हजार रुपया नियत है, और सहायकोंका न्यूनसे न्यून १००) रुपया है, यह सबको स्मरण रखना चाहिये। संरक्षक-महोदयका चित्र भी प्रकाशित होगा और सब प्रकाशनों पर नाम भी। स्थायी ग्राहकोंके लिए यह सुविधा रखी गई है कि—वे २) जमा करा दें, फिर उन्हें सभी पुष्प पौने मूल्य पर दिये जावेंगे। उन्हें सब प्रकाशित पुष्प लेने पड़ेंगे।

इस पुष्पमें जिन महाशयोंके सनातनधर्म-विरुद्ध मतको आलोचित किया है, उसमें कोई ईर्ष्या-द्वेष कारण नहीं, किन्तु शास्त्रका वास्तविक अभिप्राय-प्रदर्शन ही वहाँ मुख्य- लक्ष्य है। फिर भी यदि किसी महोदयका मनःक्षोभ हुआ हो, तो वे हमारे हृदयको जानते हुए हमें क्षमा करेंगे। विचारमें जो त्रुटि रह गई हो, विद्वान् हमें उसकी सूचना दें, इन शब्दोंके साथ यह भूमिका समाप्त है।

श्रीव्यासपूर्णिमा
गुरुवार
सं० २०११

निवेदकः—
दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वतः विद्यावागीशः,
C/0 रामदल, दरीयाकलां, देहली

'श्रीसनातनधर्मालोक (३)' के सम्बन्धमें

विद्वानोंके कुछ भाव

(१) सनातनधर्मके बिखरे हुए एक-एक विषयको शृङ्खलाबद्ध एक पुस्तकमें संगृहीत कर उसे विस्तृत-व्याख्याके साथ धार्मिक-जनताके समक्ष रखनेके ध्येयसे विद्वद्वर्य पं० दीनानाथजी शर्मा शास्त्रीने 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका प्रकाशन प्रारम्भ किया है। इस मालाका तृतीय-पुष्प उक्त पुस्तक है। पण्डितजीने इस ग्रन्थमें स्त्री-शूद्रोंके वेदाधिकारानधिकार विषय पर शास्त्रीय एवं लौकिक दृष्टिसे साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। साथ ही महिदास, कवष, जाबाल, वसिष्ठ, व्यास, पाराशर, सूत, शबरी, वाल्मीकि आदि की जातीय-उत्पत्तिके सम्बन्धमें सप्रमाण विश्लेषण किया है, ऐसे उत्तम ग्रन्थसे जनता अवश्य लाभ उठावेगी—ऐसी पूर्ण आशा है। एतदर्थ वह उक्त ग्रन्थमालाके प्रत्येक पुष्पको खरीदकर धार्मिक-सत्साहित्यके प्रकाशनार्थ ग्रन्थमालाको अर्थ-साहाय्य प्रदान करे। *श्री शास्त्रीजी द्वारा लिखित उक्त-ग्रन्थ अत्यन्त गवेषणापूर्ण, पठनीय, विचारणीय एवं संग्रहणीय है।*

—देवेन्द्र शर्मा शास्त्री, सम्पादक श्रीवेङ्कटेश्वर—समाचार, बम्बई (८८।४०) ४-२-५४।

☆

(२) 'श्रीशारदापीठाधीश्वर अने श्रीकरपात्रीजी महाराज आदि आचार्यों अने महात्माओं द्वारा मुक्तकंठथी प्रशंसित आ एकज ग्रन्थना अवलोकनथी धर्म-बाबतनी समस्त शंकाओंनु समाधान थइ जशे। *एना-कर्ता सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० दीनानाथ शास्त्री सारस्वत छे।* देश-विभाजनथ्या ते ओ मुलतान वादना सनातन-धर्म संस्कृत-कालेजना अध्यक्ष हता। विभाजनथ्या बाद देहलीना हिन्दी संस्कृत-कालेजना अध्यक्ष थया छे। *ते ओ श्रीदयानन्दजी मत-खण्डन करवामां घणाथ होशियार विद्वान् छे।*

ते ओ ए महान् ग्रन्थ छे। ग्रन्थमाला रूपमां आ महाग्रन्थ-प्रकाश शुरू थई गया छे। *आ पुस्तक घणुज उपादेय हो वायी। दरेक व्यक्ति तथा पुस्तकालयों, विद्यालयों माटे संग्राह्य छे।*

—श्रीमहाबलभट्ट वेदान्तशिरोमणि, सम्पादक 'नवभारती' (गुजराती) राजकोट (सौराष्ट्र) (६।११।५४)।

★

(३) परम पूज्यपाद, भारतकी महान् विभूति श्री पं० दीनानाथजी शास्त्री सनातनधर्मी जगत्के माने हुए अद्भुत रत्न हैं। ···मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि—यह २० करोड़ हिन्दुओं पर भगवान्की असीम कृपा है कि जो आप-जैसा अभूतपूर्व, महान् धुरन्धर-विद्वान् प्राप्त हुआ है। ···*आपके खोजपूर्ण, शास्त्रीय* लेखोंको पाकर नास्तिकोंकी बोलती बन्द हो जाती है, और काशी तकके बड़े-बड़े विद्वान् तक आपकी प्रशंसा करते नहीं अघाते और आपकी धाक मानते हैं।···*हमारी प्रत्येक सनातनधर्मीमात्रसे प्रार्थना है* कि वह शास्त्रीजी महाराजके ग्रन्थोंको *अवश्य ही पढ़ें और तन, मन, धनसे सहायता कर महान् पुण्यके भागी बनें।*

—भक्त रामशरणदास, पिलखुआ, ७-१-५३

★

(४) 'श्रीपूज्य शास्त्रीजीके *प्रमाण, तर्क और लेखशैलीमें तो किसी प्रकारकी न्यूनता ही नहीं रहती।* क्यों न हो ? आपकी विद्वत्ता ही सर्वतोमुखी है। भाषा आपकी बड़ी गम्भीर और शिष्ट होती है। परन्तु प्रमाण और तर्ककी प्रबलता और निःशेषतासे विरोधीको आप पीस डालते हैं। *आपके लेखोंसे बड़ी ज्ञानवृद्धि और आनन्द मिलता है।...*

—विष्णुदत्त शर्मा बी० ए० बालचन्द पाड़ा, बूंदी (राजपूताना)

★

(५) 'विद्वन्मार्तण्ड, शास्त्रार्थमहारथी श्रीशास्त्रीजीसे प्रणीत 'श्रीसनातनधर्मालोक' रेय पुष्प दत्तचित्त होकर पढ़ा, अति-प्रसन्नता हुई। *आपके लेख रत्नतुल्य, अकाट्य, सयुक्तिक रहते हैं।* ...आप जैसे समर्थ-विद्वानोंका मूल्य भविष्यमें अवश्य होगा। आपके लेख और पुस्तकोंका खण्डन करनेकी शक्ति आधुनिकोंमें नहीं है। आपने सनातनधर्मकी बड़ी भारी सेवा की है।

—रेवाशङ्कर मेघजी शास्त्री, मुख्याध्यापक डी० एल० संस्कृत पाठशाला, १२९ गुलालवाड़ी बम्बई ४ (१४।६।५३)

★

एतदादिक अयाचित सम्मतियां बहुत अधिक आई हुई हैं, पर स्थानाभावसे प्रकाशित नहीं की जा सकीं। *'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थ-माला स्वयं खरीद कर तथा दूसरोंसे खरीदवाकर सनातनधर्मके प्रचारमें तथा अग्रिम पुष्पोंके विकासमें सहयोग दें।*

निवेदक—
नारायण शर्मा सारस्वत शास्त्री०
(प्रकाशक)

विषय-सूची

[इन विषयोंमें सनातनधर्मके अवान्तर-विषय भी बहुतसे आ गये हैं। स्थान न होनेसे उनका पृथक् निर्देश नहीं किया जा सकता]

पुष्पोंका परिचय

प्रथम पुष्प—इसमें श्रीरामेश्वरानन्दजी द्वारा मानी हुई 'नमस्ते' की एकपदता आलोचित की गई है, मूल्य ≈)।

द्वितीय पुष्प—इसमें 'नमस्ते' के निपात होनेकी आलोचना की गई है। फिर 'श्रीसनातनधर्मालोक' महाग्रन्थकी सम्पूर्ण विषय-सूची तथा उस पर प्रसिद्ध-विद्वानोंकी सम्मतियां भी दी गई हैं। मूल्य ।)

तृतीय पुष्प—इसमें स्त्री एवं शूद्रोंके वेदाधिकार पर विचार किया गया है। 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' का वास्तविक अर्थ बताकर हारीतकी ब्रह्मवादिनी एवं सद्योवधू, गोभिल सूत्रका 'यज्ञोपवीतिनी' शब्द, शतपथका 'दुहिता मे पण्डिता जायेत' पश्नजना मम होत्रं जुषध्वम्, वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्, ब्रह्मचर्येण कन्या, यवनोंको वेद पढ़ाना, वेदकी ऋषिकाएं इत्यादि बहुत विषयों पर सर्वाङ्गीण विवेचना दी गई है, जिसे पढ़कर विद्वानोंका हृदय खिल उठेगा। लौकिक-दृष्टिकोण भी साथ रख दिया है। साथ ही ऐतरेय महिदास, ऐलूष कवष, कक्षीवान्, पौराणिक सूत, शबरी, श्रीवाल्मीकि आदि शूद्र थे या अशूद्र—इस पर भी स्पष्ट विचार दिखाया गया है। अनुसन्धानके दृष्टिकोण रखने वाले सभी विद्वानों, उपदेशकों तथा शास्त्रार्थी पण्डितोंको यह पुष्प अवश्य मंगाना चाहिये। पृष्ठसंख्या साढ़े तीनसौके लगभग। इसके मंगाने पर प्रथम तथा द्वितीय पुष्प अमूल्य भेजे जाते हैं। मूल्य ३)

चतुर्थ पुष्प—यह आपके समक्ष है। मूल्य ४)

मंगानेका पता—

श्रीदीनानाथ शास्त्री सारस्वतः

C/o रामदल, दरीबा-कलां, देहली।
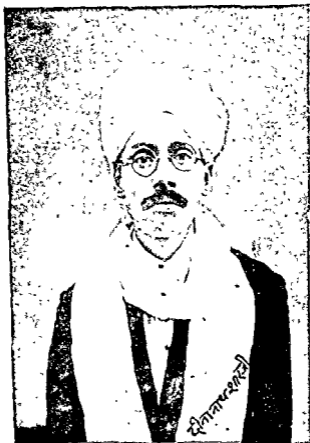
'श्रीसनातनधर्मालोक'-प्रणेता

श्रीदीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वतः
विद्यावागीशः, विद्याभूषणः, विद्यानिधिः,
प्रिंसिपल सं० हिं० महाविद्यालय, रामदल, दरीबाकलां, देहली

श्रीसनातनधर्मालोकः (४)

हिन्दु-धर्मके मूल सूत्र

अथवा

संक्षिप्त सनातन धर्म

'धरति विश्वम् इति धर्मः'। जो जगत्को धारण करे, वह धर्म होता है। 'धृञ् धारणे' (भ्वा० उ० से०) धातुको 'अर्तिस्तुसुहुसृधृ' (१।१४०) इस उणादि सूत्रसे मन् प्रत्यय होकर 'धर्म' शब्द बनता है। 'सना-सदा भवः सनातनः' जो सदा रहे वह 'सनातन'। 'सायं-चिरं प्राह्णे-प्रगे-अव्ययेभ्यः ट्युट्युलौ तुट् च' (पा० ४।३।२३) इस सूत्रसे 'सना' शब्दसे ट्युल् प्रत्यय होकर अनुबन्धका लोप 'युवोरनाकौ' (पा० ७।१।१) इस सूत्रसे 'यु' को 'अन' आदेश और तुट्का आगम होकर 'सनातन' शब्दकी सिद्धि होती है। 'सनातनश्चासौ धर्मश्च'—इस कर्मधारय समासके विग्रहमें 'सनातन धर्म' शब्द बनता है—जिसका अर्थ है सदा होने वाला धर्म। अथवा सनातनका धर्म। 'सनातन' परमात्मा को कहते हैं। उसका धर्म। जैसे कि '*सनातनमेनमाहुः*' (अथर्व० शौ० सं० १०।८।२३) 'यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै *सनातनम्*' (अ० १०।८।२२) 'त्वमव्ययः *शाश्वतधर्म*-गोप्ता *सनातनस्त्वं* पुरुषो मतो मे' (भगवद्गीता ११।१८) 'त्वत्तः *सनातनो धर्मो* रक्ष्यते तनुभिस्तव' (श्रीमद्भागवत ३।१६।१८) '*सनातनस्य धर्मस्य* मूलमेतत् सनातनम्' (महाभारत आश्वमेधिक (९१।३४) इत्यादि इस विषयमें बहुत प्रमाण हैं; जो भिन्न निबन्धमें बताये जायँगे। जो शक्ति पृथिवीमें

व्यापक होकर उसके पृथिवीत्व की; जलमें स्थित होकर उसके जलत्व की, तेज आदिमें स्थित होकर उसके तेजस्त्व आदिकी रक्षा करती है; जिसके कारणसे सूर्य-चन्द्र आदि अपने स्थानमें ठहरे हैं; जो शक्ति जीवको निम्नकोटिसे उठा कर क्रमसे उन्नत करती हुई उच्चतम कोटिमें ले जाती है, वह शक्ति धर्म है।

(१)सनातन धर्म—जो धर्म हिन्दु जातिमें अनादि काल से प्रवृत्त है; जिसके कारणसे यह जाति जीती है; आगे भी जो धर्म अनन्त काल तक रहेगा; वह सदाका धर्म सनातनधर्म है। इस पृथिवीमें कई धर्माभास उत्पन्न होते हैं; परन्तु कृत्रिम होनेसे वे फिर विनष्ट हो जाया करते हैं; क्योंकि 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' (गीता २।२७) उत्पन्न हुएका नाश प्राकृतिक है। पारसीधर्म जरदुष्ट्र द्वारा ईरान में, बौद्ध धर्म गौतम बुद्ध द्वारा कपिलवस्तु में, जैन धर्म महावीर स्वामी द्वारा वैशालीमें, ईसाई धर्म ईशु द्वारा यूरोपमें, इस्लाम धर्म मुहम्मद द्वारा अरब देशमें, कबीर मत कबीर द्वारा काशीमें, खालसा सम्प्रदाय गुरु नानक द्वारा ननकाना (पंजाब) में, ब्रह्मसमाज राजा राममोहनद्वारा कलकत्तामें, देवसमाज सत्यानन्द द्वारा उत्तर प्रदेशमें, आर्य समाज सम्प्रदाय स्वामी दयानन्द द्वारा टंकारा ग्राम में, इस प्रकार प्रार्थना समाज आदि बहुतसे सम्प्रदाय हैं—जिनका तिथि-संवत् निश्चित है; अतएव यह सब आदिमान् हैं; पर सनातन धर्मका कोई पुरुष जन्मदाता नहीं। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी होती है। सनातन-धर्मका किसी विशेष तिथिमें जन्म नहीं हुआ; इस कारण वह अनादि और अनन्त है। यह धर्म भगवान्‌की शक्ति है। जब भगवान् सनातन हैं; तब यह धर्म भी सनातन एवं स्वाभाविक है। इसके ह्रास करने पर हिन्दु जाति स्वयं क्षीण और अपने स्वरूपसे च्युत हो सकती है। उस सनातन धर्मका यद्यपि

सर्वांशमें वर्णित नहीं हो सकता; तथापि उसे इस निबन्धमें सूत्र रूपसे वर्णित किया जाता है। इसीका भाष्य-स्वरूप हमारा दश सहस्र पृष्ठका 'श्री सनातनधर्मालोक' महाग्रंथ है।

(२) सनातनधर्मका साहित्य—सनातनधर्मके मुख्य ग्रन्थ वेद हैं। वेद संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदोंका समुच्चय हुआ करता है। फिर आयुर्वेद आदि उपवेद हैं। व्याकरण आदि वेदके अंग होते हैं। वेदके सांख्य आदि उपांग हुआ करते हैं। इसीमें धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास, दर्शन आदि अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस समस्त साहित्यसे सनातन धर्मकी व्याख्या हो जाती है।

(३) वेद—वेद भगवान्का वाक्य है और अनादि है, इस कारण अपौरुषेय है। ब्रह्माने अग्नि, वायु, सूर्य इन तीन देवताओं द्वारा वेदको दुहा। कई सहस्र ऋषियोंने प्रलयके अवसानमें समाधि द्वारा भिन्न भिन्न मन्त्र रूपसे प्रकट किया। श्री वेदव्यासने उस एक वेदको यज्ञोपयुक्त चार भेदसे वेदका संकेत देख कर ही विभक्त किया।

वेद के दो भाग हैं—एक मन्त्र भाग, दूसरा ब्राह्मण भाग। मन्त्र भाग चार प्रकार का है—ऋक्, यजुः, साम और तीनों का समुच्चय। ऋचाओं (पद्यमय मन्त्रों) का संग्रह ऋग्वेद है। प्रायः यजुओं (गद्यमय मन्त्रों) का संग्रह यजुर्वेद है। प्रायः सामों (गीतिमय मन्त्रों) का संग्रह सामवेद है। ऋक् (पद्य), यजुः (गद्य), साम (गीति) तीनों प्रकारके मन्त्रोंका संग्रह अथर्ववेद है।

जैसे—वेद ऋग्वेदादिसे पृथक् ग्रन्थरूपसे कोई नहीं मिलता; वैसे ही ऋग्वेद आदि भी संहिता एवं ब्राह्मणोंसे पृथक् नहीं मिलते। उसमें ऋग्वेदकी संहिताएं २१ हैं, यजुर्वेद की १०१ हैं, सामवेद की १००० एक सहस्र हैं, और अथर्ववेद की संहिताएं ९ हैं।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि ऋग्वेदादि संहिता आदिसे अलग नहीं मिलते। ऋग्वेद कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं, ऋग्वेदकी संहिताएं ही मिलकर वा भिन्न-भिन्न होकर ऋग्वेद हैं, अर्थात् ऋग्वेद की २१ संहिताओंमें कोई भी संहिता ऋग्वेद है। आज कल उसकी संहिताओं में एक शाकल संहिता ही मिलती है, अतः वह ऋग्वेदकी संहिता होने से ऋग्वेद है। यजुर्वेद कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता; उसकी संहिताएं ही यजुर्वेद हैं। यजुर्वेद के दो भाग हैं-एक कृष्ण, दूसरा शुक्ल। संहिता और ब्राह्मणके मिले-जुले होनेसे दुर्वेयतावश कृष्ण होता है, और दूसरा ब्राह्मणसे भिन्न शुद्ध होने से शुक्ल कहलाता है। कुछ थोड़े से ब्राह्मण इसमें भी हैं, जो विख्यात हैं। कृष्ण यजुर्वेद की ८६ संहिता हैं, उनमें आजकल १ तैत्तिरीय संहिता, २ काठकसंहिता, ३ मैत्रायणी ४ कठकपिष्ठल संहिता—यह चार संहिता मिलती हैं। शुक्ल यजुर्वेद की १५ संहिताएं हैं। उनमें आजकल १ काण्व संहिता, २ वाजसनेयी संहिता मिलती है। इस प्रकार यजुर्वेदकी सभी १०१ संहिताओं में छः संहिताएं मिलती हैं। यह सभी यजुर्वेदकी संहिताएं होनेसे यजुर्वेद हैं। संहिता एवं ब्राह्मणोंसे पृथक् कोई भी वेद भूमण्डलमें नहीं मिलता—यह पहले संकेत दिया हो जा चुका है।

इस प्रकार सामवेद भी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता; उसकी संहिताएं ही सामवेद है। सामवेदकी एक सहस्र संहिताओं में १ कौथुम संहिता, २ जैमिनीय संहिता-यह दो संहिता पूर्ण और राणायनीय संहिता अंशतः मिलती हैं। सामवेद की संहिता होने से यह सामवेद हैं। इस प्रकार अथर्ववेद भी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ कहीं से नहीं मिलता; अथर्ववेदकी संहिताएं ही अथर्ववेद हैं। उसकी ६ संहिताओं में १ शौनकी संहिता, २ पैप्पलाद संहिता यह दो संहिता मिलती हैं। अथर्ववेदकी संहिता होने से यह अथर्ववेद है। सबकी कुल पर-

म्परासे प्रचलित चारों वेदोंकी एक-एक ही संहिता हुआ करती है; जिस कुलको वह नहीं मिलती; वह प्राप्त संहिताको ही स्वीकृत करता है।

इस प्रकार यह ११३१ संहिताएं ही चारों वेदोंका *मन्त्र भाग* है। संहिता और शाखा एक ही बात है, इन्हें चरण भी कहा जाता है। वेदका दूसरा भाग है *ब्राह्मण भाग*। यह भी उतना ही हुआ करता है। जितनी संहिता, उतने ही ब्राह्मण। ब्राह्मण भाग संहिताका विनियोग एवम् अर्थ रूप होता है। शब्द और अर्थका सम्बन्ध नित्य हुआ करता है। इसलिए ११३१ संहिताओंके ब्राह्मण भी उतने ही होते हैं। ऋग्वेदके आजकल ऐतरेय, कौशीतकी, शाङ्खायन आदि *ब्राह्मण* मिलते हैं। ऋग्वेदकी शाकल्य संहिताका ब्राह्मण नहीं मिलता। ऐतरेय ब्राह्मण तो ऋ० की आश्वलायन संहिताका मिलता है; परन्तु वह संहिता उपलब्ध नहीं। शाङ्खायनीय संहिता तो नहीं मिलती; पर उसका 'शाङ्खायन ब्राह्मण' मिलता है। यजुर्वेदकी वाजसनेयी सहिता का शतपथ ब्राह्मण और काण्व संहिताका शतपथ-ब्राह्मण भी मिलता है। कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहिताका तैत्तिरीय ब्राह्मण भी प्राप्त है; अन्य यजुर्वेद सहिताओंके ब्राह्मण उपलब्ध नहीं।

सामवेदकी कौथुमी संहिताका 'ताण्ड्य महाब्राह्मण' मिलता है, जैमिनीयसंहिता का जैमिनिब्राह्मण भी मिलता है। इस प्रकार षड्विंश तथा दैवत ब्राह्मण भी मिलते हैं, पर यह गवेषणीय है कि वे सामवेद की किस-किस संहिता के हैं। अन्य संहिता तथा ब्राह्मण उपलब्ध नहीं।

वेद का अन्य भाग होता है उपनिषद् और आरण्यक। उसमें मन्त्रभाग की भी कई उपनिषदें तथा आरण्यक होते हैं, ब्राह्मणभागके भी। सब ११३१ मन्त्रोपनिषद् और ११३१ ब्राह्मणोपनिषद् होते हैं। इस

प्रकार ११३१ मन्त्रारण्यक होते हैं और ११३१ ब्राह्मणारण्यक होते हैं। इनमें आजकल ११२ उपनिषदें मिलती हैं, तथा कुछ आरण्यक मिलते हैं; पर थोड़ोंके अतिरिक्त इसका पता नहीं चलता कि वे वेद की किस-किस संहिता वा किस-किस ब्राह्मणके हैं। ईशोपनिषद् यजुर्वेद की काण्व संहिताकी भी मिलती है, वाजसनेयी संहिताकी भी। साम-वेदकी कौथुमीसंहिता का आरण्यक उसके साथही पाया जाता है। तैत्ति-रीय संहिताका तैत्तिरीयारण्यक भी मिलता है। एतदादिक वर्णन 'सङ्क्षिप्त वेद वेदाङ्गपरिचय' नामक भिन्न निबन्धमें देंगे। *यह सारा* साहित्य वेद है। वेदका विषय यज्ञ है। सनातन धर्मके सब नियम और सब रहस्य इस सम्पूर्ण वेदमें वर्णित हैं। वेद भगवद्-वाणी है। वेदके तीन काण्ड हैं—१ कर्मकाण्ड, २ उपासनाकाण्ड, ३ ज्ञान काण्ड। कर्मकाण्ड प्राय: ब्राह्मणभागमें है, उपासनाकाण्ड प्राय: मन्त्र-संहिताभाग में है, ज्ञानकाण्ड प्राय: आरण्यक-उपनिषद् भागमें है। *इति वेदाः।*

(२) उपवेद:—जैसे वेद चार प्रकारका है, वैसे उपवेद भी चार प्रकारका है-१ आयुर्वेद, २ धनुर्वेद, ३गान्धर्ववेद, ४अर्थवेद अथवा स्थापत्यवेद। उसमें १ आयुर्वेद अथर्ववेदसे सम्बन्ध रखता है, कई लोग इसे ऋग्वेद का उपवेद मानते हैं २ धनुर्वेद यजुर्वेदका उपवेद कहा जाता है। ३ सामवेदका उपवेद गान्धर्ववेद है। ऋग्वेदका *उपवेद अर्थवेद है, कई लोग इसे अथर्ववेदका उपवेद कहते हैं।*

१ आयुर्वेद में शारीरिक व्याधियोंका दूर करना, शारीरशास्त्र, दैवोपचार, औषधोपचार,व्रणादिच्छेदन, ओषधिका सूचीवेध (इन्जेक्शन) द्वारा अथवा तबले आदिके द्वारा भीतर प्रवेश कराना इसमें वर्णित किया गया है। इस आयुर्वेदमें निघण्टु तथा धन्वन्तरि आदि द्वारा *प्रकटित सुश्रुत, चरक, भेल, हारीत, वाग्भट आदियों की संहिताएं हैं।*

२ धनुर्वेदमें युद्ध विद्याका विषय, बाण-विद्या तथा अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्र वर्णित हैं, इसके आविष्कारक विश्वामित्र आदि ऋषि हैं। इसकी भी संहिताएँ हैं, जो कि मिलती नहीं। ३ *गान्धर्ववेद* में अनेक तरहके स्वर, गान आदिका वर्णन है। नारद आदियोंने इनकी संहिताओं को प्रकट किया है। ४ *अर्थवेद* या *स्थापत्य* वेदमें अनेक प्रकारके यान या विमान आदियोंका, भूगर्भ आदि विद्याओंका, तथा राजनीति आदि साधनों का, वास्तुविद्या तथा वस्त्र-वयनादिका वर्णन है। इसकी भी विश्वकर्मा, त्वष्टा, मय आदिने संहिताएँ प्रकट की हैं। इसीमें राजनीतिके प्रतिपादक अर्थनीति शास्त्रों का अन्तर्भाव है। *इति उपवेदाः।*

(५) **वेदाङ्ग**—वेदके छः अङ्ग होते हैं। इनके बिना वेद का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए पहले वेदाङ्ग पढ़ने पड़ते हैं। १ शिक्षा, २ कल्प, ३ व्याकरण, ४ निरुक्त, ५ छन्द ६ ज्योतिष यह वेद के छः अङ्ग हैं।

१ शिक्षा—ऋग्वेदकी पाणिनीय शिक्षा, २ कृष्ण-यजुर्वेदकी व्यासशिक्षा, शुक्लयजुर्वेदकी याज्ञवल्क्य आदिकी शिक्षा, सामवेद की गौतमी आदि शिक्षाएँ, अथर्ववेद की माण्डूकी शिक्षा आदि हैं। इनमें वेदके वर्णोच्चारण आदिका प्रकार सिखलाया गया है। पाणिनि, याज्ञवल्क्य आदि इनके आविष्कारक हैं। इसमें यह अन्वेष्टव्य है कि किस-किस संहिताकी कौन-कौन सी शिक्षा है।

२ कल्प—इसमें वेदकी भिन्न-भिन्न संहिताओंके मन्त्रों का विनियोग, तथा यज्ञविधियाँ एवम् अनुष्ठान-विशेष बनाये गये हैं। इनमें नक्षत्रकल्प, वेदकल्प, संहिताकल्प, आङ्गिरसकल्प, शान्तिकल्प आदि ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त इसमें आश्वलायन, शाङ्खायन (ऋग्वेद) पारस्कर (शुक्लयजुर्वेद) आपस्तम्ब, मानव, हिरण्यकेशी, बोधायन

(कृष्णयजुर्वेद) जैमिनि, वैखानस, गोभिल (सामवेद) कौशिक (अथर्ववेद) द्राह्यायण, अग्निवेश, भारद्वाज आदि गृह्यसूत्र, बोधायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ़, आश्वलायन, आदि श्रौतसूत्र अन्तर्भूत हो जाते हैं। यह भिन्न-भिन्न संहिताके मन्त्रोंका विनियोग तथा कर्तव्यता बताते हैं। इसमें उन-उन संहिताओंके मन्त्रोंके देवता-ऋषि आदि ज्ञानमें बृहद्देवता, आर्षानुक्रमणी, छन्दोनुक्रमणी, सर्वानुक्रमणी आदि ग्रन्थ भी सहायक होते हैं। यह भिन्न-भिन्न संहिताओंके भिन्न-भिन्न होते हैं।

३ व्याकरण—व्याकरणमें वैदिक और लौकिक शब्दोंकी सिद्धि और स्वर-परिचय बताये गये हैं। इनमें पाणिनीय व्याकरण प्रसिद्ध है। प्रत्येक शाखाका व्याकरण प्रातिशाख्य नाम से प्रसिद्ध है इसीमें अन्तर्भूत होता है। अन्य ऐन्द्र, शाकल्य, स्फोटायन आदिके व्याकरण अस्त हो गये हैं। अष्टाध्यायी, धातुपाठ, लिङ्गानुशासन, उणादि पंचपादी, दशपादी लौकिक और वैदिक व्याकरणके परिचायक हैं।

४ निरुक्त—इसमें वैदिक शब्द संग्रहकोष रूप निघण्टुके निर्वचन तथा निगम और भाष्य निरूपित किये गये हैं। यास्क आदि इनके प्रवक्ता हैं। शाकपूणि आदियों के निरुक्त इस समय उपलब्ध नहीं। यह निरुक्त भी भिन्न-भिन्न संहिताओं के भिन्न-भिन्न होते हैं।

५ छन्द—इसमें वैदिक एवं लौकिक छन्द बताये गये हैं। पिङ्गल आदि आचार्योंने अपने ग्रन्थों में इनका निरूपण किया है। वृत्तरत्नाकर आदिमें लौकिक छन्द बताये जाते हैं।

(६) ज्यौतिष—इसमें गणित एवं फलित विषय होता है। वैदिक यज्ञोंके काल आदिके प्रतिपादनार्थ इसका उपयोग होता है। फलित, गणितका ही फल हुआ करता है। गणितसे ग्रहोंका राशि आदियों में घूमना, तथा राशि-परिवर्तनके समय का पता लगता है।

फलितके द्वारा ग्रहोंका हमारे शरीरमें प्रभाव जाना जाता है। सूर्य आदि इस शास्त्रके प्रणेता हैं और मय आदि वक्ता हैं। इनमें सूर्य-सिद्धान्त, सिद्धान्त शिरोमणि आदि गणितके और भृगुसंहिता आदि ग्रन्थ फलित के प्रसिद्ध हैं। इति षडङ्गानि।

(७) वेद के उपाङ्ग—उपाङ्ग भी वेदार्थके ज्ञानमें सहायक हुआ करते हैं। वेदके उपाङ्ग—(१) पुराण, (२) न्याय, (३) मीमांसा, (४) धर्म-शास्त्र, यह चार हैं। (१) पुराणसे पुराण, उपपुराण, तथा औपपुराण तन्त्रग्रन्थ और रामायण एवं महाभारत—यह इतिहास गृहीत होते हैं। (२) न्याय—शब्द से न्याय, वैशेषिक, साङ्ख्य, योगदर्शन—यह दर्शन तथा (३) मीमांसा शब्द से पूर्वमीमांसा मीमांसादर्शन, उसमें भी कर्ममीमांसा तथा दैवतमीमांसा, उत्तरमीमांसा से वेदान्तदर्शन—यह छः दर्शन गृहीत होते हैं। (४) धर्म-शास्त्र शब्दसे धर्मसूत्र तथा स्मृतियाँ गृहीत होती हैं।

(८) पुराण (क) जिनमें ऋषि-मुनियोंने वेदके कठिन विषय गाथा, इतिहास आदिके द्वारा बहुत सरल कर दिये हैं, वे पुराण होते हैं। पुराणों के प्रवक्ता श्रीमान् व्यास हैं। पुराणोंका ज्ञान तो अनादि है। पुराण अठारह होते हैं—(१) ब्रह्मपुराण ('ब्रह्मा वक्ता' मरीचि श्रोता) (२) पद्मपुराण ('हिरण्मय पद्मपर रहने वाले स्वयम्भू वक्ता हैं, श्रोता ब्रह्मा हैं) (३) विष्णुपुराण (पराशर वक्ता हैं)। (४) शिव पुराण (वायु पुराण— शिव वक्ता और वायु श्रोता हैं) (५) लिङ्गपुराण (महेश्वर वक्ता हैं) (६) गरुडपुराण (विष्णु वक्ता और गरुड श्रोता हैं)। (७) नारद पुराण (सनक आदि वक्ता हैं, नारद श्रोता हैं)। (८) भागवतपुराण (श्रीमद्भागवत में विष्णु वक्ता हैं और ब्रह्मा श्रोता हैं, देवी भागवत में ब्रह्मा वक्ता हैं)। (९) अग्नि पुराण (अग्नि वक्ता

हैं, वसिष्ठ श्रोता हैं) (१०) स्कन्दपुराण (षण्मुख वक्ता हैं)। (११) भविष्य पुराण (ब्रह्मा वक्ता हैं, मनु श्रोता हैं)। (१२) ब्रह्मवैवर्त पुराण (सावर्णि वक्ता हैं, नारद श्रोता हैं)। (१३) मार्कण्डेय पुराण (मार्कण्डेय वक्ता हैं, जैमिनि श्रोता हैं। (१४) वामनपुराण (ब्रह्मा वक्ता, पुलस्त्य श्रोता और पुलस्त्य वक्ता, नारद श्रोता हैं) (१५) वाराह पुराण (विष्णु वक्ता और पृथिवी श्रोत्री (१६) मत्स्य पुराण (मत्स्य वक्ता और मनु श्रोता)। (१७) कूर्मपुराण (कूर्म वक्ता हैं)। (१८) ब्रह्माण्डपुराण (ब्रह्मा वक्ता) (श्रीमद्भागवत १२।७।२३-२४)।

पुराण वेदके सूत्रोंकी व्याख्या हैं। जिस प्रकार सूत्रकी व्याख्या में उदाहरण और प्रत्युदाहरण हुआ करते हैं, वैसे पुराणोंमें भी वैदिक सिद्धान्त-सूत्रोंके उदाहरण और प्रत्युदाहरण होते हैं। पुराण शिक्षाके भाण्डार हैं। इनमें कर्म, भक्ति, ज्ञान, नीति, उपदेश, इतिहास, चिकित्सा, लोक-परलोक रहस्य, सगुण-निर्गुण-उपासना, अवतार, जीवब्रह्मतत्त्व, राजवंश, सृष्टि-स्थिति-प्रलय आदि वैदिक सिद्धान्त स्पष्ट किये गये हैं। इन्हींसे आजतक हिन्दु जाति अपने धर्ममें स्थिर रही है। पुराण न होते, तो आज कोई वेदका नाम भी न जानता। सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, वंशानुचरित, मन्वन्तर आदियोंका वर्णन करना इनका विषय है। उनमें ईश्वरके स्वरूपका निरूपण मूर्तिपूजा, ईश्वरावतार, स्त्रियोंका पतिव्रत धर्म, नित्यकर्म आदि धर्मोंका विषय, मानसिक सृष्टि, मैथुनिक सृष्टि, कामसे अपने बचावका उद्यम, स्त्रियोंकी मोहकता से अपना बचाव करना, स्त्रियोंके विषयमें किसी देवतातकका भी विश्वास न कर डालना, आत्म संयम- इत्यादि वर्णित किया गया है। वेदके कठिन विषय कहीं आलङ्कारिक भाषामें, कहीं सरस कथाओं वा गाथाओंके द्वारा कहे गये हैं। पुराण में समाधि भाषा, लौकिक भाषा, और परकीया भाषा यह तीन भाषाएं यत्र-तत्र उपयुक्त की गई हैं। इनमें समाधिभाषा वह है जहाँ कठिन ज्ञानकी भाषाके द्वारा निरूपण

हो, लौकिक भाषा प्रसिद्ध इतिहासके द्वारा निरूपित की जाती है और परकीया भाषा गाथा रूपक आदिके द्वारा वेदार्थके वर्णनमें ली जाती है। इन भाषाओं के ज्ञानके बिना पुराण सर्वसाधारणके ज्ञानमें उपस्थित नहीं हो सकते।

(ख) उपपुराण—उपपुराण भी अठारह होते हैं — १. आदि पुराण, (सनत्कुमार से प्रणीत)। २. नरसिंह पुराण, ३ स्कन्द पुराण ४. शिव-धर्म पुराण (नन्दीश कृत) ५. दुर्वासः पुराण, ६. नारदीय पुराण ७. कपिल पुराण, ८. वामन पुराण, ९. औशनस पुराण, १० ब्रह्माण्ड पुराण, ११. वरुण पुराण, १२ कालिका पुराण, १३. महेश्वर पुराण, १४. साम्बपुराण, १५ सौर पुराण, १६. पाराशर पुराण, १७. मारीच पुराण, १८. भास्कर पुराण।

(ग) औपपुराण—औपपुराण भी अठारह होते हैं:—१ सनत्कुमारपुराण, २ बृहन्नारदीयपुराण, ३ आदित्यपुराण, ४ मानवपुराण, ५ नन्दिकेश्वरपुराण, ६ कौर्मपुराण, ७ भागवतपुराण, ८ वसिष्ठपुराण, ९ भार्गवपुराण, १० मुद्‌गल पुराण ११ कल्कि पुराण, १२ देवीपुराण, १३ महाभागवत पुराण, १४ बृहद्धर्म पुराण, १५ परानन्द पुराण, १६ पशुपति पुराण, १७ वन्हि पुराण, १८ हरिवंश पुराण, (बृहद्विवेक ३।३७—३८-३९) ।

(घ) तन्त्रग्रन्थ—पुराणोंमें ही तन्त्रग्रन्थोंका भी अन्तर्भाव हो जाता है। तन्त्रशास्त्रमें भी वेदोक्त विषय विभिन्न-विभिन्न अधिकारियों के लिये बताये गए हैं उनमें आचार, उपासना, ज्ञान, मन्त्र, हठ लय आदि योग, आयुर्वेदके गुप्त योग, भूत विद्या, रसायन आदि सभी विद्याएँ और ज्यौतिषके रहस्य स्पष्ट किये गये हैं। तन्त्रके परोक्ष रूपसे कहे हुए कई तत्त्व अतिशयित गूढ़ हैं। वे उनकी परिभाषाओं के ज्ञानके बिना व्रीड़ा, जुगुप्सा, अमंगल अश्लीलमयसे प्रतीत होतेहैं,

इन स्मृतियोंसे धर्म एवम् अधर्मकी तथा लोकव्यवहारकी व्यवस्था होती है। वेद और स्मृतिके विरोधमें जैसे वेद अधिक माननीय है वैसे ही स्मृति और पुराणके विरोधमें स्मृति अधिक माननीय है, क्योंकि पुराण प्रधानतासे लोकवृत्त ही प्रतिपादन करते हैं। लोक व्यवहार की व्यवस्थापना करना उनका प्रधान विषय नहीं। गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा स्मृतियाँ यह धर्मशास्त्रमें अन्तर्भूत माने जाते हैं। स्मृतियोंमें भी *मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति तथा पराशरस्मृति* अधिक मान्य है। इति *वेदस्य उपाङ्गानि*। यह सनातन धर्म का साहित्य है। वेदके अङ्ग तथा उपाङ्ग वेदमोक्त सनातन धर्मके व्याख्यान रूप हैं—इनमें कहे हुए धर्म ही सनातन धर्मके सिद्धान्त हैं।

(७) सनातनधर्मके सिद्धान्त—१ *मन्त्रभाग* और २ ब्राह्मणभाग—यह दोनों मिलकर वेद कहाता है। उसमें *मन्त्रभाग* ११३१ सहितारूप है। *ब्राह्मणभाग ब्राह्मण*, आरण्यक और उपनिषद्रूप है। यह सब वेद है। शेष पूर्व वर्णित साहित्य उसका व्याख्यान रूप है। उस वेद के स्थूल सिद्धान्त यह हैं—

१ ईश्वर निराकार एवं साकार स्वरूप, २ ईश्वर का अवतार, ३ देवता, ऋषि तथा पितर मनुष्यसे भिन्न योनिविशेष। ४ देव पूजा एवं मूर्तिपूजा, ५ उपासना, ६ भूतप्रेत आदिकी योनियाँ, ७ तीर्थ यात्रा, ८ पञ्चमहायज्ञानुष्ठान, ९ त्रिकालसन्ध्या आदि नित्यकर्म, १० गोपूजन, ११ मृतक पितृ श्राद्ध, १२ सोलह संस्कार, १३ जन्मसे वर्ण व्यवस्था, १४ वर्ण धर्म-आश्रम धर्म, १५ लोक-परलोक, १६ ग्रहपूजा, १७ नक्षत्रादिविचार, १८ यज्ञ, १९ द्वैताद्वैतवाद, २० वेदमें द्विज पुरुष का अधिकार,* २१ कन्याओंका ऋतु कालसे पूर्व विवाह, २२ ग्रहणा-

*इस विषयमें कि—'स्त्रीशूद्रोंका वेदमें अधिकार है या नहीं—' 'श्रीसनातनधर्मालोक' का *तृतीय पुष्प* मंगावें। मूल्य ३)

दिका अशौच, २३ स्त्रियोंकी आवरण-प्रथा, २४ पतिव्रत धर्म, २५ विधवाविवाह का अभाव, २६ नियोग कलिवर्ज्य, २७ चन्दनादिका अनुलेपन, २८ स्पर्शास्पर्श, २९ अन्त्यज आदियोंकी अस्पृश्यता, ३० वैध शुद्धि, ३१ युग व्यवस्था, ३२ एकादशी आदि व्रत, ३३ सवर्ण-विवाह, ३४ शिष्टाचार, ३५ पापके प्रायश्चित्त ३६ लोक - लोकान्तर, ३७ धर्म-कर्म-भेद, ३८ व्रत-उपवास, ३९ हिन्दुत्वकी प्रतिष्ठा और हिन्दुस्थानकी रक्षा, ४० राजभक्ति, ४१ विविध आचार-विचार।

इन सबका सर्वाङ्गीण वर्णन हमने 'श्रीसनातनधर्मालोक' महा-ग्रन्थमें किया है। पहले यहां पर कई आचार-विचारों का नाम निर्देश करके—क्योंकि -'आचार' परमो धर्मः' मनु० १।१०८) फिर पूर्व सिद्धान्तोंमें कइयोंका संक्षिप्त वर्णन किया जायगा, और कई आचारों का भी। कई अकथित विषय भी कहे जायेंगे।

(८) सनातनधर्मके आचार-विचार— १ ब्राह्ममुहूर्तमें उठना, २ भूमि वन्दन, ३ भूमिमें पादस्थापननिषेध, ४ मलत्याग और मृत्तिकासे हस्तशुद्धि, ५ कुल्ला करना, ६ दन्तधावन, ७ स्नान, ८ सन्ध्या, ९ देवमन्दिरमें जाना, १० मूर्तिपूजा, ११ चरणामृत-ग्रहण, १२ चन्दन तिलक, १३ भस्म धारण, १४ मार्जन, १५ अभिषेक, १६ प्राणायाम १७ सूर्योपस्थान, १८ जप, १९ मालाकी मणियाँ १०८।२० मंत्र और सिद्धियाँ, २१ जपन १०८ वार, २२ परिक्रमा, २३ शङ्खनाद, २४ तुलसी पूजन, २५ तुलसीके चबानेका निषेध, २६ पञ्चगव्यका उपयोग २७ गोमूत्रमें गङ्गानिवास, २८ गोबरमें लक्ष्मीका निवास, २९ सोलह संस्कार, ३० अपने नामको गुप्त रखना, ३१ पर्व में गर्भ का निषेध, ३२ व्रत और उपवास, ३३ आहार-शुद्धि ३४ भोजनसे पहले ग्रासका रखना, अग्निमें डालना, काक-बलि ३५ दूकानोंके अन्न खानेका निषेध, ३६ घृतपक्वकी शुद्धता, ३७ ग्रहणमें भोजनका

के हितके लिए तथा उनके उपदेशार्थ जेलखानेमें अपनी इच्छानुसार आता है।

ईश्वरके अवतार तो असंख्य होते हैं, पर उसमें २४ प्रसिद्ध हैं, और १० बहुत प्रसिद्ध हैं। १ मत्स्य, २ कच्छप, ३ वराह, ४ नृसिंह ५ वामन, ६ परशुराम, ७ श्रीरामचन्द्र, ८ श्रीकृष्णचन्द्र, ९ बुद्ध, १० कल्की (यह अवतार आगे होगा।) यह दश अवतार बहुत प्रसिद्ध हैं। बुद्धने जो वेदोंका खण्डन किया, उसमें उसकी नीति थी। वेदके अनधिकारी शूद्र आदियोंने भी तब ब्राह्मणोंके वेषको धारण कर वेदोक्त कर्मकलाप करना शुरू कर दिया था, और वेदके नामसे अनर्गल हिंसा शुरू कर दी थी। उनसे वेदोंके आकर्षणार्थ 'स्वजातिदु रतिक्रमा' जातिका स्वभाव कभी जा नहीं सकता-उनको वेदसे घृणा कराने के लिए नीति अपना ली थी।

इनके साथ अन्य अवतार ११ नारायण, १२ हंस, १३ हयग्रीव, १४ नारद, १५ नर, १६ दत्तात्रेय, १७ यज्ञ, १८ ऋषभ, १९ पृथु, २० कपिल, २१ धन्वन्तरि, २२ मोहनी, २३ वेदव्यास, २४ शङ्कराचार्य यह भी अवतार हैं। अवतार तीन प्रकारके होते हैं। १ पूर्णावतार, २ कलावतार, ३ छायावतार। श्रीकृष्ण और श्रीराम पूर्णावतार हैं। श्रीकृष्ण चन्द्रवंशके होनेसे सोलह कलाके थे—इसलिए पूर्ण थे। सोलह कलाका चन्द्र पूर्ण हुआ करता है। श्रीराम सूर्यवंशके होनेसे बारह कलाके थे; इसलिए पूर्ण थे। द्वादशात्मा सूर्य पूर्ण हुआ करता है। मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, नृसिंह, परशुराम, बुद्ध, कल्की कलावतार हैं। नारायण, हंस, हयग्रीव, नारद, नर, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभ, पृथु धन्वन्तरि, मोहिनी, व्यास, कपिल, यह छायावतार हैं। पूर्णावतार होने पर भगवान्‌की पूर्ण शक्ति प्रकट होती है; अवशिष्ट अवतारोंमें उसकी थोड़ी शक्ति प्रादुर्भूत होती है, कलावतार छायावतार, अंशावतार भी कहे जाते हैं।

(३) देव, ऋषि, पितर—सनातनधर्ममें देवपूजा, ऋषि पूजा तथा पितृपूजा सब कार्योंमें व्याप्त है। उसमें कारण यह है कि यह तीनों ब्रह्माण्डके कामके सञ्चालनमें परमात्मा द्वारा नियुक्त हुए योनिविशेष हैं। ब्रह्माण्डके सब कार्य तीन भागमें विभक्त हैं; उसमें एक है ज्ञानका विस्तार, दूसरा कर्म में प्रवृत्त करना और कर्म-फल देना, तीसरा ब्रह्माण्डकी स्थूल व्यवस्थामें सामञ्जस्य करना। उसमें ऋषि लोग सृष्टिकी आदमें अवतीर्ण होकर लुप्त वेदराशिका पुनरुद्धार करके, फिर वेदके विशद करने वाले धर्मशास्त्रोंको बना कर जगत्में ज्ञानका विस्तार करते हैं। देव लोग जगत्के सब कामों को प्रचलित करते हैं। देवोंके प्रत्यर्थी असुर भी होते हैं जो इनके कार्यों में अन्तराय किया करते हैं। नित्य पितर वसु, रुद्र, आदित्य ऋतुओंको यथासमय करना, ऋतुके अनुसार जल बरसाना, कृषिके उत्पादनमें सहायता देनी, देशसे दुर्भिक्ष हटाना, इस प्रकार देशके स्वास्थ्य-स्थापन रूप कार्यको किया करते हैं। यह तीनों ही देव-विशेष हैं।

इन में ऋषियोंका तर्पण तथा स्वाध्याय आदिसे, देवोंका यज्ञ आदिसे तथा नित्य पितरोंका नित्य हवन श्राद्ध तर्पण-आदिसे पूजन करने पर यह सब जगत्के सहायक सिद्ध होते हैं। नित्य पितरों की सहायतासे ही हमारे मृतक पितर भी हमसे प्रति अमावास्याको दिये हुए श्राद्धको खाते हैं। नित्य पितर भी जो कार्य ब्रह्माण्डका किया करते हैं; नैमित्तिक पितर भी वही हमारे वंशका करते हैं, अतः उनका मासिक एवं वार्षिक श्राद्धादि भी आवश्यक है।

(४) देवपूजा एवं मूर्तिपूजा—जिस पुरुषके पास जो वस्तु नहीं होती, वह उसे चाहता है। पुरुष चाहता है कि मैं बड़ी आयु प्राप्त करूं, अभिलषित धनको प्राप्त करूं, बड़ी शक्तिको प्राप्त

करें, अपनी शक्तिके अनुसार उन-उन वस्तुओंको वह पुरुषार्थसे प्राप्त कर भी लेता है, परन्तु उसका उनपर सर्वात्मता से स्वामित्व नहीं हो जाया करता, तब वह अपनी अपेक्षा महत्तर शक्तिका आश्रय लेता है; वह महाशक्ति परमात्मा है। वह परमात्माकी उपासना करना चाहता है; परन्तु परमात्माके निराकार रूपकी उपासना उसके वशकी बात नहीं होती; और अङ्गी की उपासना, बिना अङ्ग के हो भी नहीं सकती, अतः उस परमात्माकी पाञ्च शक्तियोंमें, पांच प्रमुख अङ्गोंमें उपासना की जाती है। वे पांच अङ्ग विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य हैं, उनकी उपासनासे उस अङ्गी परमात्माकी उपासना हो जाती है।

जैसे जड प्रकृतिके प्रवर्तक भगवान् चेतन हैं, जो कि समस्त प्रकृतिमें तीनों गुणोंका भ्रमण करवा कर संसारके उत्पत्ति, स्थिति, लयोंको करते हैं, वैसे ही प्रकृतिके पृथक् - पृथक् विभागोंके प्रवर्तनार्थ भी परमात्माकी ओरसे उसीकी बहुत सी चेतन शक्तियाँ हैं, उन्हीं को 'देव' नाम से कहा जाता है। ससारमें देखा जाता है कि कोई भी जड वस्तु स्वयं कुछ भी नहीं कर सकती; किसी चेतनके द्वारा ही वह चेष्टा करती है। जड मेज़ स्वयं चेष्टा नहीं कर सकती, चेतन मनुष्यादिद्वारा हिलानेसे ही हिलती है। इसी प्रकार जड पुस्तक आदि भी गमनागमन नहीं कर सकते, किन्तु चेतन पुरुषके द्वारा ही, वैसे ही प्रकृतिमें भी जड जल, वायु आदि स्वयं प्रगति नहीं कर सकते, वे चिति शक्ति द्वारा चलाने पर ही विभिन्न - दिशाओंसे आते हैं, और वृष्टि आदि होती हैं। इनकी प्रवर्तक चेतन शक्तियाँ ही 'देवता' कही जाती हैं। जैसे किसी राज्य को चलाने के लिए राज्य के अधिपति राजाकी ही शक्तिको लेकर राजप्रतिनिधि, वाइसराय, गवर्नर, कमिश्नर, जज, सिपाही आदि राज्य का प्रबन्ध करते हैं, वैसे ही इस

ब्रह्माण्डके चलानेके लिए ब्रह्माण्ड-पति श्रीभगवान्‌की ही शक्ति स्वरूप सभी देवता द्युलोकमें रहते हुए भी इस पृथिवीका भी प्रबन्ध किया करते हैं। सब ३३ कोटि देवता हैं, उनमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र आदि मुख्य देव हैं। इनमें दण्डाधिपति यमराज हैं, जलाधिपति वरुण हैं, कोषाध्यक्ष कुबेर हैं, हवाके अध्यक्ष वायुदेव हैं, जलाने के अध्यक्ष अग्नि हैं, चिकित्सक अश्विनीकुमार हैं। ब्रह्माण्डके ऊपरके सात लोकोंमें देवताओंका अधिकार हुआ करता है, नीचेके सात लोकों में असुरोंका अधिकार होता है।

देवताओंके यज्ञ भी परमात्माकी पूजाके अङ्ग हैं, परन्तु उनमें वैदिक अनुष्ठानोंकी कठिनतासे साधारण लोगोंकी स्वर-वर्ण दोष के कारण हानिकी आशङ्का रहती है, तब सुगम देवपूजायज्ञ वेदने मूर्तिपूजारूपमें आदिष्ट किया। वेदमन्त्रोंसे धातु, मट्टी, पत्थर आदि मूर्तियोंमें भी वेद के इङ्गितसे देव-देवको प्रतिष्ठापित किया जाता है, अथवा उसकी शक्ति किसी देवकी प्रतिष्ठापित किया जाता है। उस पूजाका लक्ष्य भी वही देव या देवदेव हुआ करता है, इस कारण पुरुषकी उससे इष्टसिद्धि भी हो जाती है। मूर्तिको आधार बनाकर पूजनसे चित्त स्थिर भी हो जाता है। देव मन्दिरोंमें प्रतिमामें देवदर्शन के अतिरिक्त अन्य भी चिरायुष्य बलप्राप्ति आदि लाभ हुआ करते हैं। उसमें घरकी अपेक्षा दिव्य शक्तिके सञ्चारकी अधिकता से अनेक प्रकारकी शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। धूप-दीप आदि सुगन्धित द्रव्योंके सम्बन्धसे घण्टा आदि के तुमुल शब्द आदिसे हमारे शरीर को कीटाणु दूषित नहीं कर सकते, इससे स्वस्थ शरीरकी हमारी मानसिक वृत्तियोंमें भी विशिष्ट प्रभाव पड़ा करता है, चित्त शान्त हो जाता है, और आत्माकी उन्नति हो जाया करती है।

इस प्रकार ईश्वरके अवतारोंकी भी मूर्तिमें पूजा की जाती है। मूर्तिका ईश्वररूप देखना उत्तम है, मूर्तिमें ईश्वरका ज्ञान मध्यम कोटि

है और मूर्तिसे ईश्वर का स्मरण प्राधान्य कोटि है। ईश्वरके चेतन होनेसे और उसके मूर्ति में व्यापक होनेसे मूर्ति जोकि चेतन नहीं मालूम होती उसका कारण स्थूल इन्द्रिय आदि विकारोंसे उसका संयोग न होना ही है।

(५) उपासना।—ध्यान, पूजा, पाठ, नामजप, भक्ति आदि द्वारा अपने इष्टदेवकी समीपता करनेका नाम उपासना है। मनुष्य ध्यान आदि द्वारा मनसे इष्टदेवको अपने निकट करता है, पूजादि के द्वारा इष्टको अपने शरीरके निकट करता है, स्तोत्रपाठादि द्वारा वाणीके निकट करता है, इससे इष्टदेव उसपर कृपा करता है, उसे शक्ति, भक्ति एवं ज्ञान देता है, उसे पाप से दूर रखता है। अन्तमें अपने आपमें मिला लेता है। उपासना का फल भी यही होता है। अतः पुरुषको अपने अधिकारानुसार स्वनियमित उपासना नियमसे करनी चाहिये। भक्ति और अनन्यनिष्ठा यह उपासनाका प्राण है।

आजकल चारों ओरसे आध्यात्मिक रोगसे पीड़ित पुरुषोंका आर्तनाद सुनाई पड़ता है, उसमें कारण कई प्रकारके अर्वाचीन सम्प्रदायों की अवैध उपासना ही है। आजके सम्प्रदाय, बिना योग्यताकी परीक्षाके प्रत्येक को समान उपासना बताते हैं। शूद्र हो वा ब्राह्मण, स्त्री हो वा पुरुष, सभीको एक ही उपासना-लाठी से हाँका जाता है। जो डाक्टर विविध रोगियों के आँख, कान, वा पेटके शूलमें प्लेग, हैज़ा, निमोनिया आदि विविध रोगोंमें एक ही 'कुनाइनमिक्सचर' दवाई को पिलाता है, वह बीमारों को कैसे स्वस्थ कर सकता है ? यही दशा है आजके अर्वाचीन सम्प्रदाय वालोंकी। पर सनातनधर्म तो योग्यतानुसार महायज्ञ, यज्ञ, जप, पाठ, मूर्तिपूजन, ध्यान, योग, व्रतोपवास, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रतों, विविध तपस्याओं तथा स्वस्ववर्णाश्रमकर्मों द्वारा परमात्माकी पूजाके लिये प्रेरणा करता है।

उसमें भी देश, काल, पात्र आदिका विचार करता है । गरीब पुरुष कौड़ीके व्ययसे भी उसी द्वारको प्राप्त होता है, जिसे लाख रुपयोंका व्यय करके धनी प्राप्त करता है। विशिष्ट पात्रको वेदके पारायण द्वारा वह परमात्माकी उपासना बताता है, दूसरे पात्रको वह नामकीर्तन-मात्रका आदेश देता है। भक्तिके भी यह धर्म श्रवण, कीर्तन, स्मरण पादसेवन, मूर्ति-अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन यह नौ भेद बताता है, जिसकी जिसमें शक्ति हो जिसमें प्रियता हो, वह उसे ही स्वीकार करे। परमात्माके निराकार स्वरूपकी उपासना बहुत कठिन होती है, अत: यह धर्म उसकी विष्णु, शिव, शक्ति,गणेश, सूर्य इन पांच सगुण रूपोंमें यथाधिकार उपासना बताता है। अथवा राम कृष्ण आदि अवतारोंकी भी उपासना की जा सकती है। पत्थर आदि पीठोंमें तत्तद्देवको प्रतिष्ठापित करके की जाने वाली पूजा मूर्ति-पूजा होती है, षोडशोपचार वा अशक्तिमें पञ्चोपचार पूजन किया जाता है। आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि योगक्रियाओंसे उस समय चित्तकी स्थिरता तथा सूर्यसे विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है।

यह उपासना प्रथम कोटिकी होती है। मध्यम उपासना है ऋषि, देवताओं तथा पितरोंकी पूजा। इसमें लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियों की, इन्द्रादि देवोंकी पूजा की जा सकती है। यह सकाम पूजा होती है। भूत, प्रेत आदिकी उपासना अधम कोटिकी होती है।

(द) भूत-प्रेत आदिकी योनियाँ—जैसे देव, असुर, ऋषि तथा पितर योनिविशेष हैं वैसे ही भूत, प्रेत, पिशाच आदि भी योनि-विशेष हैं। यदि मनुष्य मृत्युके समय मोह, धन, लोभ आदि किसी भावमें मुग्ध होकर मूर्छित की तरह प्राणोंको छोड़ दें, अथवा बन्दूक तोप, तलवार, परमाणुअस्त्र, बिजुली गिरना, घरका गिरना—आदि द्वारा जिसकी अतर्कित मृत्यु होती है, अथवा जिसने आवेशमें आकर

आत्महत्या कर ली है;-उसकी यदि प्रेत-कृत्य आदिसे सद्गति न कराई जाए, तो अन्य जन्ममें उसे प्रेतकी योनि मिलती है। जिस वस्तुमें आसक्त होकर उसने देह छोड़ी, प्रेतत्वमें वह उसीमें आसक्त रहा करता है। प्रेतलोक हमारे लोकके साथ है। प्रेतोंके साथ संवाद भी हो सकता है।

(ख)—योनियाँ अनन्त होती हैं, जीव मनुष्य योनिमें आनेसे पूर्व ८४ लाख योनिमें घूमा करता है। वृक्ष आदि भी योनि हैं, इसमें २० लाख बार जन्म होता है। फिर ११ लाख बार स्वेदज कीट पतङ्ग आदियोंकी योनियाँ मिलती हैं। फिर १६ लाख बार अण्डज मछली पक्षी आदि योनियों में घूमना पड़ता है। फिर ३४ लाख बार जीवको पशु योनि मिलती है। इस प्रकार ८४ लाख योनियोंमें चक्कर लगाकर जीव उसके बाद मनुष्य योनिमें आता है। इस मनुष्य योनिमें सुकर्म वा कुकर्म करके उनके अनुसार उच्चयोनियों वा निम्न योनियोंमें जाता है। बड़े कुकर्मोंको करके यदि मनुष्य योनिसे गिरता है, तो फिर ८४ लाख की पूर्वोक्त योनियोंके चक्करको प्राप्त करता है। साधारण कुकर्मोंको करताहुआ अन्त्यजशूद्रआदिकी योनिको प्राप्तहोताहै। उत्तरोत्तर सुन्दर आचरण करता हुआ क्रमशः अन्य जन्मोंमें अन्त्यज से शूद्र, शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय और क्षत्रियसे ब्राह्मण जातिको प्राप्त करता है। उसमें भी अच्छे कर्म करता हुआ विद्वान् ब्राह्मण, फिर उससे भी आगे इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि देवयोनिको, गन्धर्व किन्नर-यक्ष आदि देवयोनि विशेषको वा ऋषि योनि वा पितृयोनिको प्राप्त करता है। वैसे ही मन्दकर्मोंको करता हुआ असुर, राक्षस, भूत प्रेत पिशाच आदि योनिको प्राप्त होता है। यह सब योनियां कर्मानुसार होती हैं। हां, पशुयोनिमें हुए सुकर्म-कुकर्म कोई लाभ-हानि नहीं देते। ये भोगयोनि होने से स्वयं ही प्रकृतिके नियमसे क्रमशः

अपनेसे उन्नत शूद्र योनिको प्राप्त होते जाते हैं। इसलिए अन्त्य शूद्रयोनिमें पशुत्व का अंश भी रह जाने से उसमें अपवित्रता एवं धर्म-न्यूनता होती है। इसी प्रकार देवयोनिमें भी हुए सुकर्म-कुकर्म विशेष लाभ-हानि देने वाले नहीं होते। उसमें भी प्रकृतिके क्रमसे स्वयं ही देव योनियां मिलती रहती हैं। पशुयोनिके चक्कर समाप्त होते ही फिर जीव स्वयं ही मनुष्य योनिमें अन्त्यजादित्वको प्राप्त करता है। देवयोनिके क्रम समाप्त होते ही जीव स्वयं ही मनुष्ययोनि में ब्राह्मणादि जातिमें आता है। इसलिए ब्राह्मण जातिमें देवत्व का अंश होनेसे उसे भूदेव कहा जाता है। मनुष्य योनि ही कर्मयोनि है, देवयोनि और पशुपक्षियोनि तो भोगयोनियां हैं। कर्म का फल तदनुसार उन्नति-अवनति मनुष्ययोनि में ही मिलती है। इस कारण अच्छे जन्मको चाहने वाले पुरुषको सदा शास्त्रोक्त सुकर्म ही करने चाहियें।

(७) **तीर्थयात्रा**—'तीर्थैस्तरन्ति' (ऋग्वे० १८।४७) 'सर्व-तीर्थानि पुण्यानि पापघ्नानि सदा नृणाम्।' (शङ्खस्मृति ८।१३)। भारतदेश धर्मभूमि है, उस धर्मके केन्द्रस्थान ही तीर्थ हैं। 'तीर्यते ऽनेन इति तीर्थम्' यह इसका विग्रह है। जैसे इधर-उधर बिखरी हुई सूर्यकी किरणें सूर्यकान्तमणिमें इकट्ठी हो कर जला भी सकती हैं, वैसे ही भगवान्की शक्ति विशिष्ट केन्द्रों-प्रतिमा, तीर्थ आदि में इकट्ठी होकर लोगों के पाप भी जला सकती हैं। इससे उनका पुण्य बढ़ता है, शरीर, मन तथा बुद्धिकी उन्नति हो जाती है। गङ्गा, यमुना, सरस्वती, सरयु, नर्मदा आदि नदियां, काशी, काञ्ची, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, द्वारका, सेतुबन्ध रामेश्वर, जगन्नाथ, बदरीनारायण, कुरुक्षेत्र आदि स्थल तीर्थ हैं। बदरीनारायण उत्तर दिशामें भारतके परले तट पर है, उसमें श्रीनारायणकी मूर्ति विराजमान है। द्वारका पश्चिम दिशामें भारतके परले तट पर है। उसमें श्रीकृष्णजीका मन्दिर

है। सेतुबन्ध रामेश्वर दक्षिण दिशामें भारतके परले तट पर विराजमान है। श्रीरामने उसमें सेतु बन्धनके समय शिवलिङ्गकी पूजा की थी। श्रीवाल्मीकिरामायण में उस तीर्थको 'पवित्रं महापातक नाशनम्' (युद्ध०१२४।२१) कहा है। श्रीजगन्नाथ पूर्व दिशामें भारतके अन्तिम कोनेमें विराजमान हैं।

हरद्वारमें गङ्गा आदि जलावतार तीर्थ हैं। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड ३५ वें सर्गमें गङ्गाको 'सर्वलोकनमस्कृता', और 'स्वर्गदायिनी' माना है। श्रीसीताने उससे वर भी मांगा था (अयोध्या० ५२ सर्ग)। लौकिक दृष्टिसे भी गङ्गामें अन्य नदियोंसे विशेषता है। गङ्गाजल वर्षों तक रखा हुआ भी विकृत नहीं होता। उसमें हैज़ा, प्लेग, मलेरिया आदिके कीटाणु कभी भी उत्पन्न नहीं होते। बल्कि उक्त कीटाणु गङ्गाजलमें डाले हुए नष्ट हो जाते हैं। इसलिए गङ्गा स्नान तथा गङ्गाजलपान बहुत फल देने वाला होता है। उससे कठिन रोग भी शान्त हो जाते हैं। गङ्गाकी वायु सेवन करनेसे तो शरीर स्वस्थ रहता है। गङ्गाकी मट्टी मलनेसे शरीरमें कोई भी चर्म-रोग नहीं होता। इन्हीं शक्तियोंसे गङ्गा देवी है।

प्रयागराज और पुष्करराज आदि तीर्थराज हैं। प्रयागराज प्रयाग (इलाहाबाद) में हैं; उसमें गङ्गा, यमुना, सरस्वतीका सङ्गम होनेसे त्रिवेणी-स्नान होता है। पुष्करराज अजमेरके पास है, उसमें श्रीब्रह्मा जीने यज्ञ किया था। काशी भी महान् तीर्थ है, उसमें श्रीविश्वनाथ का दर्शन है। तीर्थयात्रा करनेसे; तीर्थजलके स्पर्शसे पाप नष्ट होते हैं, तीर्थ स्थित तपस्वी तथा विद्वानोंका दर्शन कल्याण कारक होता है। 'कुरुक्षेत्र' को श्रीमद्भगवद्गीता में 'धर्म-क्षेत्र' (१, १) कहा गया है।

(८) पञ्च महायज्ञ—१ ब्रह्म (ऋषि) यज्ञ, २ देवयज्ञ ३ पितृयज्ञ, ४ भूतयज्ञ, ५ अतिथि (नृ) यज्ञ—यह ५ महायज्ञ हैं। घर

में १ चूल्हा (रसोई), २ चक्की, ३ झाडू, ४ ऊखल-मूसल, ५ जल का घड़ा—यह पांच अनिवार्य हिंसास्थान होते हैं। इनसे उपन्न होने वाले पापोंकी निवृत्यर्थ उक्त पांच यज्ञ किये जाते हैं। १ वेद, शास्त्र, पुराण आदियों का यथाधिकार पढ़ना-पढ़ाना, अथवा स्वाधिकृत सन्ध्या में जप करना, वा स्वाधिकृत ग्रन्थका पाठ करना—यह *ब्रह्मयज्ञ* वा ऋषियज्ञ है। २ पके हुए हविष्यान्नकी अग्निमें आहुति देनी *देवयज्ञ* है। ३ यज्ञोपवीतको वाएं करके दक्षिणाभिमुख पितृतीर्थसे मृत पितरोंके नामसे जल देना या ग्रास रखना *पितृयज्ञ* है। ४ पूर्व आदि दिशाओंमें पशु-पक्षी आदि प्राणियोंके नामसे बलि रखना *भूतयज्ञ* है। ५ अपने भोजनसे पहले ब्राह्मण आदि अतिथियोंको भोजन प्रदान करना *अतिथियज्ञ* होता है। ऋषियोंने हमें वेद पुराण आदि शास्त्रों का ज्ञान दिया है—जिससे हम पाप-पुण्य और कर्तव्य-अकर्तव्य जानते हैं, देवता हमारी रक्षा करते हैं, हमें शक्ति, अन्न, सुख-सम्पत्ति देते हैं, असुरों से हमारी रक्षा करके हमें सुमति देते हैं, हमें भगवान्‌की ओर प्रवृत्त करते हैं। पितृगण हमें स्वास्थ्य, बल, वीर्य, सुमति देते हैं, जिससे हमारा सांसारिक जीवन सुखमय होता है। सब कीटादि प्राणी अपने प्राणोंको देकर हमें पालते हैं, कई सांप, ततैया आदि विषाक्त वायुको पीकर वायु-शुद्धि करते हैं, विविध शुद्धता किया करते हैं। वृक्ष, फल आदि तथा अन्न आदि देकर, धर्मोपदेश देकर हमारा उपकार करते हैं, इन पांच शक्तियोंके ऋणसे विमुक्तिके लिए पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान हमारा कर्तव्य है। इससे वे शक्तियां प्रसन्न हो जाती हैं इससे पूर्वोक्त सूना (हिंसास्थान) दोष हट जाया करते हैं। यदि अनवकाशवश हम अन्य कुछ न कर सकें, तो पांच ग्रास भोजनसे पूर्व रख देने चाहियें।

(६) त्रिकालसन्ध्या आदि नित्यकर्म— सन्ध्या तीन प्रकार की होती है, १ प्रातः सन्ध्या, २ मध्यान्ह सन्ध्या, ३ सायं-

सन्ध्या। मुख्य सन्ध्याएं दो हैं पूर्वा और पश्चिमा। इन्हीं दोमें प्रकाश और तमकी सन्धि होती है। मध्यान्ह में भी तम और प्रकाशरूप शीत-उष्णकालकी सन्धि हो जाती है। सन्ध्यामें मार्जन, संकल्प, आसन-शुद्धि, शिखाबन्धन, आचमन, प्राणायाम, सूर्योपस्थान, जप, परिक्रमा यह अधिकारियोंके लिए समन्त्रक क्रियाएं होती हैं। सन्ध्या—मन्त्रों का विनियोग-ज्ञान भी आवश्यक है। सन्ध्यामें मार्जनसे बाह्य शुद्धि, आचमनसे अनृत-शुद्धि प्राणायामसे शरीर-शुद्धि और आयुवृद्धि, मन्त्रपाठसे मनकी तथा वाणीकी शुद्धि, जपसे शरीरकी शुद्धि और अन्तःकरणकी शुद्धि-इसी प्रकार यह आत्मशुद्धि हो जाया करती है। त्रिकालसन्ध्या करनेसे पूर्वकालके किये हुए पापकर्म नष्ट हो जाया करते हैं, और पुण्यका लाभ हो जाया करता है, और चित्तवृत्ति भगवान्‌के अभिमुख प्रवृत्त होती है। प्रातः ब्राह्म मुहूर्तमें (चार बजे) उठ कर ईश्वरके नामको स्मरण करके शय्याको छोड़कर, माता-पिता एवं गुरुओंको नमस्कार करके, सम्भव हो तो शहरसे बाहर जाकर शौचादि करके, गुदादि प्रक्षालन करके, विधि-अनुसार जल-मट्टी से हाथोंकी शुद्धि करके, पावोंको धोकर, दन्तधावन करके स्नान करना चाहिये, फिर सन्ध्योपासन करे। द्विज एवम् उपनीत यथाविधि सन्ध्या करे; अनुपनीत एवं शूद्र हरिनाम-कीर्तनात्मक सन्ध्या करे। फिर तर्पणादि करे। इसके बाद पूर्वोक्त पञ्चयज्ञ करे।

(१०) गोपूजन—गाय के रोम-रोममें अनेक देवता रहते हैं, इस कारण गोपूजासे देवताओं सहित भगवान् प्रसन्न होते हैं। गाय का दूध भी बहुत सात्त्विक होता है, उसको पीनेसे शरीर और मन पवित्र हो जाते हैं। गोमूत्र और गोमयमें भी बड़ी शक्ति है, उससे रोग-कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। बड़े-बड़े वैद्य डाक्टरोंने सिद्ध कर दिया है कि जितने रोग या कीटाणुओंके नाशक व वायुसंशोधक पदार्थ हैं, उनमें गोबरका चौका लगाना अधिक उपयोगी होता है। जिसके

मूत्र या गोबरमें भी इतनी शक्ति है, उसके अन्य अङ्गोंका क्या कहना इस कारण दूध न होने पर भी गाय का पालन भाररूप नहीं होता? गायके पालन-पूजनसे घरमें रोग हट जाते हैं।

(११) मृतकपितृश्राद्ध--श्रद्धाके साथ मन्त्रका उच्चारण करके इस लोकसे मृतक हुए नित्य पितृ, नैमित्तिक पितृ, प्रेत आदि की योनि प्राप्त पिता, पितामह आदि कुटुम्बीकी तृप्त्यर्थ शास्त्रविधि के अनुसार जो क्रियाकी जाती है, उसका नाम मृतक पितृश्राद्ध है। हिन्दुजाति इस लोकके साथ ही साथ परलोकपर भी दृष्टि रखती है, इसलिए ही इसमें पिता, पितामह, और प्रपितामहकी सद्गत्यर्थ तथा तृप्त्यर्थ श्राद्धक्रिया नियत की हुई है। जीवित पितरोंकी तो 'सेवा' ही हुआ करती है, उनमें हमारी श्रद्धा भी होती है, पर 'श्राद्ध' शब्द तो पारिभाषिक होता है। इसमें श्रद्धाका मधुरभाव निहित होता है अपने जिन पिता आदिसे हमें देह प्राप्त हुआ, हमारा लालन-पालन हुआ, यदि उनके नामसे हम एक विशेष पात्रका सत्कार न करें, तो यह हमारी कृतघ्नता होगी। उनके नामसे दान करने पर परलोकगत उनका आत्मा तृप्त हो जाता है, शान्तिको प्राप्त करता है, और उन्नति पाता है। श्राद्धा-नुष्ठानके यथावत् होने पर प्रेतयोनि-प्राप्तका भी प्रेतत्व हट जाया करता है, उसे पिण्डदानसे मुक्ति हो जाया करती है। जैसे हज़ारों कोसका शब्द रेडियो द्वारा तत्क्षण सर्वत्र प्राप्त हो जाता है, उस यन्त्र-द्वारा उसे दुहा जा सकता है, वैसे ही मनःसंकल्पद्वारा विधिसे एवं श्रद्धा-से की हुई श्राद्ध आदि क्रियाएँ भी चन्द्रलोकस्थित पितरोंको प्रसन्न कर दिया करती हैं, ऐसा वेदका आदेश है। चन्द्र मनका अधिष्ठाता है, वह हमारी मनके सङ्कल्पसे की हुई क्रियाको वसु, रुद्र, आदित्य इन नित्य पितरोंके द्वारा सूक्ष्मतासे अपने लोकमें खींचकर हमारे पितरोंको तृप्त कर दिया करता है। मनद्वारा दिये हुए अन्न या जलको वह सूक्ष्म रूपसे आकृष्ट करता है। श्राद्ध पिता, पितामह, प्रपितामह इन तीन

पुरुषोंका होता है। हमारा चतुर्थ पुरुष पितृ - कोटिसे अग्रिम कोटिको प्राप्त हो जाता है, तदर्थ श्राद्धकी सहायता आवश्यक नहीं होती। आदिम तीन पितृ-श्रेणियोंमें ही मृतक हमारी सहायता चाहता है। श्राद्धमें सदाचारी, तपस्वी, विद्वान्, स्वाध्यायशील सद्ब्राह्मणको ही भोजन कराना मनुस्मृति आदिमें प्रसिद्ध है, क्योंकि—उस ब्राह्मणकी प्रसन्नतासे प्रेतयोनिप्राप्त जीवकी सद्गति होती है।

(१२) सोलह संस्कार—संस्कार १६ हैं, १ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८ चूडाकर्म, ९ कर्णवेध, १० उपनयन, एवं वेदारम्भ, ११ केशान्त, १२ समावर्तन, १३ विवाह एवं विवाहाग्निपरिग्रह (गृहाश्रम)। १४ वानप्रस्थाश्रम, १५ परिव्रज्या (संन्यासाश्रम)। १६ अन्त्य कर्म (पितृमेध)।

संस्कारोंसे शरीर तथा अन्तःकरणकी शुद्धि होनेसे आत्माकी शुद्धि होती है। १ *गर्भाधान*—विवाह संस्कारसे तीन दिनके बाद चतुर्थीकर्म करके स्त्रीके ऋतुकालके समय गर्भकी योग्यतामें करना चाहिये, इसमें कामभाव न रहे, धर्मभाव रहे, जिससे सन्तान शुद्ध विचारों वाली हो—एतदर्थ इसे विधिसे करना चाहिये। २ *पुंसवन*—गर्भाधानके दूसरे या तीसरे मासमें पुत्रोत्पत्तिके लिए किया जाता है। ३ *सीमन्तोन्नयनम्*—गर्भसे छठे वा आठवें मासमें करना पड़ता है। ४ *जातकर्म*—जन्मसमय नालच्छेदनसे पूर्व करना चाहिये, इसमें सुवर्ण-शलाकासे बच्चे को मधु-घृत चटाया जाता है। ५ *नामकरण*—पहला जन्मनाम जातकर्मके समय तात्कालिक नक्षत्रके पादानुसार, दूसरा व्यावहारिक नाम ब्राह्मणका ११ वें दिन, क्षत्रियका १३ वें दिन, वैश्यका १६ वें दिन करना चाहिये। ६ *निष्क्रमण*—जन्मसे चौथे महीने शिशुको सूर्य-दर्शन कराना पड़ता है ७ *अन्नप्राशन*—छठे मासमें बालकके भोजन-स्वातन्त्र्यार्थ इसे करना पड़ता है। ८ *चूडाकरण*—पहले वा तीसरे वर्ष

में शिशुका मुण्डन हो। ९ *कर्णवेध*—जन्मसे पांच वर्षके बाद कानमें छिद्र करके उनमें सुवर्ण-कुण्डल पहरावे। १० *उपनयन*—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों को ८।११।१२ वर्षों में ब्रह्मसूत्र पहरना पड़ता है, तभी आचार्यकुलमें गायत्री मन्त्रके प्रदान द्वारा वेदारम्भ होता है। उससे बुद्धिकी वृद्धिसे वेदाङ्गोंको पहले पढ़कर फिर वेद पढ़ना पड़ता है। यही ब्रह्मचर्याश्रम संस्कार होता है। इसमें आचार्यकी सेवा तथा उनकी अग्नि में समिदाधान करना पड़ता है। ११ *केशान्त*—ब्राह्मणादि तीनों वर्णों का १६-२२-२४, वर्ष में द्वितीय मुण्डन होता है। इसे गोदान भी कहा जाता है। १२ *समावर्तन*—इसे वेदविद्याकी समाप्तिमें प्रायः २४ वर्षकी आयु में करना पड़ता है—इसमें ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त हो जाता है। १३ *विवाह*—शिक्षाकी समाप्तिके बाद प्रायः २५ वर्षकी आयुमें कमसे कम १८ वर्षकी आयुमें, और कन्याका ऋतुकालकी निकटतामें करना पड़ता है। इसीमें विवाहाग्निपरिग्रह और श्रौताग्न्याधान करना पड़ता है। यही गृहाश्रम है, इसकी अवधि ५० वर्ष तक है। इसमें माता-पिता की सेवा, ऋतुकालमें स्त्रीगमन, सन्तान उत्पन्न करना और उसे पालना पड़ता है। १४ *वानप्रस्थाश्रम*—इसे ५१ वें वर्ष में ७५ वर्ष तक करना पड़ता है। इसमें शीत-उष्णादि द्वन्द्वोंको सहकर मुनिवृत्ति एवं तपस्या करनी पड़ती है। इसमें भिक्षावृत्तिसे निर्वाह करना पड़ता है। इसमें अपनी भावनाके अनुसार ग्रन्थ-निर्माण भी करना चाहिये। १५ *संन्यासाश्रम*—इसमें सर्व कर्मों का वा कर्मफलका त्याग करके ईश्वरमें अद्वैतभाव, प्राणियोंको सन्मार्गमें प्रवृत्त करनेके लिए उपदेश करना पड़ता है। समदृष्टि रखनी पड़ती है। ७६ वर्षसे १०० वर्ष मृत्यु तक इसका सेवन करना पड़ता है। आजकल मरनेके समय जो भूशय्या करानी पड़ती है— यह संन्यासाश्रमका ही अभिनय है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—यह चार आश्रम हुआ करते हैं। चार वर्ण और चार आश्रमोंके धर्मका ही नाम वर्णाश्रमधर्म होता है। वर्णा-

श्रमधर्म ही सनातनधर्म है। १६ अन्त्यकर्म—देहान्त हो जाने पर यह संस्कार होता है। संस्कृत विवाहाग्नि से मृतकका दाह करना पड़ता है। फिर उसकी दशगात्र आदि क्रियाएं तथा सपिण्डन एकोद्दिष्ट श्राद्ध आदि करना पड़ता है।

सारे संस्कार द्विजके होते हैं, स्त्रियोंका विवाह ही उपनयन है, इस कारण उपनयन सम्बन्धी केशान्त, समावर्तन, संन्यास आदि उनके नहीं होते। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, विवाह आदि स्त्रियोंके संस्कार हैं, वैधव्य ही उनका संन्यास है। शूद्रोंका बिना मन्त्रके विवाह तथा अन्त्य यही दो संस्कार हैं। वैध संस्कार उनका कोई भी नहीं। संस्कार-से द्विजोंकी दृढ़ता, हीनांग पूर्ति, और अतिशयाधान होता है।

(१३) जन्मसे वर्णव्यवस्था—जैसे हमें अपनी रक्षा के लिए घरका निर्माण वा अपना सेवक, अपने पोषणार्थ धनोपार्जन, तथा उसकी रक्षार्थ पहरेदार वा बल, चित्तकी कुत्सित कर्ममें प्रवृत्ति न हो, भगवान्में ही सक्ति हो, एतदर्थ कलाकौशल, सेवा, धन, बल और ज्ञानकी आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही समाजकी रक्षाके लिए भी शिल्प-सेवा, धन, बल तथा ज्ञानविभागके अध्यक्ष निषाद सहित चार वर्णोंकी अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है। उनमें चार वर्ण होते हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पांचवां अवर्ण होता है। इनमें भी आदिम तीन वर्ण द्विज, उपनयन तथा वेदके अधिकारी होते हैं। शूद्र एकज होता है। इसमें ब्राह्मणका वेदाध्ययन, दान, यजन यह तीन कर्म होते हैं, अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह तीन जीविकाकर्म होते हैं, शान्ति, इन्द्रियमनोनिग्रह, कष्टसहन, बाह्य-आभ्यन्तरिक शुद्धि, सहनशक्ति, मन-वाणी-शरीरकी सरलता, वेदादिका ज्ञान, परलोकादि विशिष्ट विद्याका आविष्कार तथा देव, पितरोंका आह्वानरूप विज्ञान, आस्तिक्य आदि भी गुण अवलम्बनीय होते हैं। प्रजाको कुत्सितकर्मसे बचाना उन्हें ज्ञान देना, सत्कर्मोंमें प्रवृत्त होनेके लिए उपदेश देना, सुख - शान्ति

की ओर प्रवृत्त करना, पर्व तिथि आदिका बतलाना यह उनका कर्तव्य है। क्षत्रियका यजन, अध्ययन और दान—यह तीन कर्म हैं। राज्य, एवं प्रजाका भीतरी तथा बाहरी शत्रुओंसे रक्षण, यह वृत्तिकर्म है। विषयों में अप्रसक्ति, शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्धमें भागना नहीं, स्वामित्व-यह सात गुण अनुसर्तव्य होते हैं। शत्रुओंके आक्रमणसे देश तथा धर्मकी रक्षा करना उनका कर्तव्य हो जाता है। वैश्यका दान, अध्ययन, यज्ञ करना—यह तीन कर्तव्य हैं। गौ आदि पशुओंका सरक्षण करना, वाणिज्य, कुसीद, खेती—इन चार जीविकाके कर्मोंसे समाजको धनी बनाना उनके कर्तव्यमें आता है। सत्य व्यवहार आदि उनके गुण होते हैं। शूद्रका चार वर्ण वालोंकी सेवा करना—यह एकही कर्म है। इन वर्णों की सङ्करतासे अवर्ण अन्त्यज-निषाद आदि जातियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनके बहुतसे भेद तथा भिन्न-भिन्न कर्म कला-कौशल, कपड़ा बुनना, गृहनिर्माण, मलशोधन आदि नियत हैं।

वर्ण-व्यवस्था जन्मसे होती है और कर्मसे सन्मान होता है, अपने गुण-कर्मके अवलम्बनसे उत्तमता, और अपने गुणकर्मों को अंशतः अवलम्बन करनेसे मध्यमता, दूसरेके गुण-कर्म अवलम्बनसे अधमता, अपने कर्मोंके त्यागमें पतितता होती है, वर्ण-परिवर्तन नहीं। जैसे मानव-शरीरको सुव्यवस्थाके लिए जन्मसे ही उत्पन्न (न कि कृत्रिम) मुख, हाथ, कमर और चरणोंकी आवश्यकता होती है। कृत्रिम अङ्गोंसे उतनी स्वाभाविकतासे उतना काम नहीं होता, वैसे चार वर्ण भी जन्मसे ही समाज-शरीरके मुख-बाहु-ऊरु-चरणस्थानीय हैं। उन-उनके कर्मों का उत्तरदायित्व भी जन्मजात ही वर्णों में हो सकता है, जब-तब जहाँ-तहाँसे आये हुओंमें नहीं। मुखका कार्य,(हाथ,कमर,पैर)हाथका काम मुख, कमर, पैर, कमरका काम, मुख, हाथ, पैर, और पैरका कार्य मुख, हाथ कमर नहीं कर सकते। इस प्रकार कराने पर अव्यवस्था होती है। अपने-

अपने वर्णधर्मके न करने और परधर्मका अवलम्बन करने पर अव्यवस्था या उच्छृङ्खलता पांव रख देती है, इससे युद्ध वा परस्पर-विनाश जारी हो जाते हैं। इस कारण पञ्चजनोंका खान-पान और विवाह आदि अपनी-अपनी जातिमें ही रहे, इनमें जाति-सङ्करता तथा आश्रम-संकरता न हो सके, तदर्थ अपना कर्म अवश्य-कर्तव्य है, नहीं तो वर्णसङ्करता हो जाने पर उसका नाश ही हो जाता है। जैसे घोड़ा और गधेके सङ्करसे उत्पन्न खच्चर स्वजातिका नाश हो कर देता है, वैसे ही वर्ण-सङ्करता होने पर जातिका विनाश और कर्मकी सङ्करता होने पर फिर स्वकर्ममें प्रवृत्ति ही नहीं होती।

जन्मसिद्ध वर्णव्यवस्थारूप दुर्गसे और अपने वर्ण-धर्मका अवलम्बन करनेसे आज तक हिन्दुजाति जीवित रही.अब उसमें उच्छृङ्खलताके आरम्भसे उसमें भी अव्यवस्था हो रही है। पूर्व जन्मके कर्मसे इस जन्ममें उस-उस वर्ण वाले पिताके घरमें जन्म होता है, इस कारण उस वर्णके कर्मसे उसमें शीघ्र ही उन्नति तथा साफल्य-लाभ एवं सन्तोष-लाभ हो जाता है। इसी उद्देश्यसे विवाह भी सवर्णा स्त्रीके साथ किया जाता है कि-सन्तान भी सवर्ण हो, क्योंकि 'सवर्णेभ्य: सवर्णासु जायन्ते हि सजातय:'(याज्ञवल्क्य १।९।९०) ऐसा नियम है। वर्णसङ्करता में तो 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्ट:' इस प्रकार दोनों वर्णोंके धर्म-सङ्करता वाली सतान लक्ष्यभ्रष्ट हुई-हुई 'इच्छति शती सहस्रं', सहस्री लक्षमीहते' इस प्रकार उत्कर्षकी प्राप्तिकी दौड़में लगी हुई, असन्तोष को धारण करती हुई विवाद और कलहोंको अपना लेती है। इस सङ्करतासे समाजकी दशा छिन्न-भिन्न होकर संसारमें विप्लव हो जाता है। सदा अशान्ति ही रहती है। इस प्रकारके देशमें दूसरोंका अधिकार हो जाया करता है।

(२४) वर्णधर्म तथा आश्रमधर्म—वर्णधर्म पहले बतलाये जा चुके हैं आश्रमोंके धर्मोंका निरूपण संस्कारोंमें कुछ आ चुका है।

वर्णधर्मकी तरह आश्रमधर्म भी आवश्यक है। *ब्रह्मचर्यआश्रममें* ब्रह्मचर्य रूप तपस्या करके शरीर और मनको उन्नत किया जाता है। आचार्य-सेवासे विद्या पढ़कर आत्माको उन्नत किया जाता है। *गृहस्थाश्रममें* धार्मिक कर्मोंसे संसार-व्यवहार करके अवैध विषय-वासनाको दूरकर के मनको भगवान्‌के प्रति लगाया जाता है। *वानप्रस्थाश्रममें* वन, वा वन के प्रतिनिधिभूत तीर्थ, वा ऐकान्तिक शुद्ध स्थान में रहकर व्रत एवं तपस्याद्वारा शरीर, वाणी एवं बुद्धिको निर्मल किया जाता है। इनकी निर्मलतामें ही मन विशुद्ध हो जाता है। तब भगवान्‌की पूजामें मन खूब लगता है। अन्तिम *संन्यास आश्रममें* जिसमें ब्राह्मणका ही अधिकार है—सब कुछ छोड़कर, परमात्मामें मनको लीन करके, सारे संसार को परमात्मारूप मानकर, उसकी सेवामें चित्तको जोड़ा जाता है। परिव्रज्या (परिभ्रमण) करके संसारको पापसे दूर हटवाकर उसकी धार्मिक प्रवृत्ति बढाई जाती है। इससे जीवका संसारी बन्धन टूट जाता है।

(१५) शिष्टाचार—अपनेसे उत्तमों वा बड़ोंको प्रणाम, समानोंसे कुशल-समाचार-प्रश्न, अपनेसे छोटों वा छोटी श्रेणी वालोंको आशीः, यह शिष्टाचार कहा जाता है। परमात्मा वा उसके अवतार रामकृष्ण आदिको, देवताओंको भी प्रणाम आवश्यक है। लोकव्यवहारमें माता, पिता तथा गुरु भी प्रणामयोग्य हैं। वृद्धोंको अभिवादन करने वालोंको आयु, विद्या, यश तथा बलकी प्राप्ति मानी गई है। भगवान् की विभूतिरूप गङ्गा, यमुना आदि नदियाँ, समुद्र, विशेष पर्वत, तथा अग्नि, सूर्य, चन्द्रादि देवता भी प्रणामयोग्य हैं। अपनेसे छोटेको आशीर्वाद ही देना चाहिये। इस प्रकार यथायोग्य व्यवहार करना ही शिष्टाचार है छोटे-बड़े सबको 'नमस्ते' कहना ठीक नहीं—इसे भिन्न निबन्धमें बताया जायगा। सबके साथ समान व्यवहार शिष्टाचार नहीं हुआ करता। छोटेको प्रणाम वा उसका चरण-स्पर्श नहीं किया जाता।

(१६) पातिव्रत्य—पतिसेवा ही पातिव्रत्य है। पतिसे भिन्न पुरुषमें कुदृष्टि न डाले। पतिकी मृत्युमें जो स्त्री ब्रह्मचर्य करती हुई, शृङ्गार, हासविलासादिको छोड़ती हुई, व्रत तपस्या आदिसे अपने शरीरको क्षीण कर दे, वही पतिव्रता है। पतिव्रता स्त्री पतिके जीते जी वा विधवा होनेपर पुनर्विवाह नहीं चाहती। कन्यादान होनेपर वह जिसे दी गई है, उसीकी रहती है; दूसरेकी नहीं होना चाहती। पिता आदि द्वारा कन्या का पुरुषको दान करना ही विवाह होता है। उसका दान करके फिर दाताका भी उसमें पुनर्दान करनेका अधिकार नहीं रह जाता। तब उसका पुनर्विवाह भी कैसे हो? यद्यपि पतिका उसपर अधिकार होता है, परन्तु उसका भी उसे दूसरेको देनेका अधिकार कहीं भी नहीं कहा गया। पिता द्वारा कन्याका दान ही कन्याविवाह होता है, पति द्वारा पत्नी को देना कहीं भी 'विवाह' शब्दसे नहीं कहा गया। वह स्वयं भी स्वतन्त्र नहीं होती, अतः वह भी स्वयं अपनेको पुनः किसीको नहीं दे सकती। पतिकी मृत्युमें भी पत्नी परतन्त्र ही रहती है। पति अपनी सन्तानार्थ उसके घरमें आकर उससे विवाह करता है, उसे वहाँसे ले जाता है। स्त्री अपनी सन्तानकेलिए पुरुषके घर नहीं जाती, या उसे उसके घरसे अपने घर नहीं लाती। तब सन्तान न होनेपर पुरुष दूसरी कन्यासे विवाह कर सकता है। स्त्री अपनी सन्तानार्थ अन्य पुरुषसे विवाह नहीं करती। क्योंकि—स्वतन्त्रता और परतन्त्रताका आपसमें विरोध है। पुरुष स्वतन्त्र है, स्त्री परतन्त्र। पतिव्रता ही पातिव्रत्य होता है, पुरुषको स्त्रीव्रत नहीं होता। पतिव्रता स्त्री पतिकी मृत्युमें उसका अनुसरण करती है, पुरुष स्त्रीकी मृत्युमें अनुसरण नहीं करता। प्रकृति भी इस विषयमें पुरुषका पक्षपात करती है। एक पुरुष एक वर्षमें अनेक स्त्रियोंसे संयोग करके अनेक सन्तानें उत्पन्न कर सकता है, पर एक स्त्री एक वर्षमें अनेक पुरुषोंसे संयोग करके एकही संतानको पैदा कर सकती है। इस कारण स्त्रीका एक ही

विवाह, और पुरुषके सन्तानके प्रयोजनकेलिए अनेक विवाह भी हो सकते हैं। हाँ, कामभोगार्थ पुरुषका भी पुनर्विवाह निन्दित ही है।

(१७) विधवाधर्म—द्विज विधवाओंका पुनर्विवाह वैध नहीं है। 'मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा' (बृहद्विष्णुस्मृति २५।१४) यहां पर विधवाओंका ब्रह्मचर्य प्रथम श्रेणीका सतीधर्म मना गया है। मृतपतिके साथ अनुमरण द्वितीय श्रेणीका सतीधर्म कहा गया है। वैधव्य स्त्रियोंका एक प्रकारका संन्यास है, तब यह सर्व-पूजनीय हो जाती है। सर्वपूजनीया भला फिर किसकी अङ्कशायिनी बने ? जो किसी अन्यकी अङ्कशायिनी बनती है, वह सर्वपूजनीय भी नहीं होती। स्त्रियोंका वैधव्य एक बड़ी तपस्या है, तपस्या यह संन्यासीका धर्म है। पूर्व समयमें किसी भी विधवाने पुनर्विवाह नहीं किया। सावित्रीने तो पतिवरण-समय (सगाई) में पति की अल्पायु सुनकर भी अन्य पतिका विचार नहीं किया। सुलोचनाका भी मेघनादके पीछे मरना प्रसिद्ध है। अभिमन्युकी १३-१४ वर्षकी भी विधवा उत्तराने वैधव्य का सहन ही किया। इस प्रकार महाभारतयुद्धमें हुई विधवाओंका भी विवाह कहीं भी नहीं सुना गया। वैधव्य वा सधवात्वमें पर-पुरुष का नाम भी ग्राह्य नहीं होता। वैधव्यमें धर्मपालनसे इस लोकमें देश का मुख उज्ज्वल और अपना भारी यश, तथा परलोकमें सद्गति होती है।

(१८) लोक-लोकान्तर—जहाँ हम अब हैं, वह इहलोक है, उससे भिन्न परलोक होता है। परलोकमें द्युलोक, पाताललोक आदि लोक आजाते हैं। द्युलोकमें स्वर्गलोक, यमलोक, ब्रह्मलोक, विष्णुलोक और रुद्रलोक आदि प्रसिद्ध हैं। इससे भिन्न लोक नरक आदि प्रसिद्ध हैं। पुण्यात्मा, सात्त्विक जन स्वर्गलोकमें जाते हैं। स्वर्गलोकमें अमृत-भक्षक देवताओं तथा उनके अधिपति इन्द्रका निवास है। ३३ कोटि देवता इन्द्रके अनुचर हैं, ४९ मरुद्गण उसके सहायक होते हैं। पापी,

विश्वासघाती और व्यभिचारी यमलोकमें जाते हैं. उसमें धर्मराज यम पापिपुरुष और धर्मात्माओंका न्याय करते हैं। धर्मात्माको स्वर्गमें भेजते हैं. पापियोंको नरकमें। दोनों प्रकारके पुरुषोंको कुछ समय तक परलोकमें रखकर सूक्ष्म पाप-पुण्योंका फल देकर अवशिष्टसे उसे मनुष्यलोकमें भेजते हैं; वह तब तक वहां रहता है, जब तक कि उसके प्रारब्धकर्म बचे हुए हैं। उनके समाप्त हो जाने पर पुरुष एक कला भी नहीं जीता।

विष्णु आदिके लोकमें उस-उस देवकी प्रधानता रहा करती है। वैकुण्ठ लोकमें पाप-पुण्यरहित पुरुषोंका गमन होता है। ब्रह्माण्डमें मुख्यतया १४ लोक हैं, भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तप, सत्य, यह सात लोक ऊर्ध्वलोक हैं, तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, पाताल—यह सात अधोलोक हैं। भूलोकमें रजोगुण अधिक है, उसमें ऊर्ध्वलोकमें उत्तरोत्तर सत्त्वगुण अधिक है। निम्नलोकोंमें तमोगुण अधिक है। ऊर्ध्वलोकोंमें देवता रहते हैं। ग्रह, देवता, असुर, गन्धर्व, प्रेत, पितर भूलोकसे ऊर्ध्वलोकोंमें रहते हैं, भूलोकमें मनुष्य और पशुपक्षी कीट आदि रहते हैं। निम्नलोकोंमें दैत्य रहते हैं। भूलोकके सहचारी प्रेतलोकमें प्रेतयोनि वाले निवास करते हैं, नरकलोकमें दण्डनीय पापी रहते हैं। पितृलोकमें हमारे मृत पितर रहते हैं। इस प्रकार अनन्त योनियोंके जीव इस सारे ब्रह्माण्डमें रहते हैं। आकाश लोकमें ऊपर ग्रह तारे आदि जो दीख रहे हैं, यह भाग द्युलोक (स्वर्ग) है, मनुष्य लोक स्वर्ग-नरक नहीं हो सकता। 'हमारी जन्मभूमि कश्मीर है', कह देने में कश्मीर हमारी जन्मभूमिसे अलग हो जाता है, 'यह पृथिवीलोक ही स्वर्ग-नरक है'—इस वाक्यसे भी स्वर्ग-नरकलोककी भिन्नता हो जाती है।

(१६) कर्मोंके भेद—१ सञ्चित, २ प्रारब्ध, ३ क्रियमाण भेदसे कर्म तीन प्रकारके होते हैं। अनन्त जन्मोंसे लेकर आज तक

इकट्ठे हुए-हुए कर्म *सञ्चित* कहाते हैं। मनुष्य मन, वाणी एवं शरीर से जो कुछ भी करता है; जब तक वह क्रियारूपमें है, तब तक *क्रियमाण* होता है। क्रिया समाप्त हो जाने पर वह स्थायिकोषमें *सञ्चित* हो जाता है। *मनुष्यके इस अनन्त स्थायिकोषरूप सञ्चितकोषसे पुण्य* और पापकी महान् राशिसे कुछ-कुछ अंश लेकर उससे जो शरीर बनाया जाता है, उसे *प्रारब्ध कर्म* कहा जाता है। जब तक सञ्चित कर्म अवशिष्ट हैं, तब तक प्रारब्धकर्म बनता ही रहता है। जब तक इस अनेक-जन्मार्जित कर्मसञ्चयका सर्वथा नाश न हो जाय, तब तक जीव की मुक्ति नहीं होती।

सञ्चित कर्मोंसे वर्तमानमें स्फुरणा, और स्फुरणासे क्रियमाण, क्रियमाणसे फिर सञ्चित और सञ्चितके अंशसे प्रारब्धकर्म बनता है। इस प्रकार जीव कर्म-प्रवाहमें निरन्तर बहता ही रहता है। प्रारब्धकर्मके अनुसार ही बुद्धि होती है, *प्रारब्धकर्मवश ही तदनुकूलकर्मकेलिए* हृदयमें प्रेरणा होती है। सात्विक, राजसिक, तामसिक समस्त स्फुरणाओं वा कर्मप्रेरणाओंका कारण वही होता है। वह केवल स्फुरणा करता है, कर्म करनेमें प्रधान कारण पुरुषार्थ कहा जाने वाला क्रियमाण कर्मही है। ज्ञान उत्पन्न होने पर और भगवद्-दर्शन होने पर सञ्चित कर्म तथा क्रियमाण कर्म सभी नष्ट हो जाते हैं, केवल प्रारब्ध कर्म, बिना भोगके नहीं जाता। उसके भोग हो जाने तथा नवीन कर्मकी उत्पत्ति न होने पर मुक्ति हो जाती है।

कर्म में यदि वासना-क्षय है, तो वह कर्म भी अकर्म हो जाता है *तब कर्मकी बन्धकता नष्ट हो जाती है। शास्त्रानुसारी कर्म सुकर्म होता है।* उससे विरुद्ध कर्म कुकर्म हो जाता है।

(२०) धर्मों के भेद।—धर्म तीन प्रकार के होते हैं—*१ साधारण धर्म, २ विशिष्ट धर्म और ३ आपद्धर्म।* इनमें *साधारण* धर्म, मनुष्यमात्रका हितकारक होता है। इसकी सहायतासे संसारमात्र

के व्यक्ति अपनी उन्नति कर सकते हैं। 'अहिंसा, सत्यमस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः। [श्राद्धकर्मातिथेयञ्च दानमस्तेयमार्जवम्। प्रजन स्वेषु दारेषु तथा चैवानुसूयता] एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः, (१०।६३)। अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। दानं दया दमः शान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्, (याज्ञवल्क्यस्मृति १।१२२) सत्य भाषण, सत्य व्यवहार, किसी भी प्राणीको क्लेश न देना, अपने धर्मका आचरण करना, अपने धर्मग्रन्थ पढ़ना, न्याय्य-व्यवहार, बड़ोंमें श्रद्धा, समानोंमें प्रेम, छोटोंमें स्नेह, माता-पिता तथा गुरुकी सेवा, अतिथि सेवा, निश्छल व्यवहार, दम्भ न करना, पति-पत्नी में एक दूसरेसे अनुराग, व्यभिचार न करना, चोरी वा चोरबाजारी न करना, भाइयोंका आपस में प्रेम, बहिनोंका आपसमें प्रेम, भाई-बहिनोंका परस्पर स्नेह, सरलता, जुआ न खेलना, दूसरोंकी स्त्रियोंमें कुदृष्टि न करना, मांस न खाना, मद्य न पीना, दूसरेके धनमें गर्धा न करना, कृतज्ञता, इन्द्रियोंका संयम, मनका दमन, क्रोध न करना, सुपात्रको दान देना, दया, शान्ति, क्षमा, धैर्य, पवित्रता रखना, यह *साधारण धर्म* हैं।

विशिष्ट धर्मः—विशेष अधिकारियोंके उपयोगी, पृथक्-पृथक् देश, काल, पात्रोंकी उन्नति करने वाले नियम *विशिष्टधर्म* कहलाते हैं जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदियोंके वर्ण-धर्म, अन्त्यज आदियों के जाति-धर्म, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी इनके आश्रम-धर्म, स्त्री-धर्म, पुरुष-धर्म इनके पृथक्-पृथक् धर्म विशिष्टधर्म कहाते हैं। इनमें एकके धर्म को दूसरा कर ले, तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा वा साहस है। कर्म-संकरता भी अच्छा काम नहीं। इनमें व्यक्तिविशेषों के धर्म व्यक्ति-धर्म कहलाते हैं।

आपद्धर्मः—'घनाम्बुना राजपथे हि पिच्छिले क्वचिद् बुधैरप्यपथेन गम्यते' (नैषध चरित्र ९।३६) इस प्रकार कहा हुआ, आपत्तिमें अपवादरूप से अभ्यनुज्ञात धर्म *आपद्-धर्म* होता है। उसे आपत्तिमें

ही करना चाहिए, जब-तब नहीं । श्री मनुजीने कहा है—'आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः। स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् (११।२८) विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः। आपत्सु मरणाद् भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ।. (११।२९) प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते । न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् । (११।३०) ।

उस आपद्-धर्मका मनुजीने इस प्रकार वर्णन किया है—'अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा । जीवेत् क्षत्रिय-धर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥ (१०।८१) उभाभ्यामप्यजीवँस्तु कथं स्यादिति चेद् भवेत । कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद् वैश्यस्य जीविकाम्' (१०।८२) इत्यादि । यहां पर ब्राह्मणको आपत्तिकालमें क्षत्रिय वैश्यकी जीविका करनेके लिए अभ्यनुज्ञा दी गई है । इस प्रकार श्रीमद्भागवत में—'सीदन् विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत । खड्गेन वाऽऽपदाक्रान्तो न श्ववृत्त्या कदाचन । वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययाऽऽपदि । चरेद् वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथञ्चन । शूद्रवृत्तिं भजेद् वैश्यः शूद्रः कारुकट क्रियाम् । कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा' (११।१७।४७-४९) इत्यादि ।

पहले कहे हुए सत्य आदि धर्म भी कभी हानि-जनक हो जाते हैं । हिंसकको आगे भागी जा रही गायका वृत्त कहना अधर्म है, वहां असत्य भी सत्य हो जाता है—इत्यादि भी यहां जान लेना चाहिए, इस विषय में 'गोकुले कन्दशालायां तैलचक्रेक्षुयन्त्रयोः । अमीमांस्यानि शौचानि स्त्रीणां च व्याधितस्य च । (१८९) गोदोहने चर्मपुटे च तोयं यन्त्राकरे कारुकशिल्पिहस्ते । स्त्रीबालवृद्धाचरितानि यान्यप्रत्यक्षदृष्टानि शुचीनि तानि, (२२८) प्राकाररोधे भवनस्य दाहे, सेनानिवेशे विषमप्रदेशे । आवास्ययज्ञेषु महोत्सवेषु तेष्वेव दोषा न विकल्पनीयाः' (२३०) चर्मभाण्डैस्तु दाराभिस्तथा यन्त्रोद्धृतं जलम् । आकरोद्गत-

वस्तूनि नाशुचीनि कदाचन, (२३६। इत्यादि अत्रिस्मृतिके तथा 'देव-यात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च । उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टं न विद्यते' (बृहत्पराशर० ६।२१७) इत्यादि वचनोंका मारवाड़ आदि विशेष देशों, तथा कुएँ आदिकी सुविधाके अभाव-स्थलोंमें यथा-योग्य उपयोग किया जा सकता है।

(२१) व्रत-उपवासः—शरीर, इन्द्रिय तथा मन के वशीकरणार्थ एवं शोधनार्थ व्रत-उपवास रामबाण औषधि है। वेदादि शास्त्रोंमें व्रतकी आज्ञा है, 'अग्ना वयमादित्य ! व्रते तव' (ऋ०सं० १।२४।१५) यहां सूर्य या वरुणका व्रत कहा गया है। 'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः । (गीता २।५९) यहां पर निराहार होने से विषयनिवृत्ति सूचित की गई है। यथाविधि व्रतके अनुष्ठानमें लौकिक एवं शास्त्रीय लाभ हुआ करता है। व्रत आत्मशुद्धिका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। बाल-वृद्ध, बीमार, सगर्भा स्त्रीके लिए व्रत आदिकी शक्ति न होने पर बाध्यता नहीं है।

(२२) सृष्टि, स्थिति, प्रलयका विषयः—सृष्टिकी रचना रजोगुणावलम्बी ब्रह्मा करते हैं, सत्त्व, रज, तम इन गुणोंकी साम्याव-स्थारूप प्रकृति से, पृथिवी अप्, तेज, वायु, आकाश इन पांच भूतोंसे पूर्वकर्मानुकूल सृष्टिका सर्जन होता है। सत्त्वगुणधारी विष्णु सृष्टिकी स्थिति (पालन) करते हैं। तमोगुणधारी रुद्र प्रलय करके सृष्टिका संहार करते हैं। ४, ३२,००,००,००० वर्षोंके लिए ब्रह्मा, विष्णु, सृष्टिकी रचना और स्थिति करते हैं। इतना समय ब्रह्माका एक दिन है। ब्रह्मा की रात्रि में रुद्र सृष्टि का संहार करते हैं। ब्रह्माकी रात्रि भी ४,३२,-००,००,००० वर्षकी होती है। यह प्रलयका समय है। ब्रह्माके दिन में चार युग एक सहस्र बार आवृत्ति करते हैं। ब्रह्माकी रात्रिमें सृष्टि अपने कर्मोंके अनुसार ब्रह्माके मुख, बाहु उरु और पैरोंमें लीन

हो जाती है। फिर ब्रह्माका दिन शुरू होनेपर ब्रह्मा मुखसे ब्राह्मण वर्णको, बाहुसे क्षत्रिय वर्णको, कमर या ऊरुसे वैश्य वर्ण को, और पांव से शूद्र वर्ण को, अपान आदि संकर अंगसे अवर्ण अन्त्यज जाति को, दाहिने अंग से पुरुष को तथा बाएं अंगसे स्त्रीको, दाहिने और बाएं के संकरसे नपुंसकको उत्पन्न करते हैं। और उनके कर्मोंको जन्मसे ही नियमित करते हैं।

(२३) सृष्टि, स्थिति, प्रलय, युग कालकी व्यवस्था।

ब्रह्माजीकी आयु अपने परिमाणसे एक सौ सालकी होती है, उनके एक दिनकल्प में ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं। ब्रह्माके एक दिन में चार युगोंकी एक हजार बार आवृत्ति होती है। इनमें १४ मन्वन्तर हुआ करते हैं। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि नामके चार युग होते हैं। इनमें कलियुग के दिव्य वर्ष १२०० तथा मनुष्य वर्ष ४,३२,००० हैं। द्वापरके कलिसे दुगने दिव्य वर्ष २४०० तथा मनुष्य वर्ष ८,६४,००० हैं। त्रेताके कलिसे तिगुने दिव्य वर्ष ३६०० तथा मनुष्य वर्ष १२,९६,००० हैं। सत्ययुगके कलियुगसे चौगने दिव्य वर्ष ४८०० तथा मनुष्य वर्ष १७,२८,००० हैं। एक चतुर्युग के सब मिल कर १२,००० दिव्य वर्ष तथा ४३,२०,००० मानुष वर्ष हैं। इनमें ७१ चतुर्युगों का एक मन्वन्तर होता है। मन्वन्तरके वर्ष ३०,६७,२०,००० होते हैं। ब्रह्माके एक दिनकल्पमें १४ मन्वन्तर होते हैं उनके वर्ष ४,२९,४०,८०,००० होते हैं। १४ मन्वन्तरों में ९९४ चतुर्युग होते हैं। इनमें १७,२८,००० वर्षकी प्रत्येक सन्धिके अनुसार १५ सन्धियां होतीं हैं। १५ सन्धियोंके २,५९,२०,००० वर्ष होते हैं। यह संख्या छः चतुर्युगों की है। तब १४ मन्वन्तरोंके ९९४ चतुर्युगोंके ४,२९,४०,८०,००० वर्षोंमें १५ सन्धियों अर्थात् छः चतुर्युगोंके २,५९,२०,००० वर्ष मिलानेसे एक हजार चतुर्युगके वर्ष ४,३२,००,००,००० पूर्ण हो जाते हैं।

वस्तूनि नाशुचीनि कदाचन, (२३६। इत्यादि अत्रिस्मृतिके तथा 'देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च। उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टं न विद्यते' (बृहत्पराशर० ६।२३७) इत्यादि वचनोंका मारवाड़ आदि विशेष देशों, तथा कुएँ आदिकी सुविधाके अभाव-स्थलोंमें यथायोग्य उपयोग किया जा सकता है।

(२१) व्रत-उपवासः—शरीर, इन्द्रिय तथा मन के वशीकरणार्थ एवं शोधनार्थ व्रत-उपवास रामबाण औषधि है। वेदादि शास्त्रोंमें व्रतकी आज्ञा है,'अथा वयमादित्य ! व्रते तव' (ऋ०सं० १।२४।१५) यहां सूर्य या वरुणका व्रत कहा गया है। 'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। (गीता २।५६) यहां पर निराहार होने से विषयनिवृत्ति सूचित की गई है। यथाविधि व्रतके अनुष्ठानसे लौकिक एवं शास्त्रीय लाभ हुआ करता है। व्रत आत्मशुद्धिका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। बाल-वृद्ध, बीमार, सगर्भा स्त्रीके लिए व्रत आदिकी शक्ति न होने पर बाध्यता नहीं है।

(२२) सृष्टि, स्थिति, प्रलयका विषयः—सृष्टिकी रचना रजोगुणावलम्बी ब्रह्मा करते हैं, सत्त्व, रज, तम इन गुणोंकी साम्यावस्थारूप प्रकृति से, पृथिवी अप्, तेज, वायु, आकाश इन पांच भूतोंसे पूर्वकर्मानुकूल सृष्टिका सर्जन होता है। सत्त्वगुणधारी विष्णु सृष्टिकी स्थिति (पालन) करते हैं। तमोगुणधारी रुद्र प्रलय करके सृष्टिका संहार करते हैं। ४, ३२,००,००,००० वर्षोंके लिए ब्रह्मा, विष्णु, सृष्टिकी रचना और स्थिति करते हैं। इतना समय ब्रह्माका एक दिन है। ब्रह्मा की रात्रि में रुद्र सृष्टि का संहार करते हैं। ब्रह्माकी रात्रि भी ४,३२,-००,००,००० वर्षकी होती है। यह प्रलयका समय है। ब्रह्माके दिन में चार युग एक सहस्र बार आवृत्ति करते हैं। ब्रह्माकी रात्रिमें सृष्टि अपने कर्मोंके अनुसार ब्रह्माके मुख, बाहु ऊरु और पैरोंमें लीन

हो जाती है। फिर ब्रह्माका दिन शुरू होनेपर ब्रह्मा मुखसे ब्राह्मण वर्णको, बाहुसे क्षत्रिय वर्णको, कमर वा ऊरूसे वैश्य वर्ण को, और पांव से शूद्र वर्ण को, अपान आदि संकर अंगसे अवर्ण अन्त्यज जाति को, दाहिने अंग से पुरुष को तथा बाएं अंगसे स्त्रीको, दाहिने और बाएं के संकरसे नपुंसकको उत्पन्न करते हैं। और उनके कर्मोंको जन्मसे ही नियमित करते हैं।

(२३) सृष्टि, स्थिति, प्रलय, युग कालकी व्यवस्था।

ब्रह्माजीकी आयु अपने परिमाणसे एक सौ सालकी होती है, उनके एक दिनकल्प में ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं। ब्रह्माके एक दिन में चार युगोंकी एक हजार बार आवृत्ति होती है। इसमें १४ मन्वन्तर हुआ करते हैं। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि नामके चार युग होते हैं। इनमें कलियुग के दिव्य वर्ष १२०० तथा मनुष्य वर्ष ४,३२,००० हैं। द्वापरके कलिसे दुगने दिव्य वर्ष २४०० तथा मनुष्य वर्ष ८,६४,००० हैं। त्रेताके कलिसे तिगुने दिव्य वर्ष ३६०० तथा मनुष्य वर्ष १२,९६,००० हैं। सत्ययुगके कलियुगसे चौगने दिव्य वर्ष ४८०० तथा मनुष्य वर्ष १७,२८,००० हैं। एक चतुर्युग के सब मिल कर १२,००० दिव्य वर्ष तथा ४३,२०,००० मानुष वर्ष हैं। इनमें ७१ चतुर्युगों का एक मन्वन्तर होता है। मन्वन्तरके वर्ष ३०,६७,२०,००० होते हैं। ब्रह्माके एक दिनकल्पमें १४ मन्वन्तर होते हैं उनके वर्ष ४,२९,४०,८०,००० होते हैं। १४ मन्वन्तरों में ९९४ चतुर्युग होते हैं। इनमें १७,२८,००० वर्षकी प्रत्येक सन्धिके अनुसार *१५ सन्धियां* होतीं हैं। १५ सन्धियोंके २,५९,२०,००० वर्ष होते हैं। यह संख्या छः चतुर्युगों की है। तब १४ मन्वन्तरोंके ९९४ चतुर्युगोंके ४,२९,४०,८०,००० वर्षोंमें १५ सन्धियों अर्थात् छः चतुर्युगोंके २,५९,२०,००० वर्ष मिलानेसे एक हजार चतुर्युगके वर्ष ४,३२,००,००,००० पूर्ण हो जाते हैं।

में सहायता करता है, वह हिन्दुस्थानका शत्रु है, हिन्दुस्थानके नाशार्थ उसका यत्न है। यहां तो इस प्रकारकी भारतधर्मकी दृढता करनी चाहिये, जिससे शत्रुदेश उससे डरें, और इस देश के हिन्दुओंमें भेद वा अनैक्य न करा सकें।

हम विदेशोंसे नहीं आये कि-विदेशियोंके आचार वा धर्मोंको स्वीकार करें। हमारा यही आदि-देश है। इसीके सनातनसे आये हुए धर्मका अनुष्ठान हमारा कर्तव्य हो जाता है। इस देशका धर्म इस देशके पूर्व-वर्णित साहित्यके अक्षर-अक्षरमें व्याप्त है। इसे हमने इस निबन्धमें संक्षेपसे दिखला ही दिया है। इसका महाभाष्य 'श्री-सनातनधर्मालोक' के अन्य निबन्धोंमें किया जायगा। उसके धर्ममें दृढता ही देशी, विदेशियोंकी दृष्टिमें इसकी दृढता दिखलाना है और इसका गौरव बढ़ाना है। शिथिल धर्म वाले दूसरोंकी दृष्टिमें निकृष्ट माने जाते हैं। उनका प्रभाव भी दूसरों पर नहीं पड़ता; और उनका कथन भी कोई दूसरा नहीं मानता।

इसी भारत देशमें आदि-सृष्टि हुई। हमारे अवतार भी यहीं हुए हैं। हमारे तीर्थ भी यहीं हैं। भारतकी भारती संस्कृतभाषा ही है। इस कारण उसका पढ़ना-पढ़ाना भी हमारे लिए आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। इसी भाषासे हमारे हिन्दुत्वकी तथा हमारे देशकी रक्षा होगी। स्वदेशकी भाषाको भुलाने तथा विदेशकी भाषा स्वीकार करनेसे वैदेशिकोंका भी स्वदेशमें आधिपत्य हो जाता है। वेष भी स्वदेशी ही पहरना चाहिये। स्वदेशी वस्त्र तथा स्वदेशी वस्तुओंमें ही प्रेम रखना चाहिये, तभी देशका धन देशमें रहता है, और देशभक्ति भी बढ़ती है। इसी देशकी रक्षाके लिए प्राणोंकी भी बाजी लगा देनी चाहिये।

(२५) राजभक्ति—राजभक्ति भी हमारा कर्तव्य है। 'नराणां च नराधिपम्' (गीता १०।२७) यहां श्रीकृष्णभगवान्ने राजाको अपनी विभूति माना है, परन्तु भारतराजका भी कर्तव्य है कि—वह

भारतधर्मकी रक्षा करें, भारतीय साहित्य तथा भारतीय भाषा को उन्नत करें। जो भारतका राजा भी भारतसे गुप्त विद्वेष करता है, उसके धर्मको हटवाना चाहता है, विदेशोंके ही धर्मको प्रचलित करता है, अपने धार्मिक नियमों को कानून बनाकर हटवाता है; अपने देशवालोंकी तथा धर्मके पण्डितोंकी नहीं सुनता, उसका भयङ्कर विरोध करना चाहिये। उसमें राजा वेनकी भांति दानववृत्ति रहती है—यह जानकर उसे राज्यसे उतार देना चाहिये। भारतीयताके भक्त राजाका ही अभिषेक करना चाहिये।

(२६) विविध वाद—वेदान्तदर्शन पुराणसम्पादक श्रीवेदव्यास जीसे बनाया गया है पुराणोंमें वेदमें जो दर्शनशास्त्र आया है, पुराण-प्रवक्ताने उसेही ब्रह्मसूत्रोंके सूत्रोंमें व्यवस्थापित किया है। उसी ब्रह्मसूत्र का नाम उत्तरमीमांसा कहा जाता है। यही अन्तिम दर्शन है। इसीमें भिन्न-भिन्न आचार्योंने अपने दृष्टिकोणसे भाष्य किया है। तत्तत् सम्प्रदायों वा वादोंकी प्रतिष्ठा उन्हीं भाष्योंके आधारपर है। ब्रह्मसूत्र (न्यायप्रस्थान), प्रसिद्ध उपनिषद् (श्रुतिप्रस्थान), भगवद्गीता (स्मृतिप्रस्थान) यह तीन ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्हींके भाष्योंसे ही अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद; शुद्धा-द्वैतवाद, अचिन्त्यभेदाभेदवाद—यह सम्प्रदाय अथवा वाद जारी हुए हैं। अद्वैतवादसे अतिरिक्त शेष वाद वैष्णव सम्प्रदाय उपासना-सिद्ध्यर्थ हैं। इस कारण उनमें जगत्की सत्यता तथा ब्रह्मके सविशेषरूपका प्रतिपादन है। इस कारण वे सम्प्रदाय उपासनाकाण्डकी सिद्धिके लिए हैं, अद्वैतवाद अन्तिम सम्प्रदाय ज्ञानकाण्ड की पुष्टि के लिए है।

अब इन वादोंका 'कल्याण' की रीतिसे निरूपण करके 'संक्षिप्त सनातनधर्म' विषयका उपसंहार किया जाता है। शेष विषय 'श्रीसनातन-धर्मालोक' ग्रन्थमालामें यथासमय निकलते रहेंगे। इस प्रकाशनमें हिन्दु-जनताका सहयोग अपेक्षित है।

१ अद्वैतवाद—यह दीख रहा हुआ जगत् केवल प्रतीतिमात्र है, यह प्रतीति भी अज्ञानसे है। एकही निर्गुण, निराकार, निर्विकार, चेतनसत्ता वास्तविक है, यह दृश्य जगत् उससे भिन्न नहीं है। समस्त दृश्य परिणामी और अनित्य है। नाम और रूप मनकी वृत्तियाँ हैं। जगत् नाम एवं रूपसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं। उस नाम और रूपकी प्रतीति भी मायासे है। माया अनिर्वचनीय और अनादि है। तथापि ज्ञान द्वारा उसका भी अन्त होनेसे उसकी भी सत्ता नहीं है। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। उसमें विजातीय, सजातीय एवं स्वगत कोई भी भेद नहीं है।

यह वाद भगवान् श्रीशङ्कराचार्यस्वामीसे उपज्ञात है। उन्होंने व्यावहारिकता और पारमार्थिकतामें भेद माना है। आचार्यचरणोंने व्यवहारमें उपासना, भक्ति तथा आचारको महत्त्व दिया है। इनसे चित्तकी शुद्धि तथा ज्ञानपात्रता प्रतिपादित की है। श्रीशङ्कराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध थे—यह साहसिक उक्ति ही है। इस मतमें श्रुति, शास्त्र, तथा आस्तिकताकी प्रतिष्ठाके साथ ज्ञानको भी महत्त्व दिया गया है, बौद्ध सम्प्रदायमें ऐसा नहीं है।

२ विशिष्टाद्वैतवाद—यह वाद महाप्रभु श्रीरामानुजाचार्यस्वामीसे प्रवर्तित किया गया है। इसमें चिदचिद्विशिष्ट समग्र तत्त्व ही ब्रह्म है। ब्रह्मके चेतन अंशसे चित् जीव है, और अचित् अंशसे जड़ प्रकृति हुई है। ब्रह्म जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। जीव ब्रह्मकाही अंश है। भगवान् नारायण ही इस समस्त जड़-चेतनके स्वामी हैं। वे समस्त गुणगणोंके एक धाम हैं, और नित्य वैकुण्ठविहारी हैं। उनकी प्रपत्ति (शरणागति) ही जीवकी मुक्तिका साधन है। जीव ज्ञाता है, ज्ञान जीवका धर्म है। जीव और ईश्वर नित्य भिन्न हैं।

ब्रह्म सगुण तथा सविशेष है। जगत् ब्रह्म का परिणाम है। उपासनासे अज्ञानकी निवृत्तिही जीवका प्रयोजन है। ब्रह्म श्रीनारायण

अपनी योगमाया शक्तिसे युक्त होकर कर्मफलदाता ईश्वर रूपसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहारका कारण है। अन्तर्यामी अर्चा आदि विग्रहोंमें जीवको उसकी प्राप्ति होती है। जीव चेतन तथा अणुरूप एवं ब्रह्मका शरीर है। जीव और ब्रह्ममें स्वगत भेद है। जीव और ब्रह्म दोनों चेतन तथा स्वप्रकाश हैं, ज्ञानके आश्रय हैं, नित्य हैं, और देहादिसे भिन्न हैं। जीव कर्ता, भोक्ता तथा ब्रह्मका दास है। जीव ब्रह्मसे अभिन्न कभी भी नहीं होता। अप्राकृत चिन्मय शरीरसे वैकुण्ठ धाममें निवासकी प्राप्ति ही जीवकी मुक्ति होती है, वह ब्रह्मकी शरणागति द्वारा प्राप्त होती है। शास्त्रमें विपरीत सब कर्म त्याज्य हैं।

३ द्वैतवाद—इसे श्रीमध्वाचार्यस्वामीने प्रवृत्त किया है। इस सम्प्रदायमें जीव और ब्रह्म दोनों नित्य एवं पृथक् सत्ताएं हैं। जीव अणु है दास है, और ब्रह्म सगुण,सविशेष एवं स्वतन्त्र है। जीवका सालोक्य आदियोंमें एक मुक्तिको पालेना ही परमपुरुषार्थ है। जीव और ब्रह्मका साम्यबोध भ्रम एव अपराध है। दृश्य जगत् सत्य है, विकारी और परिवर्तनशील भी वह मिथ्या नहीं है। ब्रह्म केवल शास्त्रमें ही गम्य है, और वाणीका अगोचर है। परमतत्त्व ब्रह्म भगवान् विष्णु हैं। भक्ति, त्याग और ध्यान जीवकी मुक्तिके लिए साधन हैं। आर्यसमाजका द्वैतवाद इस द्वैतवादसे स्वतन्त्र है और स्वेच्छाकल्पित है।

४ द्वैताद्वैतवाद- यह वाद द्वैत एवम् अद्वैतका सामञ्जस्यकर्ता है, श्रीनिम्बार्काचार्यसे प्रारब्ध किया गया है। इसमें जगत् ब्रह्मका परिणाम है। ब्रह्ममें परिणाम होने पर भी विकार नहीं होता, जीव और जगत् ब्रह्मके ही परिणाम हैं। दोनों, ब्रह्मसे पृथक् भी हैं, मिलित भी हैं। ब्रह्मका सगुणभाव मुख्य है, जगदतीतरूपमें ब्रह्म निर्गुण है। ब्रह्म जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। जीव ब्रह्मका अंश है, उससे भिन्न भी है, अभिन्न भी। जीव अणु है। मुक्त जीव आत्मा तथा

जगत्‌से भिन्नता और ब्रह्मसे अभिन्नताका अनुभव करता है। मुक्तिका साधन उपासना है।

५ शुद्धाद्वैतवाद—इसे श्रीमान् वल्लभाचार्य गोस्वामीने प्रसारित किया है। जगत्‌के मिथ्यात्वको हटाकर इसमें उपासनाको प्रतिष्ठापित किया गया है। श्रीकृष्णही इसमें ब्रह्म हैं। वे निर्गुण निर्विशेष, कर्ता, भोक्ता निर्विकार, गुणातीत, विरुद्धधर्माश्रय, सजातधर्मसे रहित, तथा जगत्‌का उपादान हैं। जगत् सत्य है और कार्य है। उसका परिणाम ब्रह्मसे अभिन्न है। जगत्‌में पदार्थोंके आविर्भाव-तिरोभाव होते रहते हैं। जीव शुद्ध है और अणुरूप है। जीवके लिए ब्रह्म की प्रीति ही सुमार्ग है। इसका परिणाम श्रीकृष्णमें पतिभावकी प्राप्ति है। वह पुष्टिमार्ग (भगवदनुग्रह) से प्राप्त होती है।

६ अचिन्त्यभेदाभेदवाद-यह चैतन्यदेव प्रभुसे प्रसारित किया गया है। इसमें श्रीकृष्ण सत्य हैं—यही ज्ञान जीवके लिए पर्याप्त है। इसमें श्रीमद्भागवतको ही भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषदोंका भाष्य स्वीकृत किया जाता है। इसमें ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म यह पांच तत्त्व हैं। शास्त्र वाचक हैं और ईश्वर वाच्य है। ब्रह्मका तत्त्व सगुण, सविशेष श्रीकृष्ण ही हैं। वे स्वतन्त्र, सर्वज्ञतादि गुणोंसे युक्त, जीवको भुक्ति और मुक्ति देने वाले हैं। प्राकृतगुणोंके अभावमें वे निर्गुण हैं। उनकी संवित्, सन्धिनी, ह्लादिनी यह तीन शक्तियाँ हैं। जगत् ब्रह्मका परिणाम है वह सत् है, और अनित्य है। ईश्वर, जीव, काल, प्रकृति यह चार नित्य तत्त्व हैं। प्रकृति ब्रह्मकी शक्ति है, त्रिगुणात्मक है, नित्य है। कर्म जड हैं। जीव अणु है, वह ब्रह्मसे भोग्य है। प्रेमद्वारा श्रीकृष्णकी समीपता प्राप्त होना ही जीवकी मुक्ति है।

निष्कर्ष—अद्वैतवाद ज्ञानयोगको और शेष वाद उपासनाको पुरस्कृत हैं। यह सभी वाद उक्त प्रस्थानत्रयी के भाष्यरूप हैं। माया-

शक्ति अचिन्त्यरूप है, परमतत्त्व वाङ्मनसगोचर नहीं—यह सर्वसम्मत है। इसकी उपलब्धि और अनुभूतिमार्ग यथाधिकार होते हैं। जैसे अधिकारभेदसे बने हुए पुराणोंमें परतत्त्व कहीं विष्णुरूपमें, कहीं शिवरूपमें, कहीं शक्ति आदि रूपमें प्रतिपादित है, वैसे ही उक्त आचार्यों का सिद्धान्तभेद भी विभिन्न अधिकारियोंकेलिए है। अद्वैतवाद परमार्थवाद है और अन्तिम कोटिका हैं, उसका व्यवहारमें आना कठिन है, शेष वाद व्यावहारिक हैं। भक्तिके प्रसारार्थ हैं।

(२६) उपसंहार—इस वर्णित प्रकारसे सनातनधर्म सर्वोपकारक ठहरता है। यही वेदका सगत सुनाता है, भगवद्गीतारूप माखन खिलाता है, शरणागतोंको अभयदान देता है। धनी इससे लाख रुपयों को खर्च करके जो फल प्राप्त करते हैं, दरिद्र उसीको कौड़ी से प्राप्त कर सकता है। यह धर्म अग्निको जलवा कर जल बरसाता है, मरने से अमरत्व दिलाता है, पत्थरसे प्रभुको प्रकट करता है—इसके विलक्षण प्रकार हैं। यह त्याग बढ़वाता है, लोभको नहीं। यह कलहका नहीं, किन्तु प्रेमका पाठ पढ़ाता है। यह क्रान्तिको नहीं, किन्तु शान्तिको बढ़ाता है। असत्को नहीं, किन्तु सत्को पुष्ट करता है। किसी धर्ममें परमात्माका दूत यहां आता है, किसीमें परमात्माका पुत्र; पर इस धर्मकी रक्षाके लिए तो भगवान् स्वयं ही अवतीर्ण (प्रकट) होते हैं। कोई-कोई धर्म तो अभी तकभी परीक्षार्थ कसौटीपर कसा जारहा है, कोई केवल मुखमें है, पर यह सनातनधर्म तो शिखामणि है। इसे शूरोंने अपना सिर देकर अपनाया है, सतियोंने जलकर इसे अपनी छातीसे युक्त किया है, धीरोंने धैर्यसे इसका धारण किया है। खण्डनके व्यसनी इसके खण्डनमें सफल नहीं हो सके यती इस धर्मको संयमसे प्राप्त करते हैं, पुत्र पिताकी सेवासे, पत्नी पतिव्रतसे इसे अनायास पा लेते हैं। इस प्रकार के सनातनधर्मसे घृणा करनेवाला अपने आत्मासे घृणा करता है—यह निश्चय है।

हमें जानना चाहिये तथा प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि-'हम आगे इसी सनातनधर्मकी सेवा करेंगे। इसकी रक्षार्थ मृत्युको भी स्वीकार कर अपने यशको फैलावेंगे। मरनेके समय तन, धन, जन यहीं रह जाते हैं, हमारे साथ नहीं जाते, केवल यही धर्म ही हमारे साथ जाएगा। हम अपने देशके इसी धर्मके लिए जीवेंगे, इसीके हितार्थ मरेंगे। यदि हमारी मृत्युसे देशका यह धर्म बचता है, तो हम सामने मरकर तर जायेंगे। जहाँ भी हम रहेंगे, वहीं अपने इस धर्मका तथा इसके प्राचीन एवम् अर्वाचीन साहित्यका प्रचार करेंगे। ज्ञान, भक्ति, सत्कर्म, नीति तथा सत्यके मार्गसे कदापि नहीं फिसलेंगे। भारत ही हिन्दुस्थान है, हम हिन्दुओंका यही देश है यह जानकर भारतीय साहित्यसे प्रोक्त इस धर्मको पालेंगे। आलस्य छोड़कर, उद्यम अपनाकर हम धर्मोद्धारक तथा देशोद्धारक एवं जगदुद्धारक होंगे। दीपोंके नाथ बनकर सनातनधर्मका आलोक फैला देंगे।

यह है 'संक्षिप्त सनातनधर्म' जिसे हमने सनातनधर्म सम्बन्धी प्राचीन अर्वाचीन पुस्तकोंसे दुहा है। उसके भिन्न भिन्न पुष्पोंसे रससंचय करनेमें हम भ्रमर बने हैं। इसीका महाभाष्य हमारा 'श्रीसनातनधर्मालोक' महाग्रन्थ है जिसकी यह ग्रन्थमाला आप लोगोंके आश्रयसे निकल रही है। यह ग्रंथ सभी शङ्काक्रान्त जन को शङ्काओंके आतङ्कको दूर करेगा, और अपने स्वरूपको भी स्पष्ट करेगा। भारतधर्मके उपासकोंका इसका प्रचार और प्रसार करना तथा इसके प्रकाशनमें पूर्ण सहायता करना कर्तव्यमें आ पड़ता है। 'हिन्दुधर्मके मूल सूत्र बतला दिए गये। अब 'हिन्दु शब्द' की प्राचीनता के विषयमें आगे कहा जाता है।

हिन्दु शब्द की वैदिकता

अथवा

हिन्दु शब्द का महाभाष्य

'हिन्दुधर्म' का निरूपण हो चुका है, अब हिन्दु शब्दकी वैदिकता या प्राचीनता पर प्रकाश डाला जाता है।

भारतका नाम वेदमें 'सप्तसिन्धु' या संक्षिप्त नाम 'सिन्धु' आया है, आर्यावर्त वा भारतवर्ष नहीं। इसी 'सिंधु' का दूसरा रूप 'हिंदु' है। यहा पर 'स' को 'ह' वैदेशिक वा असंस्कृत न समझना चाहिए। 'स' को 'ह' पढ़ना अस्मद्देशीय भी है, हिन्दीभाषिक तथा संस्कृत भाषिक भी है। प्रत्युत वेदकालीन भी है। 'श्रीसनातनधर्मालोक' के पाठकगण इस पर निम्न पंक्तियां देखें—

१-मुलतानी भाषा में 'सर्वे' का अपभ्रंश 'सब्बे' भी है 'हब्बे' भी। 'आषाढ' का उच्चारण वहाँ पहले 'आसाढ' हुआ फिर 'हाड' हुआ। 'पौष' का अपभ्रंश वहाँ पूर्व 'पोस' हुआ, फिर 'पोह'। 'माघ' पहला उच्चारण वहां 'मास' होकर फिर 'माँह' हुआ। श्वसुर का मुलतानी भाषा में 'सोहरा' कहा जाता है, यहां पर 'स' का ही विपरिणाम 'ह' है। 'पाश' को फाही' कहते हैं, 'श' को 'स' फिर 'ह' हुआ। मुलतानी भाषा संस्कृत भाषासे हिन्दी भाषाकी अपेक्षा अधिक मिलती है--यह कभी फिर लिखा जायगा। दश' का मुलतानी उच्चारण 'दस' होकर फिर 'दह' हुआ। 'विंशति' का उच्चारण वहाँ 'वीस' होकर फिर 'वीह' हुआ। वहीं 'स्नुषा' को 'नूंह' कहा जाता है, यहाँ पर 'न' सो पूर्व आ-गया, और 'स' अक्षर 'ह' होकर पीछे चला गया। इससे सिद्ध होता है कि—'स' का 'ह' उच्चारण 'देशी' भी है।

२—कई विद्वान् वेदों का आविर्भाव 'सिन्धु' तट पर मानते हैं, उसके देश 'सिन्ध' की भाषा के भी कई शब्द देखिए-'श्वसुर' को सिन्ध

देश में 'सहुरो' कहते हैं, 'विश्वास' को 'वेसाहु' तथा 'प्रविश' को 'पइ' कहते हैं। 'उ' को पीछे जोड़ना सिन्धी शैली है; इन सिन्धी शब्दों में 'स' को 'ह' बोला जाता है। इससे स्पष्ट है कि—वहाँ पर भी 'स' का 'ह' उच्चारण वेदके प्रभावसे हुआ।

३—पजाबी भाषा लाहौर आदिमें 'पैसा' को 'पैहा' इस रूप में कहा जाता है। इस प्रकार 'एषः' का वहाँ पर 'एसो' होकर 'एहो' इस रूप में विपरिणाम होगया। इस प्रकार 'पजाबी' के अन्य शब्द भी सम्भव हैं। करनाल, रोहतक आदिके ग्रामोंमें 'है' को 'सै' कहा जाता है। राजपूताना में 'सागर' को 'हागर' कहा जाता है। जोधपुर (मारवाड़) में 'सुनो' के स्थान में 'हुणो' कहा जाता है। इसी तरह वहाँ 'सारा' साग, सीरा, सालगराम, सर्दी सीता, आदि को हारा, हाग, हीरा, आदि रूप में पढ़ा जाता है। इनका उच्चारण वहाँ आधा हकार तथा अस्पष्ट सकार किया जाता है। 'एन इन्ट्रोडेक्शन टू कम्पेरेटिव फिलोलाजी' इस पी० डी० गुणे से बनाई हुई अंग्रेजी पुस्तक (१६१८ के ३३ पृष्ठ में लिखा है—'सप्त' यह संस्कृतमें है, 'सात' यह मराठी भाषा में है, 'हात' यह गुजराती भाषामें है। 'सार्ध' यह संस्कृत भाषामें है। 'साडे' यह मराठी भाषा में है, 'हाडा' यह गुजराती भाषा में है। महाराष्ट्र शब्दके अपभ्रंशमें 'महा' का रह गया 'म' राष्ट्र का होगया 'रहटा'। मरहटी में यह 'ह' 'ष' के 'स' का है इस प्रकार सकारका हकार उच्चारण देशी सिद्ध हुआ।

४—अब प्राचीन हिन्दीभाषाको देखिए- 'तुलसी रामायण' (रामचरितमानस) में लिखा है—'केहरि कन्धर बाहु विशाला' (बालकाण्ड,-छठा विश्राम, ९ वीं चौपाई) यहाँ पर 'केसरी' का ही दूसरा रूप 'केहरी' है। सूरदास आदि 'पाषाण' को 'पाहन' लिखते हैं। वहां पर 'ष' का 'स' होकर 'स' को 'ह' हुआ। इसी प्रकार एक स्थानमें 'अनुसारि' के स्थान में 'अनुहारी' लिखा है। इसी प्रकार 'ऊधो मन

तो एकै आहि' यहाँ पर 'आहि' यह 'आसीत्' या अस्ति का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ 'है' अथवा 'था' है। इसी प्रकार पद्मावतने 'सृष्टि' के स्थान 'सिहिटि' का प्रयोग किया है। 'स' का सो होकर विपरीतता में 'ओह' बना पुरानी हिन्दी में। एतदादिक स्थलोंमें 'स' वा 'ष' का 'स' होकर फिर 'ह' उच्चारण हुआ है।

५ अब आज कलकी हिन्दी देखिए—इसमें 'स्नान' का 'नहाना' हो गया है। यहां पर 'स' 'ह' रूपमें परिणत होकर 'न' के पीछे होगया। इसी हिन्दी भाषामें 'मास' को 'माह' अथवा 'महीना' कहा जाता है। एकादश, द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश, पंचदश, षोडश, सप्तदश, अष्टादश, इन शब्दों में 'श' का 'स' और फिर 'ह' होकर ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह, पन्द्रह, सोलह, सत्रह, अठारह' यह विपरिणाम हो गया है, इससे 'स' के 'ह' उच्चारण में देशिकता स्पष्ट प्रतीत हो रही है। 'अस्ति सकारमातिष्ठते' इस महाभाष्यके सिद्धान्तके अनुसार 'अस्ति' 'स' रूप है। उसी 'स' रूप 'अस्' के स्थान में 'है' पढ़ा जाता है। 'पुष्प' के स्थान में हिन्दी में कहीं 'पुहप' शब्द दीखता है। यहाँ 'ष' का 'स' होकर 'स' फिर 'ह' हो गया। 'अस्मान्' का विकृत 'हमें' है; यह 'ह' 'स' का है। 'सः' का 'वह' 'सन्ति' का 'हैं' 'संग्राम' का 'हंगामा' यह सब 'स' का 'ह' होजाना सिद्ध कर रहे हैं। छापने वाले भी 'स' के स्थान 'ह' छाप दिया करते हैं। ये सब 'स' के 'ह' रूपमें विपरिणाम हैं।

६—अब प्राकृत भाषाकी ओर आइए। उसमें भी कहीं-कहीं 'स' को 'ह' देखा जाता है। 'चतुर्दश' शब्द में 'श' का 'स' उच्चारण प्रसिद्ध ही है। युक्तप्रान्त तो इस उच्चारणकेलिए प्रसिद्ध ही है। उसीका प्राकृत में 'चउद्दह' इस प्रकार 'स' के स्थान में 'ह' उच्चारण मिलता है। इस प्रकार 'अस्मि' के स्थान पर प्राकृतमें 'म्हि' प्रयुक्त होता है, यह 'ह' × स्पष्ट ही 'स' का विपरिणाम है। ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्यने

× इसी तरह 'प्रश्न' का 'पण्ह' का विष्णुका 'विण्हु' विस्मय-का 'विम्हय' 'असौ' का 'अह' अस्मान्का अह्मे, 'दिवस' का दिय हो'।

प्रणीत 'देवीशतक' में संस्कृत-प्राकृत उभय भाषाश्लेषके उदाहरणात्मक पद्यमें 'मह देसु रसं धम्मे' यहां पर 'मम देहि रसं धर्मे' यह संस्कृत पाठ है। यहां पर 'देसु' का 'देहि' यह दिखलाई देता है यहां भी 'स' का 'ह' उच्चारण स्पष्ट ही है। इसी प्रकार 'अस्मादृशानाम्' की प्राकृत 'अह्मारिसाणं' तथा 'युष्माकम्' की 'तुह्माणं' एवं 'अस्माकम्' की प्राकृत 'अह्माणम्' है। मृच्छकटिकमें 'स्नातोहम्, की प्राकृत 'ह्नादेहम्, (१।१) है। शाकुन्तलमें ७म अंक में तापसी 'विस्मितास्मि, के स्थान 'विह्मिद'ह्मि, यह प्राकृत बोलती है। 'उष्णं' की प्राकृत 'उह्न (२।१) नागानन्दमें है। यहां 'ष'के स, का ही'ह,है 'ग्रीष्मे'की प्राकृत शाकुन्तलके ३य अंकमें 'गिह्ने' भी है है। स्वप्नवासवदत्तमें ४अंक में चेटी 'स्मः' के स्थान 'ह्मः' कहती है। ३अङ्क में 'स्नायति' के स्थान में 'ह्णाअदि' कहती है। ४ अङ्क में 'स्नात' की प्राकृत'ह्णाद' आई है। द्वितीयाङ्क में वासवदत्ता,तूष्णीका' के स्थान 'तुह्णीआ' कहती है। ५ अङ्क में 'उदक स्नान' के स्थान में उदक ह्णाण कहा है। यहां सर्वत्र 'स'को 'ह' दीखता है।

७-अब 'आलोक' के पाठकगण संस्कृतके व्याकरणकी ओर आएँ। 'स' और 'ह' ये दो अक्षर बाह्य प्रयत्नोंमें 'महा-प्राण' समान हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न भी दोनोंका 'ईषद्विवृत्त' समान ही है। वर्णमालामें श, ष, स, ह, यहां पर 'स' और 'ह का 'साहचर्य' तो प्रत्यक्ष ही है। व्याकरण में 'सेऽपिच्च' (पा० ३।४।८७) इस सूत्रमें भी 'सि' को 'हि' देखा गया है। 'ह एति' (पा० ७।४।५२) सूत्रमें भी 'स' को 'ह' देखा गया है। अस्मद् शब्द के सु में 'त्वाहौ सौ' से 'अस्म' को 'अह' हो गया है। यहां 'स' को 'ह' करना स्पष्ट है, जिससे 'अहम्' बना और हिन्दी में 'अ' हट कर 'हम' रह गया। इसीलिए 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक के 'स्वमहतां प्राप्रसरः' (२।१६) इस पद्य में 'प्राप्रहरः' इस प्रकार 'स' के स्थान में 'ह' का पाठभेद मिलता है।

८-अब वेदकी ओर आना चाहिए। वेदमें भी कहीं 'स' को 'ह' दीखता है। 'निघण्टु' (१।१२) में 'सरिता' यह नाम नदीका है; वैसे

ही 'हरितः' भी नदी का नाम माना गया है। वेदमें भी उसका प्रयोग मिलता है—'हरितो न रंह्याः' (अथर्व० २०।३०।४) 'यं वहन्ति हरितः-मप्त' (अथर्व० १३।२।२४)। इस प्रकार 'हरितः' सरितः, में अर्थभेद नहीं। इसी प्रकार 'निघण्टु' (१।१३) में 'सरस्वत्यः' भी नदियोंके नामों में आया है 'हरस्वत्यः' भी। अब 'हरस्वती' शब्द को देखिये—'तं ममनु' दुच्छुना हरस्वती' ऋ० २।२३।६। इसी प्रकार वेदमें 'सिरा' का का 'धमनी' (नस-नाडी) अर्थ हैं। इसी अर्थमें 'हिरा.' यह पाठ भी दीखता है। जैसे कि 'इमा यास्ते शतं हिराः' (अथर्व० ७।३६ २) हिराः-नाडियाँ। 'शतस्य धमनीनां' सहस्रस्य 'हिराणाम्' (अथर्व० १।१७।३)। 'अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः' (अथर्व० १।-१७।१ यहां पर 'निरुक्त' (पं० शिवदत्त सम्पादित) के १८० पृष्ठ की टिप्पणी में 'हिराः-सिराः, यह पाठ भी लिखा है। इससे स्पष्ट है कि 'सिन्धु' में 'स' के स्थानमें हकारघटित 'हिन्दु' यह पाठ भी वैदिक कालसे चला हुआ है; मुसलमानी कालसे नहीं।

'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' (३१.२२) यह मन्त्र शुक्लयजुर्वेद में है। 'श' का उच्चारण 'स' और 'श्री' का उच्चारण 'सी' इस रूप में उत्तर प्रदेश तथा देहली प्रान्त आदिमें सुप्रसिद्ध ही है। उस 'स' का अन्य वेदमें 'ह' भी पाठ दिखलाई देता है। उक्त मन्त्र 'कृष्णयजुर्वेद' के 'तैत्तिरीयारण्यक' में 'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ'। (३,१३) इस रूप में आया है। तब स' को 'ह' पढ़ने में जहां देशिकता, हिन्दीभाषिकता, प्राकृतिकता, सांस्कृतिकता सिद्ध है; वहां पर वैदिकता भी सिद्ध हुई। हां, इतना अवश्य है कि 'स' को 'ह' पढ़ना भी क्वाचित्क है, सार्वत्रिक नहीं। कहीं उसकी व्यवस्था है, कहीं नहीं। इसी कारण 'सत्यं' के स्थानपर 'हत्य' आदि नहीं पढ़ा जाता। वेद की सभी ११३१ संहिताओं में ६-१० संहिताओं के अतिरिक्त अन्य संहिताएं प्राप्त नहीं होतीं, अन्यथा वहां 'सिन्धु' के स्थान में कहीं 'हिन्दु' पाठ भी मिल

जाता, क्योंकि—'महामूला जनश्रुतिः,। फिर 'हिन्धु'के स्थान में 'हिन्दु' यह पाठ तो लोक-प्रसिद्धि है, 'पुणाक्षरन्याय'से वहभी संस्कृत होगई। जैसे कि 'प्रहलाद' की प्रसिद्धि 'प्रह्लाद' इस प्रकार लकार घटित होगई, जब कि-रेफ-घटित ही उसका नाम प्राचीन पुस्तकों में आता है।+

९ इधर वादियों के अनुसार भी जब सृष्टिके आदिमें हिन्दु जातिके अतिरिक्त कोई जाति नहीं थी, यह फारस, अरब आदि के मुसलमान भी पहले हिन्दुही थे; फिर मतभेदके कारण, या धर्मभ्रष्टतासे अथवा अपमान रूप म्लेच्छतासे वे मुसलमान होगये; तब उन्होंने भी जो 'सिन्धु' में 'स' को 'ह' कहा, उसमें हिन्दुप्रभाव ही मूल समझना चाहिये। उनका स्वतन्त्र प्रभाव इसमें नहीं माना जा सकता। जब वे अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखते थे; तो 'स' के स्थान 'ह' भी नूतन रूपसे कहाँसे ला सकते थे, अतः स्पष्ट है कि 'हिन्दु' शब्द वैदेशिकोंकी स्वतन्त्र कृति नहीं।

१०—जो कि, यह कहा जाता है कि- भारतीय तो अब भी 'सिन्धु' को 'सिन्ध' और 'सिन्ध' देश के निवासियोंको 'सिन्धी' कहते हैं। यदि यह हमारा ही अपभ्रंश होता, तो इन्हें 'हिन्दी' तो कहते; अतः यह वैदेशिक है' यह वादियोंकी युक्ति वादियोंके पक्षको स्वयं काट रही है। यदि वे

+जैसे कि- 'अथर्ववेद' में 'विरोचनः प्राह्रादिः' (८।१०।४।२) श्रीमद्भागवतमें 'प्रह्लादोऽभूनमहाँस्तेषाम्(७।४।३०)परन्तु लोकमें 'प्रहलाद' इस प्रकार लकार- घटित प्रसिद्धि हो गई। यह भी पुणाक्षरन्याय से संस्कृत होने से परिवर्तित नहीं की जाती। इसी प्रकार वेदके मन्त्रभाग में 'वेन' के पुत्र का नाम 'पृथी' (अथर्व० ८।१०+४।११) मिलता है; परन्तु वेदके ब्राह्मण भाग में 'पृथु'- (शतपथ ५।३।५।४) तथा पुराणोंमें भी 'पृथु' (श्रीमद्भागवत ४।१३।२०) मिलता है। इस प्रकार 'हिन्दु' यह नाम भारतवर्ष का है। इसे ह्रस्व लिखना चाहिये—'हिन्दु' दीर्घ 'हिन्दू' नहीं। मूलशब्द 'सिन्धु' है।

'सिन्धु' का स्थानी 'हिन्दु' वैदेशिक मानते हैं; तो वैदेशिक लोगोंने भी 'सिन्ध अहाता' तथा 'सिन्धी'को 'हिन्द अहाता' तथा 'हिन्दी' क्यों नहीं कहा ? 'स्थान' को आपके अनुसार 'हृनान' न कहकर 'स्तान' क्यों कहा इससे स्पष्ट है कि- 'स' को 'ह' इस शब्दमें वैदेशिक नहीं। यदि 'स' को 'ह' कहना वैदेशिकोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिहै; तो उन्होंने 'ईसामसीह'को 'ईहामहीह' क्यों नहीं कहा ? 'मूसा पैगम्बर को 'मूहा' क्यों नहीं कहा ? वे 'संस्कारविधि' को हंस्कारविधि, क्यों नहीं कहते ? 'सिन्धदरिया' को 'हिन्द दरिया' क्यों नहीं कहते ? अतः स्पष्ट है कि- यह युक्ति इस विषय में सङ्गत नहीं। इसी प्रकार 'मालकसन' से बनाई 'अकबर' पुस्तकके३८वें पृष्ठमें "ऐ बाबर ! तुझे सिन्ध और हिन्द राज्य दिये हैं" और 'तारीख फिरोज शाही' ग्रन्थमें हिन्द और सिन्धके सारे मुल्क' यह पाठ कैसे आया ? अतः वादियों की उक्त युक्ति व्यर्थ है।

अन्य प्रकार।

११—अथवा इस विषयमें यह भी कहा जा सकता है कि 'सिन्धु 'सिन्' शब्द से बना है 'सिन्' का अर्थ 'इन्दु' अर्थात् चन्द्रमा है। इसलिए 'सा दृष्टेन्दु सिनीवाली, (अमरकोष १।४।८ इस प्रमाणमें दृष्टचन्द्रा अमावास्याकानाम 'सिनीवाली' है; जिसका वेदके 'सिनीवालि ! पृथुष्टुके' (ऋ० २।३२।६) 'तस्मै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन' (२।३२।७) 'या सिनीवाली या राका' (ऋ० २।३२।८) इन मन्त्रोंमें निरूपण है। दृष्टचन्द्राऽमावास्या सिनीवाली' यह सायण (२ ३२।६) में लिखता है 'सिनीवाली' की व्युत्पत्ति करते हुए 'अमर कोष' की व्याख्यासुधामें कहा है-'एन-विष्णुना सह वर्तते सा सा लक्ष्मीतद्योगात्(सिनी-चन्द्रकला'। इसी प्रकार मुकुटने भी 'सिनी' का अर्थ 'चन्द्रकला' लिखा है। निरुक्तकार श्री-यास्क भी 'सिनीवाली' का 'वालेनेव अस्यामणुत्वात् चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वा' (११।३१।२) यह कहकर 'सिन्' का अर्थ 'इन्दु' 'चन्द्रमा' बताते हैं। सिन्धु नाम भी समुद्र का चन्द्रमा धारण करनेसे सम्भव है- 'सिन्'-धुः'। अमृतमंथन के समय उस (चन्द्रमा) की उत्पत्ति

जाता, क्योंकि—'नद्यमूला जनश्रुतिः'। फिर 'हिन्धु'के स्थान में 'हिन्दु' यह पाठ तो लोक-प्रसिद्धि है, 'घुणाक्षरन्याय'से यहभी संस्कृत होगई। जैसे कि 'प्रह्लाद' की प्रसिद्धि 'प्रल्हाद' इस प्रकार लकार घटित होगई, जब कि रेफ-घटित ही उसका नाम प्राचीन पुस्तकों में आता है।+

९ इधर वादियों के अनुसार भी जब सृष्टिके आदिमें हिन्दु जातिके अतिरिक्त कोई जाति नहीं थी, यह फारस, अरब आदि के मुसलमान भी पहले हिन्दुही थे; फिर मतभेदके कारण, वा धर्मभ्रष्टतासे अथवा अपमापण रूप म्लेच्छतासे वे मुसलमान होगये; तब उन्होंने भी जो 'सिन्धु' में 'स' को 'ह' कहा, उसमें हिन्दुप्रभाव ही मूल समझना चाहिये। उनका स्वतन्त्र प्रभाव इसमें नहीं माना जा सकता। जब वे अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखते थे; तो 'स' के स्थान 'ह' भी नूतन रूपसे कहाँसे ला सकते थे, अतः स्पष्ट है कि 'हिन्दु' शब्द वैदेशिकोंकी स्वतन्त्र कृति नहीं।

१०–जो कि, यह कहा जाता है कि, भारतीय तो अब भी 'सिन्धु' को "सिन्ध" और 'सिन्ध' देश के निवासियोंको 'सिन्धी' कहते हैं। यदि यह हमारा ही अपभ्रंश होता, तो इन्हें 'हिन्दी' तो कहते; अतः यह वैदेशिक है' यह वादियोंकी युक्ति वादियोंके पक्षको स्वयं काट रही है। यदि वे

+जैसे कि 'अथर्ववेद' में 'विरोचनः प्राह्रादिः' (८।१०।४।२), श्रीमद्भागवतमें 'प्रह्लादोभून्महाँस्तेषाम्(७।४।३०)परन्तु लोकमें 'प्रह्लाद' इस प्रकार लकार- घटित प्रसिद्धि हो गई। वह भी घुणाक्षरन्याय से संस्कृत होने से परिवर्तित नहीं की जाती। इसी प्रकार वेदके मन्त्रभाग में 'वेन' के पुत्र का नाम 'पृथी' (अथर्व० ८।१०+४।११) मिलता है; परन्तु वेदके ब्राह्मण भाग में 'पृथु' (शतपथ ५।३।५।४) तथा पुराणोंमें भी 'पृथु' (श्रीमद्भागवत ४।१३।२०) मिलता है। इस प्रकार 'हिन्दु' यह नाम भारतवर्ष का है। इसे ह्रस्व लिखना चाहिये—'हिन्दु' दीर्घ हिन्दू' नहीं। मूलशब्द 'सिन्धु' है।

'सिन्धु' का स्थानी 'हिन्दु' वैदेशिक मानते हैं; तो वैदेशिक लोगोंने भी 'सिन्ध ग्रहाता' तथा 'सिन्धी'को 'हिन्द ग्रहाता' तथा 'हिन्दी'क्यों नहीं कहा ? 'स्थान' को आपके अनुसार 'हथान' न कहकर 'स्तान' क्यों कहा इससे स्पष्ट है कि- 'स' को 'ह' इस शब्दमें वैदेशिक नहीं। यदि 'स' को 'ह'कहना वैदेशिकोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिहै; तो उन्होंने 'ईसामसीह'को 'ईहामहीह' क्यों नहीं कहा ? 'मूसा पैगम्बर को 'मूहा' क्यों नहीं कहा ? वे 'संस्कारविधि' को हंस्कारविधि, क्यों नहीं कहते ? 'सिन्धदरिया' को 'हिन्द दरिया' क्यों नहीं कहते ? अतः स्पष्ट है कि- यह युक्ति इस विषय में सङ्गत नहीं। इसी प्रकार 'माल्कसन' से बनाई 'अकबर' पुस्तकके३८वें पृष्ठमें "ऐ बाबर ! तुझे सिन्ध और हिन्द राज्य दिये हैं" और 'तारीख फिरोज शाही' ग्रन्थमें हिन्द और सिन्धके सारे मुल्क' यह पाद कैसे आया ? अतः वादियों की उक्त युक्ति व्यर्थ है।

अन्य प्रकार।

११—अथवा इस विषयमें यह भी कहा जा सकता है कि 'सिन्धु 'सिन्' शब्द से बना है 'सिन्' का अर्थ 'इन्दु' अर्थात् चन्द्रमा है। इसलिए 'सा दृष्टेन्दु सिनीवाली, (अमरकोष १।४।६ इस प्रमाणमें दृष्टचन्द्रा अमावास्याकानाम 'सिनीवाली' है; जिसका वेदके 'सिनीवालि ! पृथुष्टुके' (ऋ० २।३२।६) 'तस्मै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन' (२।३२।७) 'या सिनीवाली या राका' (ऋ० २।३२।८) इन मन्त्रोंमें निरूपण है। दृष्टचन्द्राऽमावास्या सिनीवाली' यह सायण (२ ३२।६) में लिखता है 'सिनीवाली' की व्युत्पत्ति करते हुए 'अमर कोष' की व्याख्यासुधामें कहा है-'एत-विष्णुना सह वर्तते सा सा लक्ष्मीतद्योगात्सिनी-चन्द्रकला'। इसी प्रकार मुकुटने भी 'सिनी' का अर्थ 'चन्द्रकला' लिखा है। निरुक्तकार श्री-यास्क भी 'सिनीवाली' का 'वानेव अस्यामणुत्वात् चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वा' (११।३१।२) यह कहकर 'सिन्' का अर्थ 'इन्दु' 'चन्द्रमा' बताते हैं। सिन्धु नाम भी समुद्र का चन्द्रमा धारण करनेसे सम्भव है- 'सिन्'-धुः'। अमृतमंथन के समय उस (चन्द्रमा) की उत्पत्ति

समुद्रसे प्रसिद्ध है. समुद्र चन्द्रमा को देखकर उछलता भी है। 'सिन्धु' यह नदीविशेष का नाम भी समुद्र जैसी विशालता या दुरन्तता देख कर रखा हो यह भी सम्भव है। इस देश के लोग सिन् (इन्दु) के व्रती भी थे, चान्द्रायण व्रत हमारे देश में बहुत प्रसिद्ध रहा है चन्द्र-दर्शन पर चन्द्रमा को हिन्दु नमस्कार भी करते हैं। इसी 'सिन्' (इन्दु) को चान्द्रायण आदि व्रत द्वारा धारण करने से इस देश को 'सिन्धु' (सिन्-धु) अथवा (इन्दु) भी कहा जाता रहा। चीनी ह्वेनसांग ने भी 'भारत' का पुराना नाम 'इन्दु' माना है। 'वाल्मीकिरामायण' में सिन्धु नदीका नाम भी 'इन्दुमती' लिखा है। इसी इन्दु को बिगाड़ कर यूनानियों ने 'सिन्धु' का नाम 'इण्डस्' और हमारा नाम 'इण्डियन' रखा।

१२—इस प्रकार 'सिन्धु' या 'इन्दु' से भी इस देशका 'हिन्दु' बनना स्वाभाविक है। देशके नामसे ही जातिका नाम होने से हमारी जातिका नाम भी 'हिन्दु' हुआ। इसी जातिके उपास्य देव महादेव उस 'इन्दु' को माथे पर रखते हैं। 'सिन्धु' शब्द नदीका पर्यायवाचक भी हुआ करता है। वे महादेव 'सिन्धु' (गंगा) को भी सिर में रखते हैं। 'देवो भूत्वा देवान् एति' (शतपथ १४।६।१०।४) इस सिद्धान्तसे महादेवकी उपासक जातिने (मुहंजोदाड़ो और हड़प्पाकी खुदाई में शिवलिंग बहुत मिले, यह सभ्यता वैदिककालसे भी प्राचीन मानी जाती है) अपने उपास्यदेवके सिर-माथे में ठहरे 'सिन्धु इन्दु' का प्रायश्चित्तों के लिए गंगानदीके जलका उपयोग करके तथा चंद्र-रात्रि आदिमें नमस्कार आदिसे जहां आदर करना जारी रखा, वहाँ उसके नाम 'इन्दु' या 'सिन्-धु' को अपने सिर-माथे रखा। उसी 'इन्दु' या 'सिंधु' का दूसरा रूप 'हिंदु' हुआ। अथवा ऋग्वेदानुसार 'इन्दु' सोमका नाम है। हिन्दु जहां चन्द्र प्रेमी थे वहां याज्ञिक तथा सोमरस के प्रेमी भी थे। सोमयज्ञ-प्रेमी होने

से भी उनका नाम 'इन्दु, तथा फिर 'हिन्दुहो गया। 'इन्दु' में पहला अक्षर 'इ, है। 'इ, में 'अ' अक्षर भी व्याप्त है। माण्डूक्योपनिषद् (१ में 'ओम्, की व्याख्या करते हुए 'अ, को सब में प्राप्त व्याप्त तथा सबकी आदि माना है। ऐतरेयारण्यकमें भी कहा है; अकारो वै सर्वा वाक्, (२।३ ६) तब 'इन्दु, में 'अ, इन्दु, समझना चाहिये। इस लिए महाराष्ट्र आदिमें इ, को 'अि, इस प्रकार लिखते हैं। 'अकुहविसर्जनी-यानां कण्ठः, से, 'अ, और 'ह, में कण्ठ स्थानका साम्य है तो 'इन्दु' का 'अिन्दु' होकर 'हिन्दु, हुआ। वैदिक कालमें भी 'सिन्' के 'हिन्' वा 'हिं' उच्चारण का मूल 'शतपथ ब्राह्मण' में भी मिलता है। यहां लिखा है--'हिं कृत्वा अन्वाह, न असामा यज्ञोऽस्ति इति वै आहुः'। न वा अ हिंकृत्य साम गीयते " प्राणो वै हिंकारः (१।४।३।१-२)। यहां 'हिं, को यज्ञका प्राण-जीवनाधायक माना गया है। इस प्रकार याज्ञिक इस हिंदु जातिने भी इस 'हिं' को जीवनाधायक होनेसे अपनाया। पदार्थके सिद्ध प्राणप्रद धर्मका नाम ही 'काव्यप्रकाश' आदि में 'जाति' कहा है। 'हिं' का उच्चारण बिना किए वे सामवेद का उच्चारण नहीं करते थे, और बिना सामवेदके गाये यज्ञ नहीं होता था, तब याज्ञिक जातिका नाम भी 'सिन्' वा 'हिं' धारण करने से 'सिंधु' वा 'हिंधु' वा हिंदु' हुआ। 'दा' धातु का भी 'धारण' अर्थ होता है, जैसे कि 'निरुक्त' में लिखा है—दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः। 'अक्रूरो ददते मणिम् इत्यभिभाषन्ते (२।२।११) 'चतुरश्चिद् ददमानाद्' (निरुक्त० ३।१६।१) यहां पर भी 'दद' का 'धारण' अर्थ किया गया है। 'हिं' को 'दु' धारण करने वाली जाति 'हिन्दु' कहलाई।

अन्य प्रकार

१३—इधर उस 'हिं' को गाय भी कहती है। यह हिंदु जाति वैदिककालसे गायकी भक्त चली आरही है। गायका 'हिं' करनेको बतलाने वाला एक मन्त्र वेदमें इस प्रकार आया है—

'हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्या इयं सा वर्धतां महते सौभगाय' ॥
(ऋ० १।१६४।२७, अथर्व० ९।१०।५)

इस गोवर्णनपरक मन्त्र में पूर्वार्ध का आदिम वर्ण 'हिं' है, यही यज्ञका जीवनाधायक है, यह पूर्व कहा जा चुका है, गाय भी यज्ञका अङ्ग है, अतः उसने भी 'हिं' को धारण किया। इस मन्त्रके उत्तरार्ध का आदि वर्ण 'दु' है। ये ही दो वर्ण 'हिं-दु' यज्ञभक्त एवं गोभक्त इस जातिने प्रतीकरूपमें स्वीकृत किये। जैसे यज्ञ साम के बिना नहीं किया जाता, और साम 'हिं' के बिना नहीं गाया जाता, अतः इस याज्ञिक जातिने 'हिं' को धारण किया, वैसे ही इस जातिका काम भी गाय के बिना नहीं चलता। अतः इस जातिने यज्ञ तथा गाय दोनोंका चिह्न होने से 'हिं' शब्दको धारण किया, प्रत्युत यह जाति उस 'हिं' के संस्कारको अपने छोटे बच्चोंके कानमें भी जन्म से डालती है। जैसे कि--'प्रजापतेष्ट्वा हिंकारेण अवजिघ्रामि, गवां त्वा हिं कारेण, सहस्रायुषा जीव, शरदः शतम्' (पारस्कर गृह्यसूत्र १।१८।३-४)

इस जातिका गोप्रेम देखिये- जब यह जाति भोजन करने बैठती है; तो गोग्रास सबसे पूर्व रखती है। मरनेके समय वैतरणीपारार्थ गोदान वा गोपूजन प्रसिद्ध है। पहला श्राद्ध भी गायको ही खिलाया जाता है। इस जातिमें 'गोस्वामियोंकी' उच्चता तथा भगवान् कृष्णकी उपासना भी गौओंके कारणसे है। 'गोलोक' हिन्दुओंके लिए एष्टव्य लोक है। शुद्धि प्रायश्चित्त आदिमें 'गाय' के पंचगव्य, का ही उपयोग होता है' दूसरे पशुओंको अहन्तव्य न कह कर गायको ही 'अघ्न्या' कहा जाता है। इसी लिए ही हिन्दुओंके मुसलमानोंसे झगड़े होते हैं। गोशब्द आदि वाली सब्जियां भी प्रायः नहीं खाई जातीं। अन्यभी हिन्दु जातिकी गायके विषयमें बहुत ही श्रद्धा है; जैसे कि- दूसरेका खेत खा रही गायका दूसरोंको वृत्त न कहना आदि। इन बातोंको छोड़िये,

हिन्दुओंकी स्थिरताकी मुख्य वस्तु वर्ण या जाति है, जिसका विचार कर विवाह वा उपनयन आदि हुआ करते हैं; उस जाति वा वर्णका सङ्केत सूचक शब्द 'गोत्र, भी इस प्रकार गायके नामसे रखा गया है।

तब उसी गायके मन्त्रके पूर्वार्ध- उत्तरार्धके आरम्भिक वर्णोंको प्रतीकरूपसे स्वीकार कर गोभक्त तथा वेदभक्त 'हिन्दु, जातिने वेदके एक एक अक्षरके स्वीकार कर लेनेमें भी अपनी श्रद्धा दिखला दी है। ठीक भी है- 'सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेद-शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे, (मनु १।२१) इस पद्यसे प्रतीत होता है कि- परमात्माने वेदके शब्दोंसे ही सब जातियोंके नाम, कर्म तथा आकृतियाँ बनाईं; क्योंकि वेदका एक-एक अक्षर भी अन्वर्थ है। जैसे तीन वेदोंसे एक-एक अक्षर लेकर परमात्माने'ओम्,(अ, उ, म् बनाया; एक-एक शब्द लेकर तीन व्याहृतियाँ- एक-एक- पाद लेकर गायत्री बनाई। इसके लिए देखिए 'मनुस्मृति२।७६' ऐतरेय ब्राह्मण१। ३२' गोपथ ब्राह्मण १ १।६) इस प्रकार 'त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि, शतपथ० १०.४ २ २१) के अनुसार, हिन्दु, शब्दकी निष्पत्ति भी वैदिक जाननी चाहिये।

१४—इन दोनों वर्णों (हिं--दु) में उक्त मंत्रके अवशिष्ट वर्णों का व्यवधान भी नहीं जानना चाहिए। 'न्यायदर्शन' में कहा है—'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्। (३१।१६) जिससे जिनका अर्थसम्बन्ध होता है; वह दूरस्थित (व्यवहित) का भी हो जाता है। जिनका आपस में सम्बन्ध नहीं, उनकी निकटता भी सम्बन्ध करनेवाली नहीं होती। जैसे कि 'मीमांसादर्शन' के' शाबर भाष्यमें भी कहा है—'असत्यां हि आकांक्षायां सन्निधानमकारणं भवति, यथा--भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य (६।४।२३) यहां पर 'राज्ञः पुरुषः' की निकटता होते हुए भी अर्थ सम्बन्ध न होने से समास नहीं होता। इस प्रकार इस अर्थापत्ति

से सिद्ध हुआ कि—'सत्या हि आकांक्षायाम् असन्निधानमपि सम्बन्ध-कारणं भवति'।

इस प्रकार 'हिं-दु' इन दो अक्षरोंके 'अ, उ, म्' के इकट्ठा करनेसे बने हुए 'ओम्' की तरह, इकट्ठे बने हुए 'हिंदु' शब्द का प्रामाण्य भी सिद्ध हुआ। वैदिक साहित्यमें ऐसे शब्दोंकी कमी नहीं। जहां पर इताद्' अक्तात्, नीतात् (एतेरकारः, अनक्तेर्गकारः, नीनो-निकारः' (निरुक्त ७।१४।६) इन तीन धातुओंके एक एक अक्षरसे 'अग्नि' शब्द व्युत्पादित किया जा ता है, जिस वैदिक साहित्य में 'भर्ग' का 'भ' इति भासयति इमान् लोकान्, 'र' इति रंजयति इमानि भूतानि, 'ग' इति गच्छन्त्यस्मिन्. आगच्छन्ति अस्माद् इमाः प्रजाः, तस्माद् भ-र-गत्वाद् भर्गः (मैत्रायणी-आरण्यक ६।७) इस प्रकार अक्षरार्थ किया जाता है, जिस वैदिक साहित्यमें 'मख' शब्दका अक्षरार्थ या व्युत्पत्ति 'मख इत्येतद् यज्ञनामधेयम्, छिद्रप्रतिषेध सामर्थ्यात् छिद्र खमित्युक्तम्, तस्य मा-इति प्रतिषेधः, मा यज्ञे छिद्रं करिष्यति' (गोपथ ब्रा० २।२।५) इस प्रकार दीखती है और मनुदित करके सिद्धि होती है; उसी प्रकार वेदके एक मन्त्रके पूर्वार्ध-उत्तरार्धके आदिम एक-एक से निष्पन्न उक्तमन्त्रके प्रतीक 'हिन्दु' शब्दके विषयमें भी जान लेना चाहिए।

ऐसी बात कालिदासके विषयमें भी प्रसिद्ध है। उसने 'अ' प्र, शि, ख' का अनेन तव पुत्रस्य, प्रसुप्तस्य वनान्तरे। शिखामादाय महसा खड्गेनोपहृतं शिरः' इस प्रकार अर्थ निकाला था। आजकल भी ऐसी परिपाटी मिलती है। जैसे एन. डबलू. आर, ई. पी. आर, ई. आई. आर, टी. टी, डी. टी. एस, डी. सी, आदि। मुसलमानोंने भी 'पाकिस्तान' यह शब्द भिन्न-भिन्न अक्षरों (पंजाब, कश्मीर आदि) को मिलाकर रखा था। यू. पी. सी. पी, आदि शब्द भी इसी तरह के हैं। जिस प्रकार 'उपनिषद्' में भी 'द, द, द' के 'दाम्यत, दत्त, दय-ध्वम्'(बृहदारण्यक ७[५]२।१-३)एक-एक अक्षरके भिन्न-भिन्न शब्दमें

बनाये गये। 'हृदय' शब्द 'हरन्ति ददति, याति' के आद्यक्षरोंसे बना; देखो शतपथ १४।८।४।१ बृहदा० ७।२।३।१ जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मणमें 'उद्गीथ' इन तीन अक्षरोंका 'सामान्येव उद्, ऋच एव गी, यजूंष्येव थम्' (३।१७।७—८), इत्यादि अर्थ बनाये गये हैं। 'माण्डूक्योपनिषद्' के अनुसार 'ओम्' शब्द 'आप्तेरादिमत्वाद् (अ) उत्कर्षत्वाद् उभयत्वाद् वा (उ), मिते' (म्) (९।१०।११) इन समुदायोंके आद्यक्षरोंसे बनाया गया, जिस प्रकार लौकिक साहित्यमें 'होरा' शब्द 'अहोरात्र' के आद्यन्तिम वर्णको छोड़कर बीचके दो अक्षरोंसे बनाया गया। जिस प्रकार अंग्रेजीका *News* (न्यूज़) शब्द *North* (उत्तर) *East* (पूर्व) *West* (पश्चिम) *South* (दक्षिण) इन चारों दिशाओं के आद्यक्षरोंसे 'चारों दिशाओंका वृत्तान्त' इस अर्थमें बना; जैसेकि सारे व्यञ्जन 'हल्' तथा सारे स्वर 'अच्' नाममें संक्षिप्त हैं, इसी प्रकार 'हिन्दु' शब्दके विषयमें भी जान लेना चाहिये। यह भी उक्त मन्त्रके पूर्वार्ध-उत्तरार्द्ध का प्रतीक, संक्षिप्त नाम है। ऐसा प्रकार प्राचीन आर्ष शैली है। प्रत्युत यही गोपरक उक्त मन्त्र 'हिन्दुजाति' के अर्थमें समन्वित भी हो सकता है, यह सूक्ष्म विचारसे स्फुट हो सकता है; क्योंकि स्व-स्वामीका भी अभेद-सम्बन्ध हो जाता हुआ देखा गया है।

१९ जैसे तीन वेदोंके एक-एक अक्षरत्रयसे निष्पन्न भी 'ओम्' की 'अवतीति ओम्' यह व्युत्पत्ति तथा 'अवतेष्टिलोपश्च' (उणादि १।१३९) इस प्रकार सिद्धि भी वैयाकरणों द्वारा की जाती है, वैसे ही पूर्व कहे प्रकारसे सिद्ध हुए 'हिन्दु' शब्दकी प्रकारान्तरसे भी सिद्धि होती है जैसे कि—'हिनस्तीति हिन् (हिंसेः क्विप्, 'संयोगान्तस्य लोपः') हिंसं द्यति—खण्डयति—इति हिन्दुः। 'उणादयो बहुलम्' (३।३।१) इस सूत्रसे बाहुलकसे 'डु' प्रत्यय तथा टि का लोप हो जाता है। स्वा० दयानन्दजीने 'आख्यातिक' में उक्त सूत्र पर ३६२ पृष्ठमें टिप्पणी दी है—"बहुवचनमें यह समझना चाहिये कि जो उणादिगणमें प्रत्यय नहीं कहे गये हैं; वे भी होते हैं"।

अन्य प्रकार

१६ अथवा 'हिमालय' पर्वतके 'हि' को तथा 'इन्दु' सरोवर 'कुमारी अन्तरीप) के 'न्दु' को लेकर पूर्व प्रकारसे 'हिन्दु' बना है। इस प्रकारकी शैलियाँ भी प्राचीन हैं। जैसे कि—'गम्' यह गणपतिका बीज-मन्त्र प्रसिद्ध है। यह बीजमन्त्र 'गणानां त्वा... सीद सादनम्' (ऋ० २।२३।१) अथवा 'गणानां त्वा...गर्भधम्' (शुक्लयजुः वा० सं० २३।१६) इस मन्त्रके आदिम तथा अन्तिम अक्षरको लेकर बना है, इस प्रकार 'हिन्दु' शब्दको भी बीजमन्त्रकी तरह द्व्यक्षरात्मक जानना चाहिये। बीजमन्त्रोंमें बड़ी शक्ति या बड़ा रहस्य सन्निहित होता है। इस प्रकार उक्त गोमन्त्रके संकेतित दो अक्षरोंसे इस जातिका गायके संरक्षण —वर्धनादिसे सौभाग्य बढ़ सकता है' अथवा हिमालयसे लेकर इन्दु सरोवर तक हमारे 'हिन्दुस्थान' की सीमा है' यह रहस्य निकलता है— यह 'हिन्दु' को ध्यान रखना चाहिये।

विशेष रहस्य

१७ अथवा 'सिन्धु' इस (पश्चिमी पंजाबकी) नदी-विशेषके नामसे भी हमारा नाम 'सिन्धु' या हिन्दु हुआ, यह नदी हमारी स्वाभाविक सीमा थी, इसी प्रकार 'सिन्धु' समुद्र भी हमारी स्वाभाविक सीमा था। इसीसे जाकर हम लोगोंके पूर्वज विदेशों पर आधिपत्य करके हमारे देशकी वा अपनी जातिकी कीर्तिको उज्ज्वल करते थे; और इन्हीं सीमाओंसे वैदेशिकोंका भी हमारे देश पर आक्रमण करनेका मार्ग था, अतः हमारी जाति इस बातको भलीभांति याद रखे कि इन्हीं सीमाओं को काबू करके अपने आप पर आक्रमण न होने दे, अब पश्चिमी सिन्धु (करांचीका समुद्र) तथा फिर उसके साथकी सिन्धु नदी पर आधिपत्य कर लिया जावे, तो पाकिस्तान शीघ्र मर सकता है।

इसी बात पर ध्यान रखनेके लिए हमारी जातिका नाम 'सिन्धु' रखा गया। इसीलिए 'सिन्धु' को ही हमारे सम्पूर्ण देश वा जातिका प्रतिनिधि मानकर उससे अपना या अपने देशका नाम रखा गया।

इस प्रकार सिद्ध है कि *ब्राह्मणसे लेकर अन्त्यजान्त जातियोंका नाम* 'हिन्दु' है। यदि अन्य पुस्तकोंमें 'हिंदु' शब्द नहीं मिलता, तो 'आर्य' शब्द भी उन सभी (अन्त्यजांत) जातियोंका नाम कहीं नहीं मिलता। वैदेशिक जातियां अपने आपको 'आर्य' कहती हैं—यह बात भी ठीक नहीं। वे अपने आपको 'अर्यन' कहती हैं, 'अर्यन' का भाव वे 'ईरान' से आया हुआ मानती हैं, जो हमें कभी इष्ट नहीं होसकता। हिन्दुस्थान ही हमारा आदि देश है—ईरान आदि नहीं।

कई साक्षियां

१८ (क) 'आर्यावर्त' शब्द वेदादिमें कहीं नहीं आता। श्रीसत्यव्रत सामश्रमीने आर्यावर्त के विषयमें यह लिखा है-'अथैतद् *आर्यावर्ताभिधानं न क्वचिदपि संहितायां ब्राह्मणे वा श्रुतमस्ति*' (ऐतरेयालोचन पृ० २०। उक्त पुस्तकके ३० पृष्ठमें श्रीसामश्रमीजीने लिखा है-'तत्त्वतस्तु एतत् त्रिसप्तनदीपरिवृतः *'सिन्धु-मध्य' एव आसीत् पूर्वकालिक आर्यावर्तः*'। अर्थात्-आर्यावर्त नाम किसी भी संहिता या ब्राह्मणमें नहीं है, २१ नदियोंसे घिरा हुआ 'सिन्धु' का मध्य ही वेदकालीन आर्यावर्त था।

(ख) 'अन्तर्ज्वाला' पुस्तकमें 'अखण्ड भारत' निबन्धमें श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार महाशयने लिखा है कि—'वैदिक कालसे 'सिन्धु' शब्द 'हिन्दुस्तान' की स्वाभाविक सीमाओं 'सिन्धु' नदीसे सिन्धु (समुद्र) पर्यन्तके लिये व्यवहृत होता आया है। 'सप्तसिन्धु' नाम इस देशकी सात नदियोंके कारण रखा गया था और इसी नामसे वेदकालीन भारतको स्मरण किया जाता है'। (पृष्ठ १७)

(ग) 'हिन्दुत्व' पुस्तकमें वीर सावरकरने लिखा है—'जहां उनकी राष्ट्रियता और संस्कृतिने सर्वप्रथम विकास पाया था; उनके प्रति कृतज्ञताभावसे उन्हें इस देशका नाम 'सप्तसिन्धु' रखनेको प्रेरित किया (पृ० ७) 'आर्य लोग उसी (वेदके) समयसे 'सिन्धु' कहलाने लगे' (पृ० ८)। 'हमारे पूर्व पुरुषोंने ही 'हिन्दु' नाम तो आदि (वैदिक) कालसे ही अपना लिया था, और संसारके अन्य राष्ट्र भी हमारे देशको 'सप्तसिन्धु' या 'हप्तहिन्दु' और हमें 'सिन्धु' या 'हिन्दु' नामसे जानते थे' (पृ० ६-१०)। 'यह सच हो तो मानना पड़ेगा कि—'हिन्दु' नाम आर्योंसे भी पूर्वका है। आदिनिवासी भी अपने को 'हिन्दु' कहते थे। संस्कृतमें 'ह' को 'स' होजानेके कारण आर्यलोग इसे 'सिन्धु' कहने लगे। मूलतस् 'हिन्दु' ही है। 'हिन्दु' शब्दको अर्वाचीन माननेवालोंके पास इस युक्तिका कोई उत्तर नहीं है।' (हिन्दुत्व पृ० 11)

(घ) 'प्रोफेसर मेकडोनेल्ड' ने भी 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर' नामक अपनी पुस्तकमें लिखा है कि—'उधरसे आनेमें इनके सम्मुख सबसे पहले 'सिन्धु' ही पड़ती थी। इसलिये उपलक्षणसे यही नाम भारतवर्षका रखा, ग्रीक लोग सिन्धुनदसे उपलक्षित प्रदेशको 'इन्डोस' कहते थे, आगे चलकर भारतवर्षका नाम 'इण्डिया' होनेमें यही कारण हुआ। ..'ऋग्वेद' में 'सप्तसिन्धु' का कई स्थानोंपर निर्देश है। उनमेंसे एक मन्त्रमें तो यह आर्यावासका वाचक है।' (श्री पं० नरदेव शास्त्री आचार्य गुरुकुल ज्वालापुरसे प्रणीत 'ऋग्वेदालोचन' पुस्तकके १२८-१२६ पृष्ठमें)।

(ङ) भूतपूर्व शिक्षामन्त्री श्रीसम्पूर्णानन्दजीसे प्रणीत 'आर्योंका आदिदेश' पुस्तकमें लिखा है—'वेदोंमें तो 'सप्तसिन्धव' देशकी महिमा गायी है। यह देश सिन्धुनदीसे लेकर सरस्वती तक था। इन दोनों नदियोंके बीचमें काश्मीर और पञ्जाब आगये' (पृ० ६२)। 'इससे यह निश्चित है कि- वेदोंके आधार पर आर्योंका अर्थात् आर्य संस्कृतिका

आदिमस्थान 'सप्तसिन्धव' ही था' (नवम अध्याय ८० पृष्ठ)। 'वेदोंमें सप्तसिन्धव' देशके अतिरिक्त और किसी देशका स्पष्ट उल्लेख नहीं है।' (पृष्ठ ८०)

(च) श्रीअविनाशचन्द्रदास एम्. ए. पी एच. डी. लेक्चरार कलकत्ता विश्वविद्यालयने भी 'ऋग्वेदिक इण्डिया' पुस्तकमें लिखा है—'आर्य सप्तसिन्धु प्रदेश' के निवासी थे।' आजकलके वेदमें रिसर्च करनेवाले विद्वानोंकी गवेषणासे भी यही सिद्ध होता है कि—हमारे देशकी 'सिन्धु' यह संज्ञा वेदकालसे ही है। तब उस देशकी जातिकी भी संज्ञा वैदिककालसे 'सिन्धु' ही सिद्ध हुई। उसमें 'स' को 'ह' की देशिकता वा वैदिकता हम सिद्ध कर ही चुके हैं।

अखण्ड हिन्दुस्थान

१६—वे सातों नदियाँ अखण्ड हिन्दुस्थानको परिचायित करती हैं—'गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि ! सरस्वति ! नर्मदे ! सिन्धुकावेरि ! जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु' ये भारतकी सात नदियाँ (सिन्धवः) हैं। गङ्गा-यमुना, सरस्वती ये तीन पूर्वीय भारतकी नदियाँ हैं। 'गोदावरी' पश्चिम भारतकी नदी है। 'नर्मदा' मध्यभारतकी नदी है। 'सिन्धु' पश्चिमोत्तर भारतकी नदी है। 'कावेरी' दक्षिण भारतकी नदी है। इन सात नदियोंका वैदिक नाम 'सप्तसिन्धु' है, संक्षिप्त नाम 'सिन्धु' है। उसीके आश्रयसे हमारी जातिका नाम भी 'सिन्धु' है।

२०—'यह 'हिन्दुनाम' मुसलमानोंने रखा, या दासमनोवृत्तिका सूचक है वा मुसलमान आदिने घृणासे रखा, मुसलमानोंके अत्याचारसे हमने 'हिन्दु' नाम स्वीकृत किया।' यह किन्हींका कथन निस्सार है। 'मुहम्मदी' धर्म १३०० सालोंसे पहले नहीं था, (स० प्र० १४ समु० ३४६ पृष्ठ) परन्तु 'हिन्दु' शब्द उससे भी पूर्व मिलता है। 'जिन्दावस्ता' पुस्तकमें जिसे आजकलके भाषातत्त्वाभिज्ञ 'ऋग्वेद' के कुछ

समयके बाद बनाया हुआ मानते हैं ...'हिन्दु' शब्द मिलता है। उसी 'शातीर' या 'जिन्दावस्ता' पुस्तकमें हमारे देशका नाम 'हिंद' कहा है। जैसे कि—'अकमनूं बिरहमने व्यासनाम अज हिन्द आमद बस दाना कि अकलचुना नस्त।' यहाँ पर व्यासजीका हिंद (भारतवर्ष) से आना कहा है। यदि मुसलमानोंसे हमें यह नाम मिलता, तो उनसे कई हजार वर्ष पूर्वकी पुस्तकमें 'हिंद' यह नाम न मिलता। इससे स्पष्ट है कि—मुसलमानोंकी उत्पत्तिसे कई सहस्र वर्ष पूर्व भी 'हिंद' आदि शब्द प्रचलित थे। श्रीसत्यव्रत सामश्रमी महाशयने 'निरुक्तालोचन' में लिखा है—'यथा इह भारते महमदीय-राज्यस्थापनात् प्रागपि अपरदेशे 'हिंदु' रिति व्यवहार आसीदेव अधार्मिकेषु। तत उत्तरं सैव (हिंदुरिति) समाख्या सदाक्रोशकृतापचरितैव अस्मासु च। ततो वयमपि 'हीनं च दूषयत्यस्माद् हिंदुः' इति 'मेरुतन्त्र व्युत्पादनमभिमत्य 'हिंदु' नाम-कथनेपि गौरवमेव मन्यामहे।' (पृष्ठ ७०)

२१—'मुसलमानोंके अत्याचारसे हमने 'हिंदु' नाम स्वीकृत किया' ऐसा आरोप भी ठीक नहीं। भारतमें मुसलमानी राज्यका मूलारोपक शहाबुद्दीन महमूद गोरी था; परन्तु इन लोगोंके अत्याचार तो दूर रहें, जब उनके पैर भी भारतमें नहीं पड़े थे ,और 'गोरी' पृथिवीराजके व्यवहारोंसे तङ्ग हो रहा था; तभी पृथिवीराजके सभाकवि आदिकवि चन्दबरदाईने अपने कविता ग्रंथमें इस देशको 'हिंदव' इस नामसे तथा इस जातिको सर्वत्र 'हिंदु' नामसे कहा है। 'हम हिंदु लजवान' 'गति हिंदू पर साहि सज्जि' इत्यादि 'पृथिवीराजरासो' नामक उसके ग्रन्थके उद्धरण हैं। 'भारतवर्षका बृहद् इतिहास' प्रथम भाग ३० पृष्ठमें श्रीभगवद्दत्तजीने लिखा है—'उस कालमें पृथिवीराज चौहान (सं० १२३०) के सखा और सामन्त चन्दबरदाईने अपना ग्रन्थ 'पृथिवीराजरासो' लिखा'।

२२--'दासमनोवृत्तिसे हमने मुसलमानोंसे दिये 'हिन्दु' नामको स्वीकृत कया—' ऐसी सम्भावना भी निर्मूल है। यह बात श्रद्धेय नहीं कि— अपने देश तथा अपनी जातिके नाम पर मर मिटने वाली राजपूत सदृश वीर जातिके आश्रित कविगण तथा इस देशकी विशाल जनता दास-मनोवृत्ति वाली थी; तथा उसने मुसलमानों द्वारा जिनके साथ उनकी बड़ी शत्रुता बढ़ चुकी थी, जिनका इस देशमें अभी बहुत प्रभाव भी नहीं पड़ा था—घृणावश दिये हुए 'हिन्दु' नामको अनायास स्वीकार कर लिया। शिवाजी मुसलमानोंके कट्टर शत्रु रहे; परन्तु उनके आश्रित कवि भूषणने भी अपनी कवितामें 'हिन्दु' शब्दका बड़े गौरवसे प्रयोग किया है—इससे स्पष्ट है कि—'हिन्दु' शब्द हमें मुसलमानोंसे नहीं मिला, किन्तु यह हमारा ही शब्द है। यह देशके नामके कारण जाति-का नाम है। यदि 'हिन्दु' को मुसलमानी अपभ्रंश भी माना जावे; तो भी मूल शब्द तो मुसलमानी नहीं; तब यह वैदेशिक कैसे हुआ? 'ऐतरेयालोचन' में श्रीसत्यव्रतसामश्रमीने भी लिखा है—'तद् इत्थमार्यावर्तस्य अयं *सिन्धुमेरुदण्ड इवासीत्*'। 'सिन्धु' यह हमारे देश वा नदी-का नाम फारसवाले या मुसलमानोंने नहीं रखा, किन्तु वह वेदकालमें ही प्रसिद्ध रहा। *पीछे चार वर्णोंसे अपना परिचय देनेकी शैली प्रचलित होगई;* अतः इस 'सिन्धु' या 'हिन्दु' शब्दका प्रचार ढीला पड़ गया।

२३—'इससे स्पष्ट है कि—हमारे देशका वेदके अनुसार भी नाम 'सिन्धु' है। उसीके ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त आदि भिन्न-भिन्न भाग हैं। 'ऋग्वेद' के १० वें मण्डलके ७५ वें सूक्तका ऋषि *'सिंधुक्षित् प्रैयमेध'* माना गया है; उसका यही अर्थ है कि—सिन्धु देशका शासक वा 'सिन्धुदेश' में रहनेवाला। *उस सूक्तके* 'इमं मे गङ्गे! यमुने! सरस्वति! शुतुद्रि! स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे! वितस्तयार्जीकीये! शृणुहि आ सुषोमया' (ऋ० १०।७५।५) तृष्टामया प्रथमं यातवे

नमुः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या। त्वं सिन्धो ! कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे (ऋ० १०।७५।६) इन मन्त्रोंसे सिन्धु देशकी सीमा पर प्रकाश पड़ता है। यह याद रखना चाहिये कि—ऋग्वेदमें नदियोंके नामोंसे देशोंको सूचित किया गया है, यही प्राचीन प्रथा है। 'पंचनद' का अर्थ 'पञ्जाब—पांच नदियां' हैं; जब कि यह बड़े भारी प्रान्तका नाम है। इसी प्रकार वेदमें 'सप्त-सिन्धु' से नदियोंके नामोंसे—देशोंको सूचित किया है। ऋग्वेदके अनुसार सिन्धु देशमें या सिन्धु स्थानमें निम्नलिखित देश थे—

(१) सिन्धुदेश, तिब्बतसे लेकर कराची तक सिन्धु नदीके किनारेके सम्पूर्ण देश। (२) हिन्दुकुश पर्वतमाला, (३) हिन्दुकुशके उत्तरीय पार्श्वसे उत्तरमें रहनेवाली रसा तथा श्वेत्या नामक दोनों नदियाँ तथा उनके चारों ओरके देश। (४) कुभा-काबुलदेशकी नदी, गोमती (गोमल) नदी तथा क्रुमु (कुर्रम) नदीके चारों ओरके सम्पूर्ण देश। (५) गङ्गा, यमुनाका द्वीप तथा साराका सारा पञ्जाब तथा सिन्ध प्रदेश, उक्त देशोंको वेद 'सिन्धु' शब्दसे लेता है। वेदमें तरीकेसे 'हिन्दुस्थान' का यह भूगोल वर्णित कर दिया है; तब इस देशकी जातिका नाम भी 'सिन्धु' यही स्वाभाविक है।

२४-'सिन्धौ अधिक्षियतः ऋ० १।१२६।१) इस मन्त्रमें भी 'सिन्धौ-सिन्धुदेशे अधिक्षियतः-निवसतः' (क्षि-निवासगत्योः) इस प्रकार 'सिन्धु' देश बतलाया गया है। श्रीपाणिनिने भी वेदाङ्ग व्याकरणमें (अष्टाध्यायी ४।३।८३) 'सिन्धु' देश माना है। तब सदासे 'सिन्धु' देशमें रहनेवाली जातिका नाम भी 'सिन्धु' हो सकता है; क्योंकि उस-उस देशकी जाति का नाम भी उस-उस देशके नामसे ही हुआ करता है, जैसेकि—जर्मन, इङ्गलिश, फ्रेञ्च, अरब, पौण्ड्रक, द्रविड, चीन आदि जातियाँ देशके नामसे ही प्रसिद्ध हैं। ठीक भी यही होता है। देशके नामसे जातिका

नाम रहनेसे उस जातिके हृदयमें अपने उस देशका प्रेम और उसका अभिमान रहता है। उस देशके नाम वाली जाति उस देशकी रक्षाके लिये सदा अपने प्राणोंकी आहुति देनेको सन्नद्ध रहती हैं। देशसे भिन्न जातिका नाम रखनेसे उस जातिका देश पर मोह या प्रेम नहीं रह सकता।

जब ऐसा है, हमारे देशका वैदिक नाम 'सिन्धु' है, 'सिन्धु' का ही दूसरा देशी रूप 'हिन्दु' है, उसकी जातिका नाम भी 'हिन्दु' है; तब "हिन्दुस्थान हिन्दुओंका, हिन्दु हिन्दुस्थानके" यह नारा सिद्ध हो गया। जबसे अंग्रेजीभावापन्न लोगोंने इस देशके 'हिन्दुस्थान' नामका विरोध किया; या विदेशोंको वे हमारा आदि-देश मानने लगे; तबसे मुसलमान भी तथा अंग्रेज भी इसे केवल हिन्दुओंका स्थान न मानकर अपना आधिपत्य भी इस पर मानने लगे। हमें भी अपनी तरह हिन्दुस्थानमें विदेशी सिद्ध करने लगे।

इसी 'हिन्दु' तथा 'हिन्दुस्थान' नामसे घृणा कराने वाले विदेशी-भावापन्न जनोंने ही 'पाकिस्तान' को जन्म दिलाया। जो इस देशका नाम 'हिन्दुस्थान' नहीं मानते, और अपने आपको 'हिन्दु' नहीं मानते, उन्हें यहां रहनेका कोई अधिकार नहीं, उन्हें विदेशोंमें चला जाना चाहिये।

२४ 'हिंदु' शब्दकी वैदिकताका निरूपण हो चुका। यह वैदिक होता हुआ भी वैदिककालमें हिंदुजातिसे अतिरिक्त और कोई भिन्न जाति न होनेसे बहुत प्रचलित नहीं हुआ; क्योंकि दूसरी जातिसे भिन्नतार्थ ही यह नाम प्रचलित होता है। अतः पीछेकी जातियोंने तो हमारे इस नामको अपनी भेदकतार्थ अपने साहित्यमें अपनाया; पर हमारे अपने साहित्यमें यह कम ही रहा। उस समय अपनी भेदकताके लिए चार वर्णों तथा अवर्णोंकी जातियोंका नाम ही प्रसिद्ध रहा। तथापि 'हिंदु' नामका सङ्केत संस्कृत साहित्यमें क्वचित्-क्वचित् पाया भी जाता है।

'भविष्यपुराण' के प्रतिसर्ग पर्वके प्रथमखण्डके 'जानुस्थाने जैतु शब्दः, 'सप्तसिन्धुस्तथैव च। सप्तहिन्दुर्यावनी च' (२।३६) में 'हिन्दु' शब्द प्रत्यक्ष है। आर्यसमाजी श्रीमनसारामने भी 'भविष्यपुराणकी समालोचना' की भूमिकामें इस प्रमाणको उद्धृत किया है। यह बात और है कि—वे इस वचनको प्रक्षिप्त मानते हैं। अपनेसे विरुद्ध वचनोंको वे लोग जहां-तहां अपने मानकी रक्षार्थ प्रक्षिप्त मानते हैं, पुराणोंमें तो कहना ही क्या? यह तो उनकी प्रकृति ही है। २ 'हिंदवो विन्ध्यमाविशन्' इस कालिका पुराणके वचनमें भी 'हिन्दु' शब्दकी सुनवाई है। ३ इसी प्रकार 'हिन्दुधर्म प्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः। हीनं च दूषयत्येव स हिंदु रुच्यते प्रिये! (२३ प्रकाश) 'मेरुतन्त्र' के इस स्थलमें भी 'हिन्दु' शब्द मिलता है। हीन- अर्थात् हिन्दुधर्मादिहीन- निकृष्टको दूषित (दुःखित) करनेवाला 'हिन्दु' होता है। तब इसका 'दुर्बल-पीडक' अर्थ करते हुए श्रीवेदानन्दतीर्थ निरस्त होगये। जो कहते हैं कि- मेरुतन्त्रमें 'खान, मीर' आदि शब्द उपलब्ध हैं, अतः उक्त ग्रन्थ आधुनिक है; जैसे कि 'पश्चिमाम्नायमन्त्रास्तु प्रोक्ताश्चारव्य भाषया। पञ्च खानाः सप्त मीरा नव साहा महाबलाः। हिन्दुधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः। फिरङ्ग-भाषया मन्त्रास्तेषां संसाधनात् कलौ। इङ्गरेजा नवषट् पञ्च लण्डजा-श्चापि भाविनः' इत्यादि, पर यह ठीक नहीं, क्योंकि यहां पर 'भाविनः' शब्दसे उनका भविष्यत् में होना ही बतलाया है, वर्तमान होना नहीं। पुराणोंमें तो कलियुगके अन्तमें होनेवाले कल्की अवतारका भी वर्णन है; तो क्या वादी पुराणोंको भी कलिके अन्तमें बना हुआ मानेंगे? ऐसा नहीं। इसी भांति 'भूयो दश गुरुण्डास्तु' (१२।१।२८) श्रीमद्भागवतके इस पद्यमें भी तुरुष्क, गुरुण्ड, यवन आदि राजाओंका भावी वृत्तान्त वर्णित किया गया है। भावी होनेसे वर्तमानताका खण्डन होरहा है।

४ 'हिंदवो विन्ध्यमाविशन्' यह शाङ्गर्धरपद्धतिमें पद्य है। ५ 'हिनस्ति तपसा पापान् दैहिकान् दुष्टमानसान्। हेतिभिः शत्रुवर्गं च

स हिन्दुरभिधीयते' यह 'पारिजातहरण' नाटकमें है। इसमें 'हिन्दुपति' शब्द कई बार आया है। ६ हिन्दुर्हिन्दूश्च प्रसिद्धौ दुष्टानां च विधर्षणे। रूपशालिनि दैत्यारौ इत्यादि अद्भुत कोषमें आया है। ७ 'हीनं दूषयति' इति 'हिन्दुः' पृषोदरादित्वात् साधुः जातिविशेषः' यह शब्दकल्पद्रुम कोषमें आया है। ८ इसी प्रकार 'वाचस्पत्य' कोष आदि में भी।

वैदिक साहित्यमें हमारे देशका नाम

२६ वेदमें हमारे देशका नाम 'भारतवर्ष' या 'आर्यावर्त' नहीं मिलता, किन्तु 'सिन्धु' मिलता है यह हम आरम्भमें कह चुके हैं। वेदमें भारतवाचक 'सिन्धु' से व्यतिरिक्त कोई भी शब्द नहीं है। तो क्या यह माना जाय कि वेदमें हमारे देशका नाम ही नहीं है? ऐसी बात नहीं। जो वेद हमारे भारतवर्षकी धर्मपुस्तक हैं, सर्वज्ञ परमात्माकी रचना है, जिनमें भारतीय नदियों-पर्वतोंके नाम मिलते हैं, उनमें यह सम्भव नहीं कि हमारे देशका नाम सर्वथा न हो। भूगोल या इतिहास में देश आदिके नाम हों और हमारी धर्मपुस्तकमें प्रसक्तानुप्रसक्त भी हमारे देशका नाम न हो, यह नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्दजी के 'सत्यार्थप्रकाश' में तथा मनु आदि की स्मृतियों में हमारे देशका नाम 'आर्यावर्त' मिलता है, इससे उक्त पुस्तकें भूगोल या इतिहास नहीं बन जातीं। अतः स्वामी वेदानन्दतीर्थका 'हमारा नाम आर्य है हिन्दू नहीं' इस अपनी पुस्तकके १४वें पृष्ठमें 'वेद इतिहास या भूगोलकी पोथी नहीं, जो उसमें 'आर्यावर्त' या 'भारतवर्ष' नाम मिलता' यह कहना उचित नहीं है।

वेदमें हमारे देशका नाम है और वह है 'सिन्धु'। कई लोग 'भारतीले' (ऋ० १।१८८।८) इस मन्त्रांशसे 'भारतस्य इयम् इति भारती। भारती वाणी इला (पृथिवी) च तत्सम्बुद्धौ—हे भारतीले' इस प्रकार

वेदमें भारतभूमिका नाम सिद्ध करते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। यहां 'भारति !' और 'इले' ये पद भिन्न-भिन्न हैं, दोनों ही सम्बोधनान्त हैं और भिन्न-भिन्न देवियोंके सम्बोधन हैं, इसमें 'भारति ! इले ! सरस्वति ! या वः सर्वा उपब्रुवे' (ऋ० १।१८८।८) यह बहुवचन ज्ञापक है। स्वर भी सम्बोधन का है। यहाँ 'इला' भी नहीं है कि पृथिवीका नाम हो जाय, किन्तु 'इडा' शब्द है, 'ड' को वैदिक 'ल' हुआ है, इसलिए यह पृथिवी-वाचक भी नहीं है। इधर वेदमें 'भारत' शब्द भी अग्निके लिए प्रयुक्त किया जाता है; क्योंकि वह दूसरे देवोंका हव्य-भरण (धारण) करता है। यह बात 'शतपथब्राह्मण' (१।४।४।२) में स्पष्ट है। तब 'सिन्धु' देशका 'भारत' यह नाम भी अर्वाचीन है। 'सिन्धु' जाति यह नाम उस सिन्धु देशकी जातिका पूर्वकालसे चल रहा है, 'भारत' यह हमारी जातिका नाम प्रसिद्ध नहीं। भारतकी रहनेवाली बाह्य जातियोंको भी 'भारतीय' शब्द से कहा जाता है, 'सिन्धु' 'हिन्दु' शब्दसे नहीं, इसलिए उक्त मन्त्रमें हमारे देशका नाम 'भारती इला' आया है, यह किन्हींकी कल्पना असङ्गत ही है।

इससे स्पष्ट है कि वेदमें भारतवर्षका नाम 'सिन्धु' ही है। इसलिए आर्यसमाजिक विचारवाले भी प० सत्यव्रत सामश्रमीजीने अपने बनाये 'ऐतरेयालोचन' (२० पृष्ठ) में भी कहा है—'तत्वतस्तु एतद्-त्रिसप्तनदी-परिवृतः 'सिन्धु' मध्य एवासीत् पूर्वकालिक आर्यावर्त इति'। उन्हीं सामश्रमीजीने वेदमें 'आर्यावर्त वा भारत' नामके न होनेके विषय में कहा है—'अथैतद् आर्यावर्ताभिधानं न क्वचिदपि संहितायां, ब्राह्मणे वा श्रुतमस्ति' (ऐत० पृ० २०)।

हिन्दु कौन ?

२७ इससे 'सिन्धु' देशमें स्थित मुसलमान, अङ्गरेज, अमेरिकन 'हिन्दु' शब्दसे सम्बोधित नहीं किये जा सकते, क्योंकि यद्यपि वे इस-

देशमें तो हैं, परन्तु इस देशकी जाति वाले नहीं। जाति तो उस देशमें आदिजन्मवालोंके वंशमें उत्पत्ति होने पर तथा उन्हींके साथ समान-रक्त-सम्बन्धादि होने पर होती है, यह नहीं भूलना चाहिए। वैसी उत्पत्ति वर्णाश्रमियोंकी तथा श्रुति-स्मृति-पुराणप्रोक्त धर्मका अनुसरण करनेवालों की होती है। इसलिए मुख्य हिन्दु या हिन्दु जातिवाले भी वही हैं। वर्णसङ्कर निन्दित तो अवश्य हैं, तथापि उनका भी इन्हींमें अन्तर्भाव है। अतएव वे भी 'हिन्दु' कहे जा सकते हैं। कई सुधारक लोग 'हिन्दु' शब्दको इसीलिए ग्रहण करना नहीं चाहते कि कदाचित् वे भी वर्णाश्रमी सनातनधर्मियोंमें न गिन लिये जांय। वास्तवमें हमारे पूर्वजोंने जन्ममूलक वर्णाश्रम व्यवस्थासे हमारे हिन्दुराष्ट्रको आजतक सुरक्षित रखा, जिसे आजकलके अर्वाचीन सुधारकभास पारसी, मुसलमान, अङ्गरेज, अन्त्यज आदिके साथ रक्त-सम्बन्ध करके दूषित करना चाहते हैं। वस्तुतः वे ऐसा करके अन्य जातियोंको सबल तथा हमारी जातिको निर्बल करना चाहते हैं। इस विषयमें हिटलरकी 'मेरा सङ्घर्ष' नामक पुस्तकमें रक्त-सम्बन्धविषयक उसके विचार पढ़नेयोग्य हैं। अस्तु।

आर्य शब्द पर विचार।

२८ जो लोग हमारी जातिकी संज्ञा 'आर्य' मानते हैं, उन्हें यह जानना चाहिए कि यह 'आर्य' शब्द 'गुणशब्द' है, 'जातिशब्द' नहीं। वादिगण वेदमें रूढ तथा योगरूढ शब्द नहीं मानते। तब वेदमें 'आर्य' शब्दका रूढ-योगरूढ अर्थ भी नहीं ले सकते। तब यह शब्द 'सिन्धु' जातिमें जो श्रेष्ठ थे, उन्हींके लिए प्रयुक्त हुआ, सर्वसाधारणके लिए नहीं। स्वामी दयानन्दजीने भी यह स्वीकृत किया है। देखिये— 'आर्य' नाम उत्तम पुरुषोंका और आर्योंसे भिन्न मनुष्योंका नाम 'दस्यु' है ('सत्यार्थ एकादशसमुल्लासारम्भ' पृ० १७२)। 'आर्य नाम धार्मिक विद्वान्, आप्त पुरुषों और इनसे विपरीत जनोंका नाम 'दस्युः' अर्थात्

वेदमें भारतभूमिका नाम सिद्ध करते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। यहाँ 'भारति !' और 'इले' ये पद भिन्न भिन्न हैं, दोनों ही सम्बोधनात हैं और भिन्न भिन्न देवियोंके सम्बोधन हैं, इसमें भारति ! इले ! सरस्वति ! या व सर्वा उपब्रुवे' (ऋ० १।१८८।८) यह बहुवचन ज्ञापक है। स्वर भी सम्बोधन का है। यहाँ 'इला' भी नहीं है कि पृथिवीका नाम हो जाय, किन्तु 'इडा' शब्द है, 'ड' को वैदिक 'ल' हुआ है, इसलिए यह पृथिवी-वाचक भी नहीं है। इधर वेदमें 'भारत शब्द भी अग्निके लिए प्रयुक्त किया जाता है, क्योंकि वह दूसरे देवोंका हव्य-भरण (धारण) करता है। यह बात 'शतपथब्राह्मण' (१।४।४।२) में स्पष्ट है। तब 'सिन्धु' देशका 'भारत' यह नाम भी अर्वाचीन है। 'सिन्धु' जाति यह नाम उस सिन्धु देशकी जातिका पूर्वकालसे चल रहा है, 'भारत' यह हमारी जातिका नाम प्रसिद्ध नहीं। भारतकी रहनेवाली बाह्य जातियोंको भी 'भारतीय' शब्द से कहा जाता है, 'सिन्धु' 'हिन्दु' शब्दसे नहीं, इसलिए उक्त मन्त्रमें हमारे देशका नाम 'भारती इला' आया है यह किन्हींकी कल्पना असङ्गत ही है।

इससे स्पष्ट है कि वेदमें भारतवर्षका नाम 'सिन्धु' ही है। इस लिए आर्यसमाजिक विचारवाले भी पं० सत्यव्रत सामश्रमीजीने अपने बनाये 'ऐतरेयालोचन' (२० पृष्ठ) में भी कहा है—'तावतस्तु एतद् त्रिसप्तनदी परिवृत 'सिन्धु' मध्य एवासीत् पूर्वकालिक आर्यावर्त इति'। उन्हीं सामश्रमीजीने वेदमें 'आर्यावर्त वा भारत' नामके न होनेके विषय में कहा है—'अथैतद् आर्यावर्ताभिधान न क्वचिदपि संहितायां, ब्राह्मणे वा श्रुतमस्ति' (ऐ० पृ० २०)।

हिन्दु कौन ?

२७ इससे 'सिन्धु' देशमें स्थित मुसलमान, अङ्ग्रेज, अमेरिकन 'हिन्दु' शब्दसे सम्बोधित नहीं किये जा सकते, क्योंकि यद्यपि वे इस

देशमें तो हैं, परन्तु इस देशकी जाति वाले नहीं। जाति तो उस देशमें आदिजन्मवालोंके वंशमें उत्पत्ति होने पर तथा उन्हींकेसाथ समान-रक्त-सम्बन्धादि होने पर होती है, यह नहीं भूलना चाहिए। वैसी उत्पत्ति वर्णाश्रमियोंकी तथा श्रुति-स्मृति-पुराणप्रोक्त धर्मका अनुसरण करनेवालों की होती है। इसलिए मुख्य हिन्दु या हिन्दु जातिवाले भी वही हैं। वर्णसङ्कर निन्दित तो अवश्य हैं, तथापि उनका भी, इन्हींमें अन्तर्भाव है। अतएव वे भी 'हिन्दु' कहे जा सकते हैं। कई सुधारक लोग 'हिन्दु' शब्दको इसीलिए ग्रहण करना नहीं चाहते कि कदाचित् वे भी वर्णाश्रमी सनातनधर्मियोंमें न गिन लिये जांय। वास्तवमें हमारे पूर्वजोंने जन्ममूलक वर्णाश्रम व्यवस्थासे हमते हिन्दुराष्ट्रको आजतक सुरक्षित रखा, जिसे आजकलके अर्वाचीन सुधारकमास पारसी, मुसलमान, अङ्ग्रेज, अन्त्यज आदिके साथ रक्त-सम्बन्ध करके दूषित करना चाहते हैं। वस्तुत: वे ऐसा करके अन्य जातियोंको सबल तथा हमारी जातिको निर्बल करना चाहते हैं। इस विषयमें हिटलरकी 'मेरा सङ्घर्ष' नामक पुस्तकमें रक्त-सम्बन्धविषयक उसके विचार पढ़नेयोग्य हैं। अस्तु।

आर्य शब्द पर विचार

२८ जो लोग हमारी जातिकी संज्ञा 'आर्य' मानते हैं, उन्हें यह जानना चाहिए कि यह 'आर्य' शब्द 'गुणशब्द' है, 'जातिशब्द' नहीं। वादिगण वेदमें रूढ तथा योगरूढ शब्द नहीं मानते। तब वेदमें 'आर्य' शब्दका रूढ-योगरूढ अर्थ भी नहीं ले सकते। तब यह शब्द 'हिन्दु' जातिमें जो श्रेष्ठ थे, उन्हींके लिए प्रयुक्त हुआ, सर्वसाधारणके लिए नहीं। स्वामी दयानन्दजीने भी यह स्वीकृत किया है। देखिये— 'आर्य' नाम उत्तम पुरुषोंका और आर्योंसे भिन्न मनुष्योंका नाम 'दस्यु' है ('सत्यार्थ एकादशसमुल्लासारम्भ' पृ० १७२। 'आर्य नाम धार्मिक विद्वान्, आप्त पुरुषों और इनसे विपरीत जनोंका नाम 'दस्युः' अर्थात्

डाकू, दुष्ट अधार्मिक और अविद्वान् है" (सत्यार्थप्रकाश ८ समु० १४० पृष्ठ), "आदिसृष्टिमें एक मनुष्यजाति थी पश्चात् ...श्रेष्ठोंका नाम आर्य और दुष्टोंके दस्यु दो नाम हुए" (स० प्र० पृ० १३६), "आर्य श्रेष्ठ और दस्यु दुष्ट मनुष्यको कहते हैं" (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश २६ संख्या)। इस प्रकार स्वामी दयानन्दजीने भी 'आर्य' शब्दको गुणवाचक दिखलाया है।

जो साधारण गवेषक लोग नाटकोंमें 'आर्यपुत्र' आदि शब्द देखकर तथा 'भगवद्गीता' में 'अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम्' (२।२) एवं 'महाभारत' में 'यस्योदकं मधुपर्कं च गां च न मन्त्रवित् प्रतिगृह्णाति गेहे। ...तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः" (उद्योगपर्व ३८।३) एतदादि स्थलोंमें 'आर्य' शब्द देखकर आनन्दके आंसु बहाते हुए अपनी गवेषणाकी चरम सीमा मानते हैं, वे दयनीय हैं। वहां 'आर्य' शब्द श्रेष्ठतावाचक है, जातिवाचक नहीं। "यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः" (१।२३) इस 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटकके श्लोकमें मन को भी 'आर्य'—श्रेष्ठ— बतलाया गया है, मन की आर्यजाति कैसे हो सकती है? पत्नी पतिको 'आर्यपुत्र' कहती है। 'आर्य' को हिन्दुजातिस्थानापन्न माननेपर 'हे हिन्दुपुत्र' इस सम्बोधनसे क्या लाभ है? जहाँ अन्य स्थलोंमें भी 'आर्य' यह सम्बोधन दिया गया है, वहाँ भी 'हिन्दुजाति' यह अर्थ इष्ट नहीं होता, नहीं तो ऐसा सम्बोधन असाभिप्राय होनेसे व्यर्थ हो जाय। वैसा सम्बोधन तो हमें भिन्न धर्मवाला या भिन्न जातिवाला देता है, समान धर्मवाला तथा समान जातिवाला वैसा सम्बोधन नहीं देता, क्योंकि इसमें कोई व्यभिचार (दोष) नहीं आता, जिससे वैसा विशेषण देना सार्थक हो जाय। इसीलिए तो हमारे साहित्यमें 'हिन्दु' शब्द कम मिलता है, क्योंकि हमारे ही व्यक्ति हमें वैसा सम्बोधन कैसे दें? अन्य विधर्मियोंके साहित्यमें इसीलिए 'हिन्दु शब्द अधिक मिलता है, क्योंकि यह स्वाभाविक है।

यदि हमारे संस्कृतसाहित्यमें 'हिन्दु' शब्दके अल्पतम प्रयोगसे इसे वैदेशिक माना जाय, तो सिख, गुजरात, सिया आदि शब्द भी संस्कृत-साहित्यमें नहीं मिलते, इनके शुद्ध शब्द शिष्य, गुर्जर, सीता आदि संस्कृतसाहित्यमें सुलभ हैं, तब क्या सिख आदि शब्दोंको इससे वैदेशिक मान लिया जाया करेगा ? इस प्रकार 'हिन्दु' शब्दका मूलभूत 'सिन्धु' शब्द भी वैदिक संस्कृतमें सुलभ है। हमारे साहित्यमें हिन्दु शब्दकी अल्पमात्रामें प्राप्तिका एक कारण भी है। वह यह है कि पहले एक समष्टिनामसे उच्चारणकी शैली प्रायः नहीं थी। पहले तो चतुर्वर्ण तथा अवर्ण जातियोंके नामसे पृथक्-पृथक् आह्वानकी शैली थी।

इस प्रकार 'अमरकोष' आदिमें यदि 'हिन्दु' शब्द नहीं मिलता, तो वहां 'आर्य' शब्द भी हमारी जातिका वाचक नहीं मिलता, किन्तु श्रेष्ठमात्र का। तब इस प्रकारके गवेषक अधिक परिश्रम करें। यदि वे इस विषयमें पुराणोंके प्रमाण दें, तो उन्हें पुराण भी प्रमाण मानने पड़ेंगे, तब तो उसमें स्थित 'हिन्दु' शब्द भी प्रमाण मानना पड़ेगा। वस्तुतः उनमें भी 'आर्य' पद श्रेष्ठतावाचक है, जातिशब्द नहीं।

वेदमें जहाँ 'आर्य' शब्द आता है, वहाँ सायण आदि प्राचीन भाष्यकारोंने उस शब्से श्रेष्ठ होनेसे 'ब्राह्मण' ही गृहीत किया है। 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे उसके उपलक्षणसे क्षत्रिय गृहीत किये गये हैं। इसीलिए "अर्यः स्वामिवैश्ययोः" (३।१।१०३) इस सूत्रके प्रत्युदाहरणमें 'काशिका-कौमुदी' आदिमें 'आर्यो ब्राह्मणः' यह दीखता है। 'कात्यायन श्रौतसूत्र' से "अर्याऽभावे यः कश्च आर्यो वर्णः" (४।२।६) इस सूत्रका अग्निस्वामीका भाष्य इस प्रकार है— "यदि वैश्यो न लभ्यते; यः कश्च आर्यो वर्णः स्याद्, ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वा"। इसी प्रकार वेदमें भी है..."अहं भूमिमददामार्याय"

(ऋ० ४।२६।२), "हत्वी दस्यून् आर्यं वर्णं आवत्" (ऋ० ३।३४।६) इत्यादि स्थलों में भी जानना चाहिए।

अर्यन शब्द

२६ जो लोग अंग्रेज आदिसे हमारे लिए 'अर्यन्' यह नाम प्रयुक्त देखकर प्रसन्न हो जाते हैं, उन्हें जानना चाहिए कि वे हमें आर्यावर्तमें रहने वाला होनेसे 'अर्यन' नहीं कहते, किन्तु 'ईरान' प्रदेशसे आया हुआ मानकर वे हमें 'अर्यन' कहते हैं। अतएव उनसे प्रयुक्त 'अर्यन' शब्द अन्य ही है। इससे 'आर्य' नामके प्रेमियोंको प्रसन्न नहीं होना चाहिये। 'आर्यावर्त' में रहने वाले होनेसे तो वे हमें 'इण्डियन' कहते हैं, 'अर्यन' नहीं। उस 'इण्डियन' का मूल शब्द 'सिन्धु' वा 'इन्दु' ही है, यह पहले कहा जा चुका है। 'अर्यन' कहकर वे हमें ईरानसे आया हुआ इसलिए सिद्ध करते हैं कि ये लोग भी भारतवर्षको स्वदेश न मानें, किन्तु अपने आपको प्रवासी मानें। जैसे अरबसे मुसलमान भारतमें आकर रहते हैं, जैसे अंग्रेज इङ्गलैण्डसे यहाँ आकर रहते हैं, उनका भारतवर्ष अपना देश नहीं, किन्तु विदेश है, वैसे यह आर्य भी ईरान से ही यहाँ आये हैं। इसलिए भारतवर्ष भी इनका अपना देश नहीं किन्तु परदेश ही है। वहाँ उनकी यही गुप्त नीति है कि जैसे प्रवासी मुसलमान इस देशको अपना देश न मानकर उसके खण्ड कराना चाहते हैं या करा चुके हैं, उनका इस देशसे प्रेम नहीं, वैसे ये 'अर्यन्' नामधारी भी ईरानके रहने वाले होनेसे उसीको अपना देश मानें, उससे ही स्नेह करें, भारतवर्षकी रक्षाके लिए ये लोग अपना रक्त न बहायें।

वास्तवमें वेदशास्त्रके देखनेसे हमारी जन्मभूमि वा स्वदेश सिन्धु (भारतवर्ष) ही सिद्ध होता है। इन अंग्रेज आदिके अनुमान तो कपोल-कल्पनामात्रविश्रान्त होनेसे प्रायः निराधार हैं। इस प्रकार जो लोग हमें

मध्यएशियासे या 'उत्तरमेरु' से आया हुआ मानते हैं, यह सब भ्रममात्र है। वेद सृष्टिके आदि समयसे बनाये हुए माने जाते हैं। मैक्समूलर आदि पश्चिमी विद्वान् भी 'ऋग्वेद' को पृथिवीका सर्वप्रथम ग्रन्थ मानते हैं। परन्तु उन वेदोंका आविर्भाव भारतसे अन्य देशमें कोई ठीक-ठीक सिद्ध नहीं कर सका है। यदि ऐसा है,तब 'ऋग्वेद'से अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं कि हमारा देश कौनसा है। प्रत्येक प्राचीन जातिका 'परिचयचिह्न' होती है उसकी 'भाषा'। परन्तु जो हमें बाहरसे आया हुआ मानते हैं, वे क्या वहाँकी तथा हमारी भाषाको समान सिद्ध कर सकते हैं? संसार की जिस उन्नत जातिने उच्च सोपानपर आरोहण किया, चाहे वे जातियाँ भिन्न-भिन्न दिदिगन्तोंमें फैल भी जायें, तथापि उनका आदिनिवास-स्थान नियत ही हुआ करता है। जो जातियां अपनी सख्यावृद्धिसे भिन्न-भिन्न देशोंमें अपने उपनिवेश बनाया करती हैं अथवा उस-उस देशमें प्रतिष्ठित हो जाती हैं, उन जातियोंके अपने देशमें अपने चिह्न तथा भाषा नियत होती है। अंग्रेजोंको ही देख लीजिये। वे बहुत फैले, ईसाकी १६ वीं शताब्दी से वे भिन्न-भिन्न प्रांतों में फैलते दिखलायी पड़ते हैं। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, एशिया आदिमें सर्वत्र वे रहते हैं, परन्तु क्या उन्होंने स्वदेशको सर्वथा भुला दिया? क्या अपने देशमें अपनी भाषा या अपने चिह्न प्रतिष्ठित नहीं किये? प्रत्युत उन्होंने तो इससे अपने देशकी ही प्रतिष्ठा बढ़ायी है। इस प्रकार अन्य जातियों पर भी दृष्टि डालिये।

सभी जातियोंने विदेशोंमें उन्नति करके अपने देशके ही मुखको उज्ज्वल किया है। सभी जातियोंने अपने देशकी श्रीवृद्धिमें तथा उसके संरक्षण एवं उस देशकी भाषाके प्रचारमें ही सदा अपना गौरव समझा है। तब सबसे सभ्य हिन्दुजाति ही इस मोटी भूलको क्योंकर कर सकती है कि अपने आदिदेशको भुलाकर यहां आगयी और अपने आदिदेशमें कोई भी अपना चिह्न स्थापित नहीं किया? क्या 'मध्य एशिया' आदि

हिन्दुजातिके तथाकथित देशोंमें संस्कृतभाषा दिखलायी देती है ? क्या वहाँ ब्राह्मण आदि चार वर्ण या अन्य वेदादिके प्रचार-चिह्न पाये जाते हैं ?

वस्तुतः यह भारतवर्ष ही हमारा आदिदेश है। इसीलिए आदि-सृष्ट्युत्पन्न मनु ने लिखा है—'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा.' (१।१०)। इस प्रकार भारतवर्ष ही हमारी आदि जन्मभूमि है। भारतसे ही अन्य दिशा-विदिशाओंमें गये हुए हमारे बन्धुओंने वहाँ-वहाँ अपने उपनिवेश बनाये जिनके चिह्न कभी-कभी भूगर्भ खोदने पर मिलते हैं। यहाँ के अग्रजन्मा ब्राह्मण ही जगद्गुरु होकर फैले।

वेदादिमें जहाँ ऋतुओंका वर्णन मिलता है, भारतसे भिन्न अन्य किसी भी देशमें छहों ऋतु नहीं मिलते, इससे भारतवर्ष ही हमारी जन्मभूमि सिद्ध होती है। 'धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे' (विष्णुपुराण २।३।२४) यह कहकर देवगण भी हमारी जन्मभूमि भारतवर्षमें ही आने के लिए लालायित रहते थे। यहाँ के ही अर्जुनने दिग्विजय करके भारतका नाम विदेशोंमें प्रसिद्ध कर दिया था, इसी तरह अन्य क्षत्रियोंने भी। फलतः हमारा आदि निवासस्थान सिन्धुदेश ही है, जो कालान्तर में भारतवर्ष नामसे प्रसिद्ध हुआ। यहीं के स्वायम्भुव मनुके पुत्र सम्राट् प्रियव्रतने पृथिवीको सात द्वीपोंमें बाँटा और अपने राज्यको जहाँ-तहाँ फैलाया। इससे ही हमारे पूर्वज दूर-दूर देशोंके वृत्त जानते थे। इसीलिए ही जहाँ-तहाँ उन-उन देशोंका वर्णन दिखलायी पड़ता है, वहाँ पर आदिनिवासके कारण नहीं।

अंग्रेजोंके भूगोलमें यदि कहीं 'कास्सकाट' नामक क्षुद्र ग्रामकी पुरानी कहानी लिखी हो, तो इससे अंग्रेज उस गांवके रहनेवाले कदापि सिद्ध नहीं हो सकते। वेदादिमें जो शीतका वर्णन वा दीर्घ उषाका वर्णन दिखलायी देता है, वह हमारी अभिज्ञानतावश मिलता है, हमारे वहाँ

आदिनिवासके कारण नहीं । हमारे वेदादिशास्त्रोंमें तो आकाश, स्वर्गादि लोकों का वर्णन भी मिलता है, तो क्या हमारा मूलनिवास वहाँ कोई मान सकता है ? वेद सर्वान्तर्यामी की कृति है, उसमें घुणाक्षरन्याय से यदि कहीं भारतसे दूरके देशोंका वर्णन या उनकी प्रकृति का वर्णन दिखलायी पड़े, तो इसका कारण सर्वज्ञता है, इससे हमारा उसमें आदिनिवास कभी सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिए इस विषयमें पाश्चात्यों वा तदनुयायी पौरस्त्यों के व्यभिचारी अनुमानों का मूल्य कपोलकल्पनासे बढ़कर नहीं है ।

आर्य और शूद्र

३० इससे स्पष्ट हुआ कि अँग्रेजों द्वारा हमें 'अर्यन' कहे जानेका क्या रहस्य है । यह 'अर्यन' 'आर्य' का अपभ्रंश नहीं है, अथवा यदि हो भी, तो वहाँ 'आर्य' से भी उन्हें 'ईरानसे आये हुए' यह अर्थ अभीष्ट है, 'सर्वश्रेष्ठ' अर्थ नहीं । अथवा वादितोषन्यायसे मान भी लिया जाय कि 'आर्य' हमारी जातिका नाम है, पर ऐसा होने पर वह व्यापक सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'उत शूद्रे उत आर्ये' (अथर्व १६।६२।१), 'उत शूद्र' उत आर्यम्' (अथर्व० ४।२०।८), 'शूद्राय च आर्याय च' (अथर्व० १६।३२।८), 'यो नो दास आर्यो वा' ऋ० १०।३८।३), 'यश्च शूद्र उत आर्यः' (अथर्व० ४।२०।४), 'आर्याय वा पर्यवदध्यात्, अन्तर्धिने वा शूद्राय' (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।३।४०—४१), 'आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्तारः (स्थानशुद्धिकर्तारः अन्नसंशोधका वा) स्युः' (आपस्तम्ब धर्म० २।२।२४) इत्यादि वेदादिके प्रमाणोंमें आर्य एवं शूद्र के पृथक् पृथक् ग्रहणसे सिद्ध होता है कि शूद्र आर्य नहीं हैं ।

स्वामी दयानन्दजीने भी यह स्वीकृत किया है, देखिये—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजोंका नाम आर्य और शूद्रका नाम अनार्य है' (सत्यार्थ-

प्र० = ममु०, १४० पृ०), 'द्विज विद्वानोंका नाम आर्य और मूर्खोंका नाम शूद्र और अनार्य नाम हुआ।' (स० प्र० पृ० १३६) यदि उन्होंने कहीं शूद्र को 'आर्य' लिखा भी है तो वहाँ शास्त्र-विरोध है। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर आर्यसमाजी विद्वान्ने भी 'छूत और अछूत' पुस्तक के पूर्वार्ध (२६ पृ०) में लिखा है—'उत शूद्रे उत आर्ये' (अथर्व० ४।२०) के सदृश प्रयोग वेदमें कई स्थानोंमें नजर आते हैं, इससे स्पष्ट होता है कि आर्य त्रैवर्णिक लोग हैं और अनार्य शूद्र हैं'। इस विषयमें अथर्ववेदभाष्यमें श्रीराजाराम शास्त्री, 'अस्पृश्यनिर्णय' में आर्यस्वराज्य-सभाके मन्त्री श्रीरामगोपाल वैद्यभूषण, चतुर्वेदभाष्यकार श्रीजयदेवजी और श्रीनरदेव शास्त्री, श्रीदेवशर्मा, श्रीक्षेमकरण आदि आर्यसमाजी विद्वान् भी सहमत हैं। आर्यसमाजके प्रसिद्ध स्वामी विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्दजीने भी अपनी वेदपद-सूचीमें उक्त मन्त्रमें 'आर्य' यही पद स्वीकृत किया है। इससे 'अर्य' का छेद करनेवाले श्रीशिव-शङ्कर काव्यतीर्थजी का मत छिन्न होगया।

आर्य शब्द

२१ जब शूद्र ही 'आर्य' नहीं रहा, तब चाण्डाल आदि अवर्णोंकी तो 'आर्य' संज्ञा हो ही कैसे सकती है? उचित तो यह है कि भारतवर्षीय जातियोंका समान नाम हो। 'गमिमेव तु आर्याः प्रयुञ्जते' महाभाष्यादि में दिया यह आर्य शब्द ब्राह्मणवाचक है, 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे द्विजोंका उपलक्षक है, जैसे कि 'ब्राह्मणेन निष्का-रणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' यहाँ ब्राह्मण शब्द प्रधान होने से उपलक्षण है, अन्यथा क्षत्रिय-वैश्योंके लिए वेदाध्ययन निषिद्ध हो जाय। भाष्यकारकी यह शैली है कि वे प्रायः ब्राह्मणोंके ही उदाहरण दिया करते हैं। इस विषयमें महाभाष्यका पारायण करना चाहिए। तब 'महाभाष्य' में भी 'आर्य' शब्द प्राप्तव्यत्वको अथवा लक्षणमें

श्रेष्ठत्वको मानकर ब्राह्मणवाचक ही सिद्ध हुआ जातिशब्द नहीं। इसी-लिए 'साहित्यदर्पण' के छठे परिच्छेद में 'नाट्योक्तियों' में 'स्वेच्छया नामभिर्विप्रैर्विप्र आर्येति चेतरैः' इस प्रकार ब्राह्मणको 'आर्य' सम्बोधन देना कहा है। इस प्रकार ब्राह्मणको 'आर्य' सम्बोधन देना कहा है। इस प्रकार 'मृत्युर्विप्रान् जिघांसति' (मनु० ५।४) इत्यादिमें भी 'विप्र' नाम 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे आया है।

'एतान् द्विजातयो देशान् (ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल, शूरसेन, मध्यदेश, आर्यावर्तदेशान्) संश्रयेरन् प्रयत्नतः। शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा (म्लेच्छदेशेऽपि) निवसेद् वृत्तिकर्शितः' (मनु० २।२४) इस प्रकार द्विजात्युत्पन्नोंका ही भारतवर्षमें प्रधानतासे निवास बतलाया है, शूद्रोंका तो गौणतासे। इसलिए २।४।१० सूत्रके 'महाभाष्य' में 'आर्यावर्तात् अनिरवसितानाम्' इस प्रघट्टकसे सब तरहके शूद्रोंका आर्यावर्तमें निवासका अधिकार नहीं माना है। तब 'आर्यावर्त' यह नाम आर्यों—ब्राह्मणोंके प्रधानतया निवासके कारण ही कहा है—'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति'। जैसा कि जिस ग्राममें मुसलमान अधिक रहा करते हैं, वहाँ थोड़े हिन्दुओंके होते हुए भी वह ग्राम मुसलमानोंका ही कहा जाता है। काबुल-कान्धारमें थोड़े हिन्दुओंके होते हुए भी वह देश 'अफगानिस्तान' कहा जाता है। आजकल भारतवर्षमें थोड़े मुसलमानोंके होने पर भी उसे 'हिन्दुस्तान' ही तो कहा जाता है। प्रधानताके कारण किसीके नामसे देशका नाम होने पर भी अन्य अप्रधान प्रजाका अभाव सिद्ध नहीं हो जाता। इसके अनुसार तब ब्राह्मणोंकी प्रधानतासे हमारे देशविशेषका 'आर्यावर्त' यह नाम 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे प्रसिद्ध है। वह आज भी वैसे ही रूढ़ है। इससे यह सिद्ध हो गया कि समस्त भारतीयोंका 'आर्य' यह नाम नहीं है। तब शूद्र अनार्य सिद्ध हुए, इसी प्रकार अवर्ण तथा

वर्णसङ्कर भी। इस प्रकार 'महाभाष्य' के वचनमें 'आर्य' शब्द ब्राह्मण-वाचक सिद्ध हुआ। यदि आर्यावर्तमें निवासके ही कारण शूद्र और अवर्णोंका नाम 'आर्य' हो जाय, तो यहाँके मुसलमान तथा ईसाई भी 'आर्य' हो जायंगे, गर्दभ आदि पशु भी तथा काक आदि पक्षी भी आर्य हो जायंगे, परन्तु ऐसी बात नहीं है। इससे आर्यावर्तमें निवासमात्रसे ही आर्यता नहीं हो जाती।

स्वामी दयानन्दजी का मत

२२ जो कि स्वामी दयानन्दजी ने लिखा है—'आर्यावर्त देश इस भूमिका नाम इसलिए है कि इसमें आदिसृष्टि से आर्यलोग निवास करते हैं और जो आर्यावर्त्तमें सदा रहते हैं, उनको भी आर्य कहते हैं' (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश ३० संख्या; यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वामीजी ने आदिसृष्टिमें आर्यों का निवास 'तिब्बत' में माना है, देखिए 'सत्यार्थ प्रकाश' अष्टम समुल्लास १३६ पृष्ठ। इससे आर्यावर्तमें उनका निवास सिद्ध न हुआ। परस्पर विरुद्ध होने से ही उनका यह वचन ठीक नहीं है। जो कि स्वामीजी ने कहा है कि 'आदिसृष्टि तिब्बतमें हुई, उसमें आर्य-अनार्य दोनों का संग्राम हुआ। आर्यलोग तिब्बत छोड़कर यहां आ बसे। यही स्थान आर्यों का निवास होने से 'आर्यावर्त' इस नामसे प्रसिद्ध हुआ. आर्यों के आने से पूर्व इस देशमें कोई नहीं रहता था' (स० प्र० १३६-१४०) यह बात निर्मूल ही है।

तिब्बतमें आदिसृष्टि का निर्माण किसी वेदादिशास्त्रमें नहीं लिखा, यह इसमें पहिली निर्मूलता है। त्रिविष्टपका अपभ्रंश भी तिब्बत नहीं। जहां 'त्रिविष्टप' शब्द आया है, वहां स्वर्गलोकवाचक आया है। जैसे—'विष्टप्-द्यौः, आविष्टा ज्योतिर्भिः (ग्रहनक्षत्रादिभिः), पुण्यकृद्भिश्च' (२।१४।९)। वेदाङ्ग पाणिनीय लिङ्गानुशासनमें 'त्रिविष्टप-

त्रिभुवने नपुंसके' (४४) यहां 'देवासुरास्म स्वर्ग' (लि० ४३) इस सूत्र से स्वर्गकी पर्यायतावश पुल्लिंगता प्राप्त होने पर उक्त ४४ सूत्रसे बाध होगया। इससे विष्टप् या त्रिविष्टप-स्वर्गका नाम है, तिब्बतका नहीं! इसमें 'ऊर्ध्व नाकस्याधिरोह विष्टपं स्वर्गोलोक इति यं वदन्ति' अथ० ११।१।७) यह मन्त्र भी ज्ञापक है। इसमें तिब्बतका नाम नहीं। न तिब्बतमें सृष्टि करने का यहां कोई वर्णन है। त्रिविष्टप केवल शीत-बहुल होनेसे अपूर्णता के कारण भी पूर्णतायुक्त सर्वादिम हिन्दु जातिका सृष्टि-प्रदेश नहीं हो सकता। अतः उक्त मन्त्रमें यजमानके स्वर्गलोकमें जाने का ही वर्णन है, तिब्बतमें नहीं। स्वर्गलोक इस लोकसे भिन्न होता है, जैसे—'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋ० १।११६।३), त्रिविष्टपका अपभ्रंश तिब्बत है, यह भी निष्प्रमाण है।

इसी भांति उसीसे अग्रिम 'द्यौः स्त्रियाम्' (४५) इस लिंगानुशासन-के सूत्र-प्रोक्त 'दिव्' शब्दमें भी स्वर्ग अर्थ होनेसे ४३ सूत्रमें पुंलिंगता प्राप्त होने पर ४५ सूत्रसे बाध होगया। इसी तरह 'द्योदिवौ द्वे स्त्रियां, क्लीवे त्रिविष्टपम्' (अमरकोष १।१।६) में भी 'त्रिविष्टप' स्वर्गके नामोंमें आया है। अमरकोषके यह नाम स्वर्गवर्गमें हैं, भूमिवर्गमें नहीं, अतः पृथिवीलोकस्थ 'तिब्बत' का ग्रहण नहीं हो सकता। 'तृतीयं-विष्टपं (लोकः) त्रिविष्टपम्? तब तीसरा लोक भू तथा अन्तरिक्षसे भिन्न स्वर्ग ही है। तिब्बत तो पहले भूलोकमें अन्तर्गत है। 'विष्टप' का अर्थ स्वा० द० जी ने उणादिकोष (३।१४५) में भुवन मान गये हैं। 'त्रिविष्टप' का अर्थ उन्होंने स्वर्गके स्थान पर 'सुखविशेषोपभोगः' लिखा है। वे स्वर्गलोकको उड़ाना चाहते थे; अतः जहां 'स्वर्ग' वाचक शब्द आजावे; वहां 'सुख', 'द्रष्टव्य सुख' यह अर्थ कर दिया करते थे।

जैसे वैदेशिक लोग हमारे भारतवर्षके प्रेमके विनाशके लिए हमें वैदेशिक सिद्ध करते हैं, वैसे ही स्वामीजीने भी तिब्बत-स्थित पुरुषोंको

'मूल हिन्दू' सिद्ध करके भारतवर्ष उनका विदेश सिद्ध कर दिया है। कदाचित् इसीलिए इस सम्प्रदायके व्यक्ति भारतीय धर्मसे ही विद्रोह करते हों। द्वितीय निर्मूलता इसमें यह है कि यदि आर्योंके निवाससे ही 'आर्यावर्त' यह नाम हुआ, तो तिब्बतमें भी आरम्भसे (स्वामिमतानुसार) आर्योंका निवास रहा, तो उसका नाम 'आर्यावर्त' क्यों नहीं हुआ ? अथवा 'तिब्बत' में अनार्योंके निवाससे उसका नाम 'अनार्यावर्त' क्यों नहीं हुआ ? अथवा यदि अनार्य भी वहां से यहां आये, तो इस देशका नाम 'आर्यानार्यावर्त' क्यों नहीं हुआ ? अथवा यहां पर अनार्य-शूद्र चाण्डालादि भी आये या नहीं ? (क्योंकि स्वामीजी शूद्रादि को अनार्य मान चुके हैं) यदि आये, तो 'आर्यानार्यावर्त' नाम क्यों न हुआ ? इसलिए यह व्याजमात्र ही है।

वस्तुतः 'आर्यावर्त' यह रूढ ही नाम है, उसका लक्षण 'मनुस्मृति' २।२२ पद्यमें कहा है। रूढ न मानने पर इससे भिन्न कहे हुए 'ब्रह्मावर्त' आदि प्रदेश 'अनार्यावर्त' हो जाएंगे। इसी आपत्ति से अपने आपको बचानेके लिए स्वामीजीने 'ब्रह्मावर्त' के स्थानमें 'आर्यावर्त' शब्द ही पढ़ दिया है। भिन्न-भिन्न २२-१७ मनु श्लोकोंका अर्थ भी उन्होंने इकट्ठा कर डाला है, यह बात 'सत्यार्थप्रकाश' के अष्टम समुल्लास १४० पृष्ठ में द्रष्टव्य है। पर यह उनकी कृत्रिमता ही है, क्योंकि यह बात 'मनुस्मृति' से विरुद्ध है। 'मनुस्मृति' में ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त आदि भिन्न-भिन्न बतलाये हैं। 'कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः'मनु०(१०।३४) यह पद्य बता रहा है कि—आर्यावर्त सारे भारतका नाम नहीं; अन्यथा सारे भारतका नाम 'आर्यावर्त' होने पर उक्त शब्द व्यर्थ थे। अतः ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त आदि भारतके भाग ही थे। इसलिए 'स्मृतिचन्द्रिका' के संस्कारकाण्डमें 'देशनिर्णय-प्रकरण' में कहा है – 'अत्र तथा (ब्रह्मावर्त-कुरुक्षेत्र-मध्यदेशार्यावर्तेषु) पूर्वं पूर्वं उत्तरोत्तरात् प्रशस्तः। तथा च सुमन्तुः—'ब्रह्मावर्तः परो देशः ऋषिदेशस्तथनन्तरः। मध्यदेशस्ततो

न्यून आर्यावर्तस्ततः परः' इति ।' इससे आर्यावर्त को मध्यदेश, ब्रह्मर्षि-देश तथा ब्रह्मावर्तसे न्यून बतलाया गया है। यहाँ प्रकरणवश 'परः' का अर्थ 'इतर' एवं 'हीन' है। 'ब्रह्मावर्त' को सर्वोत्तम बतलाया गया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि 'आर्यावर्त' समस्त भारतका नाम नहीं है, किन्तु उसके एक भागका नाम है।

स्वामी दयानन्दजीके मतमें अन्य त्रुटि यह है कि यदि आदिसृष्टिमें केवल एक ही मनुष्यजाति थी, पीछे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार भेद हुए, तो वेदमें '*ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्*' (शुक्लयजुः ३१, ११) इत्यादि में चार जातियोंका निर्देश कैसे है? क्या वेद इन चार जातियोंके बनानेके बाद बना? क्योंकि स्वामीजी इतिहासयुक्त उस ग्रंथ-को उस इतिहासके बाद बना मानते हैं। यदि भविष्यद्दृष्टिवश वेदमें वैसा वर्णन है, तो वेदमें भी भविष्यद् दृष्टिसे इतिहास सिद्ध होगया।

इससे स्पष्ट है कि 'आर्य' शब्द गुणशब्द ही है, जातिशब्द नहीं। तब वह हमारी जातिका '*आर्या जातिः*' इस प्रकार विशेषण तो हो सकता है, संज्ञा नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि 'सिन्धु' या 'हिन्दु' ही हमारी प्राचीन संज्ञा है। उसमें चार वर्ण तथा अवर्ण अन्तर्भूत हो जाते हैं। यही व्यापक नाम है, जिससे इस देशकी सब ब्राह्मणादि चाण्डालान्त जातियोंका ग्रहण हो जाता है। 'आर्य' यह तो एकदेशी नाम है। इससे केवल ब्राह्मण या ब्राह्मण-क्षत्रियोंका ही ग्रहण सम्भव है। न तो इससे शूद्र लिए जा सकते हैं, न तो चाण्डालादि अवर्ण ही।

आर्य ईश्वर-पुत्र

३३ कई वादिगण 'आर्याय' का 'ईश्वरपुत्राय' यह अर्थ 'निरुक्त' (६।२।३) में देखकर 'आर्य' शब्दका प्रयोग हमारी जातिके लिए करना ठीक मानते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि 'शूद्रका नाम अनार्य है'

(सत्यार्थप्र० १४० पृष्ठ) यह स्वामी दयानन्दजीकी उक्ति शुद्ध है या अशुद्ध ? यदि अशुद्ध, तो आपके स्वामीजी अनाप्त हो गये। यदि उक्त उक्ति शुद्ध है, तो ब्राह्मणादिका नाम 'आर्य' सिद्ध हुआ, शूद्रादि का नहीं, तब शूद्र एवं चाण्डालादि तथा ईसाई या मुसलमान भी ईश्वरपुत्र हैं या नहीं ? यदि नहीं, तो इसमें क्या प्रमाण है ? यदि हैं, तो आप इनको 'आर्य' कहते या मानते हैं या नहीं ? यदि मानते हैं, तो आपके मतप्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीका वाक्य व्याकुपित होता है। तब 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' इस मन्त्रका भवत्सम्प्रदायाभिमत अर्थ कि 'सारे जगत् को आर्य बनाओ' भी अशुद्ध सिद्ध होता है। यदि वे वास्तवमें 'ईश्वरपुत्र' हैं, तो उनको 'ईश्वरपुत्र' बनाना क्या ? यदि आप उनको 'आर्य' नहीं मानते, तो सिद्ध हुआ कि ईश्वर के पुत्र ब्राह्मण-क्षत्रियोंमें ही 'आर्यत्व' का व्यवहार है, अन्य शूद्र, चाण्डाल आदिमें नहीं। तब यह नाम एकदेशी सिद्ध हुआ। अतएव यह समस्त जातियों के लिए प्रयोगार्ह नहीं।

वास्तवमें 'निरुक्त' में 'आर्य' का जो 'ईश्वरपुत्र' अर्थ लिखा है, उसका रहस्य अन्य है, वह यह है कि 'निरुक्त' तथा उक्त मन्त्रमें 'आर्य' शब्द अण्प्रत्ययान्त 'अर्य' शब्दका विवक्षित है। 'अर्य' यह 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (३।१।१०३) इस पाणिनिके सूत्रमें 'स्वामी' का नाम है। तब 'आर्य' शब्दका 'स्वामीका पुत्र' यह अर्थ वहां विवक्षित है। वहां पर 'ईश्वर' से स्वामी ही अभीष्ट है, परमात्मा नहीं। 'निरुक्त' आदि प्राचीन साहित्यमें परमात्म-वाचक ईश्वर शब्द आया ही नहीं। 'स्वामीश्वराधिपति' (२।३।३९) इस सूत्रमें ईश्वर शब्द स्वाम्यर्थक ही है। इसी प्रकार 'सं समिद्''अर्यः' (ऋ० १०।१९१।१) इस मन्त्रमें अर्यशब्द स्वामिवाचक ही है, जैसा कि सायणाचार्यने लिखा है—'हे अग्ने ! अर्यः—ईश्वरस्त्वम्, 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' इति यत्प्रत्यय-यान्तो निपातितः। 'अर्यः स्वाम्याख्यायाम्' (फि० सू० ३।१८) इत्य-

न्तोदात्तत्वम् ।' यहाँ परमात्मार्थका कोई प्रकरण नहीं । तब निरुक्तस्थ मन्त्रसे वादियों को कोई इष्टसिद्धि नहीं, क्योंकि उन्हें 'आर्य' शब्द 'अण्' प्रत्ययान्त इष्ट नहीं होता, किन्तु एयत् प्रत्ययान्त ही इष्ट होता है। तब जातिवाचक अर्थमें उसका प्रयोग ऐकदेशिक होने से नहीं हो सकता ।

हिन्दुशब्दका चोर-डाकू अर्थ

२४ जो कि स्वामी दयानन्दजीने 'भ्रान्तिनिवारण', 'वेदविरुद्धमत-खण्डन' तथा १८७१ के सत्यार्थप्रकाश' (३ समु० पृ० ६७) में हिन्दु शब्द के 'चोर, काफिर, गुलाम, दुष्ट, नीच, कपटी, छली' इत्यादि अर्थ किये हैं, उनसे प्रष्टव्य है कि आपने ये अर्थ किस व्याकरण वा कोष से किये हैं? यदि निज कल्पित ही ये अर्थ किये हैं, तो प्रमाण-शून्य होने से उनका यह वचन अप्रमाण हो गया। जो कि स्वामीजी ने लिखा है—'आर्य नाम श्रेष्ठ का है और जो हिन्दु नाम इनका रखा है, सो मुसलमानोंने ईर्ष्यासे रखा है, उसका अर्थ है दुष्ट, नीच, कपटी, छली और गुलाम, इसमें यह नाम भ्रष्ट है, किन्तु आर्यों का नाम 'हिन्दु' कभी न रखना चाहिए' (प्रथम सत्यार्थप्रकाश ३ पृ० ६७ । यह बात भी निष्प्रमाण है कि मुसलमानों ने 'आर्य' शब्दके स्थानमें ईर्ष्यासे 'हिन्दु' नाम रख दिया। स्वामीजी या उनके अनुयायियोंने आज तक ऐसा प्रमाण नहीं दिया कि मुसलमानोंने अमुक संवत् या सन् में 'आर्य' यह नाम हटाकर उसके स्थानमें 'हिन्दु' यह नाम रखा हो।

यदि वे कहें कि 'ग्यासलुगात' में 'हिन्दु' शब्दके 'काफिर, चोर, गुलाम' इत्यादि अर्थ किये गये हैं, तो उनसे पूछना चाहिए कि क्या वह संस्कृतकोष है, जो माननीय हो जाय? उसी कारण से यदि आप हिन्दु शब्द को हटाते हैं, तो 'शरीर' शब्द को भी छोड़ दीजिये। उनके

मतमें 'शरीर' उपद्रवी को कहते हैं। तब तो 'देव' शब्दको भी छोड़ दीजिये, क्योंकि 'ग्यासलुगात' में 'देव' शब्द का अर्थ 'राक्षस' लिखा है और स्वामी दयानन्दजीने इसका अर्थ 'विद्वान्' लिखा है। अब स्वामीजीके अनुयायी कहें कि 'देव' शब्दका अर्थ आप 'ग्यासलुगात' का कहा हुआ मानेंगे या अपने स्वामीजीका कहा हुआ? यदि आप स्वामिप्रोक्त ही अर्थ मानेंगे और 'ग्यासलुगात' से कहे 'देव' शब्दके अर्थको अशुद्ध मानेंगे, तो वैसे ही 'हिन्दु' शब्दका भी 'ग्यासलुगात' का किया अर्थ भी अशुद्ध जानना चाहिये। तब उसका अनुयायी 'हिन्दु' शब्दका स्वामीजीमें कहा हुआ पक्ष भी अशुद्ध सिद्ध हुआ।

उसी 'लुगात' में 'राम' शब्द 'गुलाम' का वाचक है, जबकि यह हमारे मतमें 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन् इति रामः' इस प्रकार परमात्माके अवतारविशेषका वाचक है। तब क्या आप लोग 'ग्यासलुगात' प्रोक्त अर्थ को ही मानेंगे? वास्तवमें यहाँ यह याद रखना चाहिए कि उच्चारण सादृश्यके कारण समानतासे दीख रहे हुए शब्दोंका भिन्न-भिन्न भाषाओंमें भिन्न-भिन्न अर्थ होना असम्भव या आश्चर्यजनक नहीं। पर इससे समानतासे दृश्यमान शब्द या वस्तुओंमें मौलिक एकता नहीं मानी जा सकती। वहां पर 'मार' शब्द 'सर्प' वाचक है, हमारी भाषा में वह 'कामदेव' वाचक है इस प्रकार अन्य भी बहुतसे शब्द हैं। इससे स्पष्ट है कि फारसीभाषीय 'हिन्दु' शब्दके साथ हमारे जातीय नाम 'हिन्दु' शब्दका कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं है। भले ही उनका उच्चारण-सादृश्य क्यों न हो, पर दोनों ही शब्द एक दूसरे से सर्वथा, पूर्णतः एव मूलतः भिन्न ही हैं। यदि वादिगण यह बात न मानें, तो उन्हें 'आर्य' शब्दका प्रयोग भी छोड़ देना चाहिए, क्योंकि उसी 'ग्यासलुगात' में 'आर्य' शब्दका अर्थ 'घोड़े-गधेके पिछले भाग' का या अश्व-गर्दभादिकी शालाका नाम कहा है। तब तो उन्हें 'आर्य' शब्द

भी निकृष्टार्थ होने से छोड़ देना चाहिए। यदि वे नहीं छोड़ते, तो यहां निन्दित अर्थवाला होने पर 'हिन्दु' शब्द ही क्यों छोड़ा जाय?

स्वामी दयानन्दजीने स्वयं ही स्वीकार किया है कि 'मुसलमानोंने ईर्ष्यासे ही ये अर्थ किये हैं', तब क्या ये माननीय हो जायंगे? वे ही 'संस्कृतभाषा' को ईर्ष्यासे 'जिन्नभाषा' कहते हैं, जैसे कि प्रथम 'सत्यार्थप्रकाश' २८० पृ० में स्वामीजी लिख गये हैं। तब क्या संस्कृत भाषाको ही हमलोग छोड़ दें? हमें यह चिन्ता छोड़ देनी चाहिए कि कइयों ने इसका घृणित अर्थ किया है। घृणित अर्थ किया हो किन्हींने इसका, पर इस नामकी उत्पत्ति घृणाके कारण नहीं हुई। इसकी उत्पत्ति सिन्धुदेशोत्पत्ति के कारण हुई है, यह कहा जा चुका है। उसके बाद हमारी वीरता से हानि प्राप्त करके प्रतीकार करने में असमर्थ हुए कई मुसलमानोंने 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' इस न्यायसे उसका घृणित अर्थ कर दिया हो, तो इससे उस नाम की त्याज्यता नहीं हो जाती। इङ्गलैण्ड में ही एक ऐसा समय था कि जब 'इङ्गलिशमैन' शब्दका अर्थ वहांके विजेता नार्मन जाति वालोंने घृणित कर डाला था। 'मैं तब 'इङ्गलिशमैन' कहाऊँ, जब मैं अमुक पाप करूँ' इस प्रकार शपथरूपमें वे इसका प्रयोग करते थे। नार्मन जाति वालेको तभी 'इङ्गलिशमैन' कहा जाता था, जबकि उसका अपमान करना होता था या वही किसी असभ्य अपराधको करता था। इस प्रकार घृणा उत्पन्न करने पर भी इङ्गलैण्ड निवासियोंने अपना नाम 'इङ्गलिशमैन' ही रखा, 'नार्मन' नहीं। क्या नाम-परिवर्तनसे इङ्गलैण्ड का अपमान दूर हो जाता? क्या इङ्गलैण्ड का पराजय विजयरूप में परिणत हो जाता? कभी नहीं। 'इङ्गलिशमैन' इस दूसरोंसे घृणास्पदीकृत भी नाम को न छोड़ने का फल यह हुआ कि आज वही 'इङ्गलिशमैन' नाम इङ्गलैण्डकी कीर्तिका सूचक माना जाता है। आज 'नार्मन' जाति

का अस्तित्व भी नहीं है। 'इङ्गलिशमेन' नाम धारण करने वाले आज विश्वके साम्राज्यमें सर्वोत्कृष्ट स्थान को प्राप्त किये हुए हैं। यह है अपने नाम को न छोड़ने का महत्त्व। पारस्परिक कलहोंमें राष्ट्रोंकी बुद्धि व्यवस्थित नहीं रहती। अपने शत्रुको कलङ्कित करनेके लिए वे सभी दुष्ट-अदुष्ट उपायोंका अवलम्बन करते हैं। तब पर्शियन एवं मुसलमान आदिकोंके लिए भी स्वाभाविक था कि वे हिन्दु शब्दका घृणित अर्थ करते। क्या हमीं लोग 'जिन, मुसलमान, मुसण्डा' आदि शब्दोंको उनसे ईर्ष्याके कारण घृणित अर्थोंमें प्रयुक्त नहीं करते? परन्तु क्या उन्होंने इससे अपना नाम बदल दिया? आज भी 'जिनोपासक' अपने आपको 'जैन' ही कहते हैं।

वस्तुतः फारसी भाषामें भी 'हिन्दु' शब्दका अर्थ तो निकृष्ट नहीं लिखा है, केवल लक्षणा से वे चोर आदि अर्थमें उसका प्रयोग करते हैं। 'अर्बीकोष' में 'हिन्दु' का अर्थ 'खालिस' 'शुद्ध' है। यहूदी लोग 'हिन्दु' शब्दका अर्थ 'शक्तिशाली वीर पुरुष' करते थे। प्राचीन अरब निवासी भी हमारे देश को 'हिन्द' नामसे जानते थे, तभी उन्होंने हमारे देशसे निष्पन्न 'अङ्कगणित' का नाम 'हिन्दसा' रखा है। 'क़ुरान' में तो 'हिन्दु' शब्दका ही अभाव है। वहां 'काफिर' शब्दसे 'मुसलमानधर्मविरुद्ध' ही अभिप्रेत है। इस प्रकार तो उनके अनुसार आर्यसमाजी आदि भी काफिर हैं। क्या इससे वे अपना नाम या धर्म छोड़ देंगे? 'बहारे आजम लुगात' में 'हिन्दु' शब्द हिन्दुस्थानवासियों में भी प्रयुक्त है। उससे भी प्राचीन लुगातकार 'खाने आरजू' कहता है—'हिन्दु एक विशिष्ट जाति है।' 'फरहङ्ग लुगात' में भी 'हिन्दु' शब्द जातिबोधक स्वीकृत किया गया है 'गयासुल लुगात' में भी 'हिन्दु' शब्द 'हिन्दुस्तान-वासियों' में स्वीकृत किया गया है। प्राचीन 'बेबिलोनिया' निवासियोंके साहित्यमें 'हिन्दु' शब्द 'हिन्दुराष्ट्रवासियों' में प्रयुक्त है, अपमानसूचक अर्थ में नहीं।

२९ अथवा उनके कोषमें हमारे शब्दोंका यदि निन्दित अर्थ भी लिखा गया है, तो उसका त्याग बुद्धिमत्ता नहीं है। 'दस्त' शब्द हमारी भाषामें 'दस्त' (विरेचन) वाचक है, अतः घृणित है, पर उनकी भाषामें 'हाथ' वाचक है। वे हमारी भाषामें 'दस्त' शब्दका निन्दित अर्थ होने पर भी उसका त्याग नहीं करते। उसी दृढ़ताके फलस्वरूप हिन्दुओंमें भी 'दस्त' शब्द 'दस्तखत' शब्दरूपमें प्रचलित हो गया है। पर आपलोग 'हिन्दु' इस अपने शब्दको भी छोड़ रहे हैं, उसका फल भी वैसा हो रहा है। अब दूसरे लोग हमें या आपको 'हिन्दु' शब्द वा 'आर्य' शब्दसे न कहकर 'नान मुहम्मडन', 'नान मुसलिम', 'अमुसलिम' शब्दसे पुकारते हैं। औरों को छोड़ दीजिये, हमसे भी 'हिन्दु' शब्द छूट रहा है। 'सिख' 'हिन्दु' नाम नहीं लिखाते, इस प्रकार 'जैनी' आदि भी। यही अपने शब्दको छोड़ देनेका एवं शिथिलता का परिणाम है, जो कैसे खेदका विषय है? यदि हिन्दु शब्द घृणापरक होता; तो पृथिवीराज, जयसिंह आदि अभिमानी वीर राजा इस नामको गौरवसे न लेते। देखिये—'पृथिवीराजरासो' आदिमें उसका प्रयोग। परन्तु वे गौरवसे उस नामको लेते थे, तब वादियोंकी उक्त उक्ति ठीक नहीं। अन्यथा हमने उनसे प्रयुक्त और घृणित 'काफिर' शब्द ही क्यों नहीं स्वीकृत कर लिया, जिसे उन्होंने हमारे लिये प्रयुक्त किया था? क्यों नहीं हमने उससे अपना गौरव माना? इससे स्पष्ट है कि हिन्दु शब्द हमारा ही है। मुसलमानों को चाहे उससे घृणा हो, परन्तु हमारे पूर्वज उस नामका राष्ट्रिय महत्त्व तथा उसकी आदिमता जानते थे, इसीलिए उसका प्रयोग करते थे।

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'

२६ जो अपने आपको 'आर्य' मानने वाले 'इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तो अराव्णः' (ऋ० ९।६३।५) इस मन्त्रसे सारे जगत्को आर्य बनानेका स्वप्न देखते हैं; उन्हें यह जानना चाहिए कि यहां पर 'आर्य' शब्द श्रेष्ठका वाचक है, जातिपरक नहीं। जातिपरक अर्थ करने वाले व्यक्ति 'ऋग्वेद' का कोई भी प्राचीन भाष्य अपने पक्षके समर्थनमें दिखलावें। वेदके अर्थ देवतावादके अनुसार हुआ करते हैं, स्वेच्छानुसार नहीं। 'देवता' यह वर्ण्य विषयका ही अनुक्रमणिका के अनुसार पारिभाषिक नाम होता है। जैसे कि 'बृहद्देवता' में लिखा है—'संवादेष्वाह वाक्यं यः स तु तस्मिन् भवेद् ऋषिः। यस्तेनोच्येत वाक्येन देवता तत्र सा भवेत्' (१।१०) वेदमन्त्रो-का अर्थ देवताके अनुसार हुआ करता है। इस मन्त्रका, प्रस्तुत सारे मण्डलका पवमान सोम देवता है। तब यहां पर वर्णन भी उसीका होना चाहिए। इस मण्डलमें 'सोम' बहुवचनमें भी आया है, एकवचन में भी। कहीं सोमशब्द सोमाभिमानी देवताका वाचक है, जिसका 'ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा' (ऋ० १०।९७।२२) इस मन्त्रमें संकेत आया है, कहीं सोमरसका वाचक है। इस मन्त्रमें ऋ० ९।६३।४ से 'एते सोमाः' की अनुवृत्ति चल रही है। तब यह अर्थ हुआ कि 'एते सोमाभिमानिदेवाः, विश्वं-सर्वं सोमम् आर्य-श्रेष्ठं अस्माभिर्द्विजैः प्रास्यं, यज्ञोपयुक्तं कुर्वन्तः अभ्यर्षन्ति-प्राप्नुवन्ति।' यहां पर 'आर्य' शब्द जातिवाचक नहीं, क्योंकि वैसा कोई प्रकरण नहीं। इसलिए सायणाचार्यने उक्त सम्पूर्ण मन्त्रका यह अर्थ किया है—'इन्द्रं वर्धयन्तः, अप्तुरः-उदकस्य प्रेरकाः, विश्वं सोमम् अस्मदीयकर्मार्थम् आर्य-भद्रं कुर्वन्तः, अराव्णः अदातॄन् अपघ्नन्तः विनाशयन्तः, अभ्यर्षन्ति गच्छन्ति।' उक्त मन्त्रमें 'विश्वं' शब्दका 'सोम' से सम्बन्ध करनेमें

कारण यह है कि वह सोम विश्वरूप है। 'विश्वचर्षणिः' (ऋ० ९।१।२) यहां उसे विश्वका द्रष्टा, 'पवस्व विश्वचर्षणे !' (९।६६।१) यहां उसे सर्वव्यापी होनेसे सर्वदष्टा, 'विश्वजित् सोम !' (९।२९।१) 'विश्वायुः' (९।८६।४१) यहां उसे विश्वजित् तथा सर्वगन्ता 'विश्वदेवः' (९।१०३।२, ९।१०३।४) यहां सोम सर्वदेवोंमें उपगत वा व्यापक दीप्तियुक्त स्वीकृत किया गया है। इसीलिए उसे उक्त मन्त्रमें भी 'विश्व' शब्दसे कहा गया है; अतः सायणकृत अर्थ ठीक ही है। तब देवदायाद् से विरुद्ध अर्थ करते हुए वादी निरस्त हो गये।

जो व्यक्ति उक्त मन्त्रसे सारे संसारको आर्य बनानेका स्वप्न देखते हैं; वे तो वैदिक-ज्ञान-शून्य हैं। वे अनार्यों को आर्य कैसे बना सकते हैं ? यदि उक्त मन्त्रसे वैसा माना जाय, तो यह ठीक नहीं। उक्त मन्त्रका ठीक तथा प्राकरणिक अर्थ हमने दिखला ही दिया है, इधर हम पहले बता आये हैं कि 'आर्य' शब्द समस्त-हिन्दुवाचक नहीं, किन्तु ब्राह्मण-क्षत्रियवाचक है। अधिकसे अधिक त्रैवर्णिक वाचक है। चतुर्थ शूद्रवर्ण तथा पञ्चम अवर्ण ये वेदानुसार आर्य नहीं, किन्तु दास एवं दस्यु हैं। दास या दस्युको आर्य बनाना वेदसम्मत नहीं, किन्तु वेद विरुद्ध है। तभी 'ऋग्वेद' में कहा है—'न यो ररे आर्यं नाम दस्यवे' (ऋ० सं० १०।४९।३) 'दस्यवे अनार्याय, शूद्रनिषादादिकाय अहम् इन्द्र आर्य नाम, न ररे—न दत्तवान्।' तब फिर 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' इसका 'सारे जगत् को आर्य बनाते हुए' यह अर्थ करना वेदविरुद्ध है।

'यया दासानि आर्याणि वृत्राकरो.' (ऋ० ६।२२।१०) इस मन्त्रसे भी हमारे पक्षका विरोध नहीं है, जैसे कि कई इसमें दासोंको आर्य बनाना सिद्ध करते हैं, यहां 'दासानि', 'आर्याणि' ये पद नपुंसक-लिङ्गान्त हैं, इसलिए यहां शूद्रजाति या आर्यजाति अर्थ नहीं है, किन्तु यहां यौगिक ही अर्थ है। इसीलिए यहां सायणाचार्यने अर्थ लिखा

है—'हे इन्द्र ! स्वस्ति-क्षेमलक्षणां सम्पदं भो—अस्मभ्यमामर, तया स्वस्त्या, दासानि-कर्महीनानि मनुष्यजातानि, आर्याणि-कर्मयुक्तानि अकरोः, माहुषाणि-मनुष्यसम्बन्धीनि वृत्राणि-शत्रून् शोभनहिंसोपेतानि अकरोः।' नपुंसकलिङ्गवाला आर्य शब्द हमारी जातिका नाम नहीं है. यहां पर 'अभिग्रान् दासा वृत्राणि आर्या च शूर! वधीः' (ऋ० ६।३३।३) यह मन्त्र भी साक्षी है। यहां आर्योंका भी वध (मारना) कहा है। वस्तुतः एतदादि स्थलमें यौगिकरूपसे अर्थ है। इसीलिए सायणाचार्यने लिखा है—'हे इन्द्र ! तान् उभयविधान् शत्रून् अहिंसीः; दासान्-उपक्षयितॄन् वलप्रभृतीन् असुरान्, आर्याणि-कर्मानुष्ठातृत्वेन श्रेष्ठानि वृत्राणि-आवरकाणि विश्वरूपादीनि च हे शूर ! त्वं हतवान्।' इसी प्रकार 'आर्याय विशोऽवतारीर्दासीः' (ऋ० ६।२५।२) यहां पर भी सायणने लिखा है—'हे इन्द्र ! आभिरस्मदीयाभिः स्तुतिभिः दासीः-कर्मणामुपक्षयित्रीः, विश्वाः सर्वा विशः-प्रजाः, आर्याय-यज्ञादिकर्मकृते यजमानाय अवतारीः-विनाशय' इससे स्पष्ट है कि कहीं दास, आर्य आदि शब्द यौगिक हैं, विश्वरूप आदि दैत्योंके लिए प्रयुक्त किये गये हैं, जिन्हें इन्द्रने मारा था ! कहीं योगरूढ भी हैं। फलतः दस्यु—दास को आर्य बनाना वेदसे विरुद्ध है। यदि 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का वादियोंके अनुसार यह अर्थ हो कि—ईसाई मुसलमानादि सबको आर्य बनाते हुए, तो यहाँ प्रश्न यह है कि वेदकालमें सभी आर्य थे वा अनार्य भी थे? यदि तब सभी आर्य थे, कोई भी अनार्य नहीं था; तो आर्योंको आर्य बनाना पिष्टपेषण की तरह व्यर्थ कहा गया। यदि तब अनार्य भी थे; तो सृष्टिके आदिमें उन्हें परमात्माने ही पैदा किया, या वे पीछे हुए? यदि परमात्माने ही बनाये; तब उन्हें आर्य बनाना परमात्मासे विरुद्ध है, अन्यथा वह उन्हें बनाता ही नहीं। यदि वे पीछे अनार्य होगये; तो वेदमें उनका वर्णन कैसे? क्या वादी वेदमें भविष्यत्का इतिहास भी मानते हैं।

इसी तरह 'विजानीहि आर्यान्, ये च दस्यवः' (ऋ० १।२१।८) 'हत्वी दस्यून् प्र-आर्यं वर्णमावत्' (ऋ० ३।३४।६), यहाँ पर वेद अनार्योंको आर्योंसे पृथक् ही रखना चाहता है। इससे यह स्पष्ट है कि अनार्योंकी आर्यता नहीं हो सकती, अन्यथा 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' इस मन्त्र तथा उक्त मन्त्रोंका परस्पर विरोध हो जायगा। तब व्याघात हो जाने से वेदका ही अप्रामाण्य प्रसक्त हो जायगा।

'हिन्दु' शब्द अवैदिक (?)

३७ कई आर्यसमाजी आदि कहते हैं कि 'यद्यपि भविष्यपुराण तथा कालिकादि पुराणोंमें 'हिन्दु' शब्द दिखलायी देता है, पर चारों वेदोंमें दिखायी नहीं देता, इसलिए वह अप्रमाण तथा अव्यवहार्य है'। इस पर यह जानना चाहिए कि वेदमें तो परमात्माके 'सच्चिदानन्द, सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सृष्टिकर्ता, सृष्टिधर्ता, सृष्टिहर्ता, इत्यादि स्वामी दयानन्दजीके 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' (प्रथम संख्या) में कहे हुए तथा 'सत्यार्थप्रकाश' (प्रथम समुल्लास) में कहे हुए परमात्माके नामोंमें भी कई 'परमेश्वर, गणेश, अन्तर्यामी, भौम, शनैश्चर' आदि नाम भी नहीं आते। तब इनका बहिष्कार क्यों नहीं किया जाता? उनके माने हुए वेदमें आर्यसमाज, गुरुकुल, संन्यास (देखो आर्यमित्र ४।६।४१। पृ० ७ संन्यासका वेदोंमें पता नहीं है) दयानन्द, डी. ए. वी. कालेज आदि नाम भी नहीं आते, तब इनका बहिष्कार क्यों नहीं किया जाता? क्यों आर्यसमाजी अपना नाम संन्यासी रखते हैं? क्या यह स्वार्थ नहीं?

अर्वाचीन 'हरिजन' शब्द

जो लोग 'हिन्दु' शब्दको अर्वाचीन बतलाकर 'हिन्दु' शब्दके प्रयोगमें सङ्कुचित होते हैं, वे आजकल गांधीजीसे प्रचलित 'हरिजन' इस आधुनिकतम शब्दके प्रयोगमें सङ्कुचित क्यों नहीं होते? क्या वेदमें इनके लिए 'हरिजन' शब्द प्रयुक्त है? क्या यह अर्वाचीनतम नहीं? जब 'भङ्गी' आदिकोंकी 'चाण्डाल' संज्ञा वैदिक है, स्वामी दयानन्दजी भी जब इसीको स्वीकार करते हैं, तब उसके लिखनेमें ही उन्हें क्या सङ्कोच (है?) वास्तवमें वे लोग स्वेच्छाधर्मी हैं। जो लोग कहते हैं कि 'निम्बार्कमतनिर्णय' के १४वें पृष्ठकी पञ्चम पङ्क्तिमें लिखा है—'कृष्णोत्सवसमायातान् दृष्ट्वा हरिजनान् यथा,यत्। नैव कार्याऽशुचेः शङ्का पुण्यास्ते भक्तिसंयुताः (१२७)। सर्वे विप्रसमा ज्ञेयाः श्वपचाद्या अपि संशयः। ये कुर्वन्ति दिने विष्णोर्जागरं गीतकीर्तनम्' (१२८) यहां श्वपच (चाण्डाल) आदिकोंकी 'हरिजन' संज्ञा कही है। (यह बात देहलीके 'बिड़ला-मन्दिर' के बाहर दीवार पर लिखी है)। परन्तु यह ठीक नहीं है। यहां 'हरिजनाः' यह शब्द हरिके भक्त—ब्राह्मणादि के लिए आया है। जो कृष्णोत्सवमें आ जायं उनमें कोई अस्नात होनेसे 'अशुद्ध' हो वा सूतकाशुद्धियुक्त हो, तो यहां इस बातका विचार न करना चाहिए। यहां अन्त्यजोंका कोई वर्णन नहीं है। दूसरा पद्य स्वतन्त्र है। 'तत्र ये श्वपचाद्याः विष्णोः कीर्तनं कुर्वन्ति ते विप्रसमा ज्ञेयाः' यहां श्वपचोंको नामकीर्तन करने पर अर्थवादसे विप्रसम कहा है। नामकीर्तनमें सब समान अधिकारी हैं, यह इसका हृदय है। यहां उन 'श्वपचों' की 'हरिजन' यह विशिष्ट संज्ञा नहीं कही गयी। इसमें शास्त्रान्तरोंका व्याकोप भी है, लोकविरुद्धता भी, क्योंकि 'हरिजन' क्या केवल चण्डालोंका ही नाम हो सकता है? क्या विष्णुके जन 'अन्त्यज' ही हो सकते हैं, शेष चार वर्ण नहीं? अन्त्यजोंके हरिजनत्वमें कोई विनिगमक नहीं। इधर 'निम्बार्कमतनिर्णय' निम्बार्कमत वालोंका

ऐकदेशिक ग्रन्थ है। न तो यह लोकव्यवहार-व्यवस्थापक स्मृति है, न ही सार्वदेशिक, सार्वकालिक, सर्वसम्प्रतिपन्न ग्रन्थ है।

यदि 'हरिजन' यह अन्त्यजोंका नाम सर्वशास्त्रमान्य होता, तो वेदों, स्मृतियों, पुराणोंमें उनके लिए वैसा प्रयोग होता, परन्तु नहीं है। तब ऐकदेशिक ग्रन्थविशेषके बलसे उनका यह शास्त्रीय नाम कदापि नहीं हो सकता। वैष्णवोंके ग्रन्थ भी प्रायः ऐकदेशिक ही हैं; उनमें भक्तिभाव को मस्तीमें कहीं शास्त्रीय मर्यादाएँ भी तोड़ दी गयी हैं, अपरायह अनिष्ट है। और फिर 'हरिजन' यह शब्द अन्त्यजोंके लिए रूढ़ होता, तो द्वितीय पद्यमें 'श्वपचाद्याः' यह शब्द न होकर 'हरिजनाः' होता। ऐसा न होना सिद्ध कर रहा है कि हरिजन उनका नाम नहीं, किन्तु हरिभक्तमात्रका नाम है। गांधीजी द्वारा अन्त्यजोंका उक्त नाम रख देनेसे अब द्विजलोग अपने आपको 'हरिजन' कहते सकुचाते हैं, यह लौकिक हानि भी बहुत हुई है।

कई आक्षेप

२६ (क) प्रसक्तानुप्रसक्त यह बात कही गयी है। अब पाठक प्रकरण पर आयें। हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि वेदमें हमारी जाति का नाम 'सिन्धु' बहुत स्थलोंमें आता है, इसीका विपरिणाम 'हिन्दु' है, यह विपरिणाम भी प्राचीन, वैदिक, सांस्कृतिक, प्राकृतिक एवं देशी भी है। तब 'हिन्दु' शब्दकी वैदिकता भी सिद्ध हो गई। कई लोग इस पर यह आक्षेप करते हैं कि 'यदि 'सिन्धु' शब्दके अपभ्रंशसे 'हिन्दु' शब्द निष्पन्न है, तो उसका सर्वव्यापी प्रयोग नहीं हो सकता; क्योंकि अपभ्रष्ट शब्द सार्वत्रिक नहीं होते। जैसे—गोशब्दका अपभ्रंश किसी देशमें 'गावी' प्रसिद्ध है, कहीं 'गोणी' तथा कहीं 'गोपोतलिका'। इनका प्रयोग सार्वत्रिक नहीं। परन्तु 'हिन्दु' शब्द ऐसा नहीं। इसको सब इसी रूपमें बोलते हैं, अत: 'अपभ्रंश' पक्ष ठीक नहीं।' इस पर

हमारा उत्तर यह है कि यह आवश्यक नहीं कि अपभ्रष्ट शब्द सर्वत्र प्रचलित न हों। देखिये—प्राकृतभाषा भी तो संस्कृतसे अपभ्रंष्ट हुई भाषा है। परन्तु उसका प्रयोग सर्वत्र समान रूपसे होता है। अथवा उसमें भी शौरसेनी, मागधी आदि भेद भले ही वह जांय, पर मुख्य शब्दोंका उच्चारण उनमें भी प्रायः समान होता है। अथवा संस्कृतसे अपभ्रष्ट हिन्दी-भाषाको ही ले लीजिये। यदि इसका प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता जाय, तब 'गौ' का अपभ्रंश 'गाय' सर्वत्र प्रचलित हो जाय। इसका अन्य उदाहरण भी ले लीजिये—विरोचनके पिता हिरण्यकशिपु के पुत्रका 'प्रह्लाद' इस प्रकार रेफघटित मूल नाम है। परन्तु अपभ्रंशवश उसका विपरिणाम 'प्रह्लाद' इस प्रकार लकारघटित रूपमें हो गया है, यहाँ तक कि लोग उसके रेफघटित मूल नामको ही भूल गये। इस प्रकार वेनके लड़केका नाम वेदमें 'पृथी' मिलता है, परन्तु उसका विपरिणाम पुराणोंमें 'पृथु' मिलता है और वह सर्वत्र प्रचलित हो गया है। इस प्रकार 'सिन्धु' के विपरिणाम 'हिन्दु' शब्दके विषय में भी जान लेना चाहिए। इसका इस प्रकार प्रचार हो गया कि लोग इसके मूलभूत 'सिन्धु' शब्दको भी भूल गये।

(ख) कई लोग कहते हैं कि 'औणादिक प्रत्यय किया 'डिया, डोलना, डुलक'। 'मा' धातुसे साध लिया 'मिया, मोलना, मुल्क' इस प्रकारकी उणादि व्युत्पत्तियां आदृत नहीं की जातीं। इस पर जानना चाहिए कि इससे उणादि प्रत्ययोंका बाहुल्य ही सूचित होता है, उपहास वा अनादर नहीं। उपहास वा अनादर भी निर्मूल शब्दोंका सूचित होता है, समूलोंका नहीं। अन्यथा 'अमरकोष' आदिमें उणादिमें व्युत्पादित शब्द अनादरणीय सिद्ध हो जांय। पर यह अनिष्ट है।

(ग) कई यह आक्षेप करते हैं कि 'पहले तो आपने 'सिंधु' का विपरिणाम 'हिंदु' दिखलाया है और फिर 'हि कृपवती' इस मन्त्रके पूर्वार्ध और

'दु हाम्' इस उत्तरार्धके आदिम वर्णोंसे 'हिंदु' शब्द सिद्ध किया है, यह तो परस्पर विरुद्धता हो गयी'। इस पर यह जानना चाहिए कि एक ही शब्दकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे भी सिद्धियाँ हुआ करती हैं। यहाँ 'अमरकोष' के भिन्न-भिन्न टीकाकारोंकी समान शब्दोंकी भिन्न-भिन्न सिद्धिप्रक्रिया देखनी चाहिए, अथवा एक ही टीकाकारसे की हुई एक ही प्रयोगकी 'यद्वा' कहकर भिन्न-भिन्न शैलीसे की हुई सिद्धयां देख लेनी चाहिएं। 'सुधा' नामक 'अमरकोष' की टीकामें ऐसा प्रकार सुलभ है।

तब जो लोग 'हिन्दु' शब्दको मुसलमान या फारसियोंसे दिया जानकर उसका अपने साथ सम्बन्ध अपने अपमानका कारण जानते हैं, उन्हें उक्त प्रमाणोपपत्तियों को परिशीलित कर अपना आग्रह छोड़ देना चाहिए। इस नामसे कोल, भिल्ल, सङ्गोल, सिख, जैन, बौद्ध आदि जातियाँ तथा चाण्डाल आदि अवर्ण जातियाँ इस महाजातिके अन्तर्गत हो जाती हैं। अन्यथा जनगणना (मर्दुमशुमारी) के समय कोई अपने आपको 'हिन्दु' लिखाये, कोई 'आर्य', कोई 'सिख', कोई 'जैन'। इस प्रकार पृथक् पृथक् लिखवानेसे हिन्दुओंकी संख्याकी न्यूनता सुनकर विधर्मी लोग उपहास करें और उनका हिन्दु जाति पर आक्रमणके लिए उत्साह बढ़ जाय—इस प्रकार 'हिन्दु' नाम छोड़ने पर विषम दुष्फल मिल सकता है।

उपसंहार

४० इस प्रकार जब शूद्र, वर्ण होकर भी आर्य सिद्ध न हो सके, तब अवर्ण या वर्णसङ्कर 'आर्य' कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार 'आर्य' शब्द एकदेशी सिद्ध हुआ, इसलिए वह हमारी समष्टि जातिका नाम भी नहीं हो सकता। पर 'हिन्दु' शब्द तो भारतीय सब जातियोंका प्रतिपादक है, अतएव व्यापक सिद्ध हुआ। इधर वह प्राचीन या वैदिक है यह भी बतलाया जा चुका है। अतएव उसका ही प्रचार श्रेष्ठ है।

जनगणना (मर्दुमशुमारी) के समय सभी इस जाति वालोंको 'हिन्दु' यही नाम लिखाना चाहिए। आर्यसमाजी तो 'हिन्दु' शब्दको सनातनधर्मियोंमें रूढ मानकर उस भयसे ही कि 'हमने भी यदि ऐसा किया, तो हमें भी हिन्दुओंके सिद्धान्त स्वीकार करने पड़ जावेंगे' इस 'हिन्दु' शब्दका बहिष्कार करते हैं और आर्यसमाजकी उन्नति दिखलाने के लिए 'आर्य' शब्दको प्रसारित करनेमें उत्सुक रहते हैं। यही वास्तविक रहस्य है कि वे बहुत तरहकी युक्तियोंसे 'हिन्दु' शब्दको हटाना चाहते हैं। वे उक्त रहस्यको स्पष्ट रूपसे तो प्रकाशित नहीं करते, किन्तु अपने हृदयके भीतर छिपाकर रखते हैं। बाहरसे तो 'हिन्दु' शब्दको वैदेशिक सिद्ध करनेमें बहुत बल लगाते हैं। वास्तवमें उनको उक्त भय छोड़ देना चाहिए और उदारता अवलम्बन करनी चाहिए, सङ्कीर्णताको हटा देना ही उचित है। अपने जातीय 'हिन्दु' नामके लिए स्वार्थका त्याग कर देना चाहिए।

फलतः हमारे देशका नाम 'हिन्दु' है, उसीका अपभ्रंश 'हिन्द' है। हमारी जातिका नाम भी देशके अनुसार 'हिन्दु' है। हमारी भाषाका नाम हिन्दी भाषा है। स्वामी दयानन्दजीने तो 'प्रथम-संस्कारविधि' (सं० १९३२-३३) में इस हिन्दी भाषाका नाम 'प्राकृत भाषा' रखा था, 'आर्यभाषा' नहीं। इस प्रकार 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में भी।

फलतः सब पुरुषोंको स्वस्वार्थ-त्यागकर अपना जातीय नाम 'हिन्दु' यह रखना चाहिए। सब हिन्दु पुरुषोंको जनगणना समयमें इसी नाम का प्रयोग लिखानेके लिए प्रेरणा करनी चाहिए, जिससे 'हिन्दुस्थान' भी उसीकी सम्पत्ति सिद्ध हो।

---

(४) वेद-विषयमें भारी भूल

'हिन्दुशब्द' तथा हिन्दु-धर्मका विवेचन करके अब हिन्दु-धर्मके मुख्य ग्रन्थ वेदके स्वरूपके विषयमें कुछ विवेचना दी जाती है। आज वेदके विषयमें लोगोंकी बड़ी श्रद्धा है। वेदके नामका बड़ा प्रचार है। आज न पढ़ा-लिखा साधारण भी पुरुष दूसरेके सिद्धान्तकी प्रामाणिकताके लिए पहले यही पूछता है कि इस सिद्धान्तको वेदसे दिखाओ।, अपने सिद्धान्तकी प्रामाणिकतामें वह यही हेतु बताता है कि यह वेदमें है, चाहे उसने वेद अपनी आँखोंसे न भी देखे हों। पर आज वेद विषय में भारी भूल की जा रही है। 'ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, साम-वेद संहिता, अथर्ववेद संहिता' इस नामसे मिलने वाली चार पुस्तकोंको ही केवल आज 'चार वेद' बताया जा रहा है, तथा समझा जा रहा है। बहुतसे विद्वानोंमें भी यह भारी भ्रम विद्यमान है। जबकि वेद को अपना आधारभूत मानने वाले विद्वानोंकी यह दशा है, तब तटस्थों को यह भ्रम न रहे—यह अस्वाभाविक बात है। आज उसी भ्रमको दूर करनेके लिए हम निम्न पंक्तियां लिखते हैं।

वेद-श्रद्धालु लोग पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, यास्क आदियोंको को प्रसिद्ध वेदज्ञ तथा अत्यन्त प्रामाणिक स्वीकार करते हैं। तब वेद-विषयमें इनकी सम्मति सुतरां ग्राह्य सिद्ध होगी। उक्त व्यक्ति सनातन-धर्मी तथा आर्यसमाजी सभी सज्जनोंको समान रूपसे प्रामाणिक इष्ट हैं। उसमें आर्यसमाज अपने आचार्य स्वा० दयानन्दजीको भी प्रामा-णिक कोटिमें मानता है। आज हम इनके अनुसार वेदस्वरूप-निरूपण पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हैं। इनमें आर्यसमाज उक्त चार ग्रन्थोंको चार वेद मानता है, शेष ११२७ संहिताओंको इन्हींकी व्याख्या-रूप

शाखा मानता है, वेद नहीं। ब्राह्मणभागको उससे भिन्न मानता है, उपनिषद् और आरण्यकोंको इनसे भी भिन्न। ऐसा बहुत विद्वानोंका भी विश्वास है। परन्तु यह मत पाणिनि आदिसे विरुद्ध है। वेद चार हैं—इसमें तो किसीका मतभेद नहीं। 'तीन वेद हैं' यह प्रसिद्धि तो तीन प्रकारके (पद्य, गद्य, गान) मन्त्रोंके कारण है। वे तीनों प्रकारके मन्त्र चारों वेदोंमें हैं। उनमें पद्य ऋक् है, गद्य यजु है, गान साम है। ऋग्वेद नाम ऋचाओंकी प्रधानतासे, यजुर्वेद यजुओंकी और सामवेद सामोंकी प्रधानतासे है। अथर्ववेदमें तीनोंका साम्य है। तब एककी प्रधानता न होनेसे, मन्त्रके नामसे न होकर उसके द्रष्टाके नामसे उसका नाम 'अथर्वाङ्गिरोवेद वा अथर्ववेद प्रसिद्ध है।

हम इस निबन्धमें यह सिद्ध करेंगे कि—आजकल मिलने वाले 'ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता, अथर्ववेद संहिता' यही केवल चार वेद नहीं हैं, किन्तु ये चारों वेदोंकी एक-एक संहिता हैं, चारों वेद तो ११३१ संहिताओं, इतने ही ब्राह्मण ग्रन्थों तथा इतने ही उपनिषद् एवम् आरण्यकोंमें जाकर परिनिष्ठित होते हैं। पर आर्य-समाजी विद्वान् तथा अन्य भी यह मानते हैं कि—आजकल मिलने वाले 'ऋग्वेद संहिता आदि चार ग्रन्थ चार वेद हैं। ये पूर्ण हैं। न इनमें कुछ न्यूनता है, न प्रक्षिप्तता है। अस्तु, इस मतकी सत्यता या असत्यता अन्तिम अनुसन्धानसे स्वयं सिद्ध हो जाएगी।

वेद विषयमें वास्तविकता यह है कि—११३१ संहिताएं तथा ब्राह्मण मिलकर ही पूर्ण चार वेद हैं। जिस प्रकार 'वेद' ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवम् अथर्ववेदसे पृथक् कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं मिलती, क्योंकि—इन चारोंका समुदाय ही वेद है, वैसे ही चार वेद भी ११३१ संहिताओं या ब्राह्मणोंसे पृथक् स्वतन्त्र चार पुस्तकोंके रूपमें नहीं मिलते, अर्थात् सभी ११३१ संहिताओंको मिलाकर ही चार वेद

होते हैं। आजकल जो चार वेद माने जाते हैं, वे चारों वेदोंकी एक-एक संहिता है। जिसे आज 'ऋग्वेद-संहिता' कहा जाता है, वह ऋग्वेद की 'शाकल-संहिता' है। आजकी 'यजुर्वेद संहिता' शुक्लयजुर्वेदकी 'वाजसनेयी-संहिता' है। आजकी 'सामवेद संहिता' सामवेदकी 'कौथुम संहिता' है। आजकी 'अथर्ववेद संहिता' अथर्ववेदकी 'शौनक संहिता' है। यजुर्वेदके विषयमें इतना और याद रखना चाहिए कि यजुर्वेदके शुक्ल यजुर्वेद तथा कृष्ण यजुर्वेद ये दो भेद हैं। पर इससे वेद पाँच नहीं हो जाते; एकके दो भाग कल्पित करने पर वह एक वास्तवमें अनेक नहीं हो जाता; किन्तु दो भागों वाला ही वह पूर्ण एक बन जाता है।

वेदकी ११३१ संहिताएँ हैं, इस प्रसगमें महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलि का यह प्रसिद्ध वचन 'महाभाष्य' के पस्पशाह्निकमें मिलता है—'एक-शतम् (१०१) अध्वर्यु (यजुर्वेद) शाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः (१०००), एकविंशतिधा (२१) बाह्वृच्यम् (ऋग्वेदः)। नवधा (९) आथर्वणोवेदः'। यहाँ पर चारों वेदोंकी १०१ + १००० + २१ + ९ = ११३१ शाखाएँ स्वीकृत की गई हैं। इनमें यजुर्वेदकी ८६ कृष्ण संहिताएँ तथा १५ शुक्ल संहिताएँ मिलाकर ही १०१ संख्या बताई गई है—यह बात नहीं भूलनी चाहिए। स्वा० दयानन्दजीने 'वसुराङ्कचन्द्र' (१९३८ वि०) संवत् में अपने बनाए 'नामिक' पुस्तकके चतुर्थ पृष्ठमें उक्त भाष्यवचनका अर्थ इस प्रकार किया है—'एक सौ एक व्याख्यानयुक्त यजुः, हजार व्याख्यानयुक्त साम, इक्कीस व्याख्यान-युक्त ऋक्, नव व्याख्यानयुक्त अथर्ववेद'। इस अर्थमें भी वेदकी संहिताएँ ११३१ सिद्ध होती हैं। इनमें चार वर्तमान संहिताएँ भी अन्तर्भूत हो जाती हैं। पृथक् सिद्ध नहीं होतीं।

अलङ्कार शास्त्रमें ध्वनिके सामान्यतया ५१ भेद होते हैं, पर उसमें 'ध्वनि' यह भेद अविवक्षितवाच्य इत्यादि भेद अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य

आदिसे पृथक् गणनीय नहीं होते, किन्तु अपने सभी भेदोंकी समष्टि ही ध्वनि होती है; परन्तु आजकल जो कि आर्यसमाज चार वेदोंको अलग और ११२७ शाखावेदोंको पृथक् मानता है, यह मत श्रीपतञ्जलि आदिसे विरुद्ध ही है। न तो श्रीपतञ्जलिने ऐसा कहीं कहा है, न ही किसी अन्य प्राचीनने। उसका प्रमाण यही है कि पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, यास्क आदि वेदका नाम लेकर जिन प्रमाणोंको उद्धृत करते हैं, वे केवल इन वर्तमान चार ग्रन्थोंके नहीं होते, किन्तु अन्य संहिताओं के भी होते हैं, ब्राह्मण भाग वा तदन्तर्गत उपनिषद्-आरण्यकसे भी दिये होते हैं। तब इनके मतमें यह सारा समुदाय 'वेद' पद वाच्य हुआ। हां, 'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इस परपशाह्निकस्थित महाभाष्यके वचनसे सब संहिताओंमें किसी भी एक संहिता का प्रमाण 'वेद' नामसे वा 'ऋग्वेदादिके नामसे दिया जा सकता है।

इस निबन्धको विस्तीर्ण न करते हुए हम उक्त मुनियोंके कई प्रमाण उपस्थित करते हैं। विस्तीर्ण रूपसे इस विषयको अग्रिम भागों में निरूपित करेंगे। पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, यास्क आदियोंको सभी सनातनधर्मी तथा स्वा० दयानन्दजीसे लेकर आज तक तत्पश्च हुए सभी आर्यसमाजी समतासे प्रमाण मानते हैं। स्वा० दयानन्दजीको आर्यसमाजी प्रमाण मानते ही हैं। हम उनके भी इस विषयमें प्रमाण देते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि—वेद ११३१ संहिताओं तथा शब्द एवं अर्थका नित्यसम्बन्ध होनेसे उतने ही 'ब्राह्मणों' में पूर्ण होता है।

वेदके प्रयोग श्रीपाणिनिने अपनी 'अष्टाध्यायी' में, श्रीकात्यायनने 'वार्तिक' में, श्रीपतञ्जलिने महाभाष्य में, श्रीजयादित्यने अपनी 'काशिका' में तथा श्रीभट्टोजिदीक्षितने अपनी 'सिद्धान्तकौमुदी' में एवं आर्यसमाजके आचार्य स्वा० दयानन्दजीने नामिक, आख्यातिक, सामासिक

अध्ययार्थ भाग आदि अपनी पुस्तकोंमें उद्धृत किए हैं। इस प्रकार मीमांसकने भी वेद-मन्त्रोंके प्रमाण अपने 'निरुक्त' में दिखलाए हैं। वे वेदके प्रयोग यदि वर्तमानमें प्रसिद्ध चार वेदग्रन्थोंमें न मिलें, तो *सिद्ध हो जाएगा कि ये वेदके वर्तमान चार ग्रन्थ ही वेदकी चरमसीमा* नहीं हैं, किन्तु वेद इनसे अधिक है। यदि वे ही वेदके प्रयोग वर्तमान चार संहिताओं से भिन्न संहिताओंमें तथा ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों में प्राप्त हो जाएँ, तो सिद्ध हो जाएगा कि—वेदकी सीमा ११३१ संहिताएँ तथा उतने ही ब्राह्मणग्रन्थ जिसके उपनिषत् एवं आरण्यक भी अन्तर्गत हैं, है अर्थात् वेदकी पूर्णता इनमें होजाती है। अब विद्वान् लोग निम्न अनुसन्धानों पर ध्यान दें—

(१) 'स्नात्व्यादयश्च' (७।१।४६) यह पाणिनिसूत्र है। इसमें 'क्त्वापि छन्दसि' (७।१।३८) सूत्रसे 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आरही है, उक्त सूत्रका उदाहरण 'स्विन्नः स्नात्वी मलादिव' यह दिया गया है। यह मन्त्र 'शुक्ल-यजुर्वेदी काण्वसंहिता' (२२।५) में 'स्विन्नः स्नातो मलादिव' इस रूपमें मिलता है। आजकल 'यजुर्वेद संहिता नामसे प्रख्यात 'वाजसनेय संहिता' (२०।२०) में भी उक्त मन्त्र वैसा ही है। अथर्ववेदकी शौनक संहिता में 'स्विन्नः स्नात्वा मलादिव' (६।११५।३) रूपमें मिला है। 'स्नात्वी' इस रूपमें नहीं मिला। परन्तु कृष्ण यजुर्वेदीय 'काठकसंहिता' (३८।५।६३) में 'स्विन्नः स्नात्वी मलादिव' इस पाणिनिप्रोक्त स्वरूपमें मिला है। इसी प्रकार कृष्ण यजुर्वेदीय 'मैत्रायणी संहिता' में (३।११।११) ।१०) इसी रूपमें मिला है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में (२।४।५।६) भी 'स्नात्वी' मिला है। आजकल की मानी गई चार वेद पुस्तकोंमें 'स्नात्वी' शब्द है ही नहीं। तब कृष्ण-यजुर्वेदके भी छन्द (वेद) सिद्ध हो जाने से आजकलका वेद-विषयक मत भी भ्रान्त सिद्ध हुआ। हमारे कहे अनुसार वेदकी सीमा ११३१ संहिताओं तथा ब्राह्मणमें परिनिष्ठित सिद्ध हुई।

पाणिनिसे प्रोक्त 'छन्द' शब्द वेदका ही पर्यायवाचक प्रसिद्ध है। स्वा० दयानन्दजीको भी यही अभिमत है, जैसे—'तथा व्याकरणेपि- 'मन्त्रे घस' 'छन्दसि लुङ्' 'वा षपूर्वस्य निगमे' अत्रापि छंदो-मन्त्र- निगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति, एवं छन्दआदीना पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते, तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति' (ऋ० भा० भू० पृ० ८०) 'यच्चोक्तं छन्दो मन्त्रयोर्भेदोस्ति; तदपि असंगतम्। कुतः? छंदोवेद-निगम- श्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्' (पृ० ७९-८०) तब जो आजकलके आर्य- समाजी पण्डित छन्दको वेदसे भिन्न बताने की चेष्टा करते हैं; स्वा० दयानन्दजीके अनुसार उनका वचन अप्रमाण ही है।

(२) 'छन्दसि निष्टर्क्य' (३।१।१२३) इस पाणिनिके सूत्रमें 'निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः' यह वैदिक उदाहरण इष्ट है। स्वामी दयानन्दजीने भी 'आख्यातिक' में यही उदाहरण दिया है। परन्तु यह आजकलके कहे जानेवाले चारों वेदमन्त्रोंमें नहीं मिलता। बल्कि 'निष्टर्क्य' शब्द ही आजकी चारों वेद-संहिताओंमें नहीं मिलता। जबकि आजके मतके अनुसार चार वेद पूर्ण हैं, न्यूनता, अधिकता, प्रक्षेप आदि से रहित हैं, तो उनमें पाणिनिके अनुसार 'निष्टर्क्य' वैदिक प्रयोग अवश्य मिलना चाहिए। पर जब उन पुस्तकोंमें नहीं मिलता, तब स्पष्ट है कि वेदकी सीमा इन चार ग्रन्थोंसे अधिक है। उक्त शब्द कृष्णयजुर्वेदीय 'तैत्तिरीयसंहिता' (६।१।७।२) में तथा 'मैत्रेयारण्यक' (२।१।३) में मिलता है; तब आजकलका वेद-विषयक मत भ्रान्त सिद्ध हुआ।

(३) 'बहुलं छन्दस्यमाङ्' (६।४।७५) इस पाणिनिसूत्रकी कौमुदीमें 'मा वः क्षेत्रे परे बीजान्यवाप्सुः' यह उदाहरण दिया है। 'आपस्तम्ब- धर्मसूत्र' (२।६।१३।६) बोधायनधर्मसूत्र (२।३।३६) में इसे उद्धृत किया गया है. पर यहां 'वाप्सुः' पाठ है 'अवाप्सुः' नहीं। यह मन्त्र वर्तमान

की चार संहिताओंमें नहीं मिला। किसी अन्य संहिता वा ब्राह्मणमें होगा। छन्द वेदका ही नाम है ऐसा हम पूर्व बता चुके हैं, तब मन्त्रभागकी सभी संहिताएं तथा ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए।

(४) 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' (२।३।६२) यह कात्यायनका वेद-विषयक वार्तिक है। भाष्यकारने इसका वैदिक उदाहरण 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः' यह दिया है। स्वामी दयानन्दजीने भी यही उदाहरण दिया है। परन्तु यह आजके चारों वेदोंमें नहीं, किन्तु कृष्ण-यजुर्वेदीय 'तैत्तिरीयसंहिता' (२।५।१।७) के ब्राह्मण भागमें है। तब आजका वेद-विषयक मत नितान्त भ्रान्त सिद्ध हुआ। सभी संहिता-ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए।

(५ महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलिने ३।१।७ पाणिनिसूत्रके भाष्यमें 'ऋषिः (वेदः) पठति — 'शृणोत ग्रावाणः' यह वेद-मन्त्रांश उद्धृत किया है। पाणिनिको भी 'तप् तनप् -तनथनाश्च' (७।१।४५) इस छान्दस (वैदिक) सूत्रमें यही वेदमन्त्र अभिप्रेत है; पर यह शुक्ल यजुर्वेदमें नहीं मिलता। उसकी 'वाजसनेयी संहिता' में 'श्रोता ग्रावाणः' (६।२६) रूपमें मिलता है; इसी प्रकार 'काण्वसंहिता' (६।३८) में। यद्यपि 'शृणोत' तथा 'श्रोता' में अर्थभेद नहीं, तथापि शब्दभेद तो है। वेद शब्द-प्रधान ही सर्व-सम्मत है। 'तत्सवितुर्वरेण्यं' यह गायत्री मन्त्र इस शाब्दिक रूपमें तो वेद है—इस अर्थमें नहीं। इसीलिए जपन भी उसी का होता है, उसके अर्थका नहीं। नहीं तो विवाहादि संस्कार वेदमन्त्रोंके अनुवादसे भी कराये जाते। पर नहीं कराये जाते।

कृष्णयजुर्वेदीय 'तैत्तिरीयसंहिता' (१।३।१३।१) में 'शृणोत ग्रावाणः' मिला है, 'काठकसंहिता' (३।३३) 'मैत्रायणीसंहिता' (१।३।४) में भी कुछ भेदसे मिला है। तब आजकल का वेद-विषयक मत नितान्त भ्रान्त सिद्ध हुआ।

पाणिनिसे प्रोक्त 'छन्द' शब्द वेदका ही पर्यायवाचक प्रसिद्ध है। स्वा० दयानन्दजीको भी यही अभिमत है, जैसे—'तथा व्याकरणेपि-'मन्त्रे घस' 'छन्दसि लुङ्' 'वा पपूर्वस्य निगमे' अत्रापि छंदो-मन्त्र-निगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति, एवं छन्दआदीना पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते, तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति' (ऋ० भा० भू० पृ० ८०) 'यच्चोक्तं छन्दो मन्त्रयोर्भेदोस्ति; तदपि असंगतम् । कुतः ? छंदोवेद-निगम-श्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्' (पृ० ७६-८०) तब जो आजकलके आर्य-समाजी पण्डित छन्दको वेदसे भिन्न बताने की चेष्टा करते हैं; स्वा० दयानन्दजीके अनुसार उनका वचन अप्रमाण ही है।

(२) 'छन्दसि निष्टर्क्य' (३।१।१२३) इस पाणिनिके सूत्रमें 'निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः' यह वैदिक उदाहरण इष्ट है। स्वामी दयानन्दजीने भी 'आख्यातिक' में यही उदाहरण दिया है। परन्तु यह आजकलके कहे जानेवाले चारों वेदग्रन्थोंमें नहीं मिलता। बल्कि 'निष्टर्क्य' शब्द ही आजकी चारों वेद-संहिताओंमें नहीं मिलता। जबकि आजके मतके अनुसार चार वेद पूर्ण हैं, न्यूनता, अधिकता, प्रक्षेप आदि से रहित हैं, तो उनमें पाणिनिके अनुसार 'निष्टर्क्य' वैदिक प्रयोग अवश्य मिलना चाहिए। पर जब उन पुस्तकोंमें नहीं मिलता, तब स्पष्ट है कि वेदकी सीमा इन चार ग्रन्थोंसे अधिक है। उक्त शब्द कृष्णयजुर्वेदीय 'तैत्तिरीयसंहिता' (६।१।७।२) में तथा 'ऐतरेयारण्यक' (२।१।३) में मिलता है; तब आजकलका वेद-विषयक मत भ्रान्त सिद्ध हुआ।

(३) 'बहुलं छन्दस्यमाङ्' (६।४।७५) इस पाणिनिसूत्रकी कौमुदीमें 'मा वः क्षेत्रे परे बीजान्यवाप्सुः' यह उदाहरण दिया है। 'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र' (२।६।१३।६) बोधायनधर्मसूत्र २।२।३६) में इसे उद्धृत किया गया है, पर वहां 'वाप्सुः' पाठ है 'अवाप्सुः' नहीं। यह मन्त्र वर्तमान

की चार संहिताओंमें नहीं मिला। किसी अन्य संहिता वा ब्राह्मणमें होगा। छन्द वेदका ही नाम है ऐसा हम पूर्व बता चुके हैं, तब मन्त्रभागकी सभी संहिताएं तथा ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए।

(४) 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' (२।३।६२) यह कात्यायनका वेद-विषयक वार्तिक है। भाष्यकारने इसका वैदिक उदाहरण 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः' यह दिया है। स्वामी दयानन्दजीने भी यही उदाहरण दिया है। परन्तु यह आजके चारों वेदोंमें नहीं, किन्तु कृष्ण-यजुर्वेदीय 'तैत्तिरीयसंहिता' (२।५।१।७) के ब्राह्मण भागमें है। तब आजका वेद-विषयक मत नितान्त भ्रान्त सिद्ध हुआ। सभी संहिता-ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए।

(५ महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलिने ३।१।७ पाणिनिसूत्रके भाष्यमें 'ऋषिः (वेदः) पठति—'शृणोत ग्रावाणः' यह वेद-मन्त्रांश उद्धृत किया है। पाणिनिको भी 'तप् तनप् -तनथनाश्च' (७।१।४५) इस छान्दस (वैदिक) सूत्रमें यही वेदमन्त्र अभिप्रेत है; पर यह शुक्ल यजुर्वेदमें नहीं मिलता। उसकी 'वाजसनेयी संहिता' में 'श्रोता ग्रावाणः' (६।२६) रूपमें मिलता है; इसी प्रकार 'काण्वसंहिता' (६।३८) में। यद्यपि 'शृणोत' तथा 'श्रोता' में अर्थभेद नहीं, तथापि शब्दभेद तो है। वेद शब्द-प्रधान ही सर्व-सम्मत है। 'तत्सवितुर्वरेण्यं' यह गायत्री मन्त्र इस शाब्दिक रूपमें तो वेद है—इस अर्थमें नहीं। इसीलिए जपन भी उसी का होता है, उसके अर्थका नहीं। नहीं तो विवाहादि संस्कार वेदमन्त्रोंके अनुवादसे भी कराये जाते। पर नहीं कराये जाते।

कृष्णयजुर्वेदीय 'तैत्तिरीयसंहिता' (१।३।१३।१) में 'शृणोत ग्रावाणः' मिला है, 'काठकसंहिता' (३।२३) 'मैत्रायणीसंहिता' (१।३।४) में भी कुछ भेदसे मिला है। तब आजकल का वेद-विषयक मत नितान्त भ्रान्त सिद्ध हुआ।

चार वेद-ग्रन्थोंमें नहीं मिला, तब इससे स्पष्ट है कि—प्रचलित चार वेदग्रन्थ ही वेदकी सीमा नहीं, किन्तु ११३१ संहिताएँ तथा ब्राह्मण मिलकर ही वेद हैं। यह मन्त्र किसी लुप्त शाखामें मिल सकेगा। आजकल ऋग्वेदकी एक शाकलसंहिता, शुक्लयजुर्वेदकी वाजसनेयी तथा काण्व, कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय-काठक-मैत्रायणी-कपिष्ठल आदि संहिताएँ, सामवेदकी कौथुमी, राणायनीय, जैमिनीयसंहिता, अथर्ववेदकी शौनकसंहिता—पैप्पलादसंहिता मिली हैं, शेषकी गवेषणा जारी है। 'तैत्तिरीयसंहिता' में 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' (१।८।६।१) इस रूपमें यह मन्त्र मिला है। तब आजकलका वेदविषयक मत नितान्त भ्रान्त सिद्ध हुआ। सभी संहिताएँ वेद सिद्ध हुईं।

(१०) 'नेजिजह्मायन्तो नरकं पताम' यह उदाहरण 'निरुक्त' के निपात-प्रकरण (१।११।१) में उद्धृत किया गया है। पाणिनिके ३।४।८ वैदिकसूत्रमें भी वही उदाहरण दिया गया है। स्वा० दयानन्दजीने भी यही उदाहरण दिया है। परन्तु वर्तमान संहिताओंमें यह नहीं मिलता। 'ऋक्परिशिष्ट' (८ अष्ट० ६ अ० २ व०) में मिलता है। तब ऋक्परिशिष्ट भी वेद सिद्ध हुआ।

(११) 'निरुक्त' (६।२।१) में 'भद्रं यद् दक्षिणतः' यह ऋचा उद्धृत की गई है, परन्तु वर्तमान 'ऋग्वेद' में यह नहीं मिलती; 'ऋक्परिशिष्ट' (२।१३।१) में यह मिलती है। तब ऋक्परिशिष्ट भी ऋग्वेद सिद्ध हुआ। यह भी सिद्ध होता है कि खिलों (परिशिष्टों) का भिन्न कर्ता नहीं होता; प्रत्युत उसी ग्रन्थकारके द्वारा किया हुआ अनियमित संग्रह ही परिशिष्ट कहा जाता है। इसीलिए 'तैत्तिरीयारण्यक' की व्याख्या करते हुए सायणने 'नारायणोपनिषद्' में 'खिल' की परिभाषा दी है—'कर्मोपासनाकाण्डेषु त्रिष्वपि यद् वक्तव्यमवशिष्टम्, तस्य सर्वस्याभिधानेन प्रकीर्णरूपत्वं खिलत्वम्'। 'हरिवंशपुराण' की अवतरणिका

में श्रीनीलकण्ठने भी कहा है—'यच्च शाखान्तरस्थं शाखान्तरे प्रयोजनवशात् पठ्यते, यथा वाह्वृचे श्रीसूक्तमेधासूक्तादिः तत् खिलमुच्यते'। खिलोंके प्रमाण होने में ही ('स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये...पुराणानि खिलानि च' मनु० ३।२३२) उनका पित्र्यकर्ममें पाठ स्वीकृत किया गया है।

(१२) निरुक्तकार 'इत्यपि निगमो भवति' यह कहकर वेद-प्रमाण दिया करते हैं—यह विज्ञ-समाजमें प्रसिद्ध है। स्वा० द० भी यह मानते ही हैं। आर्यसमाजी पण्डित श्रीराजारामजी शास्त्रीने भी निरुक्त' की भूमिका पृ० ९ में लिखा है—'निरुक्तमें जो 'निगम' दिखलाए हैं, वह मन्त्रभाग ही है। निरुक्तकारने "लिखा" है—'अमेनांश्चिजनिवत-श्चकर्थ' 'मास्त्वाऽकृन्तन्नपसोऽतन्वत' इत्यपि निगमौ भवतः, (३।२१।२) इनमें 'अमेनान' मन्त्र ऋग्वेद (शा० स०) का है; परन्तु 'मास्त्वा' यह सामवेदीय 'ताण्ड्य महाब्राह्मण' (१।८।९) का है। 'मैत्रायणीसंहिता' (१।६।४) तथा 'काठकसंहिता' (६।६) में भी है। तब सभी संहिताएँ तथा ब्राह्मण भाग भी वेद सिद्ध हुए।

(१३) 'पीयति त्वो' 'नेमे देवाः' इत्यपि निगमौ भवतः' निरुक्त (३।२०।१) इनमें पूर्व मन्त्र 'ऋग्वेद' (शा० सं०) १।१४७।२ में है। 'नेमे देवाः' यह यजु० 'काठकसंहिता' (१४।६) में है। तब वेद-संहितामात्र वेद हुआ।

(ख) निरुक्तमें (३।२।२) 'नोपरस्याविष्कुर्याद्' इत्यपि निगमो भवतः' यह निगममन्त्र-ब्राह्मणभाग का है। (ग) 'तं मरुतः' (२।१) यह निगम प्रमाण भी ब्राह्मणभाग का है। इससे ब्राह्मणभाग भी वेद सिद्ध होता है।

(१४) 'निरुक्त' (२।३।१) में 'यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्'

इत्यपि निगमो भवति' यह लिखा है। यह कृष्णयजुर्वेदीय 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (३।६) का है। तब उपनिषद् भी वेद हुए।

(१५) जैसे 'व्यवहिताश्च' (१।४।८२) यह पाणिनिका वैदिक सूत्र 'आ मन्द्रैरिन्द्र ! हरिभिर्याहि' (ऋ० ३।४५।१) इस वेदमन्त्रमें लगा है, वैसे ही 'समिधँ सोम्य ! आहर, उप त्वा नेष्ये' (छान्दोग्य० ४।४।५) इस उपनिषत्कण्डिकामें भी लगा है। तब उपनिषदें भी वेद सिद्ध हुईं। इसीलिए मनुस्मृति (२।१४०) की टीकामें कुल्लूकभट्टने कहा है—'वेदत्वेपि उपनिषदां प्राधान्यविवक्षया पृथङ् निर्देशः'।

(१६) 'सुपां सुलुक—' (७।१।३९) इस पाणिनिके सूत्रमें 'क्त्वापि छन्दसि' (७।२।३८) सूत्रसे 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आ रही है। तब इस सूत्रसे जैसे 'सविता प्रथमेऽहन्' (३९।६) इस यजुर्वेद (वा० सं०) के मन्त्रमें 'ङि' का लुक् हो जाता है, और 'नङि-सम्बुद्ध्योः' (८।२।८) से वैदिक न-लोपका अभाव होता जाता है; वैसे ही 'यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः' (१४।६।८।३) इस शुक्ल-यजुर्वेदीय 'शतपथ ब्राह्मण' के वाक्यमें तथा छान्दोग्य बृहदारण्यक आदि उपनिषदोंमें भी दीखता है। तब उपनिषदें तथा ब्राह्मणभाग भी वेद सिद्ध हुआ। तब केवल चार पोथियोंको चार वेद मानना—यह मत नितान्त भ्रान्त सिद्ध हुआ।

(१७) 'भगवः ! इति ह शुश्राव' (४।९।१) यह 'छान्दोग्योपनिषत्' में पाठ है। इस प्रकार अन्य उपनिषदोंमें भी। यहाँ पर 'भगवः !' यह शब्द 'भगवन्'-शब्दके सम्बोधनमें 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (८।३।१) इस वैदिक रुत्व होने पर बनता है। यह लौकिक ग्रन्थोंमें नहीं आता। तब उपनिषदें भी वेद हुईं।

(१८) जिस प्रकार 'व्यत्ययो बहुलम्' (३।१।८५) यह पाणिनिका वैदिक सूत्र मन्त्रभागमें प्रवृत्त होता है, वैसे ब्राह्मणभागान्तर्गत

आरण्यकमें भी। जैसे कि—'आपः पुनन्तु पृथिवी पृथिवी पूता पुनातु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म, ब्रह्म पूता पुनातु माम्'—('तैत्तिरीयारण्यक' १०।२३) यहाँ पर 'ब्रह्मणस्पति' में अम्-के स्थानमें 'सु' हुआ है। 'ब्रह्म पूता' में लिङ्ग-व्यत्यय हुआ है। इस प्रकार 'सत्यमेव जयते नानृतम्' (मुण्डक० ३।१ ६) इस उपनिषद् वाक्यमें भी उपग्रह (पद) का व्यत्यय होगया है। तब आरण्यक तथा उपनिषद् भी वेद सिद्ध हुए।

(१६) अब स्वा० दयानन्दजीके कई प्रमाण भी इस विषयमें दिखलाए जाते हैं, जिन्हें उन्होंने वेदका उदाहरण स्वीकृत किया है, पर वे उनके माने हुए वेदमें नहीं मिलते, किन्तु अन्य लुप्त वा अलुप्त संहिताओंमें मिलते हैं। छंद शब्दसे वे मन्त्रभागरूप वेदको लेते हैं यह पहले कहा जा चुका है, इससे भी वेदकी सीमा इन चार ग्रन्थोंसे हटकर वही ११३१ संहिता, तथा ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक तक जा पड़ती है। स्वामीजीके कुछ थोड़े उद्धरण दिये जाते हैं, शेष अन्य निबन्धोंमें दिये जाएंगे। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाके ३८० पृष्ठमें 'उपसंवादाशङ्कयोश्च' (३।४,८) इस सूत्रका वैदिक उदाहरण स्वामीजी ने 'नेजिह्मायन्तो नरकं पताम' यह दिया है, वह उनके माने हुए वेदमें नहीं, किन्तु 'ऋक्परिशिष्ट' में है यह पहले कहा जा चुका है, तब ऋक्परिशिष्ट भी 'ऋग्वेद' सिद्ध हुआ।

(२०) वेदाङ्गप्रकाश 'आख्यातिक' ३२८ पृष्ठमें स्वा० दयानन्दजीने "बहुलं छन्दसि' (३।२।८८) इस वैदिक सूत्रका 'मातृहा सप्तमं नरकं विशेत्' यह वेदोदाहरण दिया है, यह तत्सम्मत वेदमें नहीं, किन्तु ब्राह्मणभागमें है, तब यह भी वेद सिद्ध हुआ।

(२१) इस प्रकार 'सामासिक' में स्वा० दयानन्दजीने 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्' 'अष्टा हिरण्या दक्षिणा' यह उदाहरण 'छन्दसि च'

(६।३।१२६) सूत्रका दिया है, यह उनके इष्ट वेदमें नहीं, किन्तु ब्राह्मण-भागमें है, तब ब्राह्मणभाग भी छन्द (वेद) सिद्ध हुआ।

(२२) इस प्रकार स्वामीजीने 'अव्ययार्थभाग' के २१ पृष्ठमें 'तवैतुमर्थे छन्दसि' यह लिखकर वहां 'ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै' यह उदाहरण दिया है, यह भी उनके इष्ट वेदमें नहीं, किन्तु ब्राह्मणभागमें है, तब ब्राह्मणभाग भी वेद सिद्ध हुआ।

(२३ स्वा० दयानन्दजीने 'आख्यातिक' के ३६३ पृष्ठमें 'भावलक्षणे ..तोसुन्' (३।४।१६) इस वैदिक सूत्रका उदाहरण 'काममाविजनितोः सम्भवाम' यह दिया है; यह उनके माने हुए चार वेदोंमें नहीं; किन्तु 'तैत्तिरीयसंहिता' (२।५।१।५) में है; तब ११३१ संहिताएँ वेद सिद्ध हुईं।

(२४) 'स्त्रैणताद्धित' के ६५ पृष्ठमें 'छन्दोब्राह्मणानि च' ३२३ (अ० ४।२।६५) इस पाणिनिसूत्रके विवरणमें स्वा० दयानन्दजीने छन्द (वेद) के उदाहरणमें 'कठाः, मौदाः, पैप्पलादाः, वाजसनेयिनः' ये उदाहरण देकर शाखाओंको भी वेद मान लिया है।

(२५) पाणिनि, महाभाष्यकार निघण्टु और निरुक्तकारने जो वेदके शब्द दिखलाए हैं, वे वेदमें अवश्य मिलने चाहियें। जो वर्तमान वेद-संहिताओंमें न मिलें, तब स्पष्ट होगा कि वेदकी सीमा वर्तमान वेदग्रन्थ से अधिक है। पाणिनिसूत्र (७।१।४५) के अनुसार 'शृणोत ग्रावाणः' यह वाक्य वेदका है, श्रीपतञ्जलिने भी ३।१।७ सूत्रके भाष्यमें 'शृणोत ग्रावाणः' यह वेदमन्त्र माना है—यह पूर्व कहा जा चुका है, परन्तु यह वाक्य वर्तमान प्रसिद्ध चार वेद-संहिताओंमें प्राप्त नहीं होता, तब स्पष्ट है कि यह चार संहिताएँ ही वेद नहीं हैं, किन्तु इससे अधिक ११३१ संहिताएँ जो कि महाभाष्यकार आदिने स्वीकृत की हैं, तथा

ब्राह्मणभाग- यह मिलकर ही वेद होता है। यह 'श्रणोत ग्रावाणः' वाक्य कृष्णयजुर्वेद (तै० सं०) में है, तब तैत्तिरीयसंहिता आदि वेद सिद्ध हुए।

(ख) 'स्नात्वी' शब्द भी वेदका है यह पाणिनिका अभिप्राय है (अष्टा० ७।१।४९)। इस प्रकार 'निष्टर्क्य' शब्द भी पाणिनिसूत्र (३।१।१२३) के अनुसार वेदका है, पर 'स्नात्वी' शब्द और 'निष्टर्क्य' शब्द वर्तमान चारों वेदोंमें नहीं, किन्तु अन्य संहिताओंमें है, यह बतलाया जा चुका है। तब ये वेद सिद्ध हुई।

(२६) 'महाभाष्य' के पस्पशाह्निकमें अप्रयुक्त शब्द निरूपण प्रकरणमें 'ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दाः; तेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क्व ? वेदे' यह कहकर 'यद्वो रेवत्यां तमूप' यह वेदका प्रमाण दिया है; पर यह आजकलके चार वेदोंमें नहीं मिलता; तब चार वेदोंकी सीमा इनसे अधिक सिद्ध हुई। अंशतः यह 'काठक संहिता' (३।१।७) में मिला है।

(ख) 'जायमानो के ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते—एवमृण- संयोगं वेदो दर्शयति' यह वचन बोधायनधर्मसूत्र (२।६।११।७) तथा न्यायदर्शनके भाष्य (४।१।६०-६१) में वेदके नामसे उद्धृत किया गया है, पर यह कृष्णयजुर्वेद (तै० सं० ६।३।११) का है, तब कृष्णयजुर्वेदकी संहिता भी वेद सिद्ध हुई।

(२७) 'आलोक' के विज्ञ पाठकगणने इस निबन्धको मनोयोगसे पढ़ा होगा। अब हम उनका अधिक समय नहीं लेना चाहते। एक अन्तिम, पर आवश्यक बात कहकर यह निबन्ध समाप्त करेंगे।

श्रीयास्कने 'निघण्टु' को वेदके शब्दोंका संग्रह बताया है; देखिए— 'छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः' (१।१।४)। यही बात सनातनधर्मी तथा आर्यसमाजी दोनों मानते हैं। परन्तु बहुतसे 'निघण्टु' के शब्द वर्तमान वेदकी चार संहिताओंमें नहीं मिलते। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाएगा कि—वेदकी यह सीमा नहीं है, जो आजकल समझी जाती है, किन्तु ११३१ संहिताएँ, उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् वेद हैं। अब देखिए--

(क) 'काञ्चनम् जातरूपम्' ये हिरण्यके नाम 'निघण्टु' (१।२) में कहे हैं; परन्तु ये आजके चारों वेदोंमें नहीं मिलते। (ख) 'निघण्टु' (१।३) में 'वियद्, आकाशम्' ये अन्तरिक्षके नाम कहे हैं; पर ये आजके चारों वेदोंमें नहीं मिलते। (ग) निघण्टु (१।६) में कहा 'आशा' यह 'दिशा' का नाम, (घ) 'शोकी' (१।७) यह 'रात्रि' का नाम (ङ) 'बलिशानः, बलाहकः' (१।१०) ये 'मेघ' के नाम, (च) 'बेकुरा' (१।११) ये 'वाक्' का नाम, (छ) सर्णीकम्, स्यृतीकम्' (१।१२) ये जलके नाम आजके चारों वेदोंमें नहीं मिलते। यह अभी दिक्प्रदर्शनमात्र है; नहीं तो ऐसी सख्या बहुत अधिक है।

इससे स्पष्ट है कि—वेदकी ये चार संहिता पोथियाँ ही वेदकी अन्तिम अवधि नहीं हैं; किन्तु ११३१ मन्त्रसंहिताएँ; उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् मिलकर पूर्ण वेद बन जाता है। ऊपर कहे गए वैदिक कई शब्द चार वर्तमान संहिताओंसे भिन्न संहिताओंमें मिलते हैं; कई ब्राह्मणभाग तथा तदन्तर्गत उपनिषद् तथा आरण्यकोंमें मिलते हैं।

यदि उनमें भी न मिलें, तब भी हमारे पक्षकी हानि नहीं; क्योंकि— अभी बहुत-सी वेदकी संहिताएँ तथा ब्राह्मण तथा उपनिषदें तथा आरण्यक लुप्त हैं। उनमें उक्त वैदिक-शब्दोंकी सत्ताका अनुमान कर लेना चाहिए। पर वादियोंका पक्ष तो सर्वथा खण्डित हो जाता है। क्योंकि वे अपनी वर्तमान चार संहिताओंको पूर्ण वेद मानते हैं; उनमें न्यूनता वा अधिकता भी नहीं मानते। इधर वे पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, यास्क आदिको वेदका पूर्ण विद्वान् मानते हैं। सब सनातनधर्मी तथा सभी आर्यसमाजियोंको तथा वेद-विषयके अनुरागी तथा अनुसन्धान-प्रवण व्यक्तियोंको उचित है कि इस पर सम्यक् विचार करें, आप द्विज हैं, तो वेदकी रक्षा आपका कर्तव्य बन जाती है। जहाँ संसारी व्यवहार पूरे करें, वहाँ कुछ समय निकालकर इस परमार्थ की ओर भी अवश्य ध्यान दें। फलतः वर्तमान ४ पोथियोंमात्र वेद नहीं, किन्तु ११३१ मन्त्रभागकी संहिताएँ; तथा सारा ब्राह्मणभाग वेद है, तब इससे विरुद्ध आजकलका मत खण्डित होगया। और उनका यह भारी भ्रम सिद्ध हुआ।

श्रीपतञ्जलि एवं 'शन्नोदेवीरभिष्टये' मन्त्र

—(वेद स्वरूपनिरूपण)—

वेद विद्वान् श्रीपतञ्जलि

(१) महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलिको *वादी-प्रतिवादी* वेदके विषयमें भी *प्रामाणिक विद्वान्* मानते हैं, अत उनकी बातको कसौटी बनाकर *सभी* अपने पक्षकी पुष्ट्यर्थ उनके वाक्य उद्धृत करते रहते हैं। महाभाष्यकारने 'वैदिक शब्दोंका' निरूपण करते हुए *'शं नोदेवीरभिष्टये' 'इषे त्वोर्जे त्वा' 'अग्निमीले पुरोहितं' 'अग्नआयाहि वीतये'* यह चार उद्धरण दिये हैं। इससे एक पक्ष यह सिद्ध करता है कि—महाभाष्य कार सभी ११३१) संहिताओंको वेद मानते हैं, दूसरा पक्ष वर्तमान-प्रचलित शाकल संहिता, वाजसनेयी संहिता, कौथुमी संहिता और शौनक संहिताको ही क्रमसे चार वेद मानकर, महाभाष्यकारको भी उस पक्षका मानता है। उक्त मन्त्रोंमें अन्तिम तीन मन्त्रोंके विषयमें तो उभयपक्षमें बहुत विप्रतिपत्ति नहीं कि—वहांक हैं? हाँ, पूर्वके दिये मन्त्रमें दोनों पक्षोंमें मतभेद है।

एक पक्ष उसे 'अथर्ववेद पैप्पलाद संहिता' का आदिम मन्त्र बता' कर इससे भाष्यकारके मतमें सभी वेद संहिताओंको वेद सिद्ध करता है, दूसरा पक्ष इसे 'अथर्ववेद शौनक संहिता' का बताकर भाष्यकारको अपने ही पक्षका सिद्ध करता है। दोनों ही पक्ष अपनी अपनी उपपत्तियाँ उपस्थित करते हैं, *कोई निर्णय नहीं हो पाता।*

आर्यसमाजके माने हुए विद्वान् श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु महोदयने 'यजुर्वेदभाष्य' विवरणकी भूमिकामें 'यह शङ्का 'पर्याप्त बलवती' मानी है, परन्तु *'थोडा विचार करनेसे उसका स्वय दूर हो जाना'* माना है।

श्री जिज्ञासुजीने एतदर्थ भाष्यकारके कुछ उद्धरण भी दिये हैं। उन्होंने 'शंनो देवी०' का श्रीपतञ्जलि द्वारा उद्धरण देनेमें 'वेदोंकी आरम्भिक प्रतीक दर्शाना' उनका मुख्य, अभिप्रेत न मानकर, लौकिक शब्दोंसे भेदकरणार्थ 'वैदिक शब्दोंका उदाहरणमात्र देना' उनका मुख्य अभिप्रेत माना है। इन्हें वेदकी आरम्भिक प्रतीक माननेमें उन्होंने 'पतञ्जलि भगवान्‌के स्ववचनोंमें परस्पर विरोध आना' माना है।

इस विषय पर हम अपनी शैलीसे भाष्यकारका अभिप्राय देते हैं विद्वान् उस पर निष्पक्ष दृष्टि दें। भाष्यकार सभी वेदसंहिताओंको 'चार वेद' मानते हैं, या केवल वर्तमान प्रसिद्ध चार शाकल, वाजसनेय, कौथुम, शौनक संहिताओंको ही 'चार वेद' मानते हैं, इस बातको जाननेके लिए मेरे विचारमें उनके *उन उद्धरणोंको* ढूँढना होगा, *जिन्हें उन्होंने वेदके नामसे दिया है।* यदि वे उनके उद्धरण उक्त *चार संहिताओंसे भिन्न भी संहिताओंके* मिल हो जाएँ, तो मानना पड़ेगा कि—वे *सभी वेदसंहिताओंको* वेद मानते हैं। हम आजकलके अनुसन्धाताओंको प्रेरणा करते हैं कि वे श्रीपतञ्जलिके वेदके नामसे दिये गये सभी उद्धरणोंका संग्रह करें और उनका वेदसंहिताओंमें अन्वेषण करें। इससे दृढ-*निर्णयकी कसौटी* प्राप्त हो जायगी। यदि इन चार संहिताओंसे भिन्न भी संहिताओंके दिये प्रमाण इस (महाभाष्य) में वेदके नामसे प्राप्त हो जाएँ, तो मानना पड़ेगा कि...भाष्यकार सभी ११३१ संहिताओंको 'वेद' मानते हैं तब वेदविषयक सिद्धान्तमें उनका परस्पर विरोध नहीं रहेगा।

वेद-स्वरूप विषयमें श्रीपतञ्जलिका अभिप्राय

(२) संपूर्ण महाभाष्यको मन्थन करने पर हमें तो श्रीपतञ्जलिका यही अभिमत प्राप्त हुआ है कि—वे *सभी ११३१ संहिता* तथा *संपूर्ण ब्राह्मणभागको 'वेद' मानते हैं।* ब्राह्मणभागको हम भिन्न समयके लिए

छोड़ते हैं। आज मुख्यतया संहिताओंके विषय पर विचार किया जाता है। पहले 'शं नो देवीरभिष्टये' मन्त्र पर ही विचार करना चाहिये।

हमारा विचार है कि—'वैदिकाः खल्वपि' कहकर 'शंनो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्जे त्वा, अग्निमीळे पुरोहितं, अग्न आयाहि वीतये' यह चार चारों वेदोंके *प्रथम-मन्त्र-प्रतीक ही भाष्यकारने दिये हैं।* यद्यपि भाष्यकार ने *११३१* संहिताओंको ही 'चार वेद' माना है, (यह आगे कहा जायगा) तथापि 'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इस पस्पशाह्निकस्थ भाष्यवचनके अनुसार किन्हीं अपनी इष्ट चार संहिताओंका प्रथम मन्त्र-प्रतीक दे देना भी चारों वेदोंका उदाहरण दे देना है।

वैदिक शब्दोंको उदाहृत करनेके दो प्रकार हैं। 'देवेभिः, ब्राह्मणासः, सभेयः, त्मना' इत्यादि *लोकविलक्षण वैदिक शब्द* दे देना यह एक प्रकार है। *वेदसंहिताओंके मन्त्र उपस्थित* कर देना यह दूसरा प्रकार है। वैसी योजना ही उस वेदसंहिता को बता सकती है। भाष्यकारने इनमें *दूसरा प्रकार* अवलम्बित किया है; क्योंकि 'शं, नो' आदि लोक-वेदसाधारण पृथक्-पृथक् शब्द देखकर वैदिक शब्दोंका भेद-ज्ञान नहीं हो सकता, संहितायोजनाकी अपेक्षा बनी रहती है। यदि केवल *लौकिक शब्दोंसे विलक्षणता-प्रदर्शनार्थ कई लोकविरुद्ध* पदों वाले एक-दो भी मन्त्रोंके कहींके भी प्रतीक दे दिये जाते तो इष्टसिद्धि हो जाती, पर प्रस्तुत मन्त्रोंमें लोकविलक्षण कोई पद नहीं। इसमें भी भाष्यकारने एक-दो मन्त्र न देकर चार मन्त्र उद्धृत किये हैं, अतः स्पष्ट है कि यह उनका क्रम *निर्निमित्त नहीं।* वे *चारों वेदोंका एक-एक मन्त्र उपस्थित करना चाहते हैं*—यह सर्वजनवेद्य है। उसका उपाय है अपनी इष्ट संहिताओंका प्रथम-मन्त्र-प्रतीक उपस्थित कर देना। नहीं तो *चार उदाहरणोंका देना कोई अर्थ नहीं रखता।* एक-दोसे ही काम चल जाता।

ऋगादि क्रम क्यों नहीं ?

(३) फिर प्रश्न यह है कि यहाँ पर ऋगादि क्रमसे मन्त्र क्यों नहीं दिये गये ? इस पर कई विद्वान् भिन्न-भिन्न उत्तर देते हैं। हमारा विचार यह है कि वक्ता जिस भी वेदका उदाहरण पहले देना चाहे— यह उसकी अपनी इच्छा पर है। इसलिए वेदसंहिताओंमें भी कहीं पहले ऋक्का, फिर सामका, पीछे यजुःका, कहीं सामका यजुःसे पीछे, 'छन्द' का अर्थ 'अथर्व' माना जावे, तो वह कहीं यजुःसे भी पहले आया है, कहीं सामके बाद। 'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' (अथर्व० शौनक सं० १०।७।२०) इस कथनसे तो अथर्ववेदकी किसी भी संहिताका उदाहरण पहले भी दिया जा सकता है।

फलतः चारों वेदोंके चार उदाहरणोंको क्रम विशेषसे देनेमें अपनी इच्छा ही नियामक है, उस पर किसीका कोई नियन्त्रण नहीं। अपनी इच्छाके भी विविध कारण हुआ करते हैं। एक कारण-यह भी होता है कि जिसके मतमें ११३१ संहिताएँ ही चार वेद हों, वह उन सबको तो उदाहृत नहीं कर सकता, तब वह अपनी चार कुल-शाखाएँ या अपने सम्प्रदाय या अपनी गुरुपरम्परासे आई हुई चार संहिताएँ चुन लेता है। चारों वेदोंमें भी किसी कुलका विशेष वेद भी होता है, जैसे कि कई कुल सामवेदी वा कई यजुर्वेदी हुआ करते हैं। तत्तत्कुलोत्पन्न पहले उसी वेदको लेता है।

वेद कहीं स्वतन्त्रतासे तो मिलते नहीं, उसकी सब संहिताएँ ही मिलकर वह-वह वेद होता है। सब संहिताओंको लिया नहीं जा सकता; अतः उसमें अपने कुलकी एक संहिता ही ले ली जाती है। जैसे कि—श्रीसायणाचार्यने भी अपने 'ऋग्वेदसंहिताभाष्योपोद्घात'में 'वेदाध्ययनस्य नित्यता' में कहा है—'एकवेदपक्षे पितृपितामहादि-

परम्पराप्राप्त एव वेदोऽध्येतव्यः—इत्यभिप्रेत्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति 'स्व' शब्द आम्नातः'। इस पर कुछ स्पष्टता आगे भी की जावेगी।

महाभाष्यकार अथर्ववेदी

(४) यहाँ पर भी यही बात है। श्रीपतञ्जलि अथर्ववेदी ब्राह्मण थे—यह उनकी प्रवृत्तिसे सूचित होता है। उस अथर्वकी 'पैप्पलाद संहिता' अपनी *कुलशाखा होनेसे* उन्होंने *पहले उसीका प्रथम मंत्र* उद्धृत किया है। अन्तिम तीन मन्त्र यजुर्वेद (वाज० तैत्ति०) संहिता, ऋग्वेद (शाक०) संहिता तथा सामवेद (कौथुम) संहिताके प्रथम मन्त्र हैं इसमें तो किसीका विवाद नहीं। शेष 'शं नो देवी०' स्वयम् अथर्ववेद संहिताका सिद्ध हो गया। अन्तिम तीन मन्त्र जबकि उक्त *तीनों संहिताओंके प्रथममंत्रप्रतीक* हैं (यह आगे सिद्ध किया जायगा); तब उसी क्रमसे 'शं नो देवी०' भी 'अथर्ववेदसंहिता' का प्रथममन्त्र-प्रतीक ही होना चाहिये; क्योंकि—वैयाकरण लोग साहचर्य-नियमका बड़ा ध्यान रखते हैं।

इसे 'अथर्ववेद शौनक संहिता' का तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह वहाँ सर्वप्रथम मन्त्र नहीं। सर्वप्रथम मन्त्र तो यह अथर्ववेद पैप्पलाद-संहिताका है, जिसमें गुणविष्णु आदि बहुतोंकी साक्षियाँ हैं।

'नवधा आथर्वणो वेदः' यह महाभाष्यकार मानते हैं। अथर्ववेद स्वतन्त्र तो कहीं मिलता ही नहीं; उसकी सभी संहिताएँ मिलकर ही 'अथर्ववेद' होता है। उसमें 'पैप्पलाद' तथा 'शौनक' दोनों संहिता भी अन्तर्गत हैं। जहाँ-जहाँ पर अथर्वकी संहिताओंके नाम आये हैं; वहाँ-वहाँ पूर्व पद प्रायः 'पैप्पलाद-संहिताको दिया गया है। अतः

अथर्ववेदी भाष्यकारने अपनी कुल-शाखा होनेसे, अथवा पूर्वपदमें प्रतिष्ठित होनेसे 'पैप्पलादसंहिता' ही ली। उसका यही प्रमाण है कि महाभाष्यकार 'शं नो देवी' मन्त्रको तथा 'अथर्ववेद पैप्पलाद संहिताको बहुत याद करते हैं।

शेष मन्त्र किन वेदसंहिताओंके हैं ?

(४) यहाँ पर 'इषे त्वा, अग्निमीले, अग्न आयाहि' ये तीन मन्त्र-प्रतीक किस वेदकी किस संहिताके हैं यह पूर्व विचारणीय है। पहले 'अग्निमीले पुरोहितं' इस तृतीय मन्त्रप्रतीकको ही लीजिये। यह तो स्पष्ट ही ऋग्वेद शाकल संहिताका मन्त्र है और सर्वप्रथम मन्त्र है। यह वैदिक 'ल' ऋग्वेदकी संहिताके अतिरिक्त अन्य यजुः, साम संहिताओंमें नहीं हुआ करता। यद्यपि उक्त, अग्निमी०) मन्त्र सामवेद-कौथुम संहिता (पूर्वार्चिक आरण्यकपर्व ६।३।४) में भी है, पर वह यहाँ (महाभाष्य में) इष्ट नहीं, क्योंकि वैसा होने पर भाष्यमें 'अग्निमीडे' इस प्रकार 'ड' रूपमें होता, परन्तु 'ल' रूपमें है; और उक्त साम-संहितामें 'ड' रूपमें है, अतः स्पष्ट है कि 'महाभाष्य' में 'अग्निमीले' यह मन्त्र सामवेद (कौ०) संहिताका नहीं, ऋग्वेद (शा०) संहिताका है।

यह मन्त्र 'अग्निमीले' इतना ही दिया जाता, तो ऋ० शा० सं० (१०।२०।१, ५।१४।२) का भी गृहीत हो जाता; पर 'पुरोहितं' साथ देनेसे स्पष्ट है कि यह 'अग्निमीले सुत्रां' (ऋ० सं० १०।२०।१) 'अग्निमीलेन्यं' (५।१४।२) मन्त्र नहीं, किन्तु ऋ० शा० सं० का आदिम मन्त्र है। अतः इसे ऋ० शा० सं० का *प्रथममंत्रप्रतीक* रूपमें देना ही भाष्यकारको इष्ट है—यह दृढ निर्णय हो गया।

अब 'इषे त्वोर्जे त्वा' यह दूसरा मन्त्रप्रतीक लीजिये। यह भी यजुर्वेद संहिताका ही प्रथम-मन्त्रप्रतीक है। अन्य ऋगादिसंहिताओंमें तो है ही नहीं। अतः भाष्यकारको यह भी प्रथम मन्त्रप्रतीक ही इष्ट हुआ। यह मन्त्र शुक्लसंहिताका भी आदि है, कृष्णसंहिताका भी। भाष्यकारको इनमें कौन सा इष्ट है, यह जिज्ञासा होती है। हमारे विचारमें उन्हें *दोनों ही* इष्ट हैं, क्योंकि भाष्यकार 'एकशतमध्वर्यु-शाखाः' यजुर्वेदकी १०१ संहिता मानते हैं, इनमें ८६ कृष्ण और १५ शुक्ल हैं।

केवल शुक्ल वाजसनेयी संहिता भाष्यकारको इष्ट होती, कृष्ण तैत्तिरीय-संहिता इष्ट न होती, तो वे 'इषेत्वोर्जे त्वा वायवस्थ-देवो वः' इतना प्रतीक देते, जिससे 'उपायवः स्थ' वाली 'तैत्तिरीयसंहिता' व्यावृत्त हो जाती। अथवा उन्हें शुक्ल संहिताकी व्यावृत्ति इष्ट होती, तो 'उपायवः स्थ' वाला पाठ देते, पर व्यावृत्तिकारक पद न रखनेसे उन्हें *दोनों ही* इष्ट हैं, यह कहा जा सकता है। तभी उन्होंने कृष्णसंहिताके भी वेद नामसे ही उद्धरण दिये हैं। यह सम्भवतः आगे कहा जायगा।

यहां पर भाष्यकारको 'इषे त्वा सुभूताय' यह यजुर्वेद-मैत्रायणी संहिताका पाठ भी दिखलाना चाहिये था। पर या तो यह उनकी कुलशाखा नहीं थी, इसलिये अथवा कृष्ण और शुक्ल यजुः की मुख्य संहिता (तैत्तिरीय एवं वाजसनेयी) के उदाहृत हो जानेमें मैत्रायणी आदिका पृथक् उदाहरण देना उन्होंने व्यर्थ समझा 'प्रधानेन हि व्यप-देशा भवन्ति'। फलतः सिद्ध हुआ कि उक्त दोनों प्रतीक भाष्यकारको ऋग्वेद शा० संहिता तथा यजुः वा० तै० संहिताके प्रथममन्त्रके इष्ट हैं।

अब 'अग्न आयाहि' इस चतुर्थ मन्त्रप्रतीक पर विचार करना चाहिए। यह मन्त्र यद्यपि 'ऋग्वेद' (शा०) संहिता (६।१६।१०) में भी आया है, पर यह भाष्यकारको उसका इष्ट नहीं; क्योंकि वे उस

उपस्थित करनेसे दो बातें सूचित होती हैं। एक तो यह, कि महाभाष्य-कार अथर्ववेदी थे और दूसरी बात यह कि उनकी कुल शाखा पैप्पलाद थी। तभी उन्होंने उसीके प्रथम सूक्तका प्रथम-मन्त्र-प्रतीक रखा है। अथवा वह उस समय लोक प्रतिष्ठित थी।

केवल यहीं भाष्यकारने 'शंनोदेवी' को प्रथम मन्त्र-प्रतीक रूपमें लिया हो, ऐसी बात नहीं, किन्तु अन्यत्र भी उन्होंने इस मन्त्रको इसी रूपमें स्मरण किया है और कई बार इसका स्मरण किया है, अतः स्पष्ट है कि वे अपनी कुल परम्पराके अनुसार अथर्ववेदमें इसी (पैप्पलाद संहिता) को मुख्यतया लेते थे। पस्पशाह्निकमें आनुषङ्गिक प्रयोजनोंके बाद भाष्यकारने लिखा है—'ओ३म्' इत्युक्त्वा वृत्तान्तशः 'शम्' इत्येवमादीन् शब्दान् पठन्ति' यहाँ पर शंनोदेवी' मन्त्रको प्रथम-मन्त्रप्रतीक रूपसे स्मरण किया गया है। उसका ज्ञापक 'ओ३म्' शब्द है—'ब्रह्मणः प्रणवं कुर्याद् आदावन्ते च सर्वदा' (२।७४) यह मनु-वचन है। 'न मामनीरयित्वा ब्राह्मणा ब्रह्म वदेयुः; यदि वदेयुरब्रह्म तत् स्यादिति' (अ० वे० गोपथ ब्रा० १।१।-३) (माम्-ओङ्कारम्') इससे वद के आरम्भमें 'ओ३म्' का प्रयोग अनुशिष्ट किया गया है। श्री स्वामी दयानन्दजी भी सन्धिविषयमें 'ओमभ्यादाने' (८।२।८७) सूत्रके उदाहरणमें 'ओ३म् इषे त्वोर्जे त्वा, ओ३म् अग्निमीले पुरोहितम्' (पृ० ४) इत्यादि उदाहरण देकर वेदारम्भमें प्लुतवाला 'ओ३म्' लगाना सूचित करते हैं। तब 'शन्नोदेवी' यह आरम्भिक मन्त्र अथर्ववेद पैप्पलाद संहितामें ही है। उसे ही यहाँ भी 'वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते' इसमें भाष्यकारने स्मरण किया है।

अन्य प्रमाण भी देखिये—*इषेत्वकमधीष्व, शंनोदेवीयकमधीष्व*, (१।२।१।२) 'इषेत्वा शब्दो यस्मिन्ननुवाकेऽस्ति' (कैयट.) यहाँ पर तो भाष्यकारने यजुर्वेद (वाज०, तैत्ति०) संहिताका 'इषेत्वा' यह आरम्भिक मन्त्र दिया है, इसमें कोई भी 'किन्तु, परन्तु' नहीं कर सकता,

उसीके साहचर्यसे भाष्यकारने यहाँ 'शंनोदेवी' भी वेदसंहिताका आरम्भिक ही मंत्र दिया है यह अत्यंत ही स्पष्ट है। 'शंनो' के प्रथम मन्त्रत्वकी दो इस प्रकारकी साक्षियाँ अभी दी ही जा चुकी हैं। इस तीसरी साक्षीसे तो सर्वथा ही सिद्ध हुआ कि 'शंनोदेवी' यह भाष्यकार को 'अथर्ववेद पैप्पलाद संहिता' का ही मन्त्र इष्ट है; क्योंकि उसीका प्रथम सूक्तका प्रथम-मन्त्रप्रतीक है। इस प्रकार सिद्ध हो जानेसे महाभाष्यकार सभी संहिताओंको चार वेद समझते हैं, और अथर्ववेदी होनेसे उन्होंने अथर्ववेदको प्रथम उदाहृत किया है—यह बात अनायास सिद्ध हो जाती है।

सभी संहिताओंको भाष्यकार चार वेद मानते हैं या नहीं—इसमें कोई सन्देहका अवसर ही नहीं है, जबकि वे 'चत्वारो वेदाः...एकशतमध्वर्यु शाखाः...' *'नवधाथर्वणो वेदः, इत्यादि अपने वाक्यसे सभी ११३१* संहिताओंको ही चार वेद मानते हैं। तब यदि भाष्यकार अथर्ववेदका उदाहरण देते हुए उसकी प्रतिष्ठित शाखा अथर्ववेद पैप्पलाद संहिताका प्रथम मन्त्र देते हैं, तो उनके किसी भी एतद्विषयक वचनमें कोई परस्पर विरोध नहीं पड़ता, क्योंकि संहिताओंसे अतिरिक्त चार वेद तो कहीं स्वतन्त्रतासे मिलते ही नहीं। न ही भाष्यकार संहिताओंसे स्वतन्त्र कोई चार वेद-पोथियाँ मानते ही हैं, अतः स्पष्ट है कि अथर्ववेदी होनेसे भाष्यकारने अपनी कुल-शाखा अथर्व पैप्पलाद संहिताका ही प्रथम मन्त्र आदिमें उद्धृत किया है।

महाभाष्यकार अथर्ववेदी हैं—यह केवल हम ही नहीं कहते, एक साक्षी अन्य भी दी जाती है। 'वैदिकाः खल्वपि 'शंनोदेवी' इस पर 'छाया' नामकी महाभाष्यकी टीकामें श्री वैद्यनाथने कहा है 'न चैवमपि प्रसिद्ध—ऋगादिक्रमेण तत्तदुक्तिरुचिता—इतिवाच्यम्' तथैव सद् उपादेयम्—इत्यत्र मानाभावाद्' भाष्यकारस्य *आथर्वणत्वाच्च*, । 'ओ३म्

इत्युक्त्वा 'शम्' इत्येवमादीन् शब्दान्' में भी उक्त टीकामें कहा है, 'भाष्यकारस्य आथर्वणत्वेन प्राधान्याद् अथर्ववेदस्य कथनम्' । इस कथनसे भी हमारे पक्षकी पुष्टि होती है।

(८) अन्य एक बात यह भी विचारणीय है कि भाष्यकारने 'शंनोदेवीरभिष्टये' यह प्रतीक दिया है। यदि वह शौनक-संहिताका भाष्यकारको अभिप्रेत होता, तो या तो वे 'शनोदेवीरभिष्टय आपो' लिखते, या 'शंनोदेवीरभिष्टय' लिखते। 'अभिष्टये' लिखकर उन्होंने 'शौनक संहिता' के मन्त्रमें लुप्त 'ए' की मात्रा फिर क्यों रख दी? उसकी आनुपूर्वीमें क्यों हेरफेर किया? 'सामने 'आप' न लिखनेसे 'अभिष्टये' ही लिखा' यह व्याज भी व्यर्थ है, फिर संहिताकी आनुपूर्वी का आदर उन्होंने क्या किया? वस्तुतः रहस्य यही है कि यह उन्होंने 'पैप्पलादी अथर्ववेद संहिता' के प्रथम मन्त्रका ही प्रथम पाद दिया है। उसका मन्त्र 'शनो देवीरभिष्टये, शनो भवन्तु पीतये', इत्यादि रूपसे है। उसमें सामने 'ऋच्' न होनेसे 'ए' के लोपकी प्राप्ति ही नहीं है। अत भाष्यकारने 'शनो देवीरभिष्टये' पाठ दिया। इससे यह बात सर्वथा ही पुष्ट हो गई कि उन्होंने यह पैप्पलादी अथर्व संहिताका ही प्रथम मन्त्र प्रतीक दिया है।

अथवा यदि यह कहा जावे कि ऐसी मात्राके हेरफेरसे इस मन्त्रके वेदत्वमें क्षति नहीं आती अत इसे 'शौनक संहिताका ही मन्त्र मान लिया जाय' इस पर निवेदन यह है कि केवल यही युक्ति तो हमने अपने पक्षके सिद्ध करनेको रखी नहीं। अन्य बहुत सी उपपत्तियोंसे भी हमने अपने पक्षकी सिद्धि कर दी है, पर इस बातसे वादीकी ही हानि होगी। फिर तो वादीके अनुसार मन्त्रोंमें जहाँ थोड़ा बहुत हेर फेर शाखाओंमें किया गया है, वादीको उसे भी 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्यायसे वेद मानना पड़ेगा, फिर भी तो वही हमारा पक्ष ही

आकर उपस्थित होगा कि—शाखाएँ भी वेद हैं। यदि कहा जावे कि वेद-मन्त्रकी विद्यमानतामें शाखाका उसका हेर-फेर किया हुआ मन्त्र व्यर्थ है, तो फिर ऋग्वेद सं० के जो मन्त्र ४०० संख्याके ऋग्वेद-संहितामें कुछ हेर-फेरसे आये हुये हैं उन्हें भी व्यर्थ समझकर निकाल देना पड़ेगा। १९७५ मन्त्रोंमें से ६८७ मन्त्र ऋग्वेद-संहिताके निकालकर १२८८ मन्त्रोंकी यजुर्वेद-संहिता बना देनी पड़ेगी। सामवेद सं० में जिसकी मन्त्र संख्या १८२४ है, ऋग्वेद सं० के विकृत अथवा अविकृत मन्त्र निकालकर शेष ७५ मन्त्र बचा देने होंगे। अथर्ववेद संहिताके जिसके ५९७७ मन्त्र हैं, उनमें ऋग्वेदादि संहिताओंके मन्त्र निकालकर शेष ७०० मन्त्र कर देने पड़ेंगे।

यदि उक्त मन्त्र ऋग्वेद-संहिताके नहीं, किन्तु अपनी-अपनी संहिताओंके हैं, वे ऋग्वेद-संहिताके मन्त्रों-जैसे होते हुए भी व्यर्थ नहीं, वैसे ही सभी शाखाओंमें स्थित इन चार शाखाओं जैसे मन्त्र भी व्यर्थ नहीं, किन्तु उनके अपने ही हैं और अपने-अपने यज्ञमें बोलनेके लिए हैं—यह जानना चाहिये। इनमें अपनी कुल-परम्पराके अनुसार अथवा 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' (मनु० २।१२) के अनुसार कोई भी संहिता ली जा सकती है, वह भी वर्तमान प्रसिद्ध चार संहिताओंकी भान्ति वेद ही हैं। काठक पैप्पलाद आदि वेद संहिताएँ महाभाष्यकारके समय प्रचलित थीं 'ग्रामे-ग्रामे काठकं कालापं च प्रोच्यते' (४।३।१।१०१)। भाष्यकारकी पैप्पलादी अथर्ववेदसंहिता कुल शाखा थी यह सिद्ध किया जा चुका है अतः उन्होंने उसीका प्रथम-मन्त्र-प्रतीक दिया।

स्वामी दयानन्दजीका मत

(६) जो लोग भाष्यकारको अथर्ववेदी नहीं मानते, वे कम से कम 'शंनोदेवी' को अथर्ववेदका प्रथममंत्र-प्रतीक तो अवश्य मानते हैं, और उसे प्रथमपदमें देनेके भिन्न-भिन्न कारण भी बताते हैं, तब भी हमारे

ही पक्षकी सिद्धि है। श्री स्वामी दयानन्दजीने भी 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' के ८९ पृष्ठमें यही माना है। उनके यह शब्द हैं, 'वैदिकाः खल्वपि-शं नो देवीरभिष्टये, इषेत्वा, अग्निमीळे, अग्न आयाहि' इति महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममंत्र-प्रतीकानि वैदिकशब्देषु उदाहृतानि'। *जिज्ञासुजी स्वामी दयानन्दजीके कथनमें कोई भी भूल नहीं मानते*—सो 'शं नो देवीरभिष्टये' यह प्रथममन्त्र-प्रतीक 'पैप्पलादी अथर्ववेद संहिता' का ही है। यद्यपि आजकल उसमें यह नहीं मिलता, उसका कारण यह है कि 'पैप्पलाद संहिता' के प्रथम दो पत्रे नष्ट हो चुके हैं।

स्वामी दयानन्दजी भी सभी शाखाओंको वेद माना करते थे। अतएव स्वामीजीने अपने* 'नामिक, आख्यातिक, सामासिक, कारकीय

* कई महाशयोंका यह विचार है कि—'वेदाङ्गप्रकाश'के सभी भाग स्वामीजीसे बनाये नहीं, किन्तु पं० भीमसेनजी आदिके बनाये हैं, पर हम इससे सहमत नहीं। यदि ये स्वामीजीके न होते, तो वे उन पर अपनातत्त्वमें अपना नाम न रखवाते, इसका प्रचार न करवाते, इनके प्रकाशनमें देरी करनेमें प्रेसके प्रबन्धकोंको न डांटते। संशोधनमें भी उन्हीं का हाथ था। लिखने तथा प्रूफशोधनादिका कार्य अवश्य पं० भीमसेनजी आदि करते थे। स्वामीजी तो भिन्न देशोंमें रहते, हुए प्रचारार्थ अपने प्रेससे इन वेदाङ्ग-प्रकाशोंको आग्रहपूर्वक मंगाते थे। पं० भीमसेनजीको अपनी सन्निधिमें रखकर अपनी देख-रेखमें उनसे संशोधन भी करवा लेते थे। यदि यह उनकी पुस्तकें नहीं हैं, तो उक्त पुस्तक-प्रकाशकोंको उनका नाम वहांसे हटा देना चाहिए। जब तक उन पर उनका नाम है, तब तक उन पर उत्तरदायित्व भी उन्हीं का है। हां, उनके कई सिद्धान्त समय-समय पर बदलते रहते थे। यदि उक्त बात न मानी जावे, तो स्वामीजीकी सभी सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकें पं० *भीमसेनजी आदि कृत माननी पड़ेगी।*

आदि ग्रन्थोंमें वैदिक उदाहरण इन चार संहिताओंसे भिन्न संहिताओंके भी दिये हैं। तभी 'छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (४।२।६६) सूत्रमें स्वामीजीने अपने 'स्त्रैणताद्धित' के ६५ पृष्ठमें 'छन्द' के उदाहरणमें 'पैप्पलादा', वाजसनेयिन.' यह उदाहरण दिये हैं। 'छन्द' शब्दसे स्वामी दयानन्दजीको 'वेद' इष्ट है, तभी 'सत्यार्थप्रकाश' सप्तम समुल्लासके अन्तमें उन्होंने यही सूत्र देकर ब्राह्मणभागको छन्द (वेद से भिन्न सिद्ध किया है।

'छन्दो वेद निगम-मन्त्र श्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्', छन्दांसि वेदा मन्त्राश्च- इति पर्यायौ' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ७६) यहां पर स्वामीजीने 'छन्द' का अर्थ वेद' माना है। 'आटोनुनासिकश्छन्दसि' (१४८) 'नामिक' के इस सूत्रमें 'छन्दसि' का अर्थ स्वामीजीने 'वेदमें' यह किया है। इस प्रकार छन्दसि वाप्रा' (२०२) आदिके बहुतसे स्वामीजीके प्रमाण दिये जा सकते हैं। ऊपरके सूत्रमें स्वामी दयानन्दजीने 'छन्द' का उदाहरण 'वाजसनेयिन ' यह दिया है, यह तो उनकी मानी हुई यजुर्वेदसंहिता' के लिए है। दूसरा उदाहरण 'पैप्पलादा ' दिया है सो 'पैप्पलाद संहिता' को छन्दके उदाहरणमें देकर स्वामीजी ने स्पष्ट कर दिया है कि—वाजसनेयी तथा पैप्पलाद-संहिता दोनों, समान वेद हैं।

केवल यही नहीं, अपितु 'स्त्रैणताद्धित' के ८० पृष्ठमें स्वामीजीने ४३३ वार्तिककी व्याख्या करते हुए 'पिप्पलाद संहिता' को 'आम्नाय, माना है' —'चरणाद् धर्माम्नाययो , पैप्पलादकम्' । इसी प्रकार 'महाभाष्य' में भी (४।३।३।१२० में) 'पैप्पलाद' को 'आम्नाय' माना है। इसी प्रकार स्वामीजीने 'स्त्रैणताद्धित' के ४३६ वार्तिकमें 'अथर्वन्' शब्दको चरण-वाची मानकर 'आथर्वणिकस्य धर्म आम्नायो वा आथर्वणः'

ही पक्षकी सिद्धि है। श्री स्वामी दयानन्दजीने भी 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' के ८८ पृष्ठमें यही माना है। उनके यह शब्द हैं, 'वैदिकाः खल्वपि-शं नो देवीरभिष्टये, इषेत्वा, अग्निमीळे, अग्न आयाहि' इति महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममंत्र-प्रतीकानि वैदिकशब्देषु उदाहृतानि'। *जिज्ञासुजी स्वामी दयानन्दजीके कथनमें कोई भी भूल नहीं मानते*—सो 'शं नो देवीरभिष्टये' यह प्रथममन्त्र-प्रतीक 'पैप्पलादी अथर्ववेद संहिता' का ही है। यद्यपि आजकल उसमें यह नहीं मिलता, उसका कारण यह है कि 'पैप्पलाद संहिता' के प्रथम दो पत्र नष्ट हो चुके हैं।

स्वामी दयानन्दजी भी सभी शाखाओंको वेद माना करते थे। *अतएव स्वामीजीने अपने** *'नामिक, आख्यातिक, सामासिक, कारकीय*

---

* कई महाशयोंका यह विचार है कि—'वेदाङ्गप्रकाश'के सभी भाग स्वामीजीके बनाये नहीं, किन्तु पं० भीमसेनजी आदिके बनाये हैं, पर हम इससे सहमत नहीं। यदि ये स्वामीजीके न होते, तो वे उन पर कथाकथञ्चित् अपना नाम न रखवाते, इनका प्रचार न करवाते, इनके प्रकाशनमें देरी करनेमें प्रेसके प्रबन्धकोंको न डांटते। संशोधनमें भी उन्हीं का हाथ था। लिखने तथा प्रूफशोधनादिका कार्य अवश्य पं० भीमसेनजी आदि करते थे। स्वामीजी तो भिन्न देशोंमें रहते हुए प्रचारार्थ अपने प्रेससे इन वेदाङ्ग-प्रकाशोंको आग्रहपूर्वक मंगवाते थे। पं० भीमसेनजीको अपनी संनिधिमें रखकर अपनी देख-रेखमें उनसे संशोधन भी करवा लेते थे। यदि यह उनकी पुस्तकें नहीं हैं, तो उक्त पुस्तक-प्रकाशकोंको उनका नाम वहांसे हटा देना चाहिए। जब तक उन पर उनका नाम है, तब तक उन पर उत्तरदायित्व भी उन्हीं का है। हां, उनके कई सिद्धान्त समय-समय पर बदलते रहते थे। यदि उक्त बात न मानी जावे, तो स्वामीजीकी सभी सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकें पं० भीमसेनजी आदि कृत माननी पड़ेंगी।

आदि ग्रन्थोंमें वैदिक उदाहरण इन चार संहिताओंसे भिन्न संहिताओंके भी दिये हैं। तभी 'छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (४।२।६६) सूत्रमें स्वामीजीने अपने 'स्त्रैणताद्धित' के ६५ पृष्ठमें 'छन्द' के उदाहरणमें 'पैप्पलादा', वाजसनेयिनः' यह उदाहरण दिये हैं। 'छन्द' शब्दसे स्वामी दयानन्दजीको 'वेद' इष्ट है, तभी 'सत्यार्थप्रकाश' सप्तम समुल्लासके अन्तमें उन्होंने यही सूत्र देकर ब्राह्मणभागको छन्द (वेद से भिन्न सिद्ध किया है।

'छन्दो वेद निगम मन्त्र श्रुतीनां पर्यायवाचकत्वं तु', छन्दांसि वेदा मन्त्राश्च- इति पर्यायौ' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ७६) यहां पर स्वामीजीने 'छन्द' का अर्थ वेद' माना है। 'आद्गोणुनासिकश्छन्दसि' (१४८) 'नामिक' के इस सूत्रमें 'छन्दसि' का अर्थ स्वामीजीने 'वेदमें' यह किया है। इस प्रकार छन्दसि बाधा' (२०२) आदिके बहुतसे स्वामीजीके प्रमाण दिये जा सकते हैं। ऊपरके सूत्रमें स्वामी दयानन्दजीने 'छन्द' का उदाहरण 'वाजसनेयिन' यह दिया है, यह तो उनकी मानी हुई यजुर्वेदसंहिता' के लिए है। दूसरा उदाहरण 'पैप्पलादा' दिया है सो 'पैप्पलाद संहिता' को छन्दके उदाहरणमें देकर स्वामीजी ने स्पष्ट कर दिया है कि—वाजसनेयी तथा पैप्पलाद-संहिता दोनों, समान वेद हैं।

केवल यही नहीं, अपितु 'स्त्रैणताद्धित' के ८० पृष्ठमें स्वामीजीने ४३३ वार्तिककी व्याख्या करते हुए 'पिप्पलाद संहिता' को 'आम्नाय, माना है' —'चरणाद् धर्माम्नाययोः, पैप्पलादकम्'। इसी प्रकार 'महाभाष्य' में भी (४।३।३।१२० में) 'पैप्पलाद' को 'आम्नाय' माना है। इसी प्रकार स्वामीजीने 'स्त्रैणताद्धित' के ४२६ वार्तिकमें 'अथर्वन्' शब्दको चरण-वाची मानकर 'आथर्वणिकस्य धर्म आम्नायो वा आथर्वणः'

यह उदाहरण दिया है। आम्नाय वेदके सम्प्रदायको कहते हैं। श्री युधिष्ठिरजी मीमांसकने अपने 'व्याकरण शास्त्रके इतिहास' (४०२ पृष्ठमें) लिखा है, 'धारणाद् धर्माम्नायो.' की व्याख्यामें समस्त टीकाका 'आम्नाय, का अर्थ 'वेद, करते हैं।" 'शंनो देवी०' इसी अथर्ववेद पैप्पलाद संहिताका प्रथम-मन्त्र-प्रतीक है। सुतरां सभी वेद-संहिताएं वेद सिद्ध हुईं।

गोपथका मत।

(१०) स्वामी दयानन्दजीने 'अथर्ववेद' का ब्राह्मण 'सत्यार्थ०' (३ समु० ४२ पृष्ठ) में 'गोपथ' को माना है। अब इस विषयमें उसकी भी साक्षी देखनी चाहिए कि वह अथर्ववेद किसे मानता है। जैसे गोपथ 'अग्निमीळे' इत्येवमादिं कृत्वा 'ऋग्वेदमधीयते' यह ऋग्वेदके लिए लिखता है, जैसे 'इषे त्वा' इत्येवमादिं कृत्वा 'यजुर्वेदमधीयते' यह यजुर्वेदके लिए लिखता है; जैसे गोपथ 'अग्न आयाहि' इत्येवमादिं कृत्वा 'सामवेदमधीयते' यह सामवेदके लिये लिखता है; वैसे ही गोपथने 'शं नो देवी' इत्येवमादिं कृत्वा 'अथर्ववेदमधीयते' (१।१।२९) यह अथर्ववेदके लिए लिखा है।

'आदिं कृत्वा' का पहले तीन वाक्योंमें जो अर्थ होगा; वही चतुर्थ वाक्यका भी होगा, क्योंकि उद्दिष्ट-प्रतिनिर्दिष्ट शब्दोंका अर्थ समान ही हुआ करता है; अन्यथा भग्नप्रक्रम दोष उपस्थित हो जाता है। सो जब पहलेके दिये प्रमाणोंसे 'शं नो देवी' अथर्ववेद-संहिताका प्रथम-मन्त्र प्रतीक सिद्ध हो चुका है, तो यहां की साक्षीसे भी वही बात सिद्ध तथा समर्थित हुई। वादियों द्वारा भिन्न अर्थ करना खींचातानी तथा अपने पक्षकी दुर्बलता प्रकट करना है। इस प्रकार स्वामी दयानन्दजीके माने हुए—'अथर्ववेद' के ब्राह्मणने 'पैप्पलाद संहिता' को अथर्व_वेद बताकर,

उसीको 'अथर्ववेद-संहिता' सिद्ध करके हमारा पक्ष और भी स्पष्ट कर दिया है। यहां (गोपथमें) 'आपः स्थानम्'' तस्मात् सर्वमापोमयं' बताकर 'शं नो देवी' इस अप् (जल) वाचक मन्त्रको अपना 'आदिम मन्त्र मानकर पैप्पलाद-संहिताको अथर्ववेद सिद्ध कर दिया है।

वैसे तो 'शं नो देवी' मन्त्र चारों वेद-संहिताओंमें आया है, यह पूर्व बताया ही जा चुका है, पर आदिम वह 'अथर्ववेद-पैप्पलाद संहिता' का ही है। यही 'आदिं कृत्वा' का निष्कर्ष है। यही महाभाष्यकारका इष्ट है। शौनकसंहिताके छठे सूक्तके आदिम मन्त्र 'शं नो' को उसी (शौ० सं०) के प्रथम सूक्तकी आदिमें पढ़ना यह उस संहिताकी आनुपूर्वीमें हेर-फेर करके उसे अवेद (वेद भिन्न) बनाना है। अपनी संहिताकी आनुपूर्वीमें तत्तन्मन्त्रको पढ़ना यही 'स्वाध्याय' करना है। 'स्वाध्याय' में 'स्व' शब्द अपनी वेदसंहिताका ही मुख्यतया पढ़ना या प्रयोग करना सिद्धान्तित कर रहा है।

'निरुक्त' के निपात प्रकरणमें वेदसंहितावाचक 'अध्याय' शब्द आया है, पर 'स्व+अध्याय' शब्द 'अपनी वेदसंहिता' बता रहा है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) में यही विवक्षित है। अन्यथा 'स्वाध्यायः कर्तव्यः' को छोड़कर 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह पुनरुक्ति क्यों की गई? इससे स्पष्ट है कि—'स्वाध्याय' शब्द अपनी 'वेदसंहिता' को बता रहा है। श्रीसायणाचार्यने भी अपनी 'काण्वसंहिता' की 'भाष्योपक्रमणिका' में लिखा है—'यद्यपि पुनयोः (तैत्तिरीयकाण्व) शाखयोराध्वर्यवे एव प्रयोगः प्रतिपाद्यते; तथापि मन्त्रपाठविशेषैः प्रयोगविशेषैर्महान् भेदः। स च अनुष्ठातृभेदेन व्यवस्थितविषयत्वाच्च विकल्प्यते। अतएव 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) इति 'स्वकीय शाखाध्ययनमनुष्ठान विशेषाय विहितम्' (चौखम्भा संस्करण

पृष्ठ १०५)। श्रीसायणके ऋग्वेदभाष्योपोद्घातका उद्धरण पहले दिया ही जा चुका है। तभी तो 'गृह्य-संग्रह' में भी कहा है—'यः स्वशाखो-क्तमुत्सृज्य परशाखोक्तमाचरेत् । अप्रमाणमृषिं कृत्वा सोऽन्धे तमसि मज्जति' (२।१३)।

भाष्यकारके मतमें चार वेद

(११) अब—'महाभाष्यकार चार वेद किसको मानते हैं'—यह विचारणीय है। यह बात अवश्य द्रष्टव्य है कि-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद *कहीं स्वतन्त्र नहीं मिलते।* उन-उनकी संहिताएँ ही मिलकर वही-वही वेद हुआ करता है। यही बात भाष्यकार कहते हैं, 'चत्वारो वेदा बहुधा भिन्नाः' एकशतम् (१०१) अध्वर्यु' (यजुर्वेद)-शाखाः, सहस्रवर्त्मा (शाखः) सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् (ऋग्वेदः), नवधा आथर्वणो वेदः, (सर्वे देशान्तरे' वार्तिक परपशाह्निक-में) यहाँ पर महाभाष्यकारने अथर्ववेदको अन्तमें रखकर अपना उसमें ममत्व बताकर अपने आपको 'अथर्ववेदी' सिद्ध किया है। क्योंकि-स्वेष्ट पदार्थको उत्तम दिखलाते हुए वक्ता या तो उसे सबसे पूर्व रखता है, या सर्वान्तिमें। यह समय समयका दृष्टिकोण है, जैसे ऋ० सं० १०।७१ १ में यजुर्वेदको सर्वान्तिमें रखकर उसकी प्रधानता बताई गई है। इसलिए भाष्यकार अपनी संहिता 'पैप्पलाद' को अन्य संहिताओं के अन्तमें उसकी उत्तर-पक्षता रखते हुए अन्यों को पूर्व-पक्षता बताते हैं।

उक्त भाष्यपङ्क्तिका अर्थ स्वामी दयानन्दजीने 'नामिक' (पृष्ठ ४ में) इस प्रकार किया है—'एक सौ एक व्याख्यानयुक्त यजुः, हजार व्याख्यानयुक्त साम, इक्कीस(स) व्याख्यानयुक्त ऋक्, नव व्याख्यानयुक्त अथर्ववेद'। इस अर्थके अनुसार ११३१ संहिता चारों वेदोंकी सिद्ध

होती हैं, अर्थात् उक्त भाष्यकारके प्रमाणसे ग्यारह सौ इकत्तीस संहिताएँ ही चारों वेद हैं। यदि ११३१ संहिताओंमें स्वतन्त्र चार वेद कहीं मिल जाते; तब तो कदाचित् वेद और संहिताएँ उनके मतमें पृथक् पृथक् होतीं। पर कहीं भी चले जाएँ, वहाँ ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद कभी न मिलेंगे, किन्तु ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेद-संहिता, सामवेदसंहिता और अथर्ववेदसंहिता ही मिलेंगी।

इसका तात्पर्य यह है कि—'इयम् ऋग्वेदस्य संहिता अस्ति, यजुर्वेदस्य संहिता अस्ति'। 'ऋग्वेद संहिता' आदिमें 'ऋग्वेदस्य' यह षष्ठी तत्पुरुष है। फिर प्रश्न होगा कि यह अथर्ववेदकी कौनसी संहिता है, तो उत्तर मिलेगा कि पैप्पलादी अथवा शौनकी आदि। जैसे कि श्रीपाणिनि जब यजुर्वेदमात्र (यजुः की सब संहिताओं) का नाम (अविशेष रूपसे) लिखना चाहते हैं, तो 'यजुषि' लिखते हैं। जब यजुर्वेदकी किसी विशिष्ट संहिताका नाम लिखना चाहते हैं, तो लिखते हैं—'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (७ ४ ३८) इससे श्रीपाणिनिने यह सूचित किया है कि वेदसंहिताओंका नाम 'यजुर्वेद काठक संहिता, वाजसनेय यजुर्वेद संहिता, काण्वयजुर्वेद संहिता, यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता, पैप्पलाद अथर्ववेद संहिता, शौनक अथर्ववेद संहिता' आदि रूपसे लिखना चाहिये।

जब विशेष संहिताका नाम न लिखकर संहितामात्र (सब वेद-संहिताओंके समुदाय) का नाम लेना हो, तब यजुः अथवा यजुर्वेद, अथर्ववेद इत्यादि कहना चाहिये। यदि केवलमात्र 'वाजसनेयी संहिता' ही 'यजुर्वेद' होती, अन्य यजुर्वेद की संहिताएँ 'यजुर्वेद' न होतीं तो वेदज्ञ श्रीपाणिनि 'यजुषि काठके' न लिखते। इससे श्रीपाणिनिका इष्ट यह है कि प्रत्येक वेद संहिताको 'काठकयजुर्वेद संहिता, कपिष्ठलकठ-

ऋग्वेद संहिता' इत्यादि रूपसे लिखा जावे। इससे श्रौपाणिनिके अनुसार भी सभी संहिताएँ वेद सिद्ध हुईं।

इस प्रकार 'अथर्ववेद-संहिता' तो सभी होंगी, पर यह जानना पड़ेगा कि यह 'शौनक' संहिता है या 'पैप्पलाद'। 'यजुर्वेद संहिता' तो सभी मिलेंगी पर यह जानना पड़ेगा कि यह 'तैत्तिरीय' है या 'वाजसनेयी' वा 'काण्व' वा 'मैत्रायणी' वा 'काठक' वा 'कपिष्ठलकठ'। यही 'ऋग्वेद' आदि नाम न होकर 'ऋग्वेद संहिता' आदि नाम होनेका रहस्य है। हाँ, किसी ने अज्ञानवश या किसीने पक्षपातवश, वैसा न छपाया हो तो यह अन्य बात है। अथवा कई सभी संहिताओंको स्वतन्त्र वेद मानकर सभी संहिताओंको ही वेद लिखा करते हैं, चाहे वह वाजसनेयी संहिता हो, चाहे काण्व सं० उसे 'यजुर्वेद' ही लिखा करते हैं, चाहे वह शौनक सं० हो, चाहे पैप्पलाद सं०, उसे 'अथर्ववेद' ही लिखा करते हैं।

यह तो प्रश्न ही व्यर्थ है कि—किसी वेदकी नौ संहिता; तो किसी की एक-सौ एक क्यों? किसी की हजार तो किसी की इक्कीस क्यों? यह आवश्यक नहीं कि-ऋग्वेद शाकलसंहिताके दस मण्डल हैं, अथवा आठ अष्टक हैं; तो अथर्ववेद शौनक वा पैप्पलादसंहिताके दस वा आठ काण्ड क्यों नहीं? यजुर्वेद वाजसनेयी वा काण्वसंहिताके ४० अध्याय हैं; तो यजुर्वेद तैत्तिरीयसंहिताके सात काण्ड ही क्यों? किसी के मण्डल हैं; तो दूसरे के अध्याय, अन्यके आर्चिक वा पर्व वा काण्ड ही क्यों हों? यह तो आविष्कर्ता की अपनी इच्छा है, इस पर किसीका नियन्त्रण नहीं हो सकता।

यदि यह बात न मानी जावे, तब तो प्रश्नोंका अन्त ही न होगा। फिर तो प्रश्न होगा कि—अजी! अमुक वेद बड़ा क्यों है? अमुक छोटा क्यों है? चारों वेदोंकी मन्त्रसंख्या समान क्यों नहीं? वस्तुतः ये

सब निस्सार प्रश्न हैं। इनका एक ही उत्तर है—'प्रभुः *स्वातन्त्र्यमापन्नो यदिच्छति करोति तत् । पाणिनेर्न नदी गङ्गा यमुना च, स्थली नदी'* । यह प्रभुकी इच्छा है, जैसा वह चाहता है, करता है। पाणिनि, व्याकरणके प्रभु थे; उन्होंने गङ्गा यमुनाको 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' सूत्रानुसार 'नदी' नहीं माना, 'स्थली' जिसमें पानीकी एक बून्द भी नहीं, उसे 'नदी' माना है। क्यों ? केवल स्वेच्छा।

फलतः श्रीपतञ्जलि ११३१ सभी संहिताओंको ही चार वेद मानते हैं। समुदायरूपसे तो मानते ही हैं. 'समुदायेषु हि शब्दा प्रवृत्ताः अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इस स्वसम्मत न्यायसे पृथक् पृथक् भी सब संहिताओंको वेद मानते ही हैं। इस न्यायसे यदि शाकलसंहिताको कोई ऋग्वेद, वाजसनेयसंहिताको कोई यजुर्वेद लिखता है, उसे काण्व, तैत्तिरीय आदिको भी यजुर्वेद, पैप्पलाद आदि को भी अथर्ववेद आदि लिखना चाहिये।

शाखाओंके वेदत्वमें भाष्यकारकी अन्तरङ्ग सम्मति

(१२) इस पर यह भाष्यकारकी अन्तरङ्ग सम्मति भी द्रष्टव्य है। इस पर विद्वानोंको सूक्ष्म दृष्टि कर्तव्य है। प्रत्याहाराह्निकमें 'एओङ्' सूत्रमें अर्ध एकार ओकारको सिद्ध करते हुए पूर्वपक्षीने कहा है—'ननु च भो ! छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते—सुजाते एश्वसूनृते' इति। अर्थात्—सामवेदकी सात्यमुग्रि—राणायनीय संहितामें अर्ध एकार पढ़ा गया है। इस पर भाष्यकारने समाधान दिया है 'पार्षदकृतिरेषा तत्र भवताम्। नैव हि लोके, नान्यस्मिन् वेदे अर्ध एकारोऽस्ति' अर्थात्—यह राणायनीय संहिताकी अपनी शैली है, न अर्ध एकार लोकमें है, न दूसरे वेदमें।

महाभाष्यकार 'दीर्घप्लुतौ पुनर्नैव लोके, नैव च वेदे' संवृतौ स्त:' इस प्रकारके वाक्योंमें 'नैव लोके, नैव च वेदे' ऐसा कहते कहा करते हैं; पर ऊपरके वाक्यमें कुछ विशेषता है। वहां 'नापि च वेदे'—न कह कर 'नान्यस्मिन् वेदे' यह कहा है। पहले वाक्यका अर्थ है—'न लोकमें, न ही वेदमें'; पर दूसरे वाक्यका अर्थ होता है—"न लोकमें और न अन्य वेदमें"। इस वाक्य पर विद्वान् सूक्ष्म दृष्टि डालें। इसका आशय यह है कि -अर्ध एकार सामवेद राणायनीय संहितामें तो है, पर अन्य वेदमें नहीं'। 'अन्य वेदमें नहीं' कहनेसे सिद्ध हुआ कि—इस वेदमें तो अर्ध एकार है'। 'किस वेदमें ?' उत्तर है कि—'सामवेद सात्यमुग्रिराणायनीय संहिता' में यह अर्ध एकार कौथुम सामवेद संहितामें भी नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार 'राणायन संहिता' को सामवेद मानते हैं। यदि वे न मानते, तो उत्तरका सीधा प्रकार था कि- 'नैव हि लोके, नैव च वेदे अर्ध एकारोऽस्ति, किन्तु केवलम् ऐकदेशिकेस्मिन् पुस्तकेऽस्ति' इति। पर ऐसा न कह कर 'नान्यस्मिन् वेदेऽस्ति' ऐसा वे कहते हैं; इससे स्पष्ट है कि वेदविद्वान् श्रीपतञ्जलि सभी ११३१ संहिताओंको 'चार वेद' मानते हैं।

(१३) इसका अन्य प्रमाण भी देखिये—'अप्रयुक्त' शब्दोंका प्रयोग दिखलाते हुए महाभाष्यकार कहते हैं—'ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दाः, एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क्व ?' इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा गया है—'वेदे। तद् यथा- 'सप्तास्ये रेवतीरेवदूष' 'यद्वो रेवती रेवत्यां तमूष'। जो लोग शाकल, वाजसनेय, कौथुम, शौनक इन संहिताओंको क्रमसे चार वेद मानते हैं, वे यह भी मानते हैं कि—'यह पूर्ण वेद हैं। न तो इनमें प्रक्षेप (अधिकता) है, और न ही न्यूनता है'। अब महाभाष्यप्रोक्त इन दो उदाहरणोंको उन

वेदसहिताओंमे ढूंढना चाहिये। उसमें पहला 'सप्तास्ये रेवती' तो ऋ० शा० सं० ४।२।१४ में मिल गया है। अब 'यद्वो रेवती रेवत्या तमूष' भाष्यकारसे प्रोक्त 'वेद' के इस दूसरे मन्त्रको ढूंढना चाहिये। *पर यह इन चारों सहिताओंमे ही नहीं मिलता।* अतः स्पष्ट है कि यह किसी लुप्त वेदसहिताका है। अंशतः यह 'यजुर्वेद काठक सहिता' (३।१।७, में मिलता है।

इसी प्रकार 'वेदशब्दा अपि एवमभिवदन्ति' कह कर 'अग्निष्टोमेन यजते, य उ चैनमेवं वेद' यह महाभाष्यका दिया वेदमन्त्र भी वर्तमान चार वेदसहिताओंमें नहीं है, किन्तु अन्य सहिता वा ब्राह्मणमें। *इस प्रकार भाष्यकारके अन्य भी बहुतसे वैदिक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जो वर्तमान चार वेदसहिताओंमें नहीं मिलते।* इससे स्पष्ट है कि—महाभाष्यानुसार सभी ११३१ संहिता चार वेद हैं, केवल शाकल, वाजसनेय, कौथुम, शौनक संहिताएँ ही 'चार वेद' नहीं।

(१४) एतद् विषयक महाभाष्यके प्रमाणोंकी न्यूनता तो नहीं है, पर स्थान तथा समय न्यून है, अतः महाभाष्यका एक अन्य उदाहरण तथा आप्त शतपथ एवं निरुक्तादिकी कुछ साक्षियां देकर यह निबन्ध उपसंहृत किया जायगा। भाष्यकारने यजुर्वेदकी १०१ संहिताएँ मानी हैं—यह कहा ही जा चुका है। इनमें ८६ कृष्णयजुर्वेद संहिताएँ हैं, तथा १५ शुक्ल। इन दोनोंका जोड़ १०१ है। इन दोनोंको भी भाष्यकार समानरूपसे वेद ही मानते हैं। वेद विषयसे परिचय रखने वाले पाठकोंको मालूम होगा कि—'ऋषि' भी 'वेद' को कहते हैं। जैसे कि—'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (पा० १।१।१६)। सन्धि विषय पृ० ६ में स्वामीजीने भी 'आर्ष' का अर्थ 'वैदिक' कह कर 'ऋषि' का अर्थ 'वेद' किया है। 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः (३।२।१८६) इत्यादिमें भी।

'शाख्यातिक' पृष्ठ २६१ में स्वामीजीने इसी सूत्रके 'ऋषि' शब्दके लिए लिखा है—'ऋग्वेदः'।

भाष्यकारने जगत्के सभी पदार्थोंको चेतनसिद्ध करनेके लिये ३।१।७ सूत्रके भाष्यमें वेदका एक प्रमाण दिया है—'ऋषिः (वेद इति कैयटः) पठति—*शृणोत* ग्रावाणः' श्रीपाणिनिकी भी 'सपत्नसपूतनयनाग्नेय' (७।१।४५) इस वैदिक सूत्रमें यही प्रयोग इष्ट है। 'मीमांसादर्शन' के मन्त्रभाग प्रामाण्याधिकरणमें 'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' (१।२।३५) सूत्रके भाष्यमें भी यही मन्त्र *उद्धृत किया गया है; परंतु यह शुक्ल यजुर्वेदमें नहीं मिलता।* उसकी 'वाजसनेयी संहिता' में 'श्रोता ग्रावाणः' (६।२६) *मिला है, 'शृणोत' इत्यादि नहीं।* यद्यपि *'शृणोत, श्रोता'* आदिमें अर्थभेद तो नहीं, पर शब्दभेद तो है। शब्दभेद ही तो संहिताभेद है। अर्थरूपसे दोनों ही वेद हैं। 'शृणोत ग्रावाणः' यह कृष्ण-यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता (१।३।१३।१) में है; तब यह भी वेदज्ञ भाष्यकारके मतमें वेद (ऋषि) सिद्ध हुआ। इसकी वेदत्वसिद्धिसे संहिताएँ चारों वेद सिद्ध हुईं।

शाखाओंके वेदत्वमें ब्राह्मणभागकी साक्षी।

(११) ब्राह्मणभाग भी 'तस्माद् एतद् *ऋषिणा* अभ्यनूक्तम्' कह कर 'ऋषि' शब्दसे मन्त्रभागको स्मरण करता है, यह भी वेदज्ञ विद्वानों से तिरोहित नहीं। अब उसका भी एक प्रमाण देखना चाहिये। *'शतपथ ब्राह्मण'* में आया है—'तस्माद् एतद् *ऋषिणा*- अभ्यनूक्तम्—'दध्यङ् ह यन्मध्वा॰॰॰इत्यादि।' (१४।१।१।२५) यहाँ पर ब्राह्मणने ऋग्वेद शाकल संहिता' (१।११६।१२) के इस मन्त्रको 'ऋषि' (मन्त्र-भागात्मक वेद वचन' माना है। इसी प्रकार 'शतपथ' ने अन्यत्र कहा है—*'तदाहुः—मनो देवा मनुष्यस्य आजानन्ति* इति। मनसा

सङ्कल्पयति, तत् प्राणमभिपद्यते, प्राणो वातं, वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मनः' (३।४।२।६) यहां पर 'देवता लोग मनुष्यका मन जान जाते हैं' ऐसा कहा है।

इस विषयमें ब्राह्मणभाग, मन्त्रभागकी साक्षी पूर्वकी भान्ति 'ऋषि' शब्दसे दिखलाता है। जैसे कि—तस्माद् एतद् *ऋषिणा अभ्यनूक्तम्* 'मनसा संकल्पयति, तद् वातमभिगच्छति। वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ! ते मनः' (शत० ३।४।२।७) यह पूर्ण मन्त्र जो शतपथने उद्धृत किया है, देखना चाहिये कि यह किस वेद-संहिताका है? *'ऋषि' शब्द दोनों स्थलोंमें समानार्थक है—यह तो स्पष्ट ही है।*

यदि 'मनसा संकल्पयति, तद् देवाँ अपि गच्छति' (१२।४।३१) इस 'शौनक अथर्ववेद संहिता' का मन्त्र ही शतपथको इष्ट माना जावे; तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनोंमें महान् अन्तर है। 'शतपथ' में पाठ है—'तद् वातमभिगच्छति', पर शौनकसंहिता' में पाठ है—'तद् देवाँ अपि गच्छति'। 'ब्राह्मण' में जो उत्तरार्ध है, संहितामें वह है ही नहीं। वहाँ तो 'ततो ह ब्रह्माणो वशामुपयन्ति याचितुम्' यह उत्तरार्ध है। अतः स्पष्ट है कि शतपथको यहाँ किसी अन्य वेद संहिताका पूर्ण मन्त्र इष्ट है, वह मन्त्र पूर्ण प्रतीत हो भी रहा है। जिस संहितामें वह पूर्ण मन्त्र मिलेगा, वह ब्राह्मणके मतमें वेद (ऋषि) होगा। उस शाकल, वाजसनेय, कौथुम, शौनक-संहितासे *भिन्न संहिताकी वेदत्व सिद्धि होने पर सभी ११३१ संहिताएँ* वेद सिद्ध होंगी। यदि ऐसा न माना जावे, तो 'शतपथ' के मतमें उस मन्त्रसे हीन, वादिसम्मत अथर्ववेद संहिता 'मानुष' हो जायगी कि किसी मनुष्यने उसका पाठ परिवर्तन कर दिया। यदि वादिगण ऐसा नहीं मानते; तो फिर उन्हें सारी संहिताएँ वेद माननी पड़ेंगी। हमारा यह पक्ष मानने पर कोई अव्यवस्था न रहेगी। उससे सभी

११२१ संहिताएँ चार वेद हो जाएँगी, जैसा कि आर्यमत है। इन संहिताओंमें किसी भी संहिताका स्वकुलशाखात्ववश अथवा 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' (मनु० २।१२) के अनुसार वेदके नामसे उद्धरण दिया जा सकता है।

शाखाओंके वेदत्वमें निरुक्तकारकी साक्षी

(१६) इसी प्रकारका 'निरुक्त' का भी एक उदाहरण देख लेना चाहिये, क्योंकि पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, शतपथप्रवक्ता श्रीयाज्ञवल्क्य तथा निरुक्तप्रणेता श्रीयास्क आदि वेदत्वरूपक्ष तथा वादि-प्रतिवादि-सम्मत हैं। मन्त्रभागकी निरर्थकता - सार्थकता प्रकरणमें मन्त्रभागका एक मन्त्र आया है—'ओषधे! त्रायस्वैनम्' (निरु० १।१५।६) यही मन्त्र 'मीमांसादर्शन' (१।२।३९, आदिमें भी उद्धृत किया गया है, पर शुक्लयजुर्वेद काण्वसंहिता (४.२, ३।२४, ६।२०) में 'ओषधे! त्रायस्व' के साथ 'एनम्' नहीं आया। इसी भान्ति शुक्ल-यजुर्वेद वाजसनेय संहिता (४।१.४१४२, ६।१५) में भी 'काण्व' की तरह 'त्रायस्व' के आगे 'एनं' पाठ नहीं है।

यदि वादिप्रतिवादि-सम्प्रतिपन्न श्रीयास्क केवल वाजसनेयी संहिता को ही 'यजुर्वेद' मानने वाले हैं और मन्त्रभागको नियतानुपूर्वीक, तथा नियतपद-प्रयोगपरिपाटीक मानने वाले हैं; तो उन्होंने 'त्रायस्व' के आगे 'एनं' डालकर क्यों वेद-संहिताको 'मानुषी' कर दिया? अथवा दूसरेके किये हुए परिवर्तनको कैसे मन्त्रभाग मान लिया?

वस्तुतः बात यह है कि यह श्रीयास्कने स्वयं परिवर्तन नहीं कर दिया, किन्तु उन्होंने इसे 'कृष्णयजुर्वेद संहिता' का ही प्रमाण माना है और उसे 'मन्त्रभाग' स्वीकृत किया है; अन्यथा वे एतदादिक मन्त्रोंको 'अवेद' बताकर 'मन्त्रभाग' की अनर्थकता हटा देते; पर श्रीयास्कने

ऐसा न करके उन्हें 'मन्त्रभाग' स्वीकृत करके उनके दोषोंका उद्धार किया है। अतः स्पष्ट है कि वे भी ११३१ संहिताओंको चार वेद मानते हैं। समय-समय पर स्वकुलसंहिताके मन्त्र भी उद्धृत किया करते हैं। अन्य संहिताओंकी भी 'ऋचा' मानते हैं।

'त्रायस्व' के आगे 'एनं' कृष्णयजुर्वेद काठक संहिता' (३।२।६) तथा मैत्रायणी कृ० यजुर्वेद सं० (१।२।२, १ २।१०, १ २ ११०, ३।६।३) तथा तैत्तिरीय यजुर्वेद सं० (१।२।१।१, १ ३।२।१) *आदिमें आया है।* श्रीयास्क उसे बड़े स्पष्ट रूपसे 'वेद' मान रहे हैं-यह प्रत्यक्ष है। तभी कोई ऋचा उद्धृत करते हुए श्रीयास्क 'शाकल्य संहिता' (वर्तमान प्रचलित ऋग्वेद संहिता) *की वैसा ऋचा होते हुए भी उस 'ऋचा'* को उद्धृत न करके *'मैत्रायणी'* आदि संहिताओंकी ऋचा भी उद्धृत कर दिया करते हैं। श्रीयास्कको 'वेद' भाष्यकर्ता वादी-प्रतिवादी दोनों ही आप्त मानते हैं। एक-दो उदाहरण विद्वान् पाठकगण इसके भी देख लें।

'वनस्पति' का निगम देते हुए श्रीयास्क कहते हैं—'तस्यैषा अपरा भवति' (८।२०।१) यहां पर 'अपरा' शब्दसे श्रीयास्कको प्रधान स्तुति वाली 'ऋक्' इष्ट है। वह ऋक् श्रीयास्कने इस प्रकार लिखी है— 'वनस्पते ! रशनया *नियूय पिष्टतमया वयुनानि विद्वान्।* वह देवत्रा दिधिषो हवींषि प्र च दातारममृतेषु वोचः'। पर यही ऋचा 'शाकल ऋग्वेद संहिता' में इस प्रकार आई है 'वनस्पते रशनया *नियूया देवानां पाथ उपवक्षि* विद्वान्। *स्वदाति देवः कृणवद्* हवींषि *अवतां द्यावापृथिवी हवं मे'* (१०,७०।१०)।

पाठकोंने देख लिया होगा कि इनमें परस्पर कितना अन्तर है? अथ यदि 'यथवर्चानूनमेव अनुब्रूयाद् होतारं विश्ववेदसम्' (शत०

१।४।११३२) इस कण्डिकाके अनुसार 'ऋचा' (शा० ऋ० सं० १।४४।७) को ही श्रीभगवद्दत्तजी आदिके अनुसार मूल 'वेद' कहा जावे, तो यास्कलिखित 'ऋचा' 'ऋचा' (मूलवेद) न रहेगी। यदि उसे ही 'ऋचा' माना जावे; तो ऋ० शा० स० की ऋचा 'ऋक्' (मूलवेद) न रहेगी। यदि दोनों को ही मूलवेद माना जावे; तो सभी ११३१ संहिताओंको 'चार वेद' मानना पड़ेगा। यह हमारा ही पक्ष सिद्ध होगा।

यही निरुक्त प्रदर्शित 'ऋचा' कुछ थोड़ेसे भेदसे कृष्णयजुर्वेद मैत्रायणी संहिता (४।१३।६९) में मिलती है। 'निरुक्त' में 'दिधिषो' पाठ है और मैत्रायणीमें 'दधिषो' पाठ है। यदि इतने ही भेदसे मैत्रायणीके मन्त्रको 'ऋक्' न कहा जावे; तो शा०ऋ०सं० (१०।१८।८) में 'दिधिषो' पाठ है, और शौ० अथर्व० सं० में 'दधिषो' (१८।३।२) पाठ है, सो इनमें अन्यतरको 'ऋक्' अथवा 'मूलवेद' न मानना पड़ेगा। पर यह वादियोंको भी अनिष्ट है; अतः स्पष्ट है कि सब ११३१ संहिता वेद हैं।

(१०) निरुक्तकार वेदज्ञ थे, वेदके स्वरूपको जानने वाले थे, यह बात वादि-प्रतिवादि-सम्मत है। उनकी प्रवृत्ति यह भी बताती है कि वे भी अपनी कुलपरम्पराकी संहिताके मुकाबिलेमें दूसरी संहिताको कभी-कभी मानुषी जैसी समझने लग जाते हैं। इस विषयका उनका उदाहरण भी पाठकगण देखें। वे लिखते हैं कि—'वने न वायो न्यधायि चाकन्' वायः—वेः पुत्रः' यह कहकर वे शाकल ऋग्वेद संहिता जिसे आज ऋग्वेद कहा जाता है- की त्रुटि दिखलाते हैं—'वा इति च इति च चकार शाकल्य.' (३।२८।३) अर्थात् शाकल्यने अपनी संहितामें 'वाय' इस एक पदको 'वा' 'य.' इस प्रकार काटकर दो पद बना दिये—यह कहकर वे उसका खण्डन करते हैं—'उदात्तं

त्वेवमाख्यातमभविष्यत्, असुसमासश्च अर्थः (६।२।८।३) इससे स्पष्ट है कि वे उस 'ऋग्वेद-संहिता' को मूलवेद मानते थे, जिसमें 'वायः' एक पद था।

अब आजकलकी शाकल्य-ऋग्वेदसंहिता देखनी चाहिये, जिसे आजकल वेद तथा अपौरुषेय माना जाता है। अजमेर वैदिकयन्त्रालय की छपी हुई 'ऋग्वेदसंहिता' (पुराने संस्करण) के २६० पृष्ठमें १०।२९।१ स्थलमें उक्त मन्त्र है, उसमें 'वा' 'यः' इस प्रकार भिन्न भिन्न दो पद हैं, तब वादियों के अभिमतके अनुसार यह संहिता शाकल्यकी कृति और पौरुषेय माननी पड़ेगी। 'यदस्य पूर्वमपरं तदस्य...अहेरिव सर्पणं शाकलस्य न विजानन्ति' (ऐत० ब्रा० १४।५) इसके अर्थ में श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसकने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास' के १२४ पृष्ठमें 'शाकल शाखाके आदि और अन्तके समान होनेसे उसकी अहि-गति मानी है। अर्थात् शाकल शाखाके प्रथम मण्डलमें १९१ सूक्त और अन्तिम दशम मण्डलमें भी १९१ सूक्त हैं'। 'वेदसर्वस्व' प्रथमभागके ३४ पृष्ठमें स्वा० हरिप्रसादजीने भी ऐसा ही माना है। 'अहि' का अर्थ उन्होंने 'सूर्य' किया है। इससे वर्तमान 'ऋग्वेद संहिता' स्पष्ट ही 'शाकल' सिद्ध होती है। क्योंकि अष्टकों वाली संहितामें यह बात नहीं मिलती, उसमें प्रथम अष्टकमें २६५ वर्ग हैं, पर अन्तिममें २४६।

इसी (शाकल) संहिताकी सूचीमें (आर्यसमाजी) श्रीस्वामी विश्वेश्वरानन्दजी श्रीनित्यानन्दजीने भी 'वायः' इस प्रकार एक पद कहीं भी नहीं दिया। वहाँ पर इसी मन्त्रका 'वा' सूचीके २७१ पृष्ठमें है, और इसीका 'यः' उस सूचीके ३२१ पृष्ठमें है। इसी प्रकार इसी वैदिक यन्त्रालयकी छपी 'अथर्ववेद संहिता' में भी 'वा, यः' (अथर्व० २०।७६।१) यह दो पद पृथक्-पृथक् हैं। इससे वादियोंके अनुसार सर्वथा सुस्पष्ट होगा कि निरुक्तानुसार आजकल वाली शाकल ऋग्वेदसंहिता तथा शौनक

अथर्ववेदसंहिता दोनों पौरुषेय संहिता हैं, 'वेद' नहीं। किसी भी भाष्यकारने 'वा' और 'यः' यह पृथक्-पृथक् पद उपन्यस्त करके भी अर्थ उनका तदनुसार नहीं किया, किन्तु अर्थ 'वायः' इस एक पदके अनुसार किया है। तब क्या इन दो पद रखने वाली ये दोनों संहिताएँ पौरुषेय हैं ? वेद नहीं हैं ? यदि ऐसा नहीं, और यह दोनों शौनक और शाकलसंहिताएँ वेद हैं,तो वेदविद्वान् यास्ककी इष्ट संहिता 'वेद' न रहेगी। यदि दोनों *संहिताएँ* वेद रहेंगी, तो फिर हमारा ही वह पक्ष आकर उपस्थित होगा कि सभी संहिताएँ वेद हैं, पर अपने कुल वा सम्प्रदाय की संहिताको मुख्य रखना पड़ता है। उसमें अनन्यनिष्ठताके लिए किसी एक देवताके स्तावक पुराणमें दूसरे देवोंकी निन्दाकी तरह उससे भिन्न संहिताओंको निन्दार्थवादसे 'मानुष' भी कह वा मान लिया जाता है, पर वस्तुतः सभी शाखामूलक पाठभेद अपौरुषेय हैं। जैसे कि— 'महाभारत' में कहा—'*शाखाभेदाश्च* ये केचिद् यश्च शाखासु गीतयः। स्वरवर्णसमुच्चाराः सर्वांस्तान् विद्धि मत् *(भगवत्) कृतान्*' (शान्तिपर्व ३४२।१००-१०१(१७) यह भगवान्की उक्ति है। भगवान्की कृति अपौरुषेय ही मानी जाती है, जैसे कि—'तस्माद् यज्ञात् (विष्णोः) सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (वाज० यजुः सं० ३१।७) यहां पर 'जज्ञिरे' का अर्थ 'उत्पन्नाः' होने पर भी ऋग्वेदादिको अपौरुषेय ही माना जाता है।

निरुक्तकारके अन्य भी 'एक एव रुद्रोवतस्थे,न द्वितीयः' (१।१२।७) 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' (१।१२।८) इत्यादि *मन्त्रभागके नामसे दिये* हुए बहुतसे उद्धरण हैं, जो *वर्तमान चार शाकल, वाजसनेय, कौथुम, शौनक संहिताओंमें न मिलकर अन्य संहिताओंमें मिलते हैं,* यहाँ उनके बतानेका स्थान नहीं। निरुक्तानुसार इन्हें ही वेदमन्त्र मानना पड़ेगा, पर आजका मत इन चारों संहिताओंसे भिन्न संहिताओं

में मिले मन्त्रोंको वेदमन्त्र माननेको तैयार नहीं; फिर भी वह यास्क, पतञ्जलि, शतपथ-प्रवक्ता याज्ञवल्क्य आदिको आप्त मानता है, यह साम्प्रदायिक आग्रह है।

वेदोंकी वर्णानुपूर्वी अनित्य

(१८) महाभाष्यकारने किसी संहिताके पाठको पौरुषेय वा किसीके पाठको अपौरुषेय न मानकर; अपने वैयक्तिक मतके अनुसार अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वार्तिककारके अनुसार तटस्थ दृष्टिसे ४।३।१०१ सूत्रके भाष्यमें सभी वेद संहिताओंकी वर्णानुपूर्वीको सबमें परस्पर असमानता होनेसे, समानता न होनेके कारण अनित्य (असमान) कह दिया है। इसी असमानता- इसी वर्णानुपूर्वीकी अनित्यताका नाम ही उन्होंने 'संहिता' माना है। उसमें शाकल संहिता, वाजसनेय संहिता, कौथुम सहिता, शौनक संहिताएँ भी जिनको आजकल नई (आर्यसमाजादि) सम्प्रदाय केवल यही चार वेद मानते हैं- ये (संहिताएँ) भी सन्निविष्ट हैं। अर्थात् भाष्यकारके मतमें इन वर्तमान चार वेद संहिताओंकी आनुपूर्वी भी *अन्य संहिताओंकी अपेक्षासे अनित्य* है।

पैप्पलाद आदि नाम तो भाष्यकारने अन्य *सभी वेद संहिताओंके उपलक्षणार्थ* ही रखे हैं, अन्यथा यही भाष्यकार निर्दिष्ट काठक, कालापक, मौदक, पैप्पलाद ही अनित्य वर्णानुपूर्वी वाली तथा शाखाएँ हो जायेंगी, अन्य मैत्रायणी, काण्व, तैत्तिरीय, कपिष्ठलकठ, जैमिनि, राणायनीय, बाष्कल आदि संहिताएँ नित्य *वर्णानुपूर्वी वाली* एवम् *आम्नाय* हो जाएँगी, पर वादियोंको भी यह अनिष्ट होगा। भाष्यकारने तो वहाँ छन्दो (वेद) मात्रकी वर्णानुपूर्वीको अनित्य बतलाया है। जैसे कि वहाँका उद्धरण यह है—

(पूर्वपक्षः)❋ 'छन्दोऽर्थे (वेदकृते) तर्हि इदं [तेन प्रोक्तम् इति सूत्रं] वक्तव्यम्, नहि छन्दांसि [वेदाः] क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसि [वेदाः, पूर्वमीमांसानुसारम्] इति। (उत्तरपक्षः) छन्दोऽर्थे [वेदकृते 'तेन प्रोक्तम्' इति सूत्रम्] इति चेत्, तुल्यमेतद्भवति, ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते; तत्र प्रदर्शनात्, न च तत्र [नित्यच्छन्दःसु प्रोक्त-] प्रत्ययो [सौशर्मणी काठक संहिता, सौशर्मणी शाकल संहिता इत्येवं] दृश्यते। यत्र च [प्रोक्तप्रत्ययो] दृश्यते, ग्रन्थः स भवति, तत्र [ग्रन्थस्य कृतत्वात्] 'कृते ग्रन्थे' इत्येव सिद्धम् [न तत्र 'तेन प्रोक्तम्' इत्यधिकारस्य प्रयोजनीयता]।

[पूर्वपक्षः] 'ननु चोक्तम्—'नहि छन्दांसि [वेदाः] क्रियन्ते नित्यानि छन्दांसि [वेदाः] इति? [उत्तरपक्षः] यद्यपि [छन्दसाम्-वेदानाम्] अर्थो नित्यः, या तु असौ [सर्वेषां छन्दसाम्-वेदानाम्] वर्णानुपूर्वी, सा [सर्वेषां छन्दसां-वेदानाम्] अनित्या [असमाना]। तद्भेदाच्च [तस्याः सर्वेषां छन्दसां-वेदानाम् आनुपूर्व्या अनित्यत्वाद्-असमानत्वाच्च] एतद् भवति—काठकम्, कालापकं, मौदकम्, पैप्पलादकम् [इत्यादि] इति।'

इस सन्दर्भमें छन्द-वेदकी सभी ११३१ संहिताएँ इष्ट हैं; जिनमें वर्तमान शाकल, वाजसनेय आदि चारों संहिताएँ भी अन्तर्गत हैं। 'छन्द' स्वा० दयानन्दजी भी वेद-संहिताको कहते हैं यह कहा जा

❋ स्वामी दयानन्दजीने अपने अष्टाध्यायी भाष्यमें 'छन्दः' शब्देन मंत्रभागस्य मूलवेदस्य ग्रहणं भवति (२।३।६२) पृष्ठ ३१० प्रथम भागमें लिखा है कि 'छन्द मूलवेदका नाम है'। आशा है श्रीजिज्ञासुजी आदि यहाँ स्वामीजी की भूल नहीं मानेंगे।

चुका है। अतः यहाँ पर श्रीनागेशभट्टने भी कहा है—'तुल्यमेतत्—वेदानुपूर्वी अनित्या इत्यर्थः।'

'यद्यपि अर्थो नित्यः' से महाभाष्यकारने उन छन्दों (सभी वेद-संहिताओं) का अर्थ नित्य (समान) ही माना है। जैसे कि—'शृणोत ग्रावाणः' यह तैत्तिरीययजुर्वेद संहिता (१।३।१३।१) में आया है; पर वाजसनेयी यजुर्वेद संहितामें 'शृणोत' पाठ न आकर 'श्रोता ग्रावाणः' (६।२६) यह पाठ आया है। यही असमानता ही वार्तिकके मतमें *वर्णानुपूर्वीकी अनित्यता है*, और यही 'असमानता' ही 'संहिता' है, अन्यथा ऋग्वेद आदि 'संहिताओं' से अतिरिक्त कहीं भी मिलते होते, पर कहीं नहीं मिलते। पर *अर्थ* 'श्रोता, शृणोत' दोनोंका समान है—जैसे कि वायुपुराणमें कहा है—'सर्वास्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चैकार्थवाचकाः। पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा (६१।६१) *यही अर्थकी नित्यता है*। अत भाष्यकारने कह दिया—'छन्दसाम् अर्थो नित्य, परं छन्दसां वर्णानुपूर्वी अनित्या'।

इससे भाष्यकारने सूचित कर दिया है कि—वेदत्व शब्द और अर्थ दोनोंमें है, जैसे कि प्रकृत सूत्रके उद्द्योतमें श्रीनागेशभट्टने भी लिखा है—"यद्यपि अर्थो नित्यः' इति—अनेन वेदत्वं शब्दार्थोभयवृत्ति- इति ध्वनितम्"। पर वेदके शब्द अन्योन्य सभी संहिताओंमें *असमान* होनेसे अनित्य और वेदके शब्दोंका अर्थ सभी संहिताओंमें समान होनेसे नित्य है। फलतः यहाँ 'नित्य' शब्द 'समान' अर्थ और 'अनित्य' शब्द 'असमान' अर्थ रखता है; अर्थात् सभी वेद-संहिताओंमें वर्णानुपूर्वी *असमान* है, पर अर्थ सभीमें समान है। यह बात इन 'ऋग्वेद संहिता' आदि नामसे प्रसिद्ध चारों संहिताओंके समान मन्त्रोंमें भी देखी जा सकती है। जैसे पुरुषसूक्तके कई मन्त्र ही ले लीजिये—

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं *विश्वतो वृत्वा*ऽ-

त्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' ऋ० सं० १०।६०।१) यह इसी ऋग्वेद (शा०) संहिताके मन्त्रकी वर्णानुपूर्वी अन्य वेद-संहिताओंमें भी देखिये। 'स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (३१।१) यह यजुर्वेद (वाज०) संहिताका मन्त्र है। अब सामवेद (कौ०) संहितामें ही इस मन्त्रको लीजिये—'सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (आरण्यकपर्व ६।४।३)। अब इसीको अथर्ववेद (शौ०) संहितामें देख लीजिये—'सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (१९।६।१)। इस प्रकार 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' (ऋ० सं० १०।९०।६) 'छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद्' (अ० सं० १९।६।१३)। 'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः...ततो विष्वङ् व्यक्रामत्' (ऋ० सं० ४) 'त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्... तथा व्यक्रामद् विष्वङ्' (अथ० २)। 'एतावानस्य महिमाऽतो' (ऋ० ३) तावन्तोऽस्य महिमानः ततो' (अ० ३)। 'उतामृतत्वस्येशानो (ऋ० २) 'उतामृतत्वस्येश्वरो' (अ० ४)। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः' (ऋ० १२) 'मध्यं तदस्य यद् वैश्यः' (अ० ६)। 'कौ बाहू का ऊरूपादा' (ऋ०११) 'किं बाहू किमूरुपादाः' (अ० ५)। 'विराडग्रे समभवत्' (अ० ६) ततो विराळजायत' (ऋ० ५) इत्यादि।

इनमें शब्द भिन्न-भिन्न हैं, पर अर्थ समान है, यही भिन्न-भिन्न-शब्दता ही भिन्न-भिन्न संहिता है। अब इन मन्त्रोंमें किसीको मूल, किसीको पहिले की शाखा नहीं कहा जावेगा, किन्तु ये मन्त्र अपनी-अपनी संहिताके स्वतन्त्र समझे जाएँगे। यही बात सभी वेदसंहिताओं (तैत्तिरीय, काण्व आदि) के लिए लागू है—यह भाष्यकारका अभिप्राय है।

आम्नायकी वर्णानुपूर्वी नियत

(११) अब शेष प्रश्न वादियोंका यह है कि- 'स्वरो *नियत आम्नाये अस्यवाम-शब्दस्य;वर्णानुपूर्वी* खल्वपि *आम्नाये नियता* अस्यवामशब्दस्य' (२।२।१।२१) यहाँ भाष्यकारने आम्नाय (वेद) की वर्णानुपूर्वी नियत (नित्य) बताई है—भाष्यकारके इस वचनकी सङ्गति कैसे लगेगी ? यह तो परस्पर-विरुद्धता होगी कि—एक स्थान पर उन्होंने वेदकी वर्णानुपूर्वी अनित्य बता दी, दूसरे स्थान पर नित्य, यह तो 'उन्मत्त प्रलाप' होगा'।

इस पर प्रष्टव्य यह है कि—छन्द और आम्नाय शब्द आपसमें पर्यायवाचक वा समान हैं, वा भिन्न-भिन्न (असमान) हैं ? यदि *समान* हैं तो दोनोंकी वर्णानुपूर्वी भी *समान* होगी। यह नहीं कि—'छन्द' की वर्णानुपूर्वी तो हो अनित्य और 'आम्नाय' की वर्णानुपूर्वी हो नित्य। यदि काठकादि संहिताओंको ही 'छन्द' माना जावे; तो 'यत्र ब्रह्मा पवमानः छन्दस्यां वाचं वदन्' (ऋ० सं० ९।११३।६) 'छन्द्य' वचः' (साम० पूर्वा० ३।३।३) इत्यादि स्थानोंमें जो छान्दस वाणीका बोलना कहा है, इसे क्या काठकादि संहिताओंका पढ़ना माना जावेगा ? इस प्रकार 'छन्दाँसि जज्ञिरे' (वा० य० ३१।७, अ० शौ० १९।६।१३) में भी जानना चाहिये।

यदि काठकादि संहिता 'आम्नाय' नहीं; तो भाष्यकारने 'गोत्रचरणाद् वुञ्' (४।३।१२६) सूत्रमें कठ, पैप्पलाद आदिको 'आम्नाय' अर्थ में ही वुञ् किया है; तो यहाँ भी श्रीपतञ्जलिका परस्पर विरोध होनेसे 'उन्मत्त प्रलाप' होगा। यदि ऐसा नहीं, किन्तु श्रीपतञ्जलि वेदके विषयमें सावधान रहने वाले हैं, तो तदनुसार काठक, पैप्पलाद आदि भाष्यकारके मतमें आम्नायसे भिन्न कैसे ?

वस्तुतः इस भाष्यकारके वचनमें 'नियता' का अर्थ *'निश्चिता'* ही है, *'नित्या' नहीं*। जैसे—'एतस्मिँश्च अतिमहति शब्दस्य प्रयोग-विषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र *नियत*-विषया दृश्यन्ते' इस भाष्यकारके वचनमें भी 'नियत' का अर्थ 'निश्चित' है, 'नित्य' नहीं, वैसे ही यहाँ पर भी निश्चित' अर्थ है 'नित्य' नहीं। इसके साथके भाष्यकारके शब्दोंके साथ भी मिलान करना चाहिये, फिर 'नियत' का अर्थ ठीक-ठीक ज्ञात हो जायगा। उक्त शब्दोंके साथ ही भाष्यकारके यह शब्द हैं—'देश खल्वपि *आम्नाये नियत* —'श्मशाने नाध्येयम्, चतुष्पथे नाध्येयम्' इति। काल खल्वपि *आम्नाये नियत*.—'नामावास्याया-मध्येयम्, न चतुर्दश्याम्' इति। पदैकदेश खल्वपि *आम्नाये दृश्यते* 'अस्य वामीयम्' इति। यह 'श्मशाने नाध्येयम्' इत्यादि वचन किस 'आम्नाय' (वेद) के हैं? यह वादियों (आर्यसमाजियों) को बताना पड़ेगा। पदैकदेश *भी 'आम्नाय' में दीखता है*— यह कह कर भाष्यकारने 'अस्यवामीय' यह पदांश आम्नायमें उद्धृत माना है। अब बताना चाहिये कि इन चारों वर्तमान संहिताओंमें कौनसी वेदसंहिता है, जिसमें *'अस्यवामीय' यह शब्द आया है?*

अन्य विचारणीय यह है कि इन स्थलोंमें क्या 'नियत' शब्दका अर्थ 'नित्य' है? नहीं नहीं, यहाँ भी 'नियत' का अर्थ 'निश्चित' है, 'नित्य' नहीं। लोकमें भी 'लौकिकेष्वपि एतद् [*नियतवाचोयुक्तयो* नियतानुपूर्व्या भवन्ति]' (१।१६।४) इस यास्कके वचनके अनुसार 'पितापुत्रौ, इन्द्राग्नी' आदिकी आनुपूर्वी भी *'नियत'* रहती है, विपरीत नहीं होती। इस लौकिक आनुपूर्वीको भी 'निश्चित' तो कहा जा सकता है, 'नित्य' नहीं। नहीं तो लौकिक पदोंमें भी 'नियत' का अर्थ 'नित्य' करना पड़ेगा।

'नित्य' का अर्थ भी 'अनित्य'

कुछ क्षणके लिए वादियोंके अनुसार 'नियत'का अर्थ 'नित्य' भी माना जाए;(यद्यपि वह यहाँ पूर्वापरप्रकरण-स्वारस्यवश भाष्यकारको इष्ट नहीं) तब भी भाष्यकारके पूर्वोक्त अनित्यता-प्रतिपादक वाक्यसे कोई विरोध नहीं पड़ता; क्योंकि भाष्यकार 'अथवा नेदमेव 'नित्य' लक्षणम्-ध्रुवं कूटस्थमविचालि अनपायोपजनविकारि यत् तन्नित्यम्, तदपि नित्यम्, यस्मिन् तत्त्वं (तद्भावो) न विहन्यते' यह 'नित्य' का लक्षण मानते हैं।

अन्य स्थलमें भी 'अयं खलु 'नित्य' शब्दो नावश्यं कूटस्थेषु अविचालिषु भावेषु वर्तते, किं तर्हि ? *आभीक्ष्ण्येपि* वर्तते। तद् यथा— '*नित्यप्रहसित*', *नित्यप्रजल्पित*.'। महाभाष्यकारने यह 'नित्य' का लक्षण किया है; अर्थात्—उन्होंने 'नित्य' का अर्थ 'अनित्य' भी बड़े धड़ल्लेसे माना है; तो यहाँ 'नियता' का 'नित्या' अर्थ कर देने पर भी पूर्वकी तरह 'अनित्या' ही अर्थ है। प्रलय-पर्यन्तकी नियतता अभिमत होनेसे वहाँ इतनी 'नित्यता' इष्ट है, जैसे कि—श्रीनागेशभट्टने भी यहाँ भाष्यका हृदय दिया है कि—'सा आनुपूर्वी तत्तत्कल्पसमाप्तिपर्यन्तं नियतेत्यर्थः.'। न्यायभाष्यकार श्रीवात्स्यायन मुनिने भी २।१।६८ में 'अतीत, अनागत सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाऽविच्छेद' से ही वेदकी 'नित्यता' मानी है, शब्दोंकी नित्यतामें वेदकी नित्यता नहीं मानी। नियतता होनेसे ही वेदवाक्य वा अपौरुषेयता मानने पर श्रीयास्कसे उदाहृत नियतापूर्वीक 'पितापुत्रौ' आदि *लौकिक शब्द भी* वैदिक शब्द वा अपौरुषेय बन जाएँगे, पर यह वादीको भी अनिष्ट है।

अस्यवामीयकी आनुपूर्वी

(२०) इसके अतिरिक्त भाष्यस्थ इस 'आम्नाय' पदका अर्थ भी 'वेदसम्प्रदाय' है। इसका अर्थ यह हुआ कि—अपने अपने आम्नाय (वेद-सम्प्रदाय) में स्वर तथा वर्णानुपूर्वी प्रलयकाल तक वही रहती है, बदली नहीं जाती। यदि यहाँ पर यह अर्थ न मानकर "वेदमें 'अस्य-वाम' की स्वर-वर्णानुपूर्वी नित्य हुआ करती है"—यह अर्थ माना जावे, तो असङ्गति पड़ेगी। 'अस्य वामस्य प--' (ऋ० सं० १।१६४।१) 'अस्य वामस्य नि' (१।१६४।७) इसी अपने वेदके सूक्तमें ही स्वरका भेद होगया है। 'स्य' पर एक स्थान 'स्वरित' है, दूसरे 'स्य' पर अनुदात्त है।

अब वर्णानुपूर्वी भी अस्यवामीय सूक्तकी देख लीजिये। ऋ० सं० में 'सप्त स्वसारो अभिसंनवन्ते' (१।१६४।३ है, पर अ०सं०में 'अभिसं-नवन्त' (९।९।३) यह 'ए' और 'अ' मात्राका ही भेद होगया है। 'अचिकि-त्वाञ्चिकितुषः' (ऋ० सं० १।१६४।६) 'अचिकित्वांश्चि-' (अ० ९।९।७) यह सन्धिभेद है। इसी मन्त्रमें 'विद्मने' (ऋ०) 'विद्मो' (अ०) यह शब्दभेद है। इसी प्रकार 'सनेमि···तस्मिन्नार्पिताः' (ऋ० १४) 'सनेमि··· यस्मिन्नातस्थुः' (अ० १४) यहाँ सर्वनाम तथा क्रियाका भेद है। 'अयं स शिङ्क्ते' इस 'अस्यवामीय' के प्रसिद्ध मन्त्रमें ऋ० सं० १।१६४।२९ में 'मर्त्यं' एकवचन है, और अथर्ववेद संहिता (९।१०।७) में 'मर्त्यान्' बहुवचन है—यह वचनभेद है। इसी प्रकार इस सूक्तमें मन्त्रोंकी आनुपूर्वीमें भी परस्पर भारी भेद है—'इह ब्रवीतु' यह मन्त्र ऋ० सं० (१।१६४) में सातवाँ है; पर अथ० सं० (९।९) में पाँचवाँ है। ऋ० शा० सं० में 'अस्यवाम' एक सूक्त है; पर अ० शौ० सं० में दो सूक्त हैं। अन्य बहुतसे भेद स्थानाभाववश हम नहीं दे रहे। यदि सारे

'अस्यवामीय' सूक्तकी वर्णानुपूर्वी आम्नायमें नियत इष्ट नहीं; किन्तु केवल 'अस्यवाम' इस पदांशकी आनुपूर्वी नियत इष्ट है; तो वह भी अन्य संहिताओंमें भी यही की यही है; तब अन्य संहिताओं तथा वर्तमान चार संहिताओंका आपसमें कोई भेद सिद्ध न हुआ।

बस, इसी वर्णानुपूर्वीको भाष्यकारने छन्द (वेद) की सभी संहिताओंमें—उनमें *वर्तमान चारों संहिताएँ भी अन्तर्गत है*—एक दूसरेके प्रति असमान होनेसे ही 'अनित्य' बताया है, और 'आम्नाय' अर्थात् अपने अपने वेदसम्प्रदायमें—अपनी-अपनी वेदसंहिताओंमें, उसी वर्णानुपूर्वीको 'नियत'—निश्चित बताया है कि उसे परिवर्तित नहीं किया जाता, उसे वैसे का वैसा रखा जाता है, वैसे का वैसा पढ़ा जाता है। यदि उक्त भाष्य-सन्दर्भका यह अर्थ या यह आशय न माना जाय; तो ऋग्वेद शाकलसंहिताके जो मन्त्र भिन्न-भिन्न वाजसनेय-यजुर्वेद सं०, शौनकी अथर्ववेदसंहिताओंमें लिये गये हैं—जिनका कुछ न-कुछ आनुपूर्वीभेद रहता है-उनके पढ़नेकी आवश्यकता नहीं रहेगी, पर वेदसम्प्रदायमें ऐसा न करके उसको भी पढ़ा जाता है; नहीं तो ७०-७५ मन्त्रों को छोड़कर शेष कौथुम सामवेदसंहिताके मन्त्र ही छोड़ने पड़ेंगे; क्योंकि ये शाकल ऋग्वेदसहिताके हैं, अथवा यदि वे सामवेद कौथुम सहिताके हैं, तो ऋग्वेद शाकलसंहितासे निकालने पड़ेंगे। इस प्रकार ऋग्वेदसं० से लिये गये अन्य वेदसंहिता- स्थित मन्त्रोंको भी निकालना पड़ेगा। फिर वेद पुस्तकें भी हलकी हो जाएँगी, उनका मूल्य भी बहुत कम हो जायगा।

पर ऐसा नहीं किया जाता, उसे अपनी अपनी वेद-सहिताका ही मन्त्र कहना पड़ता है, यही बात पैप्पलाद अथर्ववेदसंहिता, वाजसनेयी य० स० आदि सभी संहिताओंके लिये लागू है। यज्ञों आदिमें अपनी

उन्हीं कुल या सम्प्रदायकी चार संहिताओंको ही मुख्यतया लेना पड़ता है, उन्हींका क्रम, उन्हींकी सारी आनुपूर्वी रखी जाती है। यदि भाष्यकारको 'आम्नाय' शब्दसे केवल वर्तमान चार संहिताएँ ही शुद्ध तथा पूर्ण वेद इष्ट हैं; तो 'श्मशाने नाध्येयम्, चतुष्पथे नाध्येयम्, न अमावास्यायामध्येयम्, न चतुर्दश्याम्,' 'अस्वधामीयम्' (१।२।१।२१) इत्यादि भाष्यकार प्रोक्त आम्नाय-वाक्य इन वर्तमान चार संहिताओंमें दिखलाने होंगे, पर इनमें नहीं मिलते, किन्तु भिन्न संहिता वा ब्राह्मणों में; तब स्वयं हमारा पक्ष मानना पड़ेगा कि भाष्यकार सभी संहिताओं और ब्राह्मणोंको 'वेद' मानते हैं, समय पर अपनी कुल संहिताको उद्धृत करते हैं, उनके वेदविषयक सिद्धान्तमें कोई परस्पर विरोध नहीं है।

यही कारण है कि भाष्यकार वैदिक शब्दोंके प्रतिपादनके अवसर पर अपने कुल वा सम्प्रदायकी पैप्पलाद-अथर्ववेद संहिताके प्रथम-मन्त्रप्रतीक 'शं नो देवी' को देने का लोभ न संवरण कर सके। इसमें एक प्रमाण यह भी सम्भव है कि महाभाष्यकार काश्मीरके गोनर्ददेश के रहनेवाले होनेसे 'गोनर्दीय' कहलाते हैं। उस देशमें उस समय सम्भवतः अथर्ववेद-पैप्पलादसंहिता प्रचलित रही हो। तभी तो 'अभिजानासि देवदत्त! कश्मीरान् गमिष्यामः' (३।२।११४) में उन्होंने अपनी जन्मभूमि काश्मीरका स्मरण किया है, क्योंकि फिर वे पाटलिपुत्र वा स्रुघ्न (आगरा) में रहने लग गये थे; और यह पैप्पलाद-अथर्ववेदसंहिता' डाक्टर बूलरको काश्मीरके ही पुस्तकालयमें शारदा-लिपिमें मिली। इस कारण काश्मीरी श्रीपतञ्जलिने भी आदिमें वही अपनी कुलशाखा 'पैप्पलाद-अथर्ववेदसंहिता' ली हो—यह बात भी सङ्गत हो जाती है। 'राजतरङ्गिणी'- जो काश्मीरका इतिहास है- में तीन गोनर्द राजाओंका निरूपण है। कैयट, राजशेखर आदि 'गोनर्दीय' शब्दसे भाष्यकारको ही लेते हैं। अस्तु :—

११३१ संहिता चार वेद

(२१) पैप्पलादी अथर्ववेदसंहिता श्रीपतञ्जलिकी कुलसंहिता होने पर भी उनका सिद्धान्त यही रहा कि—'चत्वारो वेदाः, एकशतमध्वर्युशाखा, सहस्रवर्त्मा (शाखा) सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधा आथर्वणो वेदः' इति। अर्थात् यह सभी ११३१ संहिता चार वेद हैं। इसी प्रकार सब लोग अपनी चार वेदसंहिता स्वस्वकुल-परम्पराप्राप्त अथवा स्वगुरुसम्प्रदायप्राप्त ही मुख्यतया प्रयुक्त करें, अथच अनन्यनिष्ठाके लिए उन्हें ही अपौरुषेय मानें, पर शेष ११२७ संहिताओं को भी सभी, अपनी चार संहिताओंकी तरह वेद मानें, उनका भी यथावत् सम्मान करें, यह हमें आप्त, वेदविद्वान् महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलिने अपनी कुलसंहिता 'अथर्ववेद पैप्पलादसंहिता' का आदिम मन्त्र प्रयुक्त करके अवशिष्ट संहिताओंको भी वेद कहकर सम्मानपूर्वक उनका उद्धरण करके शिक्षा दी है कि—'तुम लोग भी शैव वैष्णवों आदि की भांति अपने-अपने सम्प्रदायमें ही दृढ निष्ठामें रहो, पर भेद भाव तथा कलह-सृष्टि मत करो। यह पारस्परिक विवाद अविवेक-मूलक है, यह झगड़े वस्तुस्थितिकी अनभिज्ञतावश ही है। तभी श्रीपतञ्जलिने 'मूल वेदसंहिता चार तथा शेष ११२७ शाखा हैं' यह नहीं न कहलिखकर सभी संहिताओंको शाखा कहा है; अथवा चारों वेदोंकी सभी संहिता ११३१ ही मानी है। इनमें किसीको उच्च, किसी को नीच, किसीको मूल, किसीको गौण आदि नहीं कहा। इनमें किसीमें भी विषमदृष्टि नहीं रखी। न जानते हो हैं कि शाखाएँ ही मिलकर शाखी कहाता है। शाखी शाखाओंसे कहीं स्वतन्त्र नहीं मिलता।

यदि भाष्यकार आजकलके अनुसार वर्तमान चार शा० वा० कौ० शौ० संहिताओंको ही चार वेद मानते, शेष ११२७ को उन्हीं चारोंका व्याख्यान और उन्हें अवेद मानते तो वे भी वैसा अपना अभिमत

लिखते, किन्तु उन्होंने ऐसा कहीं भी न लिखकर सभी ११३१ संहिताओं को ही अविशेषरूपमें चार वेद माना है। उक्त अपने वाक्यमें उन्होंने कहीं भी वर्तमान चार संहिताओंके लिए कुछ भी विशेषता या विलक्षणता नहीं की; अतः उनका मन्त्रविषयक वेद-स्वरूप सुस्पष्ट है कि—११३१ संहिताओं तथा तत्संगृहीत उतने ही ब्राह्मणोंको वे वेद मानते थे। इसमें प्रमाण-स्वरूप इन सबके उद्धरण वे वेदके नामसे ही समय-समय पर देते हैं, यह प्रत्यक्ष ही है। जैसे कि—पस्पशाह्निकमें—'वेदे स्वल्वपि-पयोव्रतो ब्राह्मणो' इत्यादि। 'आचारे पुनऋ'षि (वेदो)—नियमं वेदयते-तेऽसुरा हेलयः' इत्यादि। 'वेदेऽपि याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति स्फ्यो यूपश्चषालः' (१।१।३।१)। 'वेदे स्वल्वपि—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेतेति' (६।१।८४) इत्यादि बहुत उद्धरण उनके प्रत्यक्ष हैं जो भिन्न-भिन्न संहिता या ब्राह्मणोंके हैं। अतः वेदविषयमें उनके वाक्योंका कोई परस्पर-विरोध नहीं।

'वेदकी सीमा वर्तमान चार संहिताएँ हैं'—यह आर्यसमाजसे मुख्यतया प्रचलित मत ठीक है भी नहीं। इसमें पाठक स्वयं भी विचार करने का कष्ट करें। श्रीपाणिनिने लौकिक महाव्याकरण-समुद्रकी सिद्धि अष्टाध्यायीमें परिमित सूत्रोंसे की है। यदि वेद यही वर्तमान चार संहितामात्र होते; तब इनके नियमोंको व्यवस्थापनामें श्रीपाणिनिको क्या कठिनाई थी! तब उन्होंने वैदिक-सिद्धिके लिए बहुत स्थलोंमें व्यत्यय क्यों स्वीकृत किये? क्यों बहुतसे 'बहुलं छन्दसि' 'छन्दस्युभयथा' 'वा छन्दसि' आदि सूत्र बनाये? 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' 'सर्वे विधयः छन्दसि विकल्प्यन्ते' आदि वेदकी अनन्तता बताने वाली परिभाषाएँ क्यों बनाई गई? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि—११३१ संहिताएँ, उतने ही ब्राह्मण, उतनी ही उपनिषदें, उतने ही आरण्यक—इस प्रकार वेद अनन्त है—जिसके पारको प्राप्त न होकर अन्तमें थककर श्रीपाणिनिने व्यत्यय तथा बहुलताका आश्रय लिया। इससे स्पष्ट है कि—वेदकी

सीमा यही वर्तमान चार पोथियाँ ही नहीं हैं; किन्तु मन्त्रब्राह्मणात्मक सम्पूर्ण समुदाय ही वेद है। सम्पूर्ण हिन्दुधर्मकी सिद्धि इसी सम्पूर्ण साहित्यसे होती है। केवल इन चार पोथियोंसे धर्मके सभी अङ्गोंकी सिद्धि नहीं हो सकती।

शाखासंख्यामें वैषम्य

(२२) अब एक प्रश्न यह शेष रह जाता है कि—'कोई वेदकी ११३१ संहिता कहता है, कोई ११३७। कोई इनसे न्यून, कोई इससे अधिक। इस मतभेदमें किसकी बात मानी जाय?' इस पर उत्तर यह है कि यह भिन्न विषय है। जब संहितामात्र वेद ठीक ठीक मान लिया जाय, यह उसके बादके विचारका प्रश्न है। सभीके कथनों पर विश्लेषण करने पर यह बात भी निर्णीत हो सकती है। इस निबन्धमें हमने वादि-प्रतिवादिमान्य महाभाष्यकारको ही लिया है, अतः हमने भी यहाँ उन्हींकी सम्मत ११३१ संहिताएँ ही ली हैं। यह उनका पक्ष वादी-प्रतिवादी यदि स्वीकार करलें, तो फिर उक्त प्रश्न भी हल हो सकता है।

नवीन प्रेरणा

(२३) यह अभिप्राय प्रदर्शित करके एक अन्य बात कहकर हम अपना यह निबन्ध उपसंहृत करते हैं। स्वा० दयानन्दजीको भी वादी वेदभक्त मानते हैं। उनकी भी प्रवृत्ति इस विषयमें देखनी चाहिये। वे निघण्टुको ऋग्वेदियोंका 'वैदिक' कोष मानते हैं, श्रीयास्क उसे 'समाम्नाय' कहते हैं, स्वामीजी अष्टाध्यायी आदिके 'छन्द' को 'वेद' कहते हैं—यह पूर्व कहा जा चुका है। एक अन्य भी प्रमाण उनका देखें। उणादिकोषमें भी उन्होंने 'छन्दसीणः' (१।२) का अर्थ लिखा है—'वेदे इण्धातोरुण्' इस प्रकार उनके मतमें 'छन्द' का अर्थ 'वेद'

है। 'छन्द' का एक शब्द 'निष्टर्क्य' है, जिसे श्रीपाणिनिने छान्दस ३।१।१२३ सूत्रमें सिद्ध किया है। 'स्नात्वी' एक छान्दस शब्द है, जिसे श्रीपाणिनिने छान्दस (७।१।४९) सूत्रमें प्रयुक्त किया है। वैदिक निघण्टुमें 'आशा' (१।६) दिशाका, 'शोकी' (१।७) रात्रिका, 'जातरूपं' (१।२) सोनेका, 'वलिशानः' (१।१०) मेघका, 'वेकुरा' (१।११) वाक्का, 'सर्णीकम्, स्यूतीकम्' (१।१२) यह उदकका नाम है। एतदादिक वैदिक शब्द इन वर्तमान चार ऋ० शाकल, य० वाजसनेयी, सा० कौथुम, अ० शौनक संहिताओंमें नहीं मिलते। कई इनसे भिन्न वेद-संहिताओंमें मिलते हैं, कई लुप्त वेद-संहिताओंमें होंगे, तब क्या ये आजकी चार वेद-संहिताएँ अपूर्ण हैं; जो कि उनमें उक्त वैदिक शब्द तथा स्वा० दयानन्दाभिमत 'मास्म कमण्डलुं शूद्राय दद्यात्' (स्त्रैण-ताद्धित ४।१।७१ में उद्धृत) आदि कई वेदमन्त्र भी नहीं मिलते। अथवा यदि 'छन्द' शाखाओंको कहते हैं, और छान्दस शब्द मूल वेदके शब्दोंका कुछ हेर-फेर करके बनाये गये हैं, तो पाणिन्यादि प्रोक्त छान्दस शब्दोंके मूल शब्द इन वर्तमान चार संहिताओंसे दिखलाने चाहियें। यदि ये मूल वैदिक शब्दोंके हेर-फेरसे बने हैं, तो मानुष हो जानेसे पाणिनि आदिने इनके लिए '*भाषायां*' शब्द न देकर '*छन्द*' वा '*निगम*' आदि शब्द क्यों रखे ?

स्वा० दयानन्दजीने 'सत्यार्थप्रकाश' के द्वितीय पृष्ठमें लिखा है—'देखिये वेदोंमें ऐसे प्रकरणोंमें 'ओम्' आदि परमेश्वरके नाम हैं' यहाँ पर स्वामीजीने 'वेदोंमें' बहुवचन देकर चारों वेदोंमें 'ओम्' की सत्ता

मानी है, इस प्रकार मङ्गल, शनैश्चर आदि शब्दोंकी भी सत्ता मानी है। पर आर्यसमाजी स्वा० विश्वेश्वरानन्दजीकी चारों वेद संहिताओं-की अनुक्रमणिकाओंमें यजुर्वेद संहिताकी ही सूची (२।२३, ४०।१६-१७) में 'ओम्' शब्द मिलता है, अन्य संहिताओंमें नहीं। मंगल, शनैश्चर आदि भी चारोंमें किसी वादिसम्मत वेद-संहितामें नहीं मिलते। 'वैदिक सन्ध्या' में स्वामीजी से उद्धृत 'तैत्तिरीयारण्यक' का सप्तव्या-हृति मंत्र तथा अन्य दो ओं 'भूः पुनातु' और ओं 'वाक्-वाक्' यह मंत्र क्या इन संहिताओंमें मिलते हैं? तब क्या इससे स्वामीजीकी बात अशुद्ध है? नहीं! वेद केवल इन चार संहिताओंमें विश्रान्त नहीं, किन्तु सभी ११३१ संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यकादिमें विश्रान्त है—यह इससे सूचित होता है। उनमें 'ओम्' का वर्णन या व्याख्यान मिल ही जाता है। अन्य, वेदके नामसे कहे मन्त्र भी मिल जाते हैं।

हम अनुसन्धाताओंको प्रेरणा करते हैं कि वे स्वा० दयानन्दजीके वेदाङ्गप्रकाशके १४ भागों तथा अन्य निबन्धों (प्राचीन संस्करणों) में 'वेद' के नामसे जो उद्धरण दिये गये हैं, जैसे सन्धिविषयके पृष्ठ ४ में 'आमन्त्रिते छन्दसि' (३७) वार्तिकका अर्थ यह लिखा है—'आमन्त्रित परे हो तो पूर्वको प्लुत हो वेदविषय में। जैसे 'अग्ना ३ इ पत्नी वः'। इस प्रकार १२६ वार्तिकमें भी उन्होंने 'छन्दसि' का अर्थ 'वेदस्थ प्रयोग' लिखा है। इस प्रकार १४८, १९१, २०२ आदि सूत्र वार्तिकोंमें एवम् अन्य स्थानोंमें भी, उनको तथा महाभाष्य, उणादि, निघण्टु, काशिका,

सिद्धान्तकौमुदी, न्यास, निरुक्त आदि पुस्तकोंमें उद्धृत किये हुए वेदके शब्दों या मन्त्रप्रतीकोंको इन चार (शा० वा० कौ० शौ०) संहिताओंमें ढूंढना चाहिये, पर उनके इनमें न मिलनेसे स्पष्ट विदित हो जायगा कि इन्हीं चार संहिताओंमें चार वेद समाप्त नहीं किन्तु—

'एकशतमध्वर्यु शाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्-च्यम्, नवधा आथर्वणो वेदः' इन्हीं ११३१ संहिताओंमें तथा ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादिमें—

चारों वेद विश्रान्त हैं, इसी बात को प्रस्फुट सिद्ध करनेके लिए ही वादिप्रतिवादिमान्य श्रीपतञ्जलिने आदिमें 'पैप्पलाद अथर्ववेद संहिता' का ही आरम्भिक मन्त्र 'शं नो देवीरभिष्टये' दिया है। इसी वैदिक सिद्धान्तके माननेसे ही सभी वेद-सम्बन्धिनी अव्यवस्थाएँ मिटेंगी। परमेशान ब्रह्मणस्पति ऐसा वैदिक ज्ञान सभी अधिकारियोंको दें, जिससे वेदविषयमें फैला हुआ अज्ञान मिटे। इस निबन्धमें श्रीभगवद्दत्तजी एवं श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु तथा श्रीब्रह्ममुनिजीके आक्षेपों पर भी प्रायः विचार कर लिया गया है। जैसे मन्त्रभागकी संहिताएँ सभी वेद हैं, वैसे ब्राह्मण-भाग भी वेद हैं; इस विषयमें निबन्ध किसी अन्य पुष्पमें उद्धृत किया जाएगा।

---

(६) वेदादिशास्त्रोंमें जन्मना वर्ण-व्यवस्था

हिन्दु धर्म तथा हिन्दु-शब्दकी व्याख्या करके, हिन्दु धर्मके मूल धर्मग्रन्थ वेदके विषयमें आजके मतकी भूल दिखलाकर, कुछ वेदका स्वरूप-निरूपण करके अब हिन्दु धर्म—सनातन धर्मके आधार स्तम्भ-स्वरूप वर्ण व्यवस्थाका निरूपण किया जाता है। सनातनधर्मका आधार-स्तम्भ वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था है। आज सनातनधर्मके प्रच्छन्नविरोधी उसी वर्णव्यवस्था पर आक्रमण कर रहे हैं कि इसके भङ्ग हो जाने पर सनातनधर्मके अन्य सिद्धान्त भी गिर जाएंगे। इसी के फलस्वरूप वे वर्ण व्यवस्थाको जन्मसे न मानकर गुणकर्मसे प्रचारित करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि केवल कर्मसे वर्णको व्यवस्थित करनेसे वर्ण-व्यवस्थाका नाश ही होगा—इसका विशदीकरण हम अन्य भागमें करेंगे। वे बताते हैं कि शास्त्रोंमें ब्राह्मण प्रशंसापरक वचन केवल गुणकर्मसे बने हुए ब्राह्मणोंके लिए हैं, परन्तु उन्हें जानना चाहिये कि वेदादिशास्त्रोंके सिद्धान्तमें वर्णोंकी व्यवस्था जन्मसे है, गुणकर्मसे नहीं। गुणकर्मसे तो उस उस वर्णकी स्वरूप रक्षा वा आदर सम्मान होता है, जैसे कि—'निरुक्त' में कहा है—'जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति। भूयोविद्य प्रशस्यो भवति' (१।१६।१०) वर्णपरिवर्तन नहीं। देखिये—

अच्छे गुणकर्म वाले भी भगवान् श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर क्षत्रिय ही रहे; ब्राह्मण नहीं बने। 'घृणी (दयालु) ब्राह्मणरूपोऽसि कथं क्षत्रेषु जायथाः' (महाभारत वनपर्व ३५।२०) यह भीमसेनकी युधिष्ठिरके प्रति उक्ति है। 'ब्रह्मवर्चसी पाण्डुनन्दन' (उद्योगपर्व ९३।८) यह धृतराष्ट्र

युधिष्ठिरके लिए कह रहे हैं। यहां ब्राह्मण होनेकी योग्यतामें भी और 'युद्धे चाप्यपलायनम्' (गीता १८।४३) क्षत्रियधर्मविरुद्ध युद्धस्थलमें पलायन करने पर भी (देखो— कर्णपर्व ४३।३८, ४६।५६) युधिष्ठिरको क्षत्रिय कहना शास्त्रके मत तथा उस समयके लोकमतमें जन्मसे वर्ण-व्यवस्थाको बताता है। इसी कारण भीष्मने युधिष्ठिरको कहा था— 'क्षत्रधर्मरतः पार्थ ! पितॄन् देवांश्च तर्पय' (महा० १३।११)।

इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान्‌के विषयमें भी जानना चाहिये। जैसे 'यद्ययं (कृष्णः) जगतः कर्ता यदैनं मूर्ख ! मन्यसे। कस्माद्‌ ब्राह्मणं सम्यग् आत्मानमवगच्छति' (सभापर्व ४२।६) यह वचन शिशुपालने युधिष्ठिरको कहा था कि— कृष्ण अपने आपको ब्राह्मण क्यों नहीं कहते या मानते ? इससे स्पष्ट है कि—श्रीकृष्णने ब्राह्मणयोग्य गुणकर्मों वाले होते हुए भी अपने आपको ब्राह्मण कभी नहीं कहा; क्योंकि— वे जन्मसे क्षत्रिय थे। दुष्कर्मा राक्षस भी रावण ब्राह्मण ही रहा, क्योंकि वह ब्राह्मण-पुत्र ही था। आजकलके समयमें पुरुषोंसे महात्मा माने हुए भी गान्धिजी वैश्य ही रहे, ब्राह्मण वर्णमें परिणत नहीं किये गये। कबीर आदि अच्छे गुणकर्म वाले होते हुए भी असत्‌शूद्रके अन्तर्गत तन्तुवाय ही माने गये, ब्राह्मण नहीं। यह ठीक भी है—'छायामात्रमणी-कृतास्मसु मणेरश्मस्यादमर्त्यवोचिता' चिन्तामणि पत्थरोंको भी मणि कर दिया करती है; फिर भी स्वयं वह पत्थर ही रहती है वा कही जाती है। यदि वह भी मणि बन जाय; वा कही जाय तो वह साधारण मणि बन जाय, उसे कोई जाने ही नहीं। यदि कोई क्षत्रिय-वैश्य अत्यन्त उन्नति पा जाय; तो उसका सम्मान ब्राह्मणसे भी बढ़ जाता है—यह तो ठीक है। यदि वह ब्राह्मण बना दिया जायगा तो वह भी ब्राह्मणोंमें साधारण हो जायगा उसकी फिर कोई भी विशेषता नहीं रह सकती। विशेषता उसकी उसी क्षत्रिय-वैश्यादि अपने वर्णमें रहनेसे ही होगी।

'कल्याण' परिवारके श्रीजयदयालजी गोयनका श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार आदि अपने वैश्य वर्णकी स्थितिमें भी प्रतिष्ठा पा रहे हैं।

फलतः वर्णव्यवस्था जन्मसे ही है, गुणकर्मसे तो इस लोकमें लोकसम्मान और अग्रिम जन्ममें वर्णपरिवर्तन हुआ करता है। यदि वह-वह वर्ण अपने नियत गुणकर्मोंसे युक्त हो; तब तो सुवर्णमें सुगन्ध का योग होता है। परधर्म तो भयावह ही माना गया है—'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' (भगवद्गीता ३।३५) हम इस विषयमें कि वर्णव्यवस्था जन्मसे ही हुआ करती है कि—'आलोक' पाठकोंकी सेवामें वेदादि-शास्त्रोंका मत उपस्थित करते हैं।

(१) इस विषयमें सबसे पूर्व *'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्'* यह वेदमन्त्र जन्मसे वर्णव्यवस्था सिद्ध करनेमें उद्धरणयोग्य है; पर उसमें बहुवक्तव्य होनेसे उसे अग्रिम निबन्धके लिए रखकर 'सूचीकटाह' न्यायसे पहले अन्य मन्त्रोंका उद्धरण दिया जाता है।

(२) 'ओम्—आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्. आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वान् आशुः सप्तिः'—(यजुर्वेद वा० सं० २२।२२) यहाँ ब्राह्मणके लिए ब्रह्म-वर्चसकी और क्षत्रियके लिए शूरत्व आदिकी प्रार्थना आई है। यदि वेदको वर्णव्यवस्था गुणकर्मसे इष्ट होती; तो ब्राह्मणके लिए ब्रह्मवर्चसकी प्रार्थना उसमें न होती; क्योंकि तब वेदके मतमें ब्रह्मवर्चसयुक्तका ही नाम ब्राह्मण होता; ब्राह्मणके लिए ब्रह्मवर्चसकी प्रार्थना वा आशीः व्यर्थ होती। यह प्रार्थना ही यहां ब्राह्मणको जन्मजात सिद्ध कर रही है। 'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० ६।४।१७१) इस वेदाङ्गके सूत्रसे अपत्य एवं जातिमें 'ब्राह्मण' शब्द होता है। अब अर्थ हुआ कि हे ब्रह्मन्! ब्राह्मण

ब्रह्मवर्चसी होवे, अथवा ब्रह्मन्-ब्राह्मणमें (सप्तम्या लुक्) ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मण उत्पन्न होवे। इस प्रकार शूरतादि गुण वाले जिस किसीके भी (गुणकर्मसे वर्णव्यवस्था मानने वालोंके अनुसार) क्षत्रिय होने पर वेदमें 'राजन्यः शूरो जायताम्' यह प्रार्थना व्यर्थ होती; क्योंकि—शूरत्वादि गुण होनेसे तो उसकी पदवी वादीके मतमें क्षत्रिय हुई, फिर उसीके लिए 'शूर हो' यह प्रार्थना कैसी ? इससे सिद्ध है कि-वेद ब्राह्मण, क्षत्रियादिको जन्मसे मानता है, उसके लिए ब्रह्मवर्चस एवं शूरतादिकी प्रार्थना कराता है। 'महाभाष्य' में 'राजन्य' शब्दके विषयमें कहा है—'राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणं कर्तव्यम्, राजन्यो नाम जातिः' (४।१।१३७) यहां पर श्रीकैयटने कहा है—"'राज' शब्दः क्षत्रियशब्द-पर्यायः, तेन क्षत्रियजातौ प्रतिपिपादयिषितायां 'राजन्य'-शब्द-प्रयोगः"। इस प्रकार 'मीमांसादर्शन' (२।३।३ सूत्रके शाबरभाष्य) में भी कहा है—'क्षत्रियस्य राजसूयविधानाद्, राजा राजसूयेन यजेतेति। ननूक्तम्—'यौगिको राजशब्द इति ? एतदप्ययुक्तम्—यतो जातिवचन इति। ...क्षत्रिये तु प्रयुक्तं (राजशब्दं) प्रयुञ्जानान् उपलभामहे,... तस्माज्जातिवचनो राजशब्दः'। उक्त मन्त्रमें राजन्यशब्द होनेसे जन्मसे वर्ण इष्ट है, नहीं तो शूरके शूर होनेकी प्रार्थना व्यर्थ होती।

उक्त संहितामन्त्र पर ब्राह्मण भी है—'ब्राह्मण एव ब्रह्मवर्चसं दधाति, तस्मात् पुरा ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जज्ञे' (शतपथ १३।१।९।१) 'तद्धि एव ब्राह्मणेन एष्टव्यं यद् ब्रह्मवर्चसी स्यादिति' (शत० ११।४।३।१६) 'राजन्य एव शौर्यं महिमानं दधाति, तस्मात् पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे' (शत० १३।१।९।२) 'तस्मात् पुरा धेनुर्दोग्ध्री जज्ञे (३) पुराऽनड्वान् वोढा जज्ञे (४) 'तस्मात् पुराऽश्वः सप्तिर्जज्ञे' (१३।१।९।५) इत्यादि। यहां पर ब्राह्मणका ब्रह्मवर्चसवाला होना, क्षत्रियका शूर आदि होना कहा है, ब्रह्मवर्चस वालेका ब्राह्मण होना और शूरका क्षत्रिय होना नहीं कहा, यह सूक्ष्म विचार कर लेना चाहिये।

उक्त मन्त्रमें 'ब्राह्मण' का 'ब्रह्मवर्चसी' और क्षत्रियके 'शूर' आदि विधेय विशेषण हैं... इसलिए उन्हें विशेष्यसे पीछे डाला गया है; नहीं तो यहां 'अविमृष्टविधेयांश' दोष हो जाता। इससे स्पष्ट है कि वेदमें वर्णव्यवस्था जन्मसे है। यदि यहां पर 'हे परमात्मन्! हमारे देशमें ब्रह्मवर्चस वाले ब्राह्मण उत्पन्न हों और शूर क्षत्रिय पैदा हों' यह प्रार्थना भी मानी जावे, तथापि यदि जन्मना वर्णव्यवस्था न मानी जावे, तो उनके यह विशेषण व्यर्थ हो जावें। यदि यहां पर 'ब्रह्मवर्चस वाला ब्राह्मण होता है; शूर ही क्षत्रिय होता है' यह विपरीत अर्थ किया जावे, वह तो ठीक नहीं। पहले तो यह अर्थ यहां हो ही नहीं सकता; क्योंकि वैसे शब्द नहीं हैं। यदि क्लिष्ट कल्पनासे यहां वह अर्थ किसी प्रकार माना भी जाय, तो 'दोग्ध्री धेनुः, वोढाऽनड्वान्, आशुः सप्तिः जायताम्' यहां पर भी वही दोष प्राप्त होगा। तब तो जो दोग्ध्री-दूध देने वाली हो वह 'धेनु' हो जावेगी, तब तो बकरी, भेड़, भैंस आदि भी 'धेनु' (गाय) हो जाएंगी। वोढा (भार उठाने वाले) कुली-मजदूर भी 'अनड्वान्' (बैल) हो जावेंगे। शीघ्र चलने वाले पुरुष भी सप्ति (घोड़े) हो जाएंगे. परन्तु यह ठीक नहीं। इस कारण उक्त मन्त्रमें जन्मसे वर्णव्यवस्था वेदको इष्ट है।

(३) अन्य वेदमन्त्र यह है—'विद्वांसं ब्राह्मणं (अथर्ववेद शौ० सं० १३।३।१) यहां पर ब्राह्मणका विशेषण 'विद्वान्' दिया गया है। तब इससे अविद्वान् भी ब्राह्मण सिद्ध हो गया। नहीं तो यदि विद्यासे ही केवल ब्राह्मण माना जावे, तो उसका 'विद्वान्' विशेषण पुनरुक्त है, व्यर्थ है। 'गुणवतो ब्राह्मणान् भोजयेत्' (मानवगृह्यसूत्र १।१६।१) यहां पर ब्राह्मणका 'गुणवान्' विशेषण देनेसे निर्गुण भी ब्राह्मण सिद्ध होगया; नहीं तो गुणकर्मसे ब्राह्मण होने पर उसका गुणवान् विशेषण व्यर्थ है। क्योंकि विशेषणकी सार्थकता व्यभिचारमें ही हुआ करती

है अव्यभिचारमें नहीं, 'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्' ॥ यदि 'ब्राह्मण' शब्द विद्वान् वा गुणवान्‌का ही नाम अथवा पर्याय-वाचक होता, तो उक्त विशेषण कभी भी न दिये जाते। उक्त न्यायकी स्पष्टता अन्यत्र की जावेगी।

(४) इस विषयमें अन्य वेदमन्त्र भी द्रष्टव्य है—'यद् *अन्ये* शतं याचेयुर्*ब्राह्मणा* गोपतिं वशाम्। अथैनं देवा अब्रुवन् एवं ह *विदुषो* वशा' (अथर्व० शौ० सं० १२।४।२२) इसमें यह बताया गया है कि—दूसरे सौ ब्राह्मण भी गायके स्वामीसे गाय मांगें, परन्तु देवताओंका यह मत है कि वह गाय उन *दूसरे ब्राह्मणोंकी* नहीं, किन्तु *विद्वान् ब्राह्मणकी है।* 'अन्ये' 'विदुष:' इन विशेषणोंसे ब्राह्मण विद्वान् तथा अविद्वान् भी सिद्ध होते हैं। तब अविद्वान्‌के भी ब्राह्मण सिद्ध हो जानेसे वेदके मतमें वर्णव्यवस्था जन्मसे सिद्ध हुई। गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था होने पर 'अविद्वान्' ब्राह्मण कभी भी न होता।

(५) इसी प्रकार 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च *सम्यञ्चौ* चरत: सह। तं पुण्यं लोकं प्रज्ञेषम्' (यजु: वा० सं० २०।२५) यहां पर वेदने ब्राह्मण एवं क्षत्रियके अपने-अपने कर्मानुष्ठानमें निरत होने पर देशको पुण्य (अच्छा) माना है। वहां यह अर्थ निकल रहा है कि—जहां पर ब्राह्मण-क्षत्रिय समीचीन (अच्छे) नहीं; वह देश अच्छा नहीं। यहां पर असमीचीनके भी ब्राह्मण-क्षत्रिय बतानेसे वेदके मतमें जन्मना वर्ण-व्यवस्था सिद्ध हुई। कर्मणा होने पर ब्राह्मण असमीचीन कभी न होता।

(६) 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्*ब्राह्मणा ये मनीषिण:*' (ऋ० शा० सं० १।१६४।४५) यहां पर 'मनीषी' ब्राह्मणोंको ही वाणी-चतुष्टयका ज्ञान बताकर अमनीषी (अविद्वान्) ब्राह्मण भी सिद्ध कर

दिये गये, तब वेदको वर्णव्यवस्था जन्मसे इष्ट हुई। इस प्रकार 'एकं सद्विप्राः' (अथर्ववेद ६ काण्डके अन्तमें) यहां 'सद्विप्राः' शब्दसे 'असद्विप्र' भी सिद्ध होगये। इस प्रकार 'वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्' (मनु० ३।९६) इस विशेषणसे वेदतत्त्वार्थका अविद्वान् ब्राह्मण भी सूचित किया गया है। इसीलिए 'भस्मी-भूतेषु विप्रेषु' (३।९७) यहां पर 'भस्मीभूत विप्र' भी माना गया है। इसी प्रकार 'विद्यातपः-समृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु' (मनु० ३।९८) यहां पर उक्त विशेषणसे विद्या-तपःसमृद्धिरहित ब्राह्मण भी सूचित किया गया है; नहीं तो 'सम्भव-व्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्' इस न्यायसे वैसे विशेषणकी आवश्यकता नहीं थी। इसी कारण 'ब्राह्मणे चाऽननूचाने' (मनु० २।२४२) यहां पर अननूचान (वेदाऽपाठी) ब्राह्मण भी स्पष्ट स्वीकृत किया गया है। इससे यह मथितार्थ निकला कि—वेदादि-शास्त्रोंको ब्राह्मणादि वर्ण जन्मसे इष्ट है। विशेष कर्मोंमें वह जन्म-ब्राह्मण भी विद्वान् इष्ट है। इससे जन्मसे अब्राह्मण परन्तु विद्वान्का ग्रहण वेदादिको इष्ट नहीं।

(७) राजा भोजकी यह घोषणा प्रसिद्ध है कि—'विप्रोपि यो भवेन्मूर्खः स पुराद् बहिरस्तु मे। कुम्भकारोपि यो विद्वान् स तिष्ठतु पुरे मम' कई गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था मानने वाले अब्राह्मण इस वचनसे बहुत प्रसन्न होते हैं कि—राजा भोजने मूर्ख ब्राह्मणको देश निकाला देने तथा विद्वान् कुम्हारको देशमें रखनेकी घोषणा की थी और बड़े गर्वसे वे इस पद्यको उद्धृत करते हैं, पर इसीसे जन्मसे वर्ण-व्यवस्था सिद्ध होती है-यह वे नहीं विचारते। यहां पर अविद्वान्को भी ब्राह्मण माना गया है, विद्वान्को भी कुम्हार (शूद्र) माना गया है। तभी तो 'कवयामि वयामि-यामि' कहने वाला विद्वान् जुलाहा भी राजा भोजके राज्यमें शूद्र ही रहा। हम यह कभी नहीं कहते कि—ब्राह्मण निरक्षर ही रहें। हम तो कहते हैं कि—निरक्षर ब्राह्मण भी ब्राह्मण है और साक्षर ब्राह्मण भी

ब्राह्मण। वर्ण-विचारसे दोनों ब्राह्मण हैं, उनमें एक ब्राह्मण, और दूसरा शूद्र नहीं। परन्तु साक्षर ब्राह्मण उत्तम ब्राह्मण है और निरक्षर ब्राह्मण साधारण वा निम्न ब्राह्मण है। इससे स्पष्ट है कि—वेदादिमें जहाँ ब्राह्मण कहा है, वहाँ जन्म-ब्राह्मण ही इष्ट है; हाँ, उस जन्म-ब्राह्मणको उत्तम ब्राह्मण बनना चाहिये—नहीं तो लोकदृष्टिमें उसका सम्मान न्यून होगा। यहां पर जन्मसे अब्राह्मण परन्तु विद्वान् वेदादिको ब्राह्मण इष्ट नहीं; यह स्पष्ट है।

(८) 'महाभाष्य' में 'तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मण्यकारकम्। तपःश्रुताभ्यां यो हीनो *जातिब्राह्मण एव सः'* (२।२।६) यह पद्य उद्धृत किया गया है। यहाँ पर ब्राह्मणत्वमें तपस्या, अध्ययन तथा योनि (ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें जन्म) यह तीन कारण बताये गये हैं। तपस्या तथा अध्ययनसे हीन होने पर ब्राह्मणको शूद्र नहीं कहा गया, किन्तु 'जाति-ब्राह्मण' कहा गया है। अब यहाँ विचारणीय यह है कि—ब्राह्मणत्वके तीन कारणोंमें मुख्य कारण कौनसा है? इस पर उत्तर यह है कि—तपस्या और अध्ययन तो अब्राह्मणमें भी सम्भव हैं; अतः ये दो कारण मुख्य या अनिवार्य कारण सिद्ध न हुए; परन्तु 'योनि' (ब्राह्मण माता-पितासे जन्म) अब्राह्मणमें असम्भव है, तब ब्राह्मणत्वका मुख्य कारण 'योनि' (ब्राह्मण माता-पितासे जन्म) ही सिद्ध हुआ। तब तपस्या और श्रुत (अध्ययन) ब्राह्मणत्वके अलङ्कारक—अथवा यों कहना चाहिये कि- उत्कर्षमात्राधायक हुए, स्वरूपाधायक नहीं। जैसे कि-मनुजीने भी कहा है कि- 'विद्यातपोभ्यां भूतात्मा शुध्यति' (५।१०६) यहाँ पर विद्या और तपस्याको आत्माका संस्कारक—अलङ्कारक कहा है। स्वरूपाधायक कारण योनि (ब्राह्मणीमें ब्राह्मणसे जन्म) ही सिद्ध हुआ। लक्षणमें स्वरूप ही दिखलाना पड़ता है, उत्कर्षापकर्ष नहीं। रत्नके लक्षणमें 'कीटानुवेधादि-रहितत्व' नहीं कहना पड़ता, यह तो

उत्कर्षापकर्षमें सहायक हो सकता है, स्वरूप-निर्माणमें नहीं। इसीलिए ही महाभाष्यमें 'त्रीणि यस्यावदातानि योनिर्विद्या च कर्म च। एतत् शिवे! विजानीहि ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम्' (४।१।४८) इस पद्यमें योनिसे ब्राह्मणत्व और विद्या एवं कर्मसे ब्राह्मणकी अग्र्यता (श्रेष्ठता) बताई है। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था जन्मसे सिद्ध हुई और लोकसम्मान गुणकर्मसे सिद्ध हुआ। तब वेदादिमें कहा हुआ 'ब्राह्मण' शब्द जन्म-जाति परक ही सिद्ध हुआ। तभी वेद (यजु० २२।२२) ब्राह्मणके लिये ब्रह्मवर्चसकी प्रार्थना कराता है। प्रार्थना अप्राप्त वस्तुके लिए ही होती है, प्राप्त वस्तुके लिए नहीं। वेद किसी अन्य वर्णवाले को गुणकर्मसे ब्राह्मण नहीं कहता। यदि वेदको गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था इष्ट होती तो वह ब्राह्मणके लिए ब्रह्मवर्चसकी प्रार्थना कदापि न कराता, क्योंकि—तब जो भी कोई पुरुष ब्रह्मवर्चससे ब्राह्मण हो जाता, फिर ब्राह्मणके लिए ब्रह्मवर्चसकी प्रार्थना व्यर्थ थी। अतः यहां वेदको जन्मना वर्ण-व्यवस्था इष्ट है यह हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं।

इसी कारण वेदमें 'ब्रह्म (ब्राह्मणाः) असृज्यत (सृष्टः)' (यजुः वा० सं० १४।२८) 'क्षत्रमसृज्यत' (१४।२९) 'शूद्रार्यौ असृज्येताम्' (१४।३०) यहां पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकी सृष्टिमूलक उत्पत्ति कही गई है। चार वर्णोंके इस प्रकार उत्पत्तिमूलक सिद्ध होनेसे वर्ण-व्यवस्था जन्मसे सिद्ध हुई।

(१) 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिन-मायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन्' (मनु० ८।३५०) इस प्रसिद्ध स्मार्त पद्यको—जिसे कोई भी प्रक्षिप्त नहीं मानता—यहां पर ब्राह्मणका विशेषण 'बहुश्रुत' है। इससे 'अल्पश्रुत' ब्राह्मण भी होता है—यह सूचित होता है। इसके अतिरिक्त इस पद्यमें आततायी (क्रूरकर्मा) को भी ब्राह्मण स्वीकृत किया गया है। यदि वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मसे होती

लोग शूद्रादिको वेदका अधिकार देते हैं; [यद्यपि यह अर्थ ठीक नहीं, इसकी मीमांसा हम 'श्रीसनातनधर्मालोक'* तृतीय पुष्पमें सम्यक्तया कर चुके हैं, पाठकगण उसे उसीमें देखें] उनके अनुसार परमात्माको वर्ण-व्यवस्था जन्मसे अभिमत है, गुणकर्मसे नहीं। इसमें विस्तार तो पाठकगण तृतीय पुष्पमें देखें। दिङ्मात्र यहां भी लिख देते हैं।—

उक्त अर्थकर्ता पूर्णज्ञानीको ब्राह्मण मानते हैं, सर्वथा मूर्खको शूद्र मानते हैं। यहां प्रष्टव्य यह है कि परमात्माने जिस ब्राह्मण वा शूद्रको वेद पढ़ाया था—वह ब्राह्मण वा शूद्र जन्मसे था वा गुणकर्मसे? यदि गुणकर्मसे, तो पूर्ण ज्ञानी ब्राह्मणको परमात्माने वेद कैसे पढ़ाया? उसे वेद पढ़ाने से सिद्ध हुआ कि वह ब्राह्मण पूर्ण ज्ञानी नहीं था; किन्तु अज्ञानी वा साधारण ज्ञानी था। यदि वह अज्ञानी या अपूर्ण ज्ञानी था; तब वह गुणकर्मानुसार ब्राह्मण कैसे हुआ? वह जन्मसे ही ब्राह्मण सिद्ध हुआ।

यदि यहां शूद्र गुणकर्मसे था, अर्थात् जो पढ़नेसे भी कुछ ज्ञानको प्राप्त न कर सके वह शूद्र है—तो परमात्माने शूद्रको वेद पढ़ाया ही कैसे? वैसेको तो पढ़ाना ही व्यर्थ है। पढ़ाया हुआ भी तो वह शूद्र ही रहा। चारों वर्णोंको तुल्यतासे वेद पढ़ाया गया तथापि सभी ब्राह्मण न बने, वैसेके वैसे जन्मसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज ही रहे। तब या तो वादीके ईश्वरके पढ़ानेकी शैली ही अच्छी

* इस तृतीय पुष्पको पाठक हमसे मंगा सकते हैं। मूल्य ३)।

नहीं थी; जो कि उसके पढ़ानेसे सभी ब्राह्मण न बन सकें; अथवा ईश्वरने जान-बूझकर सभीको समतासे नहीं पढ़ाया। किं वा—उसे वर्ण-व्यवस्था जन्मसे ही इष्ट थी; तभी अपूर्ण विद्या वाले जन्म-ब्राह्मणको भी वह पढ़ाता था और शूद्रको वैसा नहीं पढ़ाता था जिससे वह शूद्रका शूद्र ही रहा। यदि वह उसे पढ़ाता; तो वह गुणकर्मानुसार शूद्र न रहता। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था परमात्माको जन्मसे अभिमत सिद्ध हुई। यदि वर्ण गुणकर्मानुसार होता, तो पढ़ानेसे पूर्व वे किस वर्णके थे—यह वह न जान सकता। परन्तु उक्त वेदमन्त्रमें वेदाध्ययनसे पूर्व ही उन्हें ब्राह्मण, शूद्रादि कहा है, तब वर्ण-व्यवस्था इस वेदमन्त्रसे भी जन्मसे ही सिद्ध हुई। अब हम 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' मन्त्रसे भी जन्मना वर्ण-व्यवस्था सिद्ध होती है,—यह बताते हैं।

---

(७) 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' (क)

[जन्मना वर्णव्यवस्था]

(१) 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू (मध्यं) तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत'

(यजुः वा० सं० ३१।११, अथर्व० शौ० सं० १९।६।६, ऋ० शा० सं० १०।९०।१२) यह प्रसिद्ध मन्त्र है। इसी मन्त्रको जन्मना वर्ण-व्यवस्था मानने वाले सनातनधर्मी भी अपनी पक्षपुष्टिकेलिए देते हैं, और गुणकर्मणा वर्णव्यवस्था मानने वाले आर्यसमाजी एवं सुधारक भी। तब इस मन्त्रके अर्थमें विवाद स्वाभाविक ही है। उनमें सनातनधर्मी इस मन्त्रका अर्थ इस प्रकार करते हैं कि—सृष्टिकी आदिमें परमात्माने अपने मुख आदि अङ्गोंसे ब्राह्मण आदिको उत्पादित किया, तब ब्राह्मणत्व आदिकी व्यवस्था जन्मसे सिद्ध हुई। परन्तु दूसरे पक्ष वाले यह नहीं मानते। वे कहते हैं कि—"मन्त्रमें स्थित मुख आदि शब्द प्रथमान्त हैं, तब उनसे पञ्चमी विभक्तिका अर्थ कैसे हो सकता है? और वैसा अर्थ जहां असम्भव है, वहाँ प्रकरण-विरुद्ध भी है। उक्त मन्त्रसे पूर्व मन्त्रमें प्रश्न है कि उस विराट् पुरुषके मुख, बाहु, ऊरू, पाद कौन से हैं—'मुखं किमस्यासीत्, किं बाहू, किमूरू पादौ-उच्येते' (यजुः ३१।१०)। उसके उत्तरमें 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' यह मन्त्र है। यहां यद्यपि ब्राह्मण आदिका मुख होना भी असम्भव है; तथापि वे मुखादिरूप हैं—यह आशय है। तब उक्त मन्त्रमें मुखादिका पञ्चमीका अर्थ करना निर्मूल है।"

(२) यद्यपि इस मन्त्रके अर्थमें इस प्रकार विरुद्ध मत मिलते हैं, तथापि एक ऐसा मार्ग भी है जिससे उक्त मन्त्र समन्वयको प्राप्त हो जावे। वह यह है कि उक्त मन्त्रमें 'मुखं, बाहू, ऊरू' यह पद प्रथमान्त हैं, 'पद्भ्याम्' यह उपसंहारका पद पञ्चम्यन्त है। तब विभक्तिव्यत्यय दोनों स्थान करना पड़ेगा। यदि सनातनधर्मी उपसंहारके 'पद्भ्यां' पदकी पञ्चम्यन्तताके अनुरोधसे मुख, बाहु, ऊरु पदको पञ्चम्यन्त करते हैं, तो वादी भी 'पद्भ्याम्' इस पञ्चम्यन्त पदको प्रथमान्ततामें विपरिणमित करते हैं। तब यदि विभक्तिव्यत्यय एक स्थानमें दूषण है, तो दूसरे स्थलमें भी दूषण है। यदि समन्वयकी दृष्टिसे दोनों विभक्तियोंकी योजना स्वीकृत कर ली जावे, जैसा कि उक्त मन्त्र स्वयं ही संकेतित कर रहा है तब सम्पूर्ण विवाद शान्त हो जावे।

वेद यहां स्वयं सूचित कर रहा है कि—पहले उपसंहारके पञ्चमी विभक्तिवाले पदके अनुरोधसे चारों पदोंको पञ्चम्यन्त बनाना चाहिये और उससे उत्पत्तिपरक अर्थ करना चाहिये। फिर पहले तीन पदोंके अनुरोधसे उपसंहारके पदको भी प्रथमान्त बनाकर अर्थ करना चाहिये, दोनों ही अर्थ वेदाभीष्ट हैं। परन्तु जो आग्रही लोग पञ्चम्यन्त अर्थमें सर्वथा निर्मूलताकी आशङ्का करते हैं, उनके सामने भी हम अपने इस पक्षको सिद्ध करते हैं, उनके अभीष्ट प्रथमा-विभक्तिके योजनापक्षसे भी अपने पक्षको सिद्ध करते हैं। पहले पञ्चम्यन्त अर्थमें प्रमाण एवम् उपपत्तियाँ देखनी चाहियें—जिससे वादियोंके सब आक्षेप परिहृत होंगे।

(३) 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत' (यजुः ३१।११) इस मन्त्रमें 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' यह उपसंहारवाक्य पञ्चम्यन्त है; उसके आगेके वाक्य 'चन्द्रमा मनसो जातः, चक्षोः सूर्यो अजायत। श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च, मुखाद् अग्निरजायत' (यजुः ३१।१२) 'नाभ्या आसीद् अन्तरिक्षं,

शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकान् अकल्पयन्'* (३१।१३) यह मन्त्र भी पञ्चम्यन्त है, इससे स्पष्ट है कि—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' में भी पञ्चमीका ही अर्थ है; और प्रकरणवश भी परमात्माके उन-उन अङ्गोंसे ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति बताई गई है। मीमांसाका सन्दिग्धार्थ-निरूपणाधिकरण न्याय भी यही बताता है कि—उपसंहारके वाक्यके अनुरोधसे पूर्व वाक्योंकी भी योजना वा व्यवस्था करनी चाहिये। इस प्रकार जब यहां परमात्मासे उत्पादित सृष्टिका ही इस सूक्तके मन्त्रोंमें प्रकरण है; तब वादिगणसम्मत वर्ण व्यवस्थाका गन्ध यहां कैसे हो सकता है? इसके अतिरिक्त यहां परमात्माके अङ्गोंका भी स्पष्ट वर्णन है, तब उसके साकार सिद्ध होनेसे भी वादियोंके पक्षकी हानि ही है।

उक्त मन्त्रमें ब्राह्मण आदि वर्णोंकी उत्पत्ति-मूलकता दिखलाई गई है, गुणकर्म-मूलकता नहीं—इस बातको हम पूर्वोत्तर-प्रसङ्गकी सङ्गतिसे तथा 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्

---

* कई महाशय इस स्थलमें 'अकल्पयन्' पद देखकर वर्णोंकी कल्पना अर्थ मानते हैं, उत्पत्ति नहीं; पर यह ठीक नहीं। यहां 'कृपू सामर्थ्ये' (भ्वा० आ० से०) धातु है, उसका एतदादि स्थानमें 'कृतवन्तः उत्पादितवन्तः' यही अर्थ प्रकरणानुगृहीत है, जैसे—'पतिवरा क्लृप्त (कृत) विवाहवेषा' (रघुवंश ६।१०) इत्यादिमें। सुधारकोंके दादागुरु स्वा० द० जीने भी उत्पत्तिका ही अर्थ किया है। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० १०।१९०।३) यहां भी 'अकल्पयत्' का अर्थ 'उत्पन्न किया' यही वेदको इष्ट है। 'लोकान् अकल्पयन्' (यजु. ३१।१३) यहां 'अकल्पयन्' यह क्रिया है। इससे पूर्व 'समवर्तत, आसीत्, अजायत' इत्यादि क्रियाएँ हैं। इससे उत्पत्तिका अर्थ यहां वेदको इष्ट है; तब वादीका कथन ठीक नहीं।

वेदो मामयं प्रहरिष्यति' (महाभा० आदिपर्व १।२६७) इस वचनसे स्मृति, पुराण, इतिहास आदिकी साक्षीसे दिखलाते हैं—

(४) 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' यह मन्त्र वेदके पुरुषसूक्तका है—यह तो प्रसिद्ध ही है। उसी सूक्तके 'सहस्रशीर्षा' (३१।१) इस प्रथम-मन्त्रमें पुरुष (परमात्मा) को प्रस्तुत करके पहले उसका सारी सृष्टिमें व्यापक होना कहा है, फिर 'अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (३१।१) यहां उसे सृष्टिकी अपेक्षा महत्तर (बड़ा) दिखलाकर 'ततो विराडजायत' (३१।५) इस मन्त्रमें उस पुरुष (परमात्मा) से विराट् (ब्रह्माण्ड) की उत्पत्ति दिखलाई गई है। इस प्रकार उक्त सूक्तमें सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन ही प्रकृत (चालू) है। आगे भी भूमि और शरीरकी (५) वन्य तथा ग्राम्य पशुओंकी उत्पत्ति (६), ऋग्वेद आदि वेदोंकी उत्पत्ति (७), और अश्वादिकी सृष्टि (८) बताई गई है। फिर उसी पुरुष (परमात्मा) के मनसे चन्द्रमा, आंखसे सूर्य, मुखसे अग्नि (१२) आदि देवताओंकी उत्पत्ति बताई गई है। इसमें पुरुष-सूक्तस्थ जातः (१२) अजायत (५) जज्ञिरे (७) इत्यादि क्रियाओंकी साक्षी प्रत्यक्ष है; और फिर यह देवता एवं वेदादिकी सृष्टि मानवके द्वारा भी नहीं मानी जा सकती, अन्यथा वेद भी पौरुषेय हो जाएं और सूर्य आदि देवताओंकी सृष्टि भी मानवीय हो जाय—पर यह अनिष्ट एवम् असम्भव है, अतः यहां 'पुरुष' से 'मानव' इष्ट नहीं, किन्तु वह परम पुरुष (परमात्मा) ही इष्ट है, तब देवता एवं वेदादिकी भान्ति पुरुष-सूक्तके 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' मन्त्रमें वर्णित ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति भी उसी परमपुरुषसे इष्ट है, मानवके द्वारा नहीं। जैसे कि स्वा० दयानन्दजी द्वारा भी इस बातको उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में स्वीकार किया गया है—

'(प्रश्न) जातिभेद ईश्वरकृत है या मनुष्यकृत ? (उत्तर) ईश्वर और मनुष्यकृत भी जातिभेद हैं। (प्र०) कौनसा ईश्वरकृत और कौन-

शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकान् अकल्पयन्'* (३१।१३) यह मन्त्र भी पञ्चम्यन्त है, इससे स्पष्ट है कि—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' में भी पञ्चमीका ही अर्थ है; और प्रकरणवश भी परमात्माके उन उन अङ्गोंसे ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति बताई गई है। मीमांसाका सन्दिग्धार्थ-निरूपणाधिकरण न्याय भी यही बताता है कि—उपसंहारके वाक्यके अनुरोधसे पूर्व वाक्योंकी भी योजना वा व्यवस्था करनी चाहिये। इस प्रकार जब यहां परमात्मासे उत्पादित सृष्टिका ही इस सूक्तके मन्त्रोंमें प्रकरण है, तब वादिगणसम्मत वर्ण-व्यवस्थाका गन्ध यहां कैसे हो सकता है? इसके अतिरिक्त यहां परमात्माके अङ्गोंका भी स्पष्ट वर्णन है, तब उसके साकार सिद्ध होनेसे भी वादियोंके पक्षकी हानि ही है।

उक्त मन्त्रमें ब्राह्मण आदि वर्णोंकी उत्पत्ति-मूलकता दिखलाई गई है, गुणकर्म-मूलकता नहीं—इस बातको हम पूर्वोत्तर प्रसङ्गकी सङ्गतिसे तथा 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्

* कई महाशय इस स्थलमें 'अकल्पयन्' पद देखकर वर्णोंकी कल्पना अर्थ मानते हैं, उत्पत्ति नहीं, पर यह ठीक नहीं। यहां 'कृपू सामर्थ्ये' (भ्वा० आ० वे०) धातु है, उसका एतदादि स्थानमें 'कृतवन्तः उत्पादितवन्त' यही अर्थ प्रकरणानुगृहीत है, जैसे—'पतिंवरा क्लृप्त (कृत) विवाहवेशा' (रघुवंश ६।१०) इत्यादिमें। सुधारकोंके दादागुरु स्वा० द० जीने भी उत्पत्तिका ही अर्थ किया है। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० १०।१९०।३) यहां भी 'अकल्पयत्' का अर्थ 'उत्पन्न किया' यही वेदको इष्ट है। 'लोकान् अकल्पयन्' (यजु० ३१।१३) यहां 'अकल्पयन्' यह क्रिया है। इससे पूर्व 'समवर्तत, आसीत्, अजायत' इत्यादि क्रियाएँ हैं। इससे उत्पत्तिका अर्थ यहां वेदको इष्ट है, तब वादीका कथन ठीक नहीं।

वेदो मामयं प्रहरिष्यति' (महाभा० आदिपर्व १।२६७) इस वचनसे स्मृति, पुराण, इतिहास आदिकी साक्षीसे दिखलाते हैं—

(४) 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' यह मन्त्र वेदके पुरुषसूक्तका है—यह तो प्रसिद्ध ही है। उसी सूक्तके 'सहस्रशीर्षा' (३१।१) इस प्रथम-मन्त्रमें पुरुष (परमात्मा) को प्रस्तुत करके पहले उसका सारी सृष्टिमें व्यापक होना कहा है, फिर 'अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (३१।१) यहां उसे सृष्टिकी अपेक्षा महत्तर (बड़ा) दिखलाकर 'ततो विराडजायत' (३१।५) इस मन्त्रमें उस पुरुष (परमात्मा) से विराट् (ब्रह्माण्ड) की उत्पत्ति दिखलाई गई हैं। इस प्रकार उक्त सूक्तमें सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन ही प्रकृत (चालू) है। आगे भी भूमि और शरीरकी (५) वन्य तथा ग्राम्य पशुओंकी उत्पत्ति (६), ऋग्वेद आदि वेदोंकी उत्पत्ति (७), और अश्वादिकी सृष्टि (८) बताई गई है। फिर उसी पुरुष (परमात्मा) के मनसे चन्द्रमा, आंखसे सूर्य, मुखसे अग्नि (१२) आदि देवताओंकी उत्पत्ति बताई गई है। इसमें पुरुष-सूक्तस्थ जातः (१२) अजायत (५) जज्ञिरे (७) इत्यादि क्रियाओंकी साक्षी प्रत्यक्ष है; और फिर यह देवता एवं वेदादिकी सृष्टि मानवके द्वारा भी नहीं मानी जा सकती, अन्यथा वेद भी पौरुषेय हो जाएं और सूर्य आदि देवताओंकी सृष्टि भी मानवीय हो जाय—पर यह अनिष्ट एवम् असम्भव है, अतः यहां 'पुरुष' से 'मानव' इष्ट नहीं, किन्तु वह परम पुरुष (परमात्मा) ही इष्ट है, तब देवता एवं वेदादिकी भान्ति पुरुष-सूक्तके 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' मन्त्रमें वर्णित ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति भी उसी परमपुरुषसे इष्ट है, मानवके द्वारा नहीं। जैसे कि स्वा० दयानन्दजी द्वारा भी इस बातको उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में स्वीकार किया गया है—

'(प्रश्न) जातिभेद ईश्वरकृत है या मनुष्यकृत? (उत्तर) ईश्वर और मनुष्यकृत भी जातिभेद हैं। (प्र०) कौनसा ईश्वरकृत और कौन-

या मनुष्यकृत ? (उ०) मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, जलजन्तु आदि जातियां परमेश्वरकृत हैं। जैसे पशुओंमें गौ, अश्व, हस्ती आदि जातियां वृक्षोंमें पीपल, वट, आम्र आदि, पक्षियोंमें हंस, काक, बकादि, जल जन्तुओंमें मत्स्य मकरादि जातिभेद हैं, *वैसे मनुष्योंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद ईश्वरकृत हैं*; परन्तु मनुष्यमें ब्राह्मणादिको सामान्य जातिमें नहीं, किन्तु सामान्यविशेषात्मक जातिमें गिनते हैं' (११ समुल्लास २४१-२४२ पृ०)। फलतः देवता एवं वेदादिकी भांति 'ब्राह्मणोस्य मुख' में ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति भी परमात्माके मुखादिसे ही बताई गई है।

(२) (प्रश्न) पुरुषसूक्तके पूर्व प्रदर्शित मन्त्रोंकी भांति 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' में 'मुख' आदिमें पञ्चमी तो नहीं है, फिर 'परमात्माके मुख आदिसे ब्राह्मणादिकी उत्पत्तिका अर्थ यहाँ माना ही कैसे जा सकता है ?' (उत्तर) 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' (३१।११) पुरुषसूक्तके इस प्रकृत मन्त्रमें तो जन्य-जनक (कार्य-कारण) का 'आयुर्घृतम्' की भांति अभेदसे उपचार दिखलाया गया है। 'घृत (कारण) से आयु (कार्य) की उत्पत्ति होती है' ऐसा कहना अपेक्षित होने पर भी 'आयुर्घृतम्' (घी आयु है) ऐसा शुद्धा लक्षणासे कार्य कारणका अभेद मानकर कहा जाता है। इस प्रकार 'आत्मा वै पुत्र-नामासि' (शतपथ ब्रा० १४।६।४।२६) यहां पिता पुत्रके अभेदसे ऐसा वचन कहा गया है, वैसे ही 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' में भी कार्य-कारणको अभेदसे कहना उससे उसकी उत्पत्ति बतलाता है। इस विषयमें 'ब्रह्मसूत्र' के अपने भाष्यमें श्रीमध्वाचार्य स्वामीने भी कई शब्द लिखे हैं। वे यह हैं— 'च' शब्देन सकलवेदतन्त्रपुराणादिषु विष्णुपरत्वं पुरुषसूक्तस्य दर्शयति। तथा च ब्राह्मे—'यथैव पौरुषं सूक्तं नित्यं विष्णुपरायणम्'। यजुर्वेदशिखायां च—'सहस्रशीर्षा पुरुष' इति। एष ह्येव अचिन्त्यः

परः परमो हरिरादिरनादिरनन्तशीर्षोऽनन्ताक्षोऽनन्तबाहुरनन्तगुणोऽनन्त-रूप इति। बृहत्संहितायां च—'यथा हि पौरुषं सूक्तं विष्णोरेवाभिधायकम्' इत्यादि। 'यस्माद् यज्जायते चाङ्गाल्लोकवेदादिकं हरेः। तन्नाम-वाच्यमङ्गं तद् यथा *मन्त्रादिकं मुखम्*' इति नारदीयवचनाद् नाऽभेदो-क्तिविरोधः (१।२।२६) यहां पर आचार्यने पुरुषसूक्तको विष्णुपरक मान-कर उसमें विष्णुके अङ्गोंका कथन उत्पादकरूपसे माना है—इससे हमारे पक्षकी ही पुष्टि हुई।

(६) इस विषयमें श्रीमद्भागवतपुराणका भी उक्त-विषयकपद्य तथा उसकी टीकाएँ भी द्रष्टव्य हैं जिससे उक्त पक्ष पर प्रकाश पड़ता है। 'पुरुषस्य मुखं ब्रह्म, क्षत्रमेतस्य बाहवः। ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः, पद्भ्यां शूद्रोऽभ्य-जायत' (२।५।३७) इस पद्यकी व्याख्या करते हुए श्रीश्रीधरस्वामीने कहा है—'वर्णानां ततः (परमात्मतः) उत्पत्तिं दर्शयति—पुरुषस्येति। ब्रह्म-ब्राह्मणः, मुखमिति कार्यकारणयोरभेदविवक्षया उक्तम्'। यहां यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि—'मुखात्' के स्थान 'मुखम्' कार्य-कारणके अभेदको उद्दिष्ट करके कहा गया है, अर्थ वही पञ्चमीका रहेगा। 'दीपनी' व्याख्यामें भी कहा गया है—'पुरुषस्य मुखम्' इत्यादिना 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इत्येव ऋचोऽर्थः'। अर्थात् श्रीमद्भागवतका उक्त पद्य उक्त वेदमन्त्रका अनुवाद ही है। श्रीव्यासजीने उक्त पद्यमें दो पद 'मुखम्, बाहवः' प्रथमान्त रखे हैं, और दो पद 'ऊर्वोः, पद्भ्याम्' यह पञ्चमी अर्थवाले रखे हैं—उसका आशय यही है कि उक्त मन्त्रका अर्थ पञ्चमी विभक्तिसे करो। इस कारण उक्त पद्यकी 'पदरत्नावली' टीकामें भी कहा है—'पञ्चम्यर्थे प्रमाणान्तरान्वेषणप्रयासो न कर्तव्यः, अत्रैव दर्शनाद् इति भावेनाह—ऊर्वोः, पद्भ्याम्'। अर्थात् उक्त पद्यमें ही 'पद्भ्याम्' आदिमें पञ्चमी विभक्ति स्पष्ट रखी गई है, अतः सर्वपदोंमें प्रथमाके स्थान भी पञ्चमीका अर्थ करो और पञ्चमी अर्थमें अन्य

प्रमाण ढूंढनेकी आवश्यकता भी नहीं; क्योंकि—दो स्थलों पर स्वयं पञ्चमी रखी गई है। यद्यपि एक स्थल पर सप्तमी है; तथापि अर्थ वही उत्पत्तिका है; क्योंकि—'पञ्चम्यामजातौ' (पा० ३।२।६८) 'सप्तम्यां जनेर्डः' (पा० ३।२।९७) इन सूत्रोंके ज्ञापकसे जन्धातुके योगमें सप्तमी-पञ्चमी दोनों हुआ करती हैं, जैसे 'सरसि जायते इति सरोजम्' यहां उत्पत्ति अर्थके योगमें सप्तमी है, और 'संस्काराज्जात इति संस्कारजः' यहां पञ्चमी है इससे 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' मन्त्रमें भी मुखम्, बाहू, ऊरू' इन प्रथमान्त पदोंमें भी पञ्चमी विभक्तिका अर्थ ही प्रमाणोपेत है।

(७) अथवा-उक्त मन्त्रमें इस प्रकार योजना है—'ब्राह्मणः अस्य परमात्मनः' मुखम्—मुखाद्, आसीद्-उत्पन्नः'। 'मुखाद्' में 'मुखम्' 'सुपां सुलुक्' (पा० ७।१।३९) इस सूत्रसे 'ङसि' के स्थान पर 'सु' होनेसे हुआ है, नपुंसकलिङ्ग होनेसे 'सु' को 'अम्' हो गया। इस प्रकार उक्त मन्त्रके प्रश्नमन्त्रकी भी यही व्यवस्था है—'मुखं किमस्यासीत्' (यजुः ३१।१०) 'मुखात् किमस्यासीत्' ? सिद्धि पूर्वकी तरह होगी। इस अर्थमें कारण है सृष्टि (उत्पत्ति) का प्रकरण। इस कारण वादियोंके स्वामी दयानन्दजीने भी उक्त मन्त्रमें पञ्चमीका अर्थ किया है—यह आगे कहा जावेगा।

(ख) अथवा 'मुखं किमस्यासीत्, किं बाहू, किमूरू, किं पादौ' यह प्रश्न है, उसका उत्तर है—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इत्यादि। अर्थात् उस परमात्माका मुख क्या था ? इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है—जिससे ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, वही परमात्माका मुख था'। इस प्रकार आगे भी योजना कर लेनी चाहिये। इस तरह उत्तरमें कार्यके परिचयसे कारणका परिचय कराया गया।

(ग) अथवा सृष्टि प्रकरणके प्रकृत होनेसे 'अस्य, मुखम्-मुखात् ['सुपां सुलुक्' (पा० ७।१।३९) इससे पञ्चमीका लुक्] किमासीत्-किमुत्पन्नम् ? बाहू-बाहुभ्यां किमासीत्-किमुत्पन्नम् ? ऊरू, पादौ-ऊरुभ्यां पादाभ्यां च,किमासीत्-किमुत्पन्नम् ?' ऐसा अर्थ होगा, नहीं तो 'किं बाहू' यह प्रश्न ही न होता, 'कौ बाहू' होता, 'किमूरू पादौ' न होता, 'कौ ऊरू पादौ' यह प्रश्न होता। परन्तु ऐसा नहीं है, तब सृष्टि-प्रकरण होनेसे यही अर्थ प्राकरणिक है, इस कारण यहाँ पर विभक्तिव्यत्यय भी दोषयुक्त नहीं है, क्योंकि वादीको भी तो 'पद्भ्यां-मजायत' 'मनसो जातः, चक्षोरजायत, श्रोत्राद्, मुखाद् अजायत' इनमें पञ्चमीके स्थान पर प्रथमाका व्यत्यय करना पड़ता है—तब वह हमें उपालम्भ कैसे दे सकता है ?

(घ) अथवा 'मुखं किम्' का अर्थ है कि—'कारण मुखका कार्य क्या है ?' इस प्रकार इस सृष्टि-प्रकरणमें कार्य-कारणके अभेदोपचारसे इस शैलीसे प्रश्न है; तात्पर्य वही पंचमीका आकर बैठता है।

(ङ) इस प्रकार 'बाहू राजन्यः कृतः' यहां भी 'अस्य' इस पदकी अनुवृत्ति है। 'अस्य-विराट् पुरुषस्य. बाहुः—बाहुभ्याम् [यहाँ पर 'सुपां सुलुक्' सूत्रसे 'भ्याम्' के स्थान पर 'सु' हुआ है, 'रोरि' (पा० ८।३।१४) से 'र' का लोप होकर ढ्लोपदीर्घ (पा० ६।३।१११) हुआ। अथवा 'भ्याम्' के स्थानमें पूर्वसवर्णदीर्घ (७।१।३९) हुआ, जैसे 'धीती, मती, सुष्टुती' वैसे ही 'बाहू' बाहुभ्यामके स्थान पर हुआ। अथवा यहाँ पर भी 'आयुर्घृतम्' की भान्ति कार्य-कारणभावमें अभेद हुआ।] राजन्यः-क्षत्रियः, कृतः-उत्पन्नः। अस्य- परमात्मनः, ऊरू-ऊरुभ्यां वैश्यः कृतः-जनितः, यहां पर भी 'कृतः' की द्वितीयपादसे अनुवृत्ति है। यहां पर विभक्तिका व्यत्यय 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० ३।१।८५) सूत्रसे हुआ। अथवा 'आयुर्घृतम्' की भान्ति जन्य-जनकका अभेद-उपचार होनेसे प्रथमा हुई।

प्रमाण ढूंढनेकी आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि—दो स्थलों पर स्वयं पञ्चमी रखी गई है। यद्यपि एक स्थल पर सप्तमी है, तथापि अर्थ वही उत्पत्तिका है; क्योंकि—'पञ्चम्यामजातौ' (पा० ३।२।९८) 'सप्तम्यां जनेर्डः' (पा० ३।२।९७) इन सूत्रोंके ज्ञापकसे जन्धातुके योगमें सप्तमी-पञ्चमी दोनों हुआ करती हैं, जैसे 'सरसि जायते इति सरोजम्' यहां उत्पत्ति अर्थके योगमें सप्तमी है, और 'संस्काराज्जात इति संस्कारजः' यहां पञ्चमी है इससे 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' मन्त्रमें भी मुखम्, बाहू, ऊरू' इन प्रथमान्त पदोंमें भी पञ्चमी विभक्तिका अर्थ ही प्रमाणोपेत है।

(७) अथवा उक्त मन्त्रमें इस प्रकार योजना है—'ब्राह्मण अस्य परमात्मनः' मुखम्—मुखाद्, आसीद् उत्पन्न'। 'मुखाद्' में 'मुखम्' 'सुपां सुलुक्' (पा० ७।१।३९) इस सूत्रसे 'ङसि' के स्थान पर 'सु' होनेसे हुआ है, नपुंसकलिङ्ग होनेसे 'सु' को 'अम्' हो गया। इस प्रकार उक्त मन्त्रके प्रश्नमन्त्रकी भी यही व्यवस्था है—'मुखं किमस्यासीत्' (यजु ३१।१०) 'मुखात् किमस्यासीत्' ? सिद्धि पूर्वकी तरह होगी। इस अर्थमें कारण है सृष्टि (उत्पत्ति) का प्रकरण। इस कारण वादियोंके स्वामी दयानन्दजीने भी उक्त मन्त्रमें पञ्चमीका अर्थ किया है—यह आगे कहा जावगा।

(८) अथवा 'मुखं किमस्यासीत्, किं बाहू, किमूरू, किं पादौ' यह प्रश्न है, उसका उत्तर है—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इत्यादि। अर्थात् उस परमात्माका मुख क्या था ? इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है—जिससे ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, वही परमात्माका मुख था'। इस प्रकार आगे भी योजना कर लेनी चाहिये। इस तरह उत्तरमें कार्यके परिचयसे कारणका परिचय कराया गया।

(ग) अथवा सृष्टि प्रकरणके प्रकृत होनेसे 'अस्य, मुखम्-मुखात् ['सुपां सुलुक्' (पा० ७।१।३९) इससे पञ्चमीका लुक्] किमासीत्-किमुत्पन्नम् ? बाहू-बाहुभ्यां किमासीत्-किमुत्पन्नम् ? ऊरू, पादौ-ऊरुभ्यां पादाभ्यां च,किमासीत्-किमुत्पन्नम् ?' ऐसा अर्थ होगा, नहीं तो 'किं बाहू' यह प्रश्न ही न होता, 'कौ बाहू' होता, 'किमूरू पादौ' न होता, 'कौ ऊरू पादौ' यह प्रश्न होता। परन्तु ऐसा नहीं है, तब सृष्टि-प्रकरण होनेसे यही अर्थ प्राकरणिक है, इस कारण यहाँ पर विभक्तिव्यत्यय भी दोषयुक्त नहीं है, क्योंकि वादीको भी तो 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' 'मनसो जातः, चक्षोरजायत, श्रोत्राद्, मुखाद् अजायत' इनमें पञ्चमीके स्थान पर प्रथमाका व्यत्यय करना पड़ता है—तब वह हमें उपालम्भ कैसे दे सकता है ?

(घ) अथवा 'मुखं किम्' का अर्थ है कि—'कारण मुखका कार्य क्या है ?' इस प्रकार इस सृष्टि-प्रकरणमें कार्य-कारणके अभेदोपचारसे इस शैलीसे प्रश्न है; तात्पर्य यही पंचमीका आकर बैठता है।

(ङ) इस प्रकार 'बाहू राजन्यः कृतः' यहां भी 'अस्य' इस पदकी अनुवृत्ति है। 'अस्य विराट् पुरुषस्य बाहुः—बाहुभ्याम् [यहाँ पर 'सुपां सुलुक्' सूत्रसे 'भ्याम्' के स्थान पर 'सु' हुआ है, 'रोरि' (पा० ८।३।१४) से 'र' का लोप होकर ढ्लोपदीर्घ (पा० ६।३।१११) हुआ। अथवा 'भ्याम्' के स्थानमें पूर्वसवर्णदीर्घ (७।१।३९) हुआ, जैसे 'धीती; मती, सुष्टुती' वैसे ही 'बाहू' बाहुभ्यामके स्थान पर हुआ। अथवा यहाँ पर भी 'आयुर्घृतम्' की भान्ति कार्य-कारणभावमें अभेद हुआ।] राजन्यः-क्षत्रियः, कृतः-उत्पन्नः। अस्य- परमात्मनः, ऊरु-ऊरुभ्यां वैश्यः कृतः-जनितः, यहां पर भी 'कृतः' की द्वितीयपादसे अनुवृत्ति है। यहां पर विभक्तिका व्यत्यय 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० ३।१।८५) सूत्रसे हुआ। अथवा 'आयुर्घृतम्' की भान्ति जन्य-जनकका अभेद-उपचार होनेसे प्रथमा हुई।

(च) 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' यह तो स्पष्ट ही पंचम्यन्त है—इस उपसंहारवाले पदके अनुसार पूर्व पदोंमें भी पंचमी करनी पड़ी, क्योंकि-वक्ताका सिद्धान्त अथवा अभिप्राय उसके उपसंहारसे ही व्यक्त होता है। उक्त मन्त्रमें ब्राह्मण आदि शब्द लिङ्ग एवं वचनकी अविवक्षासे जातिशब्द हैं, तब उनसे ब्राह्मणी आदिका ग्रहण भी हो जाता है। फिर इन ब्राह्मण-ब्राह्मणी आदिसे उत्पन्न बालक-बालिकाएँ भी 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' इस महाभाष्यके वचनसे उस-उस जातिवाले हुए—यह आगे स्पष्ट किया जायगा।

(छ) एक ही पुरुष (परमात्मा) से उत्पन्न हुए भी ब्राह्मणादियोंकी उच्चता-नीचता पूर्व जन्मके कर्मके कारण, उत्पत्तिके द्वारभूत मुख, बाहु, ऊरू, चरण आदि अङ्गोंकी उपाधिके कारणसे होती है। तब ब्राह्मण-शूद्रादियोंकी आपसमें उच्चता-नीचता भी जन्मसे ही सिद्ध होती है। इस प्रकार उत्पत्तिस्थानके कारण वर्णोंकी उत्कृष्टता अपकृष्टता व्यवहारके साथ ही साथ वर्णोंकी व्यवस्था भी जन्मसे ही सिद्ध हुई। उच्चता-नीचताकी जन्ममूलकतामें उपपत्ति मनुजीके निम्न शब्दोंमें द्रष्टव्य है—'ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः। तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुव.' (१।९२) यहाँ नाभिसे ऊपर के अङ्गोंसे उत्पन्न ब्राह्मण और क्षत्रिय मेध्यतम एवं मेध्यतर सिद्ध हुए। इस प्रकार नाभिसे नीचे ठहरे हुए ऊरू एवं पादके अमेध्यतर, अमेध्यतम होनेसे उनसे उत्पन्न वर्ण भी वैसे सिद्ध हुए। तब वर्णोंमें उत्कृष्टता अपकृष्टता उत्पत्तिमूलक सिद्ध हुई। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण प्रथम उत्पन्न होनेसे ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ सिद्ध हुआ। वैश्य 'मध्यं तदस्य यद् वैश्यः'(अथर्व० १९।६।६) मध्य (कमर) से उत्पन्न होनेसे मध्यम हुआ। शूद्र पादज-अवरज होनेसे अवर (अधम) सिद्ध हुआ। इस प्रकार वर्णोंमें उत्तमता, मध्यमता एवम् अधमता सिद्ध होनेसे वेदको भी इनका सामरस्याद् इष्ट सिद्ध न हुआ. जिसे सुधारक लोग वैदिक कहने का साहस करते हैं।

(१) उक्त मन्त्रमें अपादान (पञ्चमी) अर्थ एवम् उत्पत्ति अर्थ (जिसे हमने किया है) निर्मूल भी नहीं है—इस बातको सिद्ध करनेके लिए हम प्राचीन प्रमाण भी उपस्थित करते हैं। 'आलोक' के विद्वान् पाठकगण इसमें अवधान दें।

(क) स्वा० दयानन्दजीसे भी मान्य श्रीभास्कराचार्य प्रणीत 'सिद्धान्तशिरोमणि' के गोलाध्यायमें 'भुवनकोशनिरूपण' में प्रलयके वर्णनमें कहा है—'ब्राह्मं लयं ब्रह्मदिनान्तकाले भूतानि यद् *ब्रह्मतनुं* विशन्ति' (६३) यहां पर श्रीभास्कराचार्यका अपना ही भाष्य द्रष्टव्य है—जिससे चारों वर्णोंकी परमात्माके अङ्गोंसे उत्पत्तिमें उपपत्ति भी दिखलाई गई है। उसमें कहा गया है—'यो ब्रह्मदिनान्ते चतुर्युग-सहस्रावसाने लोकत्रयस्य संहारः, स ब्राह्मो लय उच्यते। तत्र अक्षीण-पुण्यपापा एव *लोकाः* कालवशेन *ब्रह्मशरीरं प्रविशन्ति।* तत्र *मुखं ब्राह्मणाः [प्रविशन्ति]*, बाह्वन्तरं क्षत्रियाः, ऊरुद्वयं वैश्याः, पादद्वयं शूद्राः। ततो निशावसाने पुनर्ब्रह्मणः सृष्टिं चिन्तयतो *मुखादिस्थानेभ्यः* कर्मपुटान्तरत्वाद् *ब्राह्मणादयस्तत एव* निस्सरन्ति'। यहां पर बहुत ही सुन्दर उपपत्ति दी गई है। उसका भाव यह है कि प्रलयमें प्राणी मरकर अपने यथास्थित कर्मोंके अनुसार ब्रह्माके शरीरमें प्रविष्ट हो जाते हैं। तब सृष्टि करनेके समय उत्तम कर्मोंसे मुखसे उत्पन्न हुए ब्राह्मण कहाते हैं, बाहु आदिसे उत्पन्न क्षत्रियादि हुआ करते हैं। इससे मुख आदिसे वर्णोंकी उत्पत्ति समूल सिद्ध हुई।

(ख) स्वा० द० से मान्य प्रशस्तपादभाष्यमें भी कहा गया है— 'सच महेश्वरेण विनियुक्तो ब्रह्मा... *मुखबाहूरुपादतः* चतुरो [ब्राह्मणादीन्] वर्णान् अन्यानि च उच्चावचानि भूतानि सृष्ट्वा' (द्रव्यग्रन्थ) यहाँ भी ब्राह्मणादियोंकी ब्रह्माके मुख आदिसे उत्पत्ति कही है।

(ग) कृष्णयजुर्वेदमें भी यही स्वीकृत किया गया है—'प्रजापतिर-कामयत प्रजायेय इति । स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत.. ब्राह्मणो मनुष्याणां... तस्मात् ते मुख्याः, मुखतो हि असृज्यन्त... अश्वश्च शूद्रश्च । तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः, नहि देवता अन्वसृज्यत, तस्मात् पादावुपजीवतः, पत्तो हि असृज्येताम्' (तै० सं० ७।१।१।१) मीमांसा-दर्शनके १।४।२४ सूत्रके शाबरभाष्यमें भी यही श्रुति उद्धृत की गई है। इस प्रकार यहाँ भी पञ्चमी अर्थकी स्फुटता ही है। इस प्रकार शुक्लयजुर्वेदमें भी यही अर्थ है।

(घ) 'यस्माद् एते [ब्राह्मणाः] मुख्याः, तस्मात् मुखतो हि असृज्यन्त' यह वचन स्वा० द० जीने 'शतपथब्राह्मण' के नाम से 'स० प्र०' के ४र्थ समुल्लास ४२ पृष्ठमें उद्धृत किया है—इससे भी पञ्चम्यर्थकी स्पष्टता है, पर अर्थ करनेके अवसर पर स्वामीने अपनी कपोल-कल्पना कर दी है।

(ङ) इस प्रकार 'ताण्ड्यमहाब्राह्मण' में भी कहा है—'स मुखत-स्त्रिवृतमसृजत, तं गायत्रीछन्दोऽन्वसृज्यत, अग्निर्देवता, ब्राह्मणो मनुष्यः, तस्मान्मुख्य ब्राह्मणो मनुष्याणाम्, गायत्री छन्दसाम्, अग्निर्देवतानाम्। तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं करोति, मुखतो हि सृष्टः' (६।१।६) 'स उरस्त एव बाहुभ्यां पञ्चदशमसृजत, राजन्यो मनुष्यः, इन्द्रो देवता, तस्माद् बाहुवीर्यः, बाहुभ्यां हि सृष्टः' (६।१।८)। स मध्यत एव प्रजननात् सप्तदशमसृजत, वैश्यो मनुष्यः, विश्वेदेवा देवताः, तस्माद् वैश्योऽद्यमानो न क्षीयते, प्रजननाद्धि सृष्टः'। तस्माद् ब्राह्मणस्य राज-न्यस्य च आद्योऽधरो हि सृष्टः [यहां पर श्रीसायणने लिखा है—'यस्माद् अधरः पश्चाद्भावी निसृष्टः सृष्टः तस्मात्] ६।१।६ स पत्त एव (पादात्) प्रतिष्ठाया एकविंशमसृजत, न काचन देवता, शूद्रो मनुष्यः। तस्मात् शूद्रोऽयज्ञियः, विदेवो हि, नहि तं काचन देवताऽन्वसृज्यत,

तस्मात् पादावनेज्यान्नातिवर्धते, पत्तो हि सृष्टः' (६।१।१०) यहां पर ताण्ड्यब्राह्मणने भी स्पष्ट शब्दोंसे उन-उन वर्णोंकी उन-उन अङ्गोंसे उत्पत्ति मानी है। यहां पर अङ्ग-वाचक चारों ही शब्द पञ्चमी विभक्ति वाले हैं।

(च) 'वैखानसधर्मसूत्र' में भी कहा है—'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यशूद्रा *मुख-बाहूरु-पादेषु जाताश्चत्वारो* वर्णाः, यस्माद् 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इत्यादिश्रुतिः' (१।१।२) क्या अब भी कोई वादी 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' का पंचमीसे विरुद्ध अर्थ कल्पित कर सकता है ?।

(छ) प्रसिद्ध स्मृति, स्वा० दयानन्दजीके 'सत्यार्थ प्रकाश' स्थ एकादशसमुल्लासके आरम्भिक वचनके, एवं यास्कादिके वचनके अनुसार सृष्टिकी आदिमें बनी हुई 'मनुस्मृति' में भी इस विषयमें स्पष्ट कहा है—'लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं *मुखबाहूरुपादतः*। ब्राह्मणं, क्षत्रियं, वैश्यं, शूद्रं च निरवर्तयत्' (१।३१) यहां पर श्रीमेधातिथिने भाष्य किया है—'यथाक्रमं मुखाद् ब्राह्मणम्, बाहुभ्यां राजन्यम्, ऊरुभ्यां वैश्यम्, शूद्रं पादत इति। *तसिरपादाने*। कारणात् कार्यं निष्कृष्यते इति भवति अपाये (विश्लेषे सति अपादानत्वम्। आद्य कंचिद् ब्राह्मणं स्वमुखा-ग्यवेभ्यो *दैव्या शक्त्या* निर्मितवान्'। यहां पर कितने स्पष्ट रूपसे श्रीमेधातिथिने पंचमी अर्थकी पुष्टि की है। श्रीकुल्लूकभट्टने भी उक्त पद्यकी व्याख्या इसी प्रकार लिखी है— '*दैव्या च शक्त्या मुखादिभ्यो* ब्राह्मणादि-निर्माणं ब्रह्मणो न विशङ्कनीयम्, श्रुतिसिद्धत्वात्। तथा च श्रुतिः—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इत्यादि''।

(ज) 'तं [ब्राह्मणं] हि स्वयम्भूः *स्वाद् आस्यात्* (मुखात्) तपस्तप्त्वाऽऽदितोऽसृजत्' (मनुस्मृति १।९४) 'आदितोऽसृजत्' और 'आस्याद् असृजत्' कहनेसे ब्राह्मणोंकी ज्येष्ठता और श्रेष्ठता सिद्ध हुई। अब भी

माता-पितासे जो आदिमें जन्म प्राप्त कराता है; वही ज्येष्ठ, श्रेष्ठ एवं पूज्य माना जाता है, इस प्रकार ब्राह्मण भी विराट् द्वारा प्रथम उत्पन्न होनेसे अन्य वर्णोंसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। 'मुखबाहूरुपज्जानां' (१।८७) यहां भी वही बात है। 'उत्तमाङ्गोद्भवात्' (मुखोत्पन्नत्वात्) ज्यैष्ठ्यात् (आदित उत्पन्नत्वात्) ब्रह्मणश्चैव धारणात्। सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः' (मनु० १।९३) यहां भी वही बात कही गई है।

(झ) 'हारीतस्मृति' में भी कहा है—'यत्नसिद्ध्यर्थमनघान् ब्राह्मणान् मुखतोऽसृजत्। असृजत् क्षत्रियान् बाह्वोर्वैश्यानप्यूरुदेशतः। शूद्रांश्च पादयोः सृष्ट्वा तेषां चैवानुपूर्वशः' (१।१२-१३) यहां भी पंचमी अर्थकी स्पष्टता है; क्योंकि—'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा० १।४।३०) जनन अर्थ वाली धातुके योगमें पंचमी प्रसिद्ध ही है, और 'सप्तम्यां जनेर्डः' (३।२।९७) इस सूत्रके लिङ्गसे जननार्थक धातुके योगमें सप्तमी भी हुआ करती है; इसलिए हारीतवचनमें पंचमी एवं सप्तमी दोनों ली गई हैं।

(ञ) 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के प्रायश्चित्ताध्याय यतिधर्म प्रकरणमें भी कहा है—'सहस्रात्मा मया यो व आदिदेव उदाहृतः। मुखबाहूरुपज्जाः स्युस्तस्य वर्णा यथाक्रमम्'। (१२६ पद्य) यहां पर मिताक्षराने लिखा है—'सकलजगद्धेतुतया आदिदेवो मया युष्माकमुदाहृत, तस्य वदन-भुज-सक्थि-चरणजाता यथाक्रममग्रजन्मादयश्चत्वारो वर्णाः' यहां पर 'सहस्रात्मा' कहनेसे 'सहस्रशीर्षा' इस सूक्तके उक्त मन्त्रका यह अर्थ है-यह सूचित किया गया है। इसीलिए इसके अग्रिम पद्योंमें 'पृथिवी पादतस्तस्य मुखात् शिखी' (१२७) मनसश्चन्द्रमा जातश्चक्षुषश्च दिवाकरः' (१२८) उक्त मन्त्रके साथ वाले 'चन्द्रमा मनसो जात.' इत्यादि मन्त्रोंका ही अर्थ श्रीयाज्ञवल्क्यने निरूपित किया है—यह स्पष्ट है। तब उक्त मन्त्रके उक्त पदोंका पंचमीका अर्थ करना समूल ही है।

(ट) अब 'आलोक' पाठकगण 'बृहत्पराशरस्मृति' में भी दृष्टि डालें 'ब्रह्मा वै ब्राह्मणान् अस्याः (पृथिव्याः) प्रभून् असृजदास्य (मुख) तः। मद् (पृथिवी) रक्षणाय बाहुभ्यामसृजत् क्षत्रियानपि।(३।१४६) पाशुपाल्याशनोत्पत्त्यै, ऊरुभ्यां च तथा विशः। द्विजदास्याय पद्भ्यां शूद्रमकल्पयत् (१५०) यहां भी पंचमी अर्थकी स्पष्टता है।

(ठ) इसी प्रकार 'वाल्मीकि रामायण' में भी कहा है—'मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा। ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः, पद्भ्यां शूद्रा इति श्रुतिः' (अरण्यकाण्ड १४।३०) यहां पर श्रीवाल्मीकिने उक्त अर्थका श्रुति (वेद) में सद्भाव बताया है। तब उक्त वेदमन्त्र इसी अर्थवाला है—यह सिद्ध हो गया। यहां 'उरसः' का अर्थ है 'बाहुमध्यात्'। कहीं 'बाहुभ्यां' पाठ भी है।

(ड) वादिप्रतिवादिमान्य 'महाभारत' में भी बहुत स्थलोंमें ऐसा ही कहा है—'मुखतः सोऽसृजद् विप्रान् (ब्राह्मणान्) बाहुभ्यां क्षत्रियांस्तथा। वैश्यांश्चाप्यूरुतो राजन्! शूद्रान् वै पादतस्तथा' (भीष्मपर्व ६७।१८-१९) ब्राह्मणो मुखतः सृष्टो ब्रह्मणो राजसत्तम! बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्टः, ऊरुभ्यां वैश्य एव च। वर्णश्चतुर्थः सम्भूतः पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः' (शान्तिपर्व ७२।४-५)। इसी प्रकार 'ततः कृष्णो महाभागः पुनरेव युधिष्ठिर! ब्राह्मणानां शतं श्रेष्ठं मुखादेवासृजत् प्रभुः।' (शांति० २०७।२१) 'बाहुभ्यां क्षत्रियशतं, वैश्यानामूरुतः शतम्। पद्भ्यां शूद्रशतं चैव केशवो भरतर्षभः' (२२) स एवं चतुरो वर्णान् समुत्पाद्य महातपाः। अध्यक्षं सर्वभूतानां धातारमकरोत् स्वयम्' (२३) यहां भी वही पूर्वोक्त अर्थ स्पष्ट है।

(ढ) श्रीस्वामी शङ्कराचार्यने 'अथ अभ्यमन्थत् स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां च अग्निमसृजत' (१।४।६) इस 'बृहदारण्यक' की कण्डिकाकी

व्याख्या करते हुए लिखा है—'अथ इति शब्दद्वयमभिनयप्रदर्शनार्थम्। अनेन प्रकारेण मुखे हस्तौ प्रक्षिप्य अग्न्यमन्थत् आभिमुख्येन मन्थनम-करोत्। स मुखं हस्ताभ्यां मथित्वा मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां च योनिभ्या-मपि, ब्राह्मणजातेरनुग्राहकमग्निमसृजत् = सृष्टवान्। तथा ब्राह्मणोऽपि मुखादेव जज्ञे प्रजापतेः। तस्माद् एकयोनित्वाज्ज्येष्ठेनैव अनुजोऽनुगृह्यते अग्निना ब्राह्मणः। तस्माद् ब्राह्मणोऽग्निदेवत्यो मुखवीर्यश्च- इति श्रुति-स्मृतिसिद्धम्। तथा बलाश्रयाभ्यां बाहुभ्यां बलाभिदादिकं क्षत्रियजाति-नियन्तारं क्षत्रियं च। तस्माद् ऐन्द्रः क्षत्रं बाहुवीर्यं च- इति श्रुतौ स्मृतौ च अवगतम्। तथा ऊरुत ईहा-चेष्टा तदाश्रयाद् वस्वादिलक्षणां विशो नियन्तारं विशं च। तस्मात् कृष्यादिपरो वस्वादिदेवत्यश्च वैश्यः। तथा पूषणं पृथ्वीदेवतं, शूद्रं च पद्भ्यां परिचारकममसृजत- इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धे.'। यहां पर आचार्यने सीमातीत स्पष्टता कर दी है।

(थ) 'वायुपुराण' में भी कहा है—'वक्त्राद् यस्य ब्राह्मणाः संप्र-सूतास्तद्वक्षसः क्षत्रियाः पूर्वभागैः। वैश्याश्चोरुर्यस्य पद्भ्यां च शूद्राः, सर्वे वर्णा गात्रतः सम्प्रसूताः' (९।७७) यहां भी वही कहा गया है।

(द) प्रसिद्ध 'श्रीमद्भागवत' पुराणमें भी कहा है—'मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह! बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः। विशोऽव-र्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः। पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषाकर्म-सिद्धये। ताभ्यां जातः पुरा शूद्रो' (३।६।३०-३३)। 'वायुपुराण' में अन्यत्र भी कहा है—'मिथुनानां सहस्रं तु (ब्राह्मणान्) सोऽसृजद् वै मुखात्तदा। सहस्रमन्यद् (क्षत्रियान्), वक्षसो मिथुनानां ससर्ज ह। सृष्ट्वा सहस्र-मन्यत्तु (वैश्यान्) द्वन्द्वानामूरुतः पुनः। पद्भ्यां सहस्रमन्यत्तु (शूद्रान्) मिथुनानां ससर्ज ह' (८।३७-४०)। श्रीमद्भागवतमें अन्यत्र भी कहा है—'मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह। चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्वि-प्रादयः पृथक्' (११।५।२) 'गुणैः पृथक्' का अर्थ है 'भिन्न-भिन्न गुण-

धारी' । 'विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः' (भाग० ११।१७।१३) अर्थ पूर्वकी भान्ति है ।

(थ) 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में भी कहा है—'बभूवुर्ब्रह्मणो वक्त्राद् अन्या ब्राह्मणजातयः ।' (१०।१४) ब्रह्मणो बाहुदेशाच्चैवान्याः क्षत्रिय-जातयः । १५ । ऊरुदेशाच्च वैश्याश्च, पादतः शूद्रजातयः । तासां सङ्कर-जातेन बभूवुर्वर्णसङ्कराः' (ब्रह्मखण्ड १०।१६) ।

(द) 'भविष्यपुराण' ब्राह्मपर्वमें भी कहा है—'लोकस्येह विवृद्ध्यर्थं मुख-बाहूरुपादतः । ब्रह्मक्षत्रं तथा चोभौ वैश्य-शूद्रौ नृपोत्तम !' (२।१२) 'तस्मान्मुखाद् द्विजो जात इतीयं वैदिकी श्रुतिः' (२।१२६) 'वैदिकी श्रुतिः' कहने से स्पष्ट है कि– उक्त वेदमन्त्रका सभी को यही पञ्चमी-विभक्तिवाला अर्थ इष्ट है ।

(ध) इस प्रकार 'सूतसंहिता' में भी कहा है—'शिरोभागाद् ब्राह्मण-ब्राह्मण्योः, बाहुतः क्षत्रिया-क्षत्रिययोः, वैश्य-शूद्रावपि वैश्याशूद्राभ्यां सहैव ऊरुपद्भ्याम्' ।

(न) 'विष्णुपुराण' प्रथमांशमें भी कहा है—'सत्याभिध्यायिनः पूर्वं सिसृक्षोर्ब्रह्मणो जगत् । अजायन्त द्विजश्रेष्ठ ! सत्त्वोद्रिक्ता मुखात् प्रजाः (ब्राह्मणाः) । वक्षसो रजसोद्रिक्ताः (क्षत्रियाः) तथाऽन्या ब्रह्मणोऽभवन् । रजसा तमसा चैव समुद्रिक्तास्तथोरुतः (वैश्याः) । पद्भ्यामन्याः प्रजाः (शूद्रान्) ब्रह्मा ससर्ज द्विजसत्तम ! तमः-प्रधानास्ताः सर्वाश्चातुर्वर्ण्यमिदं ततः' (६।२१) 'श्रीमद्भागवत' अष्टम स्कन्धमें भी कहा है—'विप्रो मुखाद् ब्रह्म च यस्य गुह्यं, राजन्य आसीद् भुजयोर्बलं च । ऊर्वोर्विडो-जोऽङ्घ्रिरवेदशूद्रौ, प्रसीदतां नः स महाविभूतिः' (२।४१) ।

(८) 'मनूनां सर्गमकरोद् मुखबाहूरुपादतः। चतुर्णां ब्राह्मणादीनां सर्गद्वारं जगत्पतिः। द्विजयुग्मं, क्षत्रयुग्मं, वैश्ययुग्मं तथैव च। मिथुनं च चतुर्थस्य (शूद्रस्य) पत्तन्मतुचतुष्टयम्' ('तत्त्वत्रय' स्थित 'विष्वक्सेन-संहिता' में)।

(९) 'मार्कण्डेयपुराण' में भी कहा है—'मिथुनानां सहस्रं तु मुखात् सोऽथासृजन्मुने! जातास्ते ह्युपपद्यन्ते सत्त्वोद्रिक्ताः सचेतसः' (ब्राह्मणाः) (४९।२) सहस्रमन्यद् वक्षस्तो-मिथुनानां ससर्ज ह। ते सर्वे रजसोद्रिक्ताः शुष्मिणः (बलवन्त) श्चाप्यमर्षिणः (क्षत्रियाः) (४) सम-र्जान्यद् सहस्रं तु द्वन्द्वानामूरुतः पुनः। रजस्तमोभ्यामुद्रिक्ता ईहाशी-लास्तु ते स्मृताः (वैश्याः) (२) पद्भ्यां सहस्रमन्यच्च मिथुनानां ससर्ज ह। उद्रिक्तास्तमसा सर्वे निःश्रीका ह्यल्पचेतसः' [शूद्राः] (४६.६)।

(१०) यही आशय अन्य बहुतसे ग्रन्थोंमें पाया जाता है, विस्तार-भयसे हम उसे उद्धृत नहीं करते। इस प्रकार 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इस वेदमन्त्रका बहुत ग्रन्थोंकी सम्मतिसे मुख आदि द्वारा ब्राह्मण आदि-की उत्पत्तिका अर्थ समूल सिद्ध हुआ, इससे वर्णव्यवस्था भी जन्मसे सिद्ध हुई। प्रारम्भिक सृष्टिमें असम्भवका प्रश्न ही व्यर्थ है कि—मुख आदिसे ब्राह्मणादिकी सृष्टि कैसे सम्भव हो सकती है? संसारके सभी सम्प्रदायोंने प्रारम्भिक सृष्टिमें असम्भवको आश्रय दिया ही है। उस समय सभीने अमैथुनसे उत्पत्ति मानी ही है; चाहे उनके अनुसार सृष्टि भिन्न-भिन्न प्रकारसे हुई हो, किसीके मतमें अङ्गोंसे उत्पत्ति हुई हो; चाहे मट्टीसे हुई हो, अथवा संकल्पसे होगई हो; या वचनमात्रसे हुई हो। स्वा० द० जीने भी 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा है—'परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती' (अष्टम १३८ पृष्ठ)।

इस प्रकार जब यह सिद्ध हो गया कि चारों वर्ण परमात्माके भिन्न-भिन्न अङ्गोंसे उत्पन्न हुए; तब यह भी सिद्ध हो गया कि वर्ण-व्यवस्था का मूलाधार जन्म ही है। प्रलयके समयमें जीव अपने-अपने गुणकर्म वासना आदिको अन्तर्हित करके ब्रह्ममें विलीन हो जाया करते हैं, और प्रजापति उनके गत जन्मके गुणकर्मके अनुसार उनके लिए उपयुक्त मुख आदि अङ्गोंसे ब्राह्मणादि वर्णरूपमें उत्पत्ति करता है। ऐसा नहीं है कि—परमात्मा जीवोंको उत्पन्न करके उनके इस जन्मके गुणकर्मके आधारसे उनको उस-उस वर्णमें करता हो। तब 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' मन्त्रसे गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्थाका सिद्धान्त खण्डित ही हो जाता है।

(११) अब हम इस विषयमें वेदभाष्यकारोंके उक्त मन्त्रार्थको भी उद्धृत करते हैं।

(अ) अथर्ववेदके उक्त मन्त्रमें सायणभाष्य इस प्रकार है—'ब्राह्मण-जातिविशिष्टः पुरुषः अस्य मुखाद् उत्पन्न इत्यर्थः।...मध्यभागाद् वैश्य उत्पन्न इत्यर्थः। पद्भ्यां-पादाभ्यां शूद्रः अजायत-उत्पन्नः। इत्थं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिं तैत्तिरीयाः समामनन्ति—'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' इत्यादि' (अ० १६।६।६)।

(आ) उक्त मन्त्रके भाष्यमें श्रीउवटने लिखा है—'तदास्योत्पन्नत्वादिति'। यहीं श्रीमहीधरने भी लिखा है—'ब्राह्मणः—ब्राह्मणजातिविशिष्टः पुरुषोस्य मुखमासीद्-मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। ...ऊरुभ्यामुत्पादितः। तथास्य पद्भ्यां शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत—उत्पन्नः'।

(इ) 'तैत्तिरीयारण्यक' में सायणभाष्य इस प्रकार है—'यत्पुरुषं व्यदधुः—प्रश्नोत्तर-रूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुमत्र ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवा यद्-यदा पुरुषं-विराड्रूपं व्यदधुः-संकल्पेन उत्पादितवन्तः, तदानीं कतिधा-कतिभिः प्रकारैः विविधं कल्पितवन्तः। एष सामान्यरूपः प्रश्नः। मुखं किम्-इत्यादयो विशेषप्रश्नाः' (३।१२।५) 'ब्राह्मणोस्य-योऽयं ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः, सोऽयमस्य प्रजापतेर्मुखमासीत्-मुखाद् उत्पन्नः-इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः—क्षत्रिय-जातिः, स बाहुत्वेन निष्पादितः—बाहुभ्यामुत्पादितः इत्यर्थः। तत्-तदानीं यौ प्रजापतेरूरू तद्रूपो वैश्यः सम्पन्नः—*ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः*। तथा पद्भ्यां शूद्र उत्पन्नः। इयं च *मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिः* सप्तमकाण्डे 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' इत्यादौ *विस्पष्टमाम्नाता*। *अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परत्वेनैव योजनीये*'। चन्द्रमा मनसो—'यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि गवादिपशवः ऋगादिवेदा ब्राह्मणादिमनुष्याश्च तस्मादुत्पन्नाः, एवं चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेव उत्पन्नाः'। 'नाभ्या आसीत्—यथा देवास्तस्मादुत्पन्नाः, तथा लोकानपि अन्तरिक्षादीन् प्रजापतेर्नाभ्याद्यवयवेभ्योऽकल्पयन् उत्पादितवन्तः'।

इस प्रकार बहुतोंकी साक्षी होनेसे उत्पत्ति अर्थ सिद्ध होनेसे पंचमी विभक्तिका ही अर्थ सिद्ध हुआ; और ब्राह्मणादि वर्णोंकी व्यवस्था जन्मसे ही सिद्ध हुई। *मुख आदिसे जन्म भी पूर्वजन्मके कर्मोंसे होता है*; तब *उन्हीं ब्राह्मणादिके पुत्र भी 'सङ्कदारयातनिर्भाह्या'* (४।१।२।६३) इस *महाभाष्यके वचनसे ब्राह्मण जाति वाले सिद्ध हुए*। इस मन्त्रमें गुण-कर्मोंका गन्ध भी नहीं है।

(ई) आदियोंके आचार्य स्वा० द० जीने भी 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' के सृष्टिविद्याविषयमें 'मुखं किमस्यासीत्, किं बाहू, किमूरुपादा उच्येते' इस प्रश्नमन्त्रमें भी पञ्चमीका और उत्पत्तिका ही अर्थ किया है। जैसे कि—'मुखं किम्? अस्य पुरुषस्य मुखं-मुख्यगुणेभ्यः (?) *किमुत्पन्नमासीत्? किं बाहू बलवीर्यादिगुणैः (?) किमुत्पन्नमासीत्?* किमूरू-व्यापारादिगुणैः (?) किमुत्पन्नमासीत्? पादा उच्येते-पादौ अर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्तते? (पृ० १२६) इस प्रश्न-मन्त्रमें स्वा० दयानन्दजीने स्वयं पञ्चमीका अर्थ तथा वर्णोंकी उत्पत्ति मानी है। इस प्रकार इसके उत्तरमन्त्रमें स्वामीने वही अर्थ किया है। जैसेकि—ब्राह्मणोऽस्य अस्य पुरुषस्य मुखं ये विद्यादयो मुख्यगुणाः, तेभ्यो ब्राह्मण उत्पन्नो भवति। बाहू-क्षत्रियस्तेन कृत.. उत्पन्नो भवति। ऊरू. तेभ्यो वणिग्जन उत्पन्नो भवति। पद्भ्यां. जडबुद्धित्वादि-गुणेभ्यः शूद्रः.. अजायत-जायते-इति वेद्यम्' (ऋ० भा० भू० पृ० १२७)

यहां स्वामीने जब परमात्माके मुख आदि को पञ्चम्यन्त माना है और वर्णोंकी उनसे उत्पत्ति स्वीकृत की है; तब वादी, वैसा अर्थ करते हुए हमें उपालम्भ दे सकनेके अधिकारी कैसे हैं? यह तो उनके अपने आचार्यने उन्हींका खण्डन कर दिया। गुण-कल्पना तो स्वामीने मन्त्रमें अविद्यमान होने पर भी स्वयं ही कल्पित की है, अतः वह ठीक नहीं। यह स्वामीके कथन द्वारा भी ठीक नहीं; क्योंकि—द्रव्यके द्वारा तो गुणकी उत्पत्ति होती है, परन्तु गुणोंसे द्रव्यकी उत्पत्ति कभी नहीं होती। विद्या आदि गुण हैं और ब्राह्मण आदि द्रव्य। तब विद्यादि गुणोंसे द्रव्य ब्राह्मणकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? यह बात स्वा० द० जीने भी 'सत्यार्थप्रकाश' में स्वयं स्वीकृत की है—"गुणसे द्रव्य कभी नहीं बन सकता; जैसे रूपसे अग्नि और रससे जल नहीं बन सकता' (१२ समु० ३०० पृष्ठ)। इस प्रकार बहुतोंकी साक्षी होनेसे तथा

वास्तविकता होनेसे उक्त मन्त्रमें *पञ्चमी विभक्ति और उत्पत्ति अर्थ* सिद्ध हुआ। इससे 'पद्भ्याम्' में चतुर्थीकी कल्पना करते हुए श्रीधर्मदेवजी जैसा कि-'भारतीय समाजशास्त्र' (प्रथम संस्करण) के १६ पृष्ठमें उन्होंने लिखा है 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इस *चतुर्थ चरणके विषयमें कुछ सन्देह हो सकता है*, उसकी निवृत्तिके लिए 'पद्भ्यां' यहां *चतुर्थी विभक्ति माननी उचित है*—पैरोंके कामके लिए शूद्र बनाया गया' तथा अन्य अर्थ करते हुए श्रीभगवदाचार्यजी आदि प्रायुक्त हो गये। यह व्यक्ति अपने अशुद्ध पक्षको सिद्ध करनेके लिए ही इस प्रकारके परिवर्तन करते हैं। यहां पर 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा० १।४।३०) से 'अजायत' के योगमें 'पंचमी' हुई है आगेके मन्त्रोंमें भी। 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' में 'पुष्पेभ्यो याति' की चतुर्थीका प्रयोग दिखलाकर 'चतुर्थी' की कल्पना विषम होनेसे निर्मूल है, क्योंकि- उक्त उदाहरणमें जन्धातुका प्रयोग नहीं। फिर यही लोग 'चन्द्रमा मनसो जातः' इस पूर्वके समान प्रयोगमें 'चतुर्थी' की कल्पना न करके पष्ठीका अर्थ करते हैं। यह सब अपने निर्मूल पक्षको सिद्ध करनेके निर्मूल प्रयत्न हैं। इससे उनका पक्ष 'वालुकाभित्ति' सिद्ध हो जाता है।

(१२) जो कि स्वा० दयानन्दजीने शङ्का की है कि—'यदि ब्राह्मण-आदि, मुख आदिसे उत्पन्न हुए, तो उनकी आकृति भी वैसे गोल आदि होनी चाहिये थी' यह ठीक नहीं। ऐसा होने पर तो योनिसे उत्पन्न पुरुषोंकी आकृति भी क्या योनिके समान होनी चाहिये? जैसा योनि उत्पत्तिद्वार है वैसे मुख भी। अथवा रज वीर्य द्वारा उत्पन्न होने वाले पुरुषोंका आकार भी तरल वा अस्थि केशादिसे रहित होना चाहिये? यदि नहीं, तब यहां भी वही उत्तर जान लेना चाहिये। तब मुख आदिसे उत्पन्न और ब्राह्मणादि नामसे कहे हुए उन वर्णोंके सन्तान भी 'सहृदाख्यातनिर्ग्राह्या' (एकस्यां व्यक्तौ मुखबाहूरुपादोत्पत्त्या ब्राह्मणत्व-

क्षत्रियत्ववैश्यत्वशूद्रत्वे उपदिष्टे तदपत्यतत्सहोदरादिषु तदुपदेशं विनापि तस्य सुग्रहत्वम्—एक व्यक्तिमें मुख आदिकी उत्पत्ति होनेसे ब्राह्मणत्व आदि कहने पर उसके सन्तान एवं भाई आदियोंमें बिना भी कहे वही ब्राह्मणत्व आदि जाति गृहीत होती है) इस महाभाष्यप्रोक्त जातिलक्षणसे, तथा 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (शतपथ० १४।६।४।२६) 'सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु। आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते' (मनु० १०।५) इत्यादि प्रमाणोंसे उस-उस जाति वा वर्ण वाले होते हैं। इसलिए 'वैखानसधर्मप्रश्न' में कहा गया है।

'ब्रह्मणो मुखाद् उद्भूता ब्राह्मणा ब्राह्मणश्च, ...तेषां गोत्रोत्पन्नाद् ब्राह्मण्याममगोत्रायां विधिना समन्त्रकं गृहीतायां जातो ब्राह्मणः शुद्धो भवेत्' (३।११।३) तस्माद् अधो बाहुभ्यामुत्पन्नात् क्षत्रियात् क्षत्रियायां विधिवज्जातः क्षत्रियः शुद्धः (५) अधस्ताद् ऊरुभ्यामुत्पन्नाद् वैश्याद् वैश्यायां तथा वैश्यः शुद्धः (८) अथ पद्भ्यामुत्पन्नात् शूद्रात् शूद्रायां न्यायेन शूद्रः शुद्धः' (३।१२।१) तेषामेव सङ्करेण उत्पन्नाः सर्वेऽनुलोमाद्याः [सङ्कराः]' (३।१२।३)। इससे "जो मुखादि अङ्गोंसे ब्राह्मणादि उत्पन्न होते; तो उपादान कारण (?) के सदृश ब्राह्मणादिकी आकृति अवश्य होती। जैसे मुखका आकार गोलमोल है, वैसे ही उनके शरीर भी गोलमाल मुखाकृतिके समान होना चाहिये...ऐसा नहीं होता। और जो कोई तुमसे प्रश्न करेगा कि—जो-जो मुखादिसे उत्पन्न हुए थे, उनको ब्राह्मणादि संज्ञा हो, परन्तु तुम्हारी नहीं, क्योंकि—जैसे और सब लोग गर्भाशयमें उत्पन्न होते हैं, वैसे तुम भी होते हो,

तुम मुखादिसे उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि संज्ञाका अभिमान करते हो, इसलिए तुम्हारा कहा अर्थ व्यर्थ है" (म० प्र० ४ पृ० ९३) यह कहते हुए स्वा० द० जीका खण्डन हो गया। क्योंकि—मुख उपादान कारण नहीं, किन्तु उत्पत्ति-द्वार है। मुखादिसे उत्पन्न ब्राह्मणादिकी सन्तानों का ब्राह्मणत्वादि 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' इस महाभाष्यके तथा पूर्व कहे हुए मनु (१०।४) याज्ञवल्क्य (आचा० ९०) वैखानस (३।११३-४-८) आदिके वचनों से होता है—यह हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं।

हम पूर्व कह चुके हैं कि—समन्वयकी दृष्टिसे 'ब्राह्मणोस्य मुख-मासीद्' इस मन्त्रका पञ्चमी अर्थ भी वेदको सम्मत है, प्रथमा अर्थ भी। उसमें पंचमीका अर्थ तो हम सप्रमाण दिखला ही चुके हैं—जिससे हमारे पक्ष 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था' की सिद्धि हुई, पर वादी लोग अपने पक्षके खण्डनके डरसे उस अर्थको स्वीकृत नहीं करना चाहते; वे प्रथमान्त अर्थमें विशेष परिश्रम करते हैं, कदाचित् वे उससे अपने पक्ष 'गुणकर्मणा वर्ण व्यवस्था' की सिद्धि समझते हैं, परन्तु प्रथमाका अर्थ भी हमारे ही पक्षका साधक है—यह हम श्रीशालग्रामजी शास्त्रीके शब्दोंको अपने क्रमसे अवलम्बित करके दिखलाते हैं, 'श्रीसनातनधर्मालोक' के विद्वान् पाठक इधर ध्यान दें।

(८) 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' (ख)

[जन्मना वर्णव्यवस्था]

(१) उक्त मन्त्रका 'यस्य ब्रह्म (ब्राह्मणं) मुखमाहु' (अथर्व० १०।७।१६) इत्यादि मन्त्रकी साक्षीसे 'ब्राह्मण इस परमात्माका मुख है, क्षत्रिय बाहु है, ऊरू वैश्य हैं, पाद शूद्र हैं'—यह अर्थ भी माना जावे; तथापि हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं, क्योंकि—मुख बाहु ऊरू या पाद और बाहु मुख, ऊरु पाद और ऊरु मुख, बाहु या पाद और पाद-मुख, बाहु, ऊरु जैसे नहीं हो सकते, वैसे ब्राह्मण- आदि भी ब्राह्मणादि ही रहते हैं; अन्य जातिवाले नहीं माने जाते—यह हम स्पष्ट करते दिखलाते हैं।

(२) यदि समाजको विराट्-पुरुष (परमात्मा) के रूपमें माना जावे, तो ब्राह्मण उसका मुख रहेगा, क्षत्रिय बाहुस्वरूप रहेगा, वैश्य कटि-स्वरूप ('मध्यं तदस्य यद् वैश्यः' अथर्व० १६।६।६) और शूद्र पाद-स्थानीय रहेगा। वैदिक सिद्धान्तमें एक विशेषता है, वह जैसे समष्टिमें घटता है वैसे व्यष्टिमें भी। वह जैसे जातिमें घटता है, वैसे ही व्यक्तिमें भी। जैसे ब्रह्माण्डमें समन्वित होता है, वैसे ही पिण्डमें भी। एक स्थल पर उसका समन्वय विस्तीर्ण है, दूसरे स्थलमें संक्षिप्त। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जैसे भारतमें दीखते हैं, वैसे ही एक शरीरमें भी विद्यमान हैं। अब यहां उसका समन्वय देखना चाहिये।

मुख और ब्राह्मणकी समानता देखिये। यह ज्ञानभाग है। ब्राह्मण सम्पूर्ण ज्ञानका अधिष्ठाता तथा लोभपरिग्रहसे रहित हो। यदि ब्राह्मण

ज्ञानहीन और लोभी होगा; तो वह न केवल अपना, प्रत्युत सम्पूर्ण समाजका अनिष्ट करेगा। अब मुखको देखिये। यह हाथ, पेट, पांव आदिकी अपेक्षा आकारमें तो छोटा है; परन्तु ज्ञानके सम्पूर्ण साधन उसीके पास हैं, अन्यके नहीं। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं, इन्हींसे सब प्रकारका ज्ञान होता है। वे इन्द्रियाँ हैं—दो आंखें, दो कान, नाक, जीभ और त्वचा।

यदि हम किसी वस्तुको देखना चाहें, तो उसका साधन (आंखें) कहाँ हैं? इसका उत्तर है कि—मुखमें। सुनने का साधन (कान) कहाँ हैं? मुखमें। भाषणकी शक्ति कहाँ है? मुखमें। त्वचा यद्यपि सारे शरीरमें है, शीत, उष्ण, मृदुता, कठोरता आदिका ज्ञान यद्यपि दूसरे अङ्गोंसे भी हो सकता है; तथापि ज्ञानके सम्पूर्ण साधन मुखसे अतिरिक्त किसी अङ्गमें नहीं हैं। इसलिए मुखको ही ब्राह्मण कहा गया है। पुरुष अपने अङ्गोंको विविध अवसरोंमें विभिन्न वस्त्र-आभूषणोंसे ढकता है, परन्तु ज्ञानकी खान मुख (ब्राह्मण) को अनावृत ही रखता है। यदि आंखें ढक जावें; तब दर्शन न हो सके। कान बन्द कर दिये जावें; तो सुनना समाप्त हो जावे। मुँह बन्द कर दिया जाए, तो भाषण बन्द हो जावे। नाक बन्द कर दिया जावे; तो नाकके साथ ही साथ प्राणवायु भी समाप्त हो जावे। बाहर जानेके समय यदि मुखको भी कपड़ोंसे सर्वथा ढक दिया जावे; तो न केवल मुखका ही अनिष्ट हो, बल्कि—सारा शरीर गड्ढेमें जा पड़े. वैसे ही ब्राह्मणके ज्ञानहीन या लोभी होने पर समाज अधोगतिको प्राप्त हो जावे।

और देखिये कि—आपके शरीरमें भोजन कौन प्राप्त कराता है? इसका उत्तर भी यही है कि—मुख। भोजनकी परीक्षा करना और उसका शरीरोपयोगी बनाना किसका काम है? मुखका। बासी, जले हुए, विकृत, अहितकर भोजनकी कौन परीक्षा करता है? वही मुख।

अहित वस्तुको थूक देना, और हितकर भोजनको चबाकर उसे शरीरोपयोगी बनाना किसका काम है ? मुखका। यदि मुख बिना ही चबाये बड़े-बड़े टुकड़े भीतर निगलता जावे, तो उसका फल क्या होगा ? पहला ही ग्रास हृदयमें पहुँचकर रुक जाए ? पहले खाया हुआ भी सभी बाहर निकल पड़े।

मुखका भी कर्तव्य है कि—वह अपनेमें भोजन स्थापित न करे, भीतर ही भेज दे। जो कुछ दाँतोंमें भी बच जाए, उसे भी कुल्ले आदि या तिनकेसे बाहर कर दे; नहीं तो दाँतोंमें पीड़ा होगी। ब्राह्मणका यह काम है कि- बाहरसे आती हुई और अपने समाजमें प्राप्त होती हुई वस्तुओंमें अच्छी तरह ध्यान दे। अहितकर पदार्थोंको अन्दर न घुसने दे। हितकर वस्तुओंको अपने समाजमें हज़म करने योग्य बनाकर अन्दर प्रविष्ट करावे; और बाहरी ज्ञानमें अपनी मुहर लगावे, पर यह ज्ञान-विभागका कार्य राजशक्तिकी सहायताके बिना नहीं हो सकता। पिण्ड (शरीर) में हाथोंकी सहायता, ब्रह्माण्डमें राज्यशक्तिकी सहायता आवश्यक है, परन्तु राज्यशक्ति भी वही हो, जो अपनी भुजाकी तरह अपने समाजका ही अङ्ग हो; बाहरकी वा अपने धर्मसे भिन्न, या भिन्न स्थानकी न हो। उस अपनी तथा अपने धर्मवाली सरकारके बिना, बाहरसे आई हुई, अनिष्टकारिणी विशृङ्खलताका अवरोध नहीं हो सकता। अस्तु।

मुखका कार्य तो यह है कि—हितकर वस्तुको शरीरोपयुक्त करके भीतर भेजे। यदि मुखमें लोभ पैदा हो जाय; और वह अपनी खाद्य वस्तुको अपनेमें ही रख छोड़े, गलेके नीचे न उतारे; उसका फल क्या होगा ? केवल मुखका नहीं, बल्कि सारे शरीरका अनिष्ट होगा। यदि मुखसे हित-अहित आदिके परीक्षणकी शक्ति नष्ट हो जावे, तब भी

यही परिणाम होगा। ब्राह्मणसे यदि ज्ञान चला जावे, उसमें लोभ अपना घर कर ले; तब भी समाजकी यही अवस्था होगी। मुख ही पढ़ाता है और मुख ही पढ़ता है, मुखका भाग मस्तिष्क ही समझता है और याद करता—रखता है। यदि मुख न रहे, तो पठन-पाठन लुप्त हो जावे। यदि मुख न हो तो शरीरकी पहिचान भी कठिन हो जावे। इसलिए शरीरके नाशार्थ पहले मुखको ही काटा जाता है। आज लोग इस मुखको काटना चाहते हैं, परन्तु इससे समाजका शरीर स्वयम् उच्छिन्न हो जायगा, मर जायगा। उस शरीरकी पहिचान भी कठिन हो जायगी—यह वे नहीं जानते। यही कारण है कि उक्त वेदमन्त्रमें मुखको ब्राह्मण कहा गया है।

(३) परन्तु यह भी सम्भव है कि मुख और आँखें होने पर भी कारणवश आँख कानी हो जाय, दृष्टिमें 'मोतियाबिन्द' का आवरण हो जावे, या अन्धापन हो जावे, अथवा उसमें आँखका मल भी रहे। कान होने पर भी एकमें, वा दोनोंमें बहिरापन हो जावे, कानमें मल भी रह सकता है। जिह्वा होने पर भी रोगादिके कारण उससे रसास्वादके ग्रहणकी शक्ति हट जावे या गूंगापन हो जावे या मौनिता हो जावे। उसकी नाक होती हुई जुकाम आदिसे ठीक-ठीक सूंघ न सके, उसमें नाकका मल भी हो सकता है, उसके मस्तिष्कमें त्रुटि होनेसे ज्ञानकी शिथिलता सम्भव हो सकती है। मुखसे अपशब्द भी निकल सकता है, अज्ञानमूलक बातें भी निकल सकती हैं। ऐसा होने पर मुख कदाचित् निन्दित तो माना जावे; तथापि वह रहेगा मुख ही, सारे शरीरके ऊपर ही रहेगा। वह न कभी बाहु, न कमर, न पांव हो सकता है। ऐसा अर्थ लेने पर भी वर्ण-व्यवस्था जन्मसे ही सिद्ध होगी। शास्त्र-ज्ञानरहित भी, वक्तृता शक्तिसे रहित भी ब्राह्मण, निन्दित ब्राह्मण ही रहेगा, शूद्र आदि कभी नहीं हो सकता!

(४) अब बाहुओंको देखिये—यह क्षत्रिय कहे गये हैं, यह *वीरभाग* है। यदि शिरमें लगुडप्रहार हो रहा हो, तब उसे रोकनेमें कौन आगे होता है? उसका उत्तर है—बाहु, हाथ। यदि चरणोंमें कांटा चुभा हो, तब कांटेको कौन निकालता है? हाथ। यदि कमर से धोती गिर रही हो, तब उसे कौन ठीक करता है? वही हाथ। यदि शत्रु पर लाठी चलानी हो, तब कौन उद्यत होता है? बाहु। कोई मुखसे, वा जांघसे, वा पांवसे लाठी नहीं मारता। इस प्रकार सारे शरीरकी रक्षाका भार बाहुओंके ऊपर है। इसी तरह ब्राह्मण, वैश्य, एवं शूद्रोंकी रक्षाका भार भी क्षत्रिय पर है? व्यायाम, मुद्गर आदियोंका प्रधान आधार भी बाहु है। यदि भुजाएँ व्यायामको छोड़कर दुर्बल हो जाएं, तो सिर पर दूसरोंका जूता भी पड़ेगा। क्षत्रियकी दुर्बलताका फल ब्राह्मणसे लेकर शूद्र तकको भोगना पड़ता है!

(५) सिर वा मुख ब्राह्मण है, बाहु वा छाती क्षत्रिय है—यह तो हो गया। इससे निचला भाग पेट, कमर, वा जांघें वैश्य हैं। 'ऊरू तदस्य यद् वैश्यः' (यजुः वा० सं० ३१।११) 'मध्यं तदस्य यद् वैश्यः' (अथर्व० १९।६।६) *यह संग्रह भाग है।* शरीरोपयोगी सब वस्तुएँ पेटमें जमा होती हैं, समाजोपयोगी सब वस्तुएं वैश्योंमें संगृहीत होती हैं। आंखने उत्तम भोजन देखा, हाथने उसे उठाया, मुखने उसे चबाया गलेसे नीचे उतारा। अब वह कहाँ जमा हुआ? इसका उत्तर है पेटमें, मध्यमें। सब शरीरके पालन-पोषणकी सामग्रीका केन्द्र क्या है? वही उदर। यदि उदर खाली हो, तो आँखें व्याकुल हो जावें, शिरमें चक्कर आने लगें, बाहुमें शक्ति न रहे! जांघ और पांव फिसल जाएं। वैश्योंके दारिद्र्यमें समस्त समाज नीचे गिरता है। पेटका काम है बाहरसे आई सामग्रीको संस्कृत तथा परिवर्तित करके सम्पूर्ण शरीरके पालन-पोषण योग्य बनावे। वैश्यका काम है बाहरसे आई हुई

वस्तुओंको परिवर्तित-परिवर्धित करके उसके सारभागसे सारे समाजका पोषण करके अधिक अवशिष्ट वस्तुका उत्सर्ग (दान) करदे।

यदि उदरका भाग अपने पास प्राप्त धनको केवल अपनेमें ही रखे, इधर उधर न पहुंचावे तो बद्धकोष्ठता होनेसे उसके साथ ही साथ सम्पूर्ण शरीरका मरण हो जावे। इसके अतिरिक्त यदि भोजनादिकी राशि उदरमें न जमा की जाय, किन्तु अन्य अङ्गोंमें, तब भी उन्हींकी हानि हो। इस प्रकार वैश्यको मध्य (कमर) मानकर भी घटा लेना चाहिये। कमरकी निर्बलतामें पुरुष उठने योग्य भी नहीं रहता, न कुछ कर ही सकता है। एक अन्य भी बात है। यदि सारा शरीर नंगा हो जावे, तो उतनी हानि नहीं है, परन्तु कमरमें कुछ आवरण आवश्यक है। जो आवरण पुरुषके मुखमें दूषण है, वही उसकी कमरमें भूषण है। जो लोभ ब्राह्मणका दूषण है, वही वैश्यवृत्तिका आवश्यक अङ्ग है। कमरमें आवरणके हटने पर निर्लज्जताका प्रकाण्डताण्डव हो जाता है।

(६) अब उससे नीचे उतरिये। *पांव शूद्र है, यह सेवाभाग है।* सम्पूर्ण शरीरका भार पांवों पर आश्रित है। इनके बिना ऊपरके अङ्ग व्यर्थ हैं। पांव यदि दृढ नहीं हैं, तो शरीरका पतन अनिवार्य है। जब शरीरको कहीं जाना हो, तो पांव अपने ऊपर सारे शरीरको उठाकर झट चल पड़ते हैं। पांव यह कभी नहीं कहते कि - छः महीने हम चलेंगे और छः महीने सारे शरीरके भारको उठाकर सिर चले। पांवोंमें कभी कांटा चुभ जाए; यदि हाथ उसे न निकाल सके, तो उसे मुख भी निकालता है; पर अपने दान्तोंसे। फिर दान्तोंमें भी प्राप्त पांवकी धूलि के अंशको वह थूकसे बाहर कर देता है और जलसे अपनी शुद्धि करता है। इस प्रकार हाथ भी यदि कभी पांवको छूता है; तो जलसे अपनी शुद्धि करता है। पांवोंकी कभी कुमार्गमें गमनकी आशा हो सकती है; पर मुखका मस्तिष्क भाग हानि सोचकर उसे उधरसे हटवा देता है।

पांवमें स्वयं ज्ञान नहीं हुआ करता; इस कारण मस्तिष्क भाग उसे जैसे चलाना चाहे; वह वैसे चले, अपनी इच्छानुसार नहीं, नहीं तो स्वय भी गिरेगा; सारे शरीरको भी गिराएगा। पांवमें सर्दी-गर्मी द्वारा शरीरमें हानि प्राप्तिकी आशङ्का भी रहती है; तब हाथ उसे जूता तथा जुराव आदि द्वारा ढक देता है। शरीर पर बाहरसे आया हुआ कोई कीड़ा आदि दिखाई पड़े; और उससे खुजली हो जाए, तो हाथ अपने नखोंसे उस खुजलीको दूर कर देता है, परन्तु यदि नख ही बहुत बढ़ जाएं, तो उनको भी चाकूसे सीमित रूपसे काटना पड़ता है।

(७) यह है वेदप्रोक्त वर्णधर्मका संक्षिप्त चित्र। वर्णाश्रमधर्म ही इस सिन्धुदेश (भारतवर्ष) की विशेषता है। वैदिककाल (सृष्टि-प्रारम्भ) में ही ब्राह्मण आदि वर्ण थे—और उनके धर्म-कर्म भी निर्धारित थे—यह उक्त वेदमन्त्रसे स्पष्ट हो रहा है। यह भी सिद्ध हो रहा है कि—मुख, बाहु, ऊरु आदि अङ्ग *जन्मसे उत्पन्न* और परस्पर-सापेक्ष रहा करते हैं, *कृत्रिम अङ्ग* परस्पर-निरपेक्ष रहा करते हैं; उस अङ्गका कार्य भी नहीं कर सकते। एक-दूसरेके बिना यह सब व्यर्थ हैं। इस प्रकार ब्राह्मणादि भी परस्पर सापेक्ष तथा जन्मजात हुआ करते हैं। समाजमें सभी अङ्गोंकी आवश्यकता हुआ करती है। अपने-अपने स्थानोंमें सभी अपेक्षित हुआ करते हैं, एकके भी बिना कार्य-निर्वाह नहीं हो सकता। एक के स्थानमें दूसरा नहीं रखा जा सकता। शूद्रको क्षत्रिय बनाना, वैश्यका ब्राह्मण बनाना, ब्राह्मणादिका शूद्र आदि बनाना उक्त वेदमन्त्रको इष्ट नहीं, उसमें मुख आदिका सादृश्य ही प्रमाण है। सभी अङ्गोंके कर्म, उनके वस्त्र-आभूषणादि अलग अलग हैं। उनकी अपने-अपने स्थानमें स्थिति होने पर ही प्रतिष्ठा एवं मर्यादा है; उनके इधर उधर करने पर किसी अङ्गकी प्रतिष्ठा बढ़ नहीं सकती, हाँ, वर्णमें उच्छृङ्खलता और लोकोपहास अवश्य हो सकता है। जूता पहननेसे पांवोंमें अप्रतिष्ठा जानकर यदि पांवोंमें पगड़ी बांध दी जाय, कमरकी प्रतिष्ठाकेलिए—

वैश्योंको ब्राह्मण बनानेके लिए उसको मुख की तरह नंगा कर दिया जाय, पांवके जूते शिरकी पगड़ीके स्थान रख दिये जावें-इस आकृतिसे यदि कोई बाहर जावे, तो कैसी दशा हो?

इसके अतिरिक्त अङ्गोंका परिवर्तन बिना काटनेके नहीं हो सकता, अतः उनके परिवर्तनका यत्न उनके काटनेके लिए ही है। ब्राह्मणोंका अत्याचार उद्‌घुष्ट करके वर्णाश्रम धर्म पर आक्षेप करने वालोंको इस मन्त्रसे शिक्षा लेनी चाहिये। अङ्ग पूर्वजन्मकर्मवश उत्पत्तिमूलक ही हैं, ऐहिक कर्ममूलक नहीं। ऐहिक कर्मोंसे उनकी पुष्टि-विपुष्टि ही होती है, उत्पत्ति नहीं। इन अङ्गोंके कर्म नियमित हैं, पर वे अपने कर्मोंसे पतित भी हो सकते हैं। तब वे कर्मपतित अङ्ग निन्दास्पद तो हो सकते हैं, पर वे उस अङ्गसे भिन्न अङ्ग नहीं हो जाते। मुख—बाहु, ऊरु, पैर, बाहु—मुख, ऊरु पैर, ऊरु—मुख, बाहु, पैर, और पैर—मुख, बाहु, ऊरु नहीं हो जाते।

ब्राह्मण ज्ञानभाग होनेसे मुख है। ज्ञानका पद उच्च हुआ करता है; इसलिए ईश्वरने मुखको सारे शरीरके ऊपर विराजमान बनाया है, और पैरोंको सबसे नीचे। सेवकका सबसे नीचे स्थान है। यदि यह अत्याचार है, तो पाओंको ऊँचा और सिरको नीचा करके व्यवहार चलाइये। जलमें सारा शरीर डूब जाए; पर सिर ऊपर रहे; तब तो कुछ भी हानि नहीं, परन्तु शिरके डूबने पर अवशिष्ट सारा शरीर ऊपर ठहरा हुआ भी व्यर्थ है। सोनेके समय भी सिरको कुछ ऊपर ही रखना पड़ता है, उसे तकिया देना पड़ता है, तकिया न मिले सके तो भुजा ही उसका तकिया बनती है। आरोग्य भी इसीमें है। यह ईश्वरीय नियम है। एक ही शरीरके अङ्ग होने पर भी सब अङ्गोंका कार्य और उपयोगिता भिन्न-भिन्न है। अपने-अपने कार्यमें लगे हुए को कोई

अप्रतिष्ठा नहीं। एक दूसरेके कार्य करने की अनधिकार चेष्टासे सबका सर्वनाश सम्भावित है। सांपकी पूँछने भी सिरका स्थान ग्रहण किया था— कितनी ठोकरें खाईं थीं। जैसे पैर मुख नहीं हो सकता, वैसे शूद्र आदिको ब्राह्मण बनाना भी उक्त वेदमन्त्रसे विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त मुख सुन्दर भी हो सकता है, बीभत्स भी। उसका मस्तिष्क प्रबल भी हो सकता है, निर्बल भी। बाहु पीन वा दृढ भी हो सकती है, निर्बल और कृश भी हो सकती हैं। कटिप्रदेश निर्बल वा जाँघें बहुत स्थूल होनेसे गमनमें अयोग्य भी सिद्ध हो सकती हैं। पाँव सुन्दर भी हो सकता है, धूल-धूसरित एवं मलिन भी और न चलने योग्य भी। तथापि इनकी संज्ञामें परिवर्तन नहीं हुआ करता।

ब्राह्मणत्वके लिए तीन वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, तपस्या, शास्त्र-ज्ञान और योनि (जन्म ब्राह्मण पितासे जन्म ब्राह्मणी मातासे उत्पत्ति) यह हम गत निबन्धमें महाभाष्यके प्रमाणसे बता चुके हैं। जो ब्राह्मण तपस्या एवं शास्त्रसे हीन है, वह जाति-ब्राह्मण है। यह ब्राह्मणकी निन्दा है। तपस्या और शास्त्रसे युक्त ब्राह्मण प्रशंसित होता है। इस प्रकार तपस्या एवं श्रुतके भाव-अभावसे ब्राह्मणकी स्तुति निन्दा है। तब वास्तविक उसका स्वरूपभूत कारण अवशिष्ट हुआ योनि अर्थात् ब्राह्मण माता पितासे जन्म। इस प्रकार जन्मसे वर्ण व्यवस्था और गुणकर्मसे उसकी प्रतिष्ठा सिद्ध हुई।

(८) उक्त मन्त्रका यह भाव नहीं कि—वैदिककालमें उक्त चार वर्णोंसे अतिरिक्त कोई जाति वा उपजाति नहीं थी; अथवा उस समय विराट्-पुरुषके मुख, बाहु, ऊरू चरणसे अतिरिक्त अन्य अङ्ग थे ही नहीं। नहीं, तब भी अन्य अनेक जातियाँ थीं, जिनका संकेत यजुर्वेद वा० सं० के तीसवें अध्यायमें है। केवल पूर्वके चार अङ्गोंसे प्राणीका

जीवन असम्भव है। मल-मूत्र त्यागके लिये शरीरमें अस्पृश्य अङ्ग गुद, उपस्थ आदिकी भी अनिवार्य रूपसे आवश्यकता हुआ ही करती है। यह उन चार अङ्गोंसे सङ्कीर्ण होनेसे अस्पृश्य है। जैसे शरीरमें अस्पृश्य अङ्गोंकी आवश्यकता भी हुआ करती है, वैसे ही समाजमें भी। जैसे कोई भी प्राणी इन अङ्गोंके बिना जीवित नहीं रह सकता, वैसे अस्पृश्य जातियोंके बिना समाज भी स्थिर नहीं रह सकता। यह जातियाँ भी समाजके आवश्यक और अनिवार्य और मुख आदियोंके ही सङ्कर अङ्ग हैं, साथ ही कोमल तथा असहिष्णु भी हैं। इनकी समुचित रक्षाका प्रबन्ध भी समाजका धर्म है। इनका अपनेसे जिस प्रकार विच्छेद न हो जाय, वैसा प्रयत्न करना चाहिये। तथापि इनके स्पर्शसे तो अपनी शुद्धि कर लेनी चाहिये।

इस प्रकार वेदमें एक ही मन्त्रमें सब कुछ कह दिया है। जैसे शरीरमें सब अङ्गोंकी सीमा, मर्यादा, अधिकार और कार्य विभक्त हैं, वैसे समाजमें भी होना चाहिये। एक के स्थानमें अन्य के रखनेसे, वा एक के दूसरा बना देनेसे, एक के योग्य कार्य को दूसरे को सौंप देनेसे बड़ी अव्यवस्था और उच्छृङ्खलता अनिवार्य है। वैश्योंको ब्राह्मण बनाने की चेष्टा वैसे हैं, जैसे पेट या कमरको सिर बनाने का उद्यम करना। शरीरके दृष्टान्तसे ही यह स्पष्ट है। इस प्रकार उक्त मन्त्रका अर्थ करने पर भी *जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्था सिद्ध होती है, कर्म से नहीं*; क्योंकि-मुख, बाहु, ऊरु, पाद जन्मसे ही उत्पन्न होते हैं। जन्ममूलक ही उनका वह-वह नाम हुआ करता है, कर्मसे वह नामकरण नहीं। जन्मसे शुरू करके मरणता तक उनका वही नाम हुआ करता है, *चाहे मुख मुखवाला कार्य करे या न करे।*

जैसे बाल्यमें जन्मके समय मुख निरक्षर शब्द करता हैं, फिर भी उसे मुख ही कहा जाता है, तब आंखोंमें अक्षर आदि पहिचाननेकी शक्ति नहीं होती, जो उसका कर्म है, फिर भी उसका नाम नेत्र हुआ

करते हैं। इस प्रकार वृद्धावस्थामें भी और यौवनमें रोग विशेष होनेपर भी जानना चाहिये। इसी तरह बाल्यावस्थामें, बाहुमें रक्षणकी शक्ति नहीं होती, बुढ़ापेमें भी नहीं होती। जवानीमें भी रोगादिवश वा दुर्बलेपनसे वैसी शक्ति नहीं होती, फिर भी उसका नाम बाहु वही रहता हैं। इस प्रकार ऊरु वा कमर और पाद भी जन्म समयमें अपनी शक्तिको धारण नहीं करते, इस प्रकार बुढ़ापेमें भी। जवानीमें भी रोगादिवश वा दुर्बलतावश उनमें अपना-अपना कर्म नहीं होता, तथापि उनका नाम यथापूर्व ऊरु और पाद ही हुआ करता है। इस प्रकार निरक्षर भी ब्राह्मण, बालक और वृद्धके सुखकी तरह ब्राह्मण ही रहता है। जैसे बालकको काममें नहीं लाया जाता और वृद्धको कामसे रिटायर कर दिया जाता है, वैसे ही निरक्षर भी ब्राह्मणको चाहे श्राद्ध, दान-ग्रहणादि कार्य में न लाया जाय, तथापि उसे मानना ब्राह्मणादि ही पड़ेगा। दानग्रहणादि कार्य में विद्वान् जन्म ब्राह्मणको ही लाया जावेगा, विद्वान् भी क्षत्रियादिको नहीं। जैसे कार्यसे रिटायर किये गये हुए भी वृद्धकी रक्षा की जाती हैं, कार्यसे अपरिचित या कार्यमें न लाये गए भी बालकका संरक्षण ही किया जाता है, वैसे ही निरक्षर भी ब्राह्मणको श्राद्धादिमें न बुलाने पर भी उसका निर्वाह-योग्य वृत्तिदानसे संरक्षण करना ही चाहिये। क्योंकि यह उसके पूर्व जन्मके कर्मोंका संमान है जिससे वह इस जन्ममें ब्राह्मण वंशमें उत्पन्न हुआ। जैसे नेत्र आदिसे युक्त मुखके शिथिल होने पर भी उसके स्थानमें सबल भी बाहु वा ऊरु वा पादको आश्रित नहीं किया जाता, किन्तु नेत्रादिकी शुद्धि ही की जाती है, मुख आदिकी चिकित्सा ही की जाती है, अथवा उसका प्रतिनिधि अन्य नेत्र आदि उपयुक्त किया जाता है वैसे ही उस साधारण ब्राह्मणादिकी भी गुरु आदि द्वारा योग्यता करानी चाहिये, अथवा उसके साक्षर पुत्रको नियुक्त करना चाहिये, योग्यतावाले भी क्षत्रिय-वैश्य आदिको नहीं—यह अवश्य स्मर्तव्य है।

यह मुख, बाहु, ऊरु, पाद शैशवसे आगे छोटी आकृतिसे बड़ी आकृतिको तथा पर्याप्त शक्तिको भी क्रमसे धारण करते हैं, कुष्ठलेपनको वा ह्रस्वाकार वा अशक्तिको भी धारण करते हैं, तथापि नाम उनका वही रहता है; इस प्रकार ब्राह्मण निरक्षर भी अन्त तक ब्राह्मण ही रहता है। क्षत्रिय रणमें असंलग्न भी जन्मसे मरण तक क्षत्रिय ही रहता है। वैश्य और शूद्र कृषि एवं सेवा आदिमें न लगे हुए भी वही रहते हैं, इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था भी जन्मसे सिद्ध होती है। परन्तु जैसे सब अङ्गोंके अपने-अपने कर्ममें लगने पर शरीरकी सुव्यवस्था रहती है; वैसे ही ब्राह्मणादिके भी अपने-अपने कर्ममें लगने पर ही संसारमें सुव्यवस्था होती है। एक-दूसरेकी वृत्ति या कर्मकी छीना-झपटी करने पर भी अव्यवस्था होती है, स्ववर्ण-कर्म-त्यागमें भी। जन्मसे वर्ण-व्यवस्था मानने वाला भी सनातनधर्म उन उन वर्णोंको स्वस्व-कर्मपरित्यागमें कभी प्रोत्साहन नहीं देता, प्रत्युत वैसोंकी निन्दा करता है।

(६) इस प्रकार स्पष्ट है कि—शरीरके यह चारों ज्ञान-विभाग, वीर-विभाग, संग्रह-विभाग, सेवा-विभाग, अपने अपने नियत कर्मोंको करते हैं, एक-दूसरेसे ईर्ष्या नहीं करते। यह इस प्रकार से मिले हुए हैं कि—दर्शक इनको पृथक् नहीं समझता। इनमें प्रेमकी भी पराकाष्ठा है। चलनेके समय पांव नंगा हो जावे, उसमें कांटा चुभ जावे; तब मुख चिल्लाता है कि-हाय! मैं मर गया। शत्रु सिर पर लाठी मारने लगे, तब दोनों हाथ सिरको बचानेके लिए झट तैयार हो जाते हैं, स्वयं प्रहार सह लेते हैं; परन्तु सिरको बचाते हैं। जैसे हाथ सिर की रक्षा करते हैं, वैसे ही पेट या पांव पर चढ़ते हुए दुष्ट जीवोंको भी दूर करते हैं। पांवमें यदि कांटा चुभ जावे तो हाथ झट पांवके पास पहुँचते हैं। जब तक वह कांटा नाखून द्वारा या सुई द्वारा न निकले;

तब तक वीरभाग प्रयत्नको समाप्त नहीं करता। भुजा, उदर, पांवमें आती हुई विपत्तियोंका दूर करना, बुद्धिमत्तासे उनके दूर करनेका उपाय सोचना—इसको सिरका मस्तिष्कभाग ही सदा करता है। पेट यथायोग्य स्थानमें रस पहुँचाता है। एक पुरुष बाहिर जाना चाहता है, गमनका अन्य साधन नहीं है, तो पांव सिर, बाहु, कमर आदिको उठाकर झट चल पड़ते हैं। इनके खाने-पीने आदिसे उत्पन्न हुए मल-मूत्र भागको इन्हीं गुदा, ऊरु आदि *अङ्गोंकी सङ्करतासे बने अछूत अङ्ग* बाहर डाल आते हैं—जिससे उक्त शुद्ध अङ्ग सुरक्षित रहें। अन्य *शुद्ध अङ्ग भी इन सङ्कर अङ्गोंको स्पर्श न करते हुए भी, अथवा आवश्यकतावश स्पर्श करते हुए भी जलसे अपनी शुद्धि करके* इनकी भी रक्षा करते हैं, इनको कभी नंगे नहीं रहने देते। पर रखते इनको अपने शरीरके पृष्ठमें हैं, जैसे अन्त्यजोंको नगरसे बाहर ही उनकी आरोग्यतार्थ रखा जाता है। अथवा आगे रखते हुए भी उन्हें आवृत रखते हैं। उनके छूने पर अपनी शुद्धि करते हैं।

इन सब अङ्गोंमें यह विवाद कभी नहीं होता कि—अब तो हम ही मुख बनेंगे, खीर खाएंगे। भुजा भी कभी आग्रह नहीं करते कि—हम अपना कार्य छोड़ देंगे और सिर पर चढ़कर बैठ जावेंगे। पांव भी आग्रह नहीं करते कि—हम सब अङ्गोंके भार उठाने का कार्य छोड़ देंगे, अब मुखका कार्य देखना, सुनना तथा मधुरान्न खाना हम करेंगे। किन्तु वे अपनी रक्षाकी नियुक्ति उनकी देख-रेखमें छोड़ देते हैं और समय पर कुछ आराम मांगते हैं। *अस्पृश्य (अछूत) अङ्ग मल निकालकर शुद्धि प्राप्त किये हुए भी यह आग्रह नहीं करते कि—अब तो हम शुद्ध हो गये, अब हमें हाथ भी छुवे, मुंह भी अवश्य छुवे।* न वे वैसा आग्रह करते हैं, न शुद्ध अङ्ग *बिना अत्यन्त आवश्यकताके* उनको *छूते ही हैं।*

यही वर्ण-व्यवस्थाका विज्ञान है। जैसे शरीरमें मुख आदि चार भाग असङ्कीर्ण हैं; पांचवां सङ्कीर्ण अपानआदि अस्पृश्य भाग भी है, वैसे ही हिन्दु जातिके समाजमें भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र यह चार असङ्कीर्ण-वर्णभाग और पांचवां सङ्कीर्ण वा अवर्ण अन्त्यज समाज है। जैसे यह शरीरके चार भाग तथा पञ्चम अपान आदि अपने-अपने कर्मोंको करते हुए शरीरको उन्नत करते हैं, वैसे ही ब्राह्मण आदि चार वर्ण तथा पञ्चम अवर्ण भी अपने-अपने नियत कर्मोंको करते हुए हिन्दु जातिको उन्नत कर सकते हैं। जैसे शरीरके इन चारों अङ्गोंमें आपसमें प्रेमकी पराकाष्ठा है; वैसे ही ब्राह्मणादि वर्णोंमें भी आपसमें प्रेम आवश्यक है। जैसे शरीरके चार भाग पृथक्-पृथक् होते हुए भी शरीरकी संघटनासे एक बने हुए हैं, वैसे ब्राह्मणादि चारों वर्ण पृथक्-पृथक् होते हुए भी हिन्दुत्वके सम्बन्धसे एकताको ही प्राप्त हुए हुए हैं। जो लोग आक्षेप करते हैं कि—शूद्र ब्राह्मण हो सकता है, वैश्य क्षत्रिय हो सकता है, विज्ञान उनके मतकी पुष्टि नहीं करता। तब वह ग्राह्य भी कैसे हो सकता है?

फलतः 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' मन्त्रके इन दोनों प्रकारके ही अर्थोंसे सनातनधर्मके पक्षकी ही पुष्टि है। सनातनधर्मी तथा आर्यसमाजी दोनोंका ही इस मन्त्र द्वारा अपने पक्षकी सिद्धिमें विशेष अभिनिवेश रहता है, इसलिए हमने भी इस मन्त्रका विशेष विशदीकरण किया है। अब अन्तमें हम इस विषयमें आर्यसमाजी विद्वान् श्रीबुद्धदेवजी विद्यालङ्कारके अर्थकी आलोचना करते हुए इस निबन्धको उपसंहृत करते हैं।

(१०) 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' में पूर्व अर्थ बताते हुए हमने गत निबन्धमें ब्राह्मणका मुखसे जन्म, क्षत्रियका बाहुसे जन्म, ऊरुसे वैश्यका जन्म, और पांवसे शूद्रका जन्म बहुत प्रमाणोंसे सिद्ध किया है—इस

विषय पर श्रीबुद्धदेवजीने 'सार्वदेशिक' (सितम्बर सन् १९४६ पृष्ठ २९३-२९६) में लिखा है—

(क) प्रथम ब्राह्मण तो मुख अथवा भुजासे उत्पन्न होनेसे श्रेष्ठ हुए, परन्तु उसके पश्चात् उनके सन्तान तो मुख अथवा भुजासे उत्पन्न हुए नहीं; तब वे ब्राह्मण, क्षत्रिय कैसे कहलाये ?

(ख) बात तो सच यह है कि—ब्राह्मणका जन्म अर्थात् प्रादुर्भाव आज भी मुखसे होता है। हजार मनुष्य सभामें चुपचाप बैठे हों, कौन ब्राह्मण है, कौन मूर्ख—यह पता नहीं लगता, परन्तु जब शास्त्रचर्चा चलती है, तब ब्राह्मणोंके वचनोंको सुनकर सब उसका लोहा मान लेते हैं। यही ब्राह्मणका 'मुखसे प्रादुर्भाव' है।

(ग) इसी प्रकार भीरु तथा क्षत्रिय इकट्ठे बैठे हों, तो कुछ पता नहीं लगता कि—कौन भीरु है, कौन क्षत्रिय ? परन्तु संकट पड़ने पर भुजबलसे क्षत्रियका प्रादुर्भाव हो जाता है।'

इस पर उत्तर हम निम्न पंक्तियोंमें देते हैं।—

(क) मालूम होता है कि—इस प्रश्नको श्रीबुद्धदेवजी एक बड़ी भारी बात मान बैठे हैं कि—'सृष्टिकी आदिमें तो परमात्माके मुखसे उत्पन्न ब्राह्मण तथा भुजासे उत्पन्न क्षत्रिय कहलाये, परन्तु उनके सन्तान तो मुख-भुज आदिसे उत्पन्न न होनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय कैसे कहलाये ?' स्वा० दयानन्दजीने भी अपने स० प्र० में इस प्रश्नको महत्त्व दिया है। हम इसका उत्तर देते हैं। जब आप दोनों गुरु-चेलोंने 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' में पञ्चमी अर्थ मान लिया और परमात्माके मुख आदिसे ब्राह्मण आदिकी उत्पत्ति भी मान ली, सृष्टिप्रकरण भी मान लिया; तब आगे कोई कठिन बात नहीं रही। उक्त मन्त्रमें 'ब्राह्मण' शब्द तथा 'राजन्य' शब्द 'ब्रह्म हि ब्राह्मणः, क्षत्रं राजन्यः' (शतपथ५।१।१।११)

यही वर्ण-व्यवस्थाका विज्ञान है। जैसे शरीरमें मुख आदि चार भाग असङ्कीर्ण हैं; पांचवां सङ्कीर्ण अपानआदि अस्पृश्य भाग भी है, वैसे ही हिन्दु जातिके समाजमें भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र यह चार असङ्कीर्ण-वर्णभाग और पांचवां सङ्कीर्ण वा अवर्ण अन्त्यज समाज है। जैसे यह शरीरके चार भाग तथा पञ्चम अपान आदि अपने-अपने कर्मोंको करते हुए शरीरको उन्नत करते हैं, वैसे ही ब्राह्मण आदि चार वर्ण तथा पञ्चम अवर्ण भी अपने-अपने नियत कर्मोंको करते हुए हिन्दु जातिको उन्नत कर सकते हैं। जैसे शरीरके इन चारों अङ्गोंमें आपसमें प्रेमकी पराकाष्ठा है; वैसे ही ब्राह्मणादि वर्णोंमें भी आपसमें प्रेम आवश्यक है। जैसे शरीरके चार भाग पृथक्-पृथक् होते हुए भी शरीरकी संघटनासे एक बने हुए हैं, वैसे ब्राह्मणादि चारों वर्ण पृथक्-पृथक् होते हुए भी हिन्दुत्वके सम्बन्धसे एकताको ही प्राप्त हुए-हुए हैं। जो लोग आक्षेप करते हैं कि—शूद्र ब्राह्मण हो सकता है, वैश्य क्षत्रिय हो सकता है, विज्ञान उनके मतकी पुष्टि नहीं करता। तब वह ग्राह्य भी कैसे हो सकता है?

फलतः 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' मन्त्रके इन दोनों प्रकारके ही अर्थोंसे सनातनधर्मके पक्षकी ही पुष्टि है। सनातनधर्मी तथा आर्यसमाजी दोनोंका ही इस मन्त्र द्वारा अपने पक्षकी सिद्धिमें विशेष अभिनिवेश रहता है, इसलिए हमने भी इस मन्त्रका विशेष विशदीकरण किया है। अब अन्तमें हम इस विषयमें आर्यसमाजी विद्वान् श्रीबुद्धदेवजी विद्यालङ्कारके अर्थकी आलोचना करते हुए इस निबन्धको उपसंहृत करते हैं।

(१०) 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' में पूर्व अर्थ बताते हुए हमने गत निबन्धमें ब्राह्मणका मुखसे जन्म, क्षत्रियका बाहुसे जन्म, ऊरुसे वैश्यका जन्म, और पांवसे शूद्रका जन्म बहुत प्रमाणोंसे सिद्ध किया है—इस

विषय पर श्रीबुद्धदेवजीने 'सार्वदेशिक' (सितम्बर सन् १९४६ पृष्ठ २६३-२६६) में लिखा है—

(क) प्रथम ब्राह्मण तो मुख अथवा भुजासे उत्पन्न होनेसे श्रेष्ठ हुए, परन्तु उसके पश्चात् उनके सन्तान तो मुख अथवा भुजासे उत्पन्न हुए नहीं; तब वे ब्राह्मण, क्षत्रिय कैसे कहलाये ?

(ख) बात तो सच यह है कि—ब्राह्मणका जन्म अर्थात् प्रादुर्भाव आज भी मुखसे होता है। हजार मनुष्य सभामें चुपचाप बैठे हों, कौन ब्राह्मण है, कौन मूर्ख—यह पता नहीं लगता, परन्तु जब शास्त्रचर्चा चलती है, तब ब्राह्मणोंके वचनोंको सुनकर सब उसका लोहा मान लेते हैं। यही ब्राह्मणका 'मुखसे प्रादुर्भाव' है।

(ग) इसी प्रकार भीरु तथा क्षत्रिय इकट्ठे बैठे हों, तो कुछ पता नहीं लगता कि—कौन भीरु है, कौन क्षत्रिय ? परन्तु संकट पड़ने पर भुजबलसे क्षत्रियका प्रादुर्भाव हो जाता है।'

इस पर उत्तर हम निम्न पंक्तियोंमें देते हैं।—

(क) मालूम होता है कि—इस प्रश्नको श्रीबुद्धदेवजी एक बड़ी भारी बात मान बैठे हैं कि—'सृष्टिकी आदिमें तो परमात्माके मुखसे उत्पन्न ब्राह्मण तथा भुजासे उत्पन्न क्षत्रिय कहलाये, परन्तु उनके सन्तान तो मुख-भुज आदिसे उत्पन्न न होनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय कैसे कहलाये ?' स्वा० दयानन्दजीने भी अपने स० प्र० में इस प्रश्नको महत्त्व दिया है। हम इसका उत्तर देते हैं। जब आप दोनों गुरु-चेलोंने 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' में पञ्चमी अर्थ मान लिया और परमात्माके मुख आदिसे ब्राह्मण आदिकी उत्पत्ति भी मान ली, सृष्टिप्रकरण भी मान लिया; तब आगे कोई कठिन बात नहीं रही। उक्त मन्त्रमें 'ब्राह्मण' शब्द तथा 'राजन्य' शब्द 'ब्रह्म हि ब्राह्मणः, क्षत्रं राजन्यः' (शतपथ५।१।१।११)

इस वचनके अनुसार स्वार्थ-वाचक हैं, तब 'परमात्माके मुखमें क्या ब्राह्मण-ब्राह्मणीका जोड़ा बैठा था' यह आपका उपहास उपपन्न नहीं हो सकता।

अब शेष रहा यह प्रश्न कि—उन ब्राह्मणों-क्षत्रियोंके सन्तान परमात्माके मुख-भुजासे उत्पत्तिके बिना ब्राह्मण-क्षत्रिय कैसे हुए' इस विषयमें श्रीबुद्धदेवजी वेदाङ्ग व्याकरणको देखें। वहां 'ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः' यह अपत्य प्रत्ययार्थक अण् होगा। इसमें प्रमाण-'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० ६।४।१७१) अथवा—'ब्राह्मणस्यापत्यं ब्राह्मणः' यह अपत्यार्थक (पा० ४।१।९२) अण् प्रत्यय भी हो सकता है। इसी प्रकार 'राज्ञोऽपत्यं राजन्यः' 'राजश्वशुराद् यत्' (पा० ४।१।१३७) 'राज्ञोऽपत्यग्रहणे जातावेव कर्तव्यम्' (वा०) 'क्षत्रस्य अपत्यं क्षत्रियः' 'क्षत्राद् घः' (पा० ४।१।१३८) इससे अपत्य अर्थमें 'यत्' प्रत्यय वा 'घ' प्रत्यय करने पर 'राजन्य' वा 'क्षत्रिय' कहलाता है। अथवा 'राजन्यस्यापत्यं राजन्यः' 'तस्यापत्यम्' (पा० ४।१।९२) से अण् प्रत्यय होने पर भी 'राजन्य' बनता है, इससे ब्राह्मण और क्षत्रियोंके सन्तान भी ब्राह्मण, क्षत्रिय सिद्ध हो गये।

यदि विद्यालङ्कारजी कहें कि—ब्राह्मण, राजन्यके सन्तान ब्राह्मण, क्षत्रिय शब्दवाच्य तो सिद्ध होगये—यह ठीक है, पर वे ब्राह्मण, राजन्य जाति वाले तो न हुए, इस पर हम कहेंगे कि—यह भी सुन लीजिये। वेदाङ्ग व्याकरणके 'जातेरस्त्रीविषयात्' (पा० ४।१।६३) सूत्रके 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' यह ब्राह्मणादि जातिके लक्षण बताने वाला वार्तिक आया है। उसका अर्थ यह है कि—'सकृद् एकस्यां व्यक्तौ कथनात् (मुख-भुजाद् उत्पन्नः ब्राह्मणोऽयम्, क्षत्रियोऽयम्, इत्युपदिष्टे) तद् व्यक्त्यन्तरे (तदपत्यसहोदरादौ) सदुपदेशं विनापि सा जातिर्भवति' यह महाभाष्यका आशय है अर्थात् एक बार यह सिद्ध हो जाने पर कि यह ब्राह्मण है वा

क्षत्रिय है—फिर उसके सन्तान आदिको भी वही माना जाता है—यह दूसरा जातिलक्षण है। तब जब परमात्माके मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए, तब उनका ब्राह्मण यह वेदोक्त नाम होनेसे उनके सन्तान-सहोदर आदिको भी उक्त वेदाङ्गोक्त जातिलक्षणानुसार उसी जातिका कहा जाता है। इसी प्रकार बाहुज क्षत्रिय, ऊरुज वैश्य, तथा पादज शूद्रकी सन्ततियोंमें भी उसी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इस जन्मसिद्ध जातिका व्यवहार 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' इस वेदाङ्गके कथनसे हुआ करता है—यह बात वेदको भी सम्मत है। यह हम गत निबन्धमें सिद्ध कर चुके हैं। और 'ब्राह्मोऽजातौ' सूत्रमें ब्राह्मणको 'राज्ञोऽपत्यं ग्रहणं जातावेव' इस वार्तिकमें राजन्यको जातिवाचक ही माना है। हो गया आपकी बड़ी भारी युक्तिका वेद-वेदाङ्ग द्वारा समाधान।

(ख) अब आपकी कही ब्राह्मणके मुखसे जन्मकी विवेचना पर भी सुनिये। आपके अनुसार सभामें जो क्षत्रिय-वैश्य बैठे होंगे, वे शास्त्र-चर्चामें आपके अनुसार कुछ भी बोल नहीं सकेंगे तब कदाचित् आप क्षत्रिय तथा वैश्यका ब्राह्मण—इतनी विद्या पढ़ना न मानते होंगे। कहीं आप शूद्रको वेदविद्या पढ़ाना मानते हैं, कहां आपने क्षत्रिय, वैश्यको भी शास्त्र पढ़ाने वेदानुसार बन्द करवा दिये। जनक, अजातशत्रु आदि क्षत्रियोंका उपनिषदोंमें निरूपण आया है, उन्होंने वहां ब्राह्मणोंको भी ब्रह्मविद्या सिखलाई। पर यदि आपका किया उक्त मन्त्रका अर्थ ठीक है, तो उपनिषद्को मुखसे जन्म वाले क्षत्रियोंको ब्राह्मण कहना चाहिये था, और मुखसे जन्म-रहित ब्रह्मविद्यानभिज्ञ ब्राह्मणोंको शूद्र कहना चाहिये था, पर जब उसने वैसा नहीं कहा, उपदेष्टा भी क्षत्रियको क्षत्रिय ही कहा है, अनभिज्ञ भी ब्राह्मणोंको ब्राह्मण ही कहा है, तब श्रीबुद्धदेवजीका अर्थ जहां मनगढ़न्त सिद्ध हो गया, वहां वर्ण-व्यवस्था भी गुणकर्मसे न बनकर जन्मसे ही सिद्ध हुई।

श्रीबुद्धदेवजीके अनुसार कई आदमी बैठे हों, कोई पुरुष मुखसे किसीको गाली देता जाय, तो वह उनके 'वैदिक' मतके अनुसार ब्राह्मण होगा—क्योंकि उसकी उस समय मुखसे उत्पत्ति हो रही है। जो चुप बैठे हैं, वे मुखसे उत्पन्न न होनेसे शूद्र होंगे। इस अपने बनावटी अर्थमें आपने मन्त्रमें स्थित *'अस्य'* पद (*'ब्राह्मणोस्य मुख'*) को कहाँ छिपा दिया? *सृष्टि-उत्पत्तिके प्रकरणमें परमात्मासे भिन्न तो सर्वनामका* अर्थ हो नहीं सकता। और फिर जो वक्ता न हो, लेखसे ही आपको परास्त करदे, वह तो ब्राह्मण न हुआ, क्योंकि—वह मुखसे उत्पन्न नहीं हुआ। यदि आप शास्त्रचर्चामें परास्त होकर चुप हो जाएं, तब आप ब्राह्मण रहेंगे या अब्राह्मण—इसका निर्णय भी कर लीजिये। जो विद्वान् सभामें चुप किये बैठे हैं, वे आपके अनुसार मुखसे उत्पन्न न हो रहे होनेसे क्या शूद्र हैं?

क्या 'मूर्ख' भी कोई 'वर्ण' है, जिसे आपने 'ब्राह्मणवर्ण' की प्रतियोगितामें रखा है? रातको शयनके समय आप अपनी स्त्रीके साथ शास्त्रचर्चा तो करते न होंगे, तब आप ब्राह्मण भी न रहते होंगे। तब आप अपनी ब्राह्मण स्त्रीका परिवर्तन भी करेंगे या नहीं? अथवा शास्त्रचर्चामें आपकी पत्नी आपसे पराजित हो जाय, प्रत्युत्तर देनेमें उसका मुख बन्द हो जाय, तब आप तो ब्राह्मण होंगे, वह शूद्रा। तब आपका उसके साथ संयोग क्या शास्त्रीय होगा? क्या वह वर्णसङ्कर उत्पन्न करने वाला न होगा? इधर आपका जन्मा पुत्र आपकी तरह मुखसे उत्पन्न तो होगा नहीं, वह ब्राह्मण भी न होगा। तब आप क्या उसे अपने स्वामीके अनुसार किसी शूद्रको देनेके लिए तैयार होंगे? अथवा रोनेसे ही उसकी उत्पत्ति भी मुखसे मानें, तो सभी रोने वाले लड़के ब्राह्मण होंगे।

(ग) अब आपका क्षत्रियका 'बाहुसे जन्म' परीक्षित किया जाता है। आपके हिसाबसे युद्धमें कर्ण, द्रोणाचार्य आदिके मुकाबलेमें भाग जाने वाले युधिष्ठिर तो अब क्षत्रिय न रहे, द्रोणाचार्य आदि क्षत्रिय हो गये, क्योंकि—उनकी भुजबलसे उत्पत्ति हुई। पर 'महाभारत' में द्रोणाचार्यको ब्राह्मण तथा युधिष्ठिरको क्षत्रिय बताया गया है। यह क्यों? क्या यह बात आपके उक्त अर्थकी अशुद्धता की परिचायक नहीं! क्या 'भीरु' भी कोई वर्ण है, जिसे आपने क्षत्रियकी प्रतियोगिता में रखा है? आप भीरुको कौनसा वर्ण देंगे? यह भी बताएँ कि—भीष्मको शास्त्रज्ञ होनेसे (देखिये उसका आदर्श 'शान्तिपर्व' तथा 'अनुशासनपर्व' में) तथा भुजबलसे युक्त होनेसे (देखिये उसका आदर्श 'भीष्मपर्व' में) क्या ब्राह्मण-क्षत्रियका सङ्कर मान लेंगे? फिर तो कुश्ती खेलने वालोंको क्षत्रिय कह देंगे। आप जब गुरुकुलमें भुजबल दिखलाया करते थे, भुजबलसे मुद्गर घुमाते थे, आप तब क्षत्रिय तथा विद्याध्ययन-व्यापृत होनेसे ब्राह्मण—इस प्रकार वर्णसङ्कर थे?

तब जो क्षत्रिय भुजबल न होनेसे क्षत्रिय न रहेंगे, उनका कौनसा वर्ण होगा? स्त्रियाँ स्वभावतः अबला होती हैं, क्योंकि वे शुक्रकी गौणता तथा रजकी अधिकतासे उत्पन्न होती हैं। रज शुक्रधातुकी अपेक्षा बहुत निर्बल होता है, तब स्त्रियां तो क्षत्रिय सर्वथा होंगी नहीं, तब क्षत्रिय बेचारे तो अविवाहित ही रहे। स्त्रियाँ मुखसे गालिप्रदान-दक्ष होती हैं, तब मुखसे उत्पत्तिके कारण वे आपके मतमें ब्राह्मणी हो जाएँगी। वैश्य स्त्रियां क्या व्यापार करने जाएंगी? परन्तु उन गज-गामिनियोंके ऊरु शीघ्र न चल सकेंगे, तब वे वैश्य भी न होंगी, तब वैश्य भी अविवाहित ही रहेंगे। शास्त्रानुसार सेवामें संलग्न स्त्रियोंको क्या आप शूद्र मानेंगे? तब तो स्त्रीमात्र शूद्र हो जाएंगी, तब आप उन्हें वेदाधिकार ही कैसे दे सकेंगे? फिर तो 'जन्मना जायते शूद्रः'

यह आर्यसमाजियोंका अभीष्ट वचन भी अशुद्ध हो जायगा, क्योंकि—उत्पन्न होते हुए सभी सेवा नहीं कर रहे होते, किन्तु माता-पिता द्वारा सेवा करा रहे होते हैं। लंगड़े शूद्र पुरुषोंको तो आप पैरसे उत्पत्ति न होनेसे अनर्थ ही मान लेंगे।

श्रीबुद्धदेवजी केवल ब्राह्मण, क्षत्रियकी मुख, बाहुसे उत्पत्ति बतलाकर चुप हो गये। न तो आगे उन्होंने वैश्यको ऊरुसे उत्पादित किया, न शूद्रको पैरोंसे उत्पन्न कराया। कदाचित् यहां उनकी तर्कशक्ति कुण्ठित हो गई हो? कदाचित् इस विचारसे कि हैदराबाद आदि नगरोंमें ऊरुके बल या पैरके बलसे जाने वाले आप ऊरु वा पांवसे जन्म हो जानेके कारण वैश्य या शूद्र न बन जाएं! महाशय! बनावटी अर्थ करनेमें ऐसे दोष स्वतः उपस्थित हो ही जाया करते हैं। आप इन कृत्रिमताओंको बन्द कीजिये। वर्णोंको कर्मसे व्यवस्थित करना अव्यवस्थाओंको उत्पन्न करना है, जन्मसे व्यवस्थापित करनेमें ही अव्यवस्थाएं दूर हो सक्ती हैं। हम इसको श्री पं० गङ्गाप्रसादजी शास्त्रीके शब्दोंमें लिखते हैं।

(११) आर्यसमाजका प्रश्न है कि—

(क) जब मनुष्य शूद्रके कर्म करनेसे शूद्र है, उसको यज्ञ करना, तथा वेदपठनादिका अधिकार है या नहीं? यदि है तो वह ब्राह्मण हो गया, या शूद्र ही रहा? यदि शूद्र; तो कर्मसे ब्राह्मण बनता है—यह आपका सिद्धान्त कहां गया? यदि ब्राह्मण बन गया, तो यह अधिकार ब्राह्मणको मिले, शूद्रको कहां मिला? शूद्र तो अधिकारोंसे वञ्चित ही रहा।

(ख) आर्यसमाजी विद्वान् श्रीआर्यमुनिने मी० द० ६।१।२५ में शूद्रको यज्ञाधिकारका निषेध ही किया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक शूद्र

अपने कर्म-सेवा शिल्पादिका त्याग नहीं कर सकता, तब उसे द्विजोंके अधिकार वेदाध्ययनादि प्राप्त नहीं हो सकेंगे।

(ग शूद्र भी वेद पढ़े—यह हो नहीं सकता, क्योंकि—आर्य-समाजिक सिद्धान्तसे मूर्खका नाम शूद्र है। इस प्रकार सामर्थ्याभावके कारण तो शूद्रको वेदसे अवश्य ही वञ्चित रहना पड़ेगा। फिर 'यथेमां वाचं' मन्त्रसे शूद्रको वेदाध्ययन कैसे प्राप्त होगा?

(घ) यदि शूद्र नाम मूर्खका ही है, तो क्यों कोई अपना नाम शूद्र रखावेगा? कोई मूर्ख भी अपने लिए मूर्ख शब्द नहीं सह सकता: इस प्रकार एक वर्णका अभाव ही हो जावेगा और आर्यसमाजमें भी शूद्र अपमानित रहा।

(ङ) यदि सब शूद्र अपने कर्मोंको छोड़कर ब्राह्मण बनने चल दिये, तो शिल्पके नाशसे देशका नाश अवश्यम्भावी है। आज शूद्रकर्म छोड़ा, कल वैश्य बने, समय पर कुछ क्षत्रिय और ब्राह्मण बननेके कर्म किये, ऐसी दशामें उस मनुष्यका क्या वर्ण बनेगा—यहां तो 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' वाली कहावत होगी। कर्मसे वर्ण मानना अव्यवस्थाओंका आह्वान करना है।

(१२) सनातनधर्मानुसार जन्मसे वर्ण मानना एक महत्त्वकी वस्तु है। यदि समस्त क्षत्रिय ब्राह्मण बननेकी धुनमें अपने कर्म राष्ट्ररक्षाका परित्याग कर दें, तो राष्ट्र नष्ट-भ्रष्ट होकर चकनाचूर हो जावे। ऐसी दशामें उस राष्ट्रनाशका उत्तरदायी कौन होगा? यदि क्षत्रियोंसे जवाब तलब किया जावे, तो कर नहीं सकते, क्योंकि—वे कहेंगे कि—हम तो ब्राह्मण बनने चल दिये थे। इसी प्रकार यदि शूद्र या वैश्यसे शिल्प और वाणिज्यके नाशका उत्तर मांगा जावे, तो वे भी कह सकते हैं कि

हम तो ब्राह्मण या क्षत्रिय बननेमें लगे थे—हमें शिल्प और वाणिज्यकी क्या पड़ी ? सचमुच, कर्मसे वर्ण मानने पर उनका कोई भी दोष नहीं रह जाता, प्रत्युत वे पुरस्कारके भागी हो जाने चाहिएँ, परन्तु सनातन-धर्ममें ऐसा नहीं है। गीतामें कहा है—'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः पर-धर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' (३।३५) अपने साधारण वर्ण धर्मका निर्वाह करते हुए मर जाना अच्छा, परन्तु पर वर्णके उत्तम भी धर्मका स्वीकार करना अच्छा नहीं। अत्रिस्मृतिमें लिखा है—'ये व्यपेताः स्वधर्माच्च परधर्मे व्यवस्थिताः। तेषां शास्ति-करो राजा स्वर्गलोके महीयते' (१७) जो अपने वर्णके धर्मसे विरुद्ध आचरण करके दूसरे वर्णके कर्म करते हैं, उनको दण्ड देने वाला राजा स्वर्गका अधिकारी होता है। यही कारण था कि—क्षत्रियधर्म छोड़कर ब्राह्मणधर्म करने चल दिये अर्जुनका श्रीकृष्णभगवान्‌ने निग्रह किया था।

कर्मानुसार वर्ण मानने पर न तो आज राष्ट्रकी परतन्त्रताका प्रश्न क्षत्रियोंसे पूछ सकते हैं, और न वाणिज्यके नाशका वैश्यसे, न शिल्प-नाशका शूद्रोंसे ही कुछ पूछा जा सकता है। इस प्रकार *कर्मसे वर्ण मानना उच्छृङ्खलताका साम्राज्य खड़ा करना है, उसमें समाज-स्थिति कभी चल ही नहीं सकती; अतएव वर्णव्यवस्था जन्मसे ही मानी जानी ठीक है-इसीसे राष्ट्ररक्षा अच्छी प्रकार हो सकती है।*

(१२ वर्णविभाग एक ईश्वरीय नियम है। प्रत्येक मनुष्यको अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए वस्तु-समूहकी आवश्यकता पड़ती है. इन वस्तुओंको बना कर सेवा करने वालेकी आवश्यकता भी हुआ करती है। यह सेवा समयके हेर-फेरसे कहीं नष्ट न हो जावे, अतः इसके पालनार्थ एक ऐसा समूह हो – जो उसे शिल्पको अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझता चला आवे; और उससे उसकी वृत्ति भी चले। उस समूहको ही वेदमें शूद्र कहा है, यही समूह समाजको प्रतिष्ठित

करने वाला या धारक है, इसलिए इसे विराट् (ब्रह्ममय जगत्) का चरण कहा है, चरण शरीरका धारक होता है। *यह सेवक है।* शिल्पसे बनी वस्तुओंको इधर-उधर जगत्में वाणिज्यसे फैलाने वालेकी भी आवश्यकता होती है—अतः वैश्य वर्णकी रचना नैसर्गिक ही है। वह वैश्यसंज्ञक समूह भी ऐसा होना चाहिये जो वाणिज्यको अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझे। वेदमें उसे विराट्का ऊरु इसलिए कहा है कि—*इधर-उधर घूमनेका साधन जैसे ऊरु हैं, वैसे ही इधर-उधर घूम*कर वाणिज्य करनेका अधिकारी वैश्य ही है। *यह कोषाध्यक्ष है।*

इन दोनोंकी *दुष्टोंसे रक्षा करनेका जन्म-सिद्ध अधिकारी क्षत्रिय है—* जिसको विराट्की भुजा कहा है। भुजा शरीरकी रक्षक है, क्षत्रिय भी वैसे ही जगत्का रक्षक है। *यह राजा है।* क्षत्रियको ही राज्यकर्ममें क्यों नियुक्त किया गया; अन्य वर्णोंको क्यों नहीं? इसमें भी रहस्य है। सत्त्वगुणमें क्रियाशक्ति न होनेसे सत्त्वप्रधान ब्राह्मण वर्ण राजा बनने का अधिकारी नहीं। तमोगुणमें प्रमादकी अधिकतासे तमःप्रधान शूद्र भी उसमें अधिकारी नहीं। वैश्यवर्णमें क्रियामूलक रजोगुण होने पर भी *उसकी प्रवृत्ति कुछ तमोगुणकी ओर होती है; अतः वह भी राज्यका* अधिकारी नहीं। क्षत्रिय वर्ण तो क्रियाशक्तिमूलक रजोगुणसे युक्त भी है, उसकी सत्त्वगुणकी ओर प्रवृत्ति भी होती है। रजोगुणके कारण उसमें क्रियाशक्ति, युद्धशक्ति, शत्रुदमनादि शक्तियों की प्रचुरता रहती है, सत्त्वगुणके कारण धर्मभावके भी साथ होनेसे धर्मानुसार प्रजापालन तथा राजकार्य-सञ्चालन होता है, यही सोचकर राजतन्त्रके सञ्चालनका भार क्षत्रियवर्णमें नियुक्त किया जाता था। तथापि वह शासन भी *निरंकुश न होकर धर्मतन्त्र-शासनाधीन था।* धर्मतन्त्रकी व्यवस्थाका भार सर्वश्रेष्ठ, ज्ञान-विज्ञानयुक्त और दूरदर्शी ब्राह्मण वर्णके अधिकारमें

था। वही योग्य राजाको निर्वाचित करता था। धर्मतन्त्रावहेलक राजा को वेनकी तरह नष्ट कर दिया जाता था—जिससे धर्मतन्त्र तथा राजतन्त्रके सामञ्जस्यसे प्रजा पर सुशासन होता था। उपदेश द्वारा इन तीनों वर्णोंको ठीक-ठीक व्यवस्थामें रखनेका अधिकारी ब्राह्मण है, यह संकेत दिया ही जा चुका है। इसके उपदेशके बिना तीनों वर्णोंके विकृत हो जानेकी आशङ्का रहती है—अतएव इसको समाजका कण्ट्रोलर 'मुख' कहा है। यह सब जन्मसे मरण तक अपनी अपनी ड्यूटी पर सावधान रहें—अत इन वर्णोंको भी जन्मसे ही नियमित किया गया है। जन्मसिद्ध वर्णसे ही उसकी ड्यूटी पूरी न करने पर जवाब-तलब किया जा सकता है, कर्म-सिद्ध वर्ण वालेसे नहीं। वस्तुत कर्म वर्ण कभी एक रूपमें नहीं रह सकता, अत उससे जवाब-तलब भी नहीं किया जा सकता। यदि किया भी जावे, तो वह बहाना कर सकता है कि मैं तो अमुक वर्ण बननेका प्रयत्न कर रहा था। 'स्वतन्त्रः कर्ता'। अतः उसे कोई दण्ड भी नहीं दिया जा सकता। पर जन्मजात वर्ण उसमें कोई बहानेबाजी नहीं कर सकता। अपने वर्ण-कर्मसे प्रेम भी जन्मजात वर्णका ही हो सकता है, कर्मजात वर्णका नहीं।

इनमें मुख, बाहु, ऊरु, पाद तथा अस्पृश्याङ्ग-स्थानीयता रखकर जो परस्पर वैषम्य किया गया है—यह हाथके पाँच अंगुलियोंके वैषम्य की तरह जहाँ नैसर्गिक है, वहाँ समाज-हितकारक भी है। सभी समान रख दिये जाते; तो कौन किसकी आज्ञा मानता? अत शूद्रका कर्म सेवा होनेसे सेवकका दर्जा सबसे कम रखा गया। इससे ऊपर धनकी शक्ति

वैश्यको रखा गया। पर वह भी धनके मदमें चूर होकर बिगड़ न बैठे और सेवक भी सेवा वा शिल्पके नशेमें चूर न हो जावे, अतः इन दोनों के ऊपर राज्यशक्ति, शासनशक्ति क्षत्रियको रखा गया, वह भी दोनों वर्णोंका शासक होनेसे अपने आपको ही 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं शक्त' न समझ लें और कुमार्गमें पांव न रख दे, तो सेवनशक्ति, धनशक्ति, शासनशक्ति इन सबसे ऊँची *धर्मशक्ति* ब्राह्मण रखा गया। इसी वर्ण-व्यवस्थासे भारतवर्ष सृष्टिकी आदिसे सदाके लिए अमर हो गया। इस *जन्मना* वर्णव्यवस्थाका नाश भारतवर्षका नाश है, अपने देशको विदेश बनाना है। स्वदेश-प्रेमियोंको इस *जन्मना* वर्णव्यवस्थाके आये हुए कतिपय दोषोंका सुधार करके फिर इसे शुद्ध कर लेना चाहिये—जिससे यह फिर पूर्वकी भान्ति सब देशोंका शिरोमणि बन सके। सुधारके ब्याजसे वर्णव्यवस्थाका संहार कर देना तो अपने देशको *विनाशाभिमुख* ले जाना है।

(६) गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था पर विचार

[हमारा एक निबन्ध वर्ण व्यवस्थाके विषयमें संस्कृत पत्र 'सूर्योदय' (आषाढ़ १९९९ से कार्तिक १९९९ तक) (काशी) में निकला था। उसके एक लेखकी केवल दो तीन पंक्तियोंकी आलोचना डा० भगवान्दासजीने 'आज' पत्र (१६ मार्गशीर्ष सं० १९९९ के अङ्क) में की थी; उसका प्रत्युत्तर हमने 'सूर्योदय' में दिया था। उसको यहां उद्धृत किया जाता है। इससे जन्मना वर्ण-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ेगा]

(१) डाक्टर महाशयका सन्दर्भ यह है—"काशीसे 'सूर्योदय' नामकी मासिक पत्रिका संस्कृत भाषामें निकलती है। उसमें 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था' निबन्ध 'पं० दीनानाथ शास्त्री सारस्वत मुलतान' के नामसे छपा देख पड़ा। उक्त सज्जन निश्चयेन बहुत विद्वान् ज्ञान पड़ते हैं। लेखमें विविध ग्रन्थोंके वाक्योंका उद्धरण उन्होंने किया है। आशय भी उनका अच्छा ही होगा, पर निबन्धकी दूसरी ही पंक्तिमें 'ब्राह्मणो नाभमन्तव्य: सदसद् वा समाचरन्' (१।११०।१३) यह महाभारतका, और आठवीं पंक्तिमें 'मनुस्मृति' से 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्' (मनु० ८।३८०) यह श्लोक उद्धृत किया है। 'मनुस्मृति' का जैसा आदर मेरे हृदयमें है, और उसके पीछे 'महाभारत' का, वैसा स्यात् और किसी एक ग्रन्थका नहीं है।"

डाक्टर महाशयका दोनों पुस्तकों पर आदर कथनमात्र ही है। इन लोगोंके हृदयमें 'महाभारत' वा 'मनुस्मृति' का तभी तक आदर रहता है, जब तक कि इनसे स्वीकृत सिद्धांतका उनमें भङ्ग नहीं पड़ता। जब इनका

यह तथाकथित सिद्धान्त मनुके वाक्योंसे खण्डित होने लगता है, तब कहां मनु तथा कहां महाभारतकार? तब यह लोग उस वचनको धूर्तका वचन तथा स्वाभीष्ट वचनको मनु आदिका वचन मानने लग जाते हैं।

इसका उदाहरण भी देख लीजिये। 'त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्। त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा' (६।९४) यह मनुजीका पद्य प्रसिद्ध है, सर्वत्र इसी रूपमें उद्धृत किया जाता है, परन्तु मनुके सम्मानकर्ता (?) यही डाक्टर-महाशय वहां मनुकी मूर्खता जानकर 'द्वादश (१२) वार्षिकीम्' के स्थान 'द्विदश (२०) वार्षिकीम्' इसी पाठको ठीक मानते हैं। 'अष्ट (८) वर्षां वा' में 'अष्टि (१६) वर्षां वा' इस पाठको ठीक मानते हैं। यह है ऐसे महाशयोंकी लीला! यदि मनुको द्वादश-वर्षा कन्याका विवाह इष्ट न होता, किन्तु 'द्विदश (२०) वार्षिकीम्' का इष्ट होता, तो क्या मनु 'हृद्यां विंशतिवार्षिकीम्' इस स्पष्ट पाठको नहीं लिख सकते थे; जिसमें कोई छन्दोभङ्ग या अस्पष्टता भी नहीं थी। 'अष्टवर्षा' के स्थान 'अष्टि (१६) वर्षां वा' यह पाठ मनुका बताते हुए डाक्टर महाशयने कभी सोचा कि—मनुजीने कभी कहीं संख्यामें एक-देशी (छन्दोजातीय) प्रयोग करके अप्रतीत दोष किया है? इससे स्पष्ट है कि इनकी कपोल-कल्पना तो इनके मतमें मनुकी हो जाती है, पर मनुकी रचना इनके मतमें धूर्तका वचन हो जाता है।

इस प्रकार यदि इन्हें 'महाभारत' में श्रद्धा है, तो उसके आदिपर्व २८ अध्यायमें, माताने भूखे गरुड़को कहा था कि—अमुक स्थानमें निषादोंको जाकर खा लो, पर निषादाचार ब्राह्मणोंको न खाना। तब गरुडने कहा—निषादोंके आचार वाले निषादसदृश-वेषधारी ब्राह्मणोंको मैं कैसे जानूंगा? माताने उत्तर दिया—'यस्ते कण्ठमनुप्राप्तो निगीर्णं बडिशं यथा। दहेदङ्गारवत् पुत्र! तं विद्या ब्राह्मणर्षभम्। विप्रस्त्वया

न हन्तव्य: संक्रुद्धेनापि सर्वदा' (१।२८।११) अर्थात् तुम्हारे गलेमें आने पर जिससे तुम्हें जलन मालूम पड़े, उसे ब्राह्मण समझना। 'तस्य कण्ठमनुप्राप्तो ब्राह्मणः सह भार्यया। दहन् दीप्त इवाङ्गारस्तमुवाचान्तरिक्षगः (गरुड़:) (२९।१) द्विजोत्तम! विनिर्गच्छ तूर्णमास्वादयावृतात्। नहि मे ब्राह्मणो वध्यः पापेष्वपि रतः सदा' (२९।२) वैसा ही हुआ। इससे महाभारतकारको वर्ण-व्यवस्था जन्मसे इष्ट है—यह प्रत्यक्ष है।'

इस प्रकार पूर्वोक्त मनुपद्यमें डाक्टरजी ३०-२०, २४-१६ वर्षके स्त्री-पुरुषोंका विवाह चाहते हैं; परन्तु यह नहीं विचारते कि इस अन्तरमें दोनोंके समान गुणकर्म कभी भी नहीं हो सकते। पुरुष तो पढ़े ३० वा २४ वर्ष, स्त्री उनके मतमें २० वा १६ वर्ष पढ़े; तो क्या दोनोंकी समान विद्या, वा समान कर्मक्षमता हो सकती है? यदि नहीं, तो दोनोंकी समान-वर्णता कभी हो सकती है? समान वर्ण न होनेसे 'गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्' (मनु० ३।४) इस सवर्णाविवाहको बताने वाला मनुका यह पद्य भी निर्विषय हो जायगा–यह डाक्टर महाशयने कभी सोचा है? परन्तु सभी इस मनुके पद्यको माननीय मानते हैं; तब क्या इससे यह सिद्ध नहीं हो रहा कि—मनुको जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्था इष्ट है, गुण-कर्मसे नहीं। परन्तु यह लोग कभी सूक्ष्म विचार करते ही नहीं। आपाततः विचारमें लगे हुए यह लोग जब अपना सिद्धान्त जहां स्पष्ट टूटता हुआ देखते हैं; वहां इन्हें असमीचीनता, वा प्रक्षिप्तता, वा परिवर्तितता सूझने लग जाती है। जहां किसी एकदेशी वा क्वाचित्क वचनमें इन्हें अपनी अनुकूलता प्रतीत होती है, वहां यह सार्वदेशिकता वा सार्वत्रिकता, वा अप्रक्षिप्तता, वा शुद्धता, वा वैदिकता कहने लग जाते हैं—यह है इनका मनु आदिमें श्रद्धाका रहस्य।

आगे वही लिखते हैं—"पर यह भी मुझे निश्चय है कि मनुस्मृति के वर्तमान रूपमें कितने ही श्लोक प्रक्षिप्त हैं, कितने परिवर्तित हैं, कितने ही प्राचीन परम उपयोगी श्लोक लुप्त कर दिये गये हैं" पर यह कहते हुए डाक्टरजी कोई प्रमाण नहीं देते। जहां उनके सिद्धान्तका स्पष्ट खण्डन है, क्या वहीं प्रक्षिप्तता होती है ? जहां उनके सिद्धान्तसे भेद है, वहीं परिवर्तन है क्या ? जहां उनके सिद्धान्तका प्रदर्शन मनु आदिने नहीं किया, वे ही क्या परमोपयोगी पद्य थे ? ऐसे दृष्टिकोण ! धन्य हो, पक्षपात ! तुम समृद्ध हो।

(२) आगे कहते हैं—"महाभारतका तो कहना ही क्या है, अस्सी पचासी सहस्र श्लोकोंसे एक लाख दस बारह सहस्र तक श्लोकोंकी लिखित और अब मुद्रित प्रतियाँ मिलती हैं" यहाँ प्रष्टव्य है कि—डाक्टरजी कितनी संख्याके महाभारतको वास्तविक मानते हैं ? क्या ८० सहस्र पद्य वालेको, वा एक लाख दस-बारह हजार श्लोकों वाले महाभारतको ? यदि पहली बात मानते हैं, तो उनके पास महाभारतका अपना क्या प्रमाण है कि उसके ८० हजार पद्य हैं, और उसमें भी प्रक्षिप्तता मानते हैं या नहीं ? यदि दूसरी बात मानते हैं, तो उसमें अविश्वास क्यों ? यदि कहा जावे कि—'एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम्' (१।१०७) अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान्। शिष्यो व्यासस्य धर्मात्मा सर्ववेदविदां वरः' (१।१।१०८) यहां एक लाख संख्या बताई गई है, तब एक लाख से ऊपरकी १०-१२ हजार संख्या प्रक्षिप्त है' इस पर कथन यह है कि—यहां पूर्वापर न सोचकर आप जैसे पुरुष भ्रममें पड़ जाते हैं।

यहां स्पष्ट कहा है कि श्रीव्यासने महाभारत मनुष्यलोकके लिए एक लाख श्लोकोंका कहा है। 'त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो

मुनिः। महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्' (१।५६।३२) 'त्रिभिर्वर्षैरिदं पूर्णं कृष्णद्वैपायनः प्रभुः। अखिलं भारतं चेदं चकार भगवान् मुनिः' (स्वर्गारोहणपर्व ५।४८) यहां पर 'श्रीवेदव्यासने तीन वर्षों तक निरन्तर परिश्रम करके महाभारत पूर्ण किया' यह सिद्ध होता है। तो वेदव्यास जैसा बड़ा अनथक विद्वान् तीन वर्षोंमें केवल २४००० श्लोक ही बना सके, (जैसा कि कई कहते हैं), एक लाख श्लोक नहीं—यह आश्चर्य की बात है। आज-कलके ही लेखक जिन्हें संसारी विविध कार्योंसे अवकाश नहीं मिलता; वे ही तीन वर्षोंमें पर्याप्त लिख डालते हैं, तब जिसे एतदादिक कार्योंसे भिन्न कोई कार्य ही न हो, वे महान् योग्य मुनि व्यास केवल २४००० ही अनुष्टुप्-श्लोक बना सकें—यह संगत नहीं। एक लाख अनुष्टुप्के पद्य बना लेना उनके लिए साधारण बात है। आजकलके श्रीसम्प्रदायके श्रीभगवदाचार्यजीने गान्धिभक्त बजाजजीके प्रोत्साहनसे गान्धिमहाभारतको बनाना शुरू कर दिया था, ५०-६० हजार श्लोक बना भी चुके थे। पर फिर बजाजजीका अनुत्साह देखकर रुक गये।

उसी एक लाख श्लोकोंके महाभारतको व्यासशिष्य वैशम्पायनने भी सुनाया। उसी वैशम्पायनसे सुनाये हुएको सौतिने भी सुनाया। इसमें डाक्टरजी सावधानतासे विचारें कि—यदि मैं आपके ही किसी संस्कृत-लेखको उद्धृत करूं, तो आदिमें उसकी भूमिका तथा अन्तमें उपसंहार भी मुझे दिखलाना पड़ेगा। तब वही आपका लेख उतना भी मुझसे बनाये भूमिका, उपसंहार आदिसे कुछ बढ़ जावेगा। ऐसा होने पर भी वहांके हमारे भूमिका-उपसंहार आदिको कोई प्रक्षिप्त न मानकर उसे उसकी पूर्वापर स्फुटताके लिए साधनमात्र मानेगा। इस प्रकार फिर कोई उसी आपके लेखको हमारी भूमिका आदिसे युक्त उद्धृत करे; उसे भी अपने लोगोंको ज्ञात करानेके लिए अपने शब्दोंसे पूर्वापर दिखलाना पड़ेगा। इसमें कोई प्रक्षिप्तता नहीं मान लेता।

यही बात 'महाभारत' की है। एक लाख श्लोकोंका महाभारत श्रीव्यासका बनाया है यह पूर्व कहा ही जा चुका है। उसके पूर्वापर को दिखलानेके लिए कभी वैशम्पायन भी अपने पद्योंसे कहता है—हे मुनियो! उस इस श्रीव्यासजीसे बनाये हुए, बहुत गुणोंसे युक्त महाभारतको सुनो' इत्यादि। एक लाख श्लोकोंके इस पुस्तकमें प्रत्येक अध्यायके आदि-अन्तमें प्रसंगकी संगति वा उपक्रम-उपसंहारके प्रतिपादनार्थ एक-एक श्लोक भी कहा जावे, फिर वाचक जनमेजय आदि श्रोतासे किये हुए किसी प्रश्नका समाधान भी करे, इस प्रकार प्रश्नोत्तर के श्लोकोंकी वृद्धिसे उसके एक लाख श्लोकोंसे श्लोकसंख्या कई सौ श्लोकोंकी संख्यामें स्वतः ही बढ़ जावेगी। फिर तीसरा सौति फिर उसी वैशम्पायनसे सुनाये हुए वैशम्पायनके पूर्वापर प्रसंग-निर्देशक पद्यों सहित महाभारतको मुनियोंको सुनावे, तब सौतिको भी कहना पड़ेगा कि इस प्रकार वैशम्पायनने जनमेजयको सुनाया। जनमेजयने तब अमुक प्रश्न किया, वैशम्पायनने उसका यह उत्तर दिया—इत्यादि। तब फिर मुनियोंका सौतिसे भी कोई प्रश्न हो; तो उसे भी उसको ग्रन्थमें श्लोकबद्ध करना पड़ेगा, अपना उत्तर भी; तब इस प्रकारके महाग्रन्थमें मूल श्लोक-संख्यासे वृद्धि होना स्वाभाविक ही है, इसमें प्रक्षिप्तताका प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकारके पद्योंको यदि पृथक् कर दिया जावे, तो शेष मूल-संख्या ही बच जावेगी।

इस प्रकार कोई कथावाचक उसी महाभारतको सुनावे, जो जितना समय उसका उसकी समाप्तिमें लग सकता है, फिर उसके व्याख्यानमें, उसकी स्पष्टतार्थ अन्य प्रमाण देनेमें उस नियत समयसे अधिक समय लगेगा—वह स्वाभाविक है। पर वहां कोई यह नहीं कहता कि यह सुनाता तो है महाभारत, पर बीचमें अपने प्रक्षिप्त वचन भी कहता जाता है। बल्कि सभी जान जाते हैं कि—यह ग्रन्थकी स्पष्टतार्थ ही

भिन्न वचन कह रहा है, प्रक्षिप्तता नहीं कर रहा। यही बात एक लाखसे अधिक श्लोकों वाले महाभारतकी उपलब्धिमें जाननी चाहिये। न्यून श्लोक होने पर तो उसके पाठका कारणवश विलोप हो जाना स्पष्ट है, जैसे ११३१ वेदकी संहिताओंमें आजकल दस-बारहके लगभग संहिताएँ मिलती हैं। क्या डाक्टरजी तथा अन्य आक्षेपकर्ता वादी इधर ध्यान देंगे ?

हम यह भी नहीं कहते कि—महाभारत आदिमें प्रक्षिप्तता सर्वथा नहीं है। नहीं नहीं। उसमें प्रक्षिप्तता सम्भव है। जबकि—अच्छी तरह सुरक्षित किये हुए वेदोंमें भी कई आपके सहवर्गी प्रक्षिप्तता वा पाठभेद मानते हैं, तो यहाँ ही क्या असम्भव है ? पर जहाँ पर आपका अर्वाचीन सिद्धान्त टूटता हो, वहीं प्रक्षिप्तता हो, जहां हमारे सिद्धान्तका भङ्ग जैसा प्रतीत होता हो, वहीं आपके अनुसार उपयोगिता हो, यह आपका मत मान्य नहीं हो सकता। इस प्रकार तो हम भी कह सकेंगे कि—जो पद्य आपने उपयोगी समझ रखे हैं, वे प्रक्षिप्त वा एकदेशी हैं, हमारे पक्षके साधक श्लोक ग्रन्थकर्ता के हैं।

(३) यदि डाक्टरजी कहें कि—'इस तरह तो आपका मत भी ठीक नहीं, वस्तुत. ग्रन्थकर्ताका हृदय या मुख्याभिप्राय वा पूर्वापर प्रकरण, वा उत्तरपक्ष तथा उपक्रम-उपसंहार आदि ही प्रक्षिप्त वा अप्रक्षिप्त सिद्ध करनेमें कसौटी बन सकता है', तब हम भी कहेंगे कि—आप यदि मनुके बाद महाभारतको ही आदरणीय मानते हैं, तब महाभारतकारका हृदय या मुख्य अभिप्राय. या उत्तरपक्ष जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्थामें है, गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्थामें नहीं। गुणकर्मसे तो कर्ता को प्रतिष्ठाका तारतम्य ही इष्ट है, वर्ण-परिवर्तन या वर्णोंकी व्यवस्था नहीं।

आप लोग महाभारतके पात्र कौरव पाण्डवोंके जीवन तथा युद्धको मुख्य कथावस्तु मानते हैं, शेष भागको उपाख्यान कहते हैं।

उपाख्यानोंको सम्भवतः आप लोग वेदव्यासकृत नहीं मानते, किन्तु सौति द्वारा बनाया मानते हैं, तो आप लोग जिन महाभारतके श्लोकोंको अपने पक्षकी पुष्ट्यर्थ उपस्थित किया करते हैं, वे मुख्य कथावस्तुमें से नहीं होते, किन्तु उपाख्यानोंमें से। तो वे आपके अनुसार श्रीव्यासके कैसे हो सकते हैं ? मुख्य कथावस्तु तो श्रीव्यासकी है—यह सर्वसम्मत है, उससे जन्मना वर्ण-व्यवस्था सिद्ध होती है, अतः वह श्रीवेदव्यास-सम्मत हुई, और आपसे अभिमत उपाख्यानोंमें प्रोक्त तथाकथित गुण-कर्मणा वर्ण-व्यवस्था अवैयासिक सिद्ध हुई। तो आप अवैयासिक चर्चा को तो मानें प्रमाण, और वैयासिक मुख्य कथाको देखें नहीं, यही क्या आपकी महाभारतकारमें श्रद्धा है ?

(क) इसको यों समझिये कि—क्षत्रियकर्मको स्वीकृत किये हुए भी द्रोणाचार्य वा कृपाचार्यको महाभारत ब्राह्मण ही कहता है, क्षत्रिय नहीं। वे जन्मसे ब्राह्मण होनेसे ही ब्राह्मण कहे गये हैं। अश्वत्थामामें तो न ब्राह्मणोचित गुण थे और न ब्राह्मणोचित उसके कर्म थे। उसने क्षत्रिय-कर्म ही स्वीकृत कर रखे थे। तभी युधिष्ठिरने उस पर आक्षेप किया था कि—'ब्राह्मणेन तपः कार्यं दानमध्ययनं तथा। क्षत्रियेण धनुर्नाम्यं स भवान् ब्राह्मणब्रुवः' (कर्णपर्व ४९।२३) तुम ब्राह्मण होकर क्षत्रियोंके धनुषको उठाया करते हो। स्वयं अश्वत्थामाने भी कहा था—'सोऽस्मि जातः कुले श्रेष्ठे ब्राह्मणानां सुपूजिते ! मन्दभाग्यतयाऽस्म्येतं क्षत्रधर्ममनुष्ठितः' (सौप्तिकपर्व ३।२१) 'क्षत्रधर्मं विदित्वाहं यदि ब्राह्मण्यमाश्रितः। प्रकुर्यां सुमहत् कर्म न मे तत् साधु सम्मतम्' (२२) श्रीव्यासजी ने भी अश्वत्थामाको कहा था—'ब्राह्मणस्य सतश्चैव यस्मात् ते वृत्तमीदृशम्। ..... असंशयस्ते तद्यापि क्षत्रधर्मस्त्वयाश्रितः' (सौप्तिक-१६।१७-१८)।

(ख) यदि अश्वत्थामाके गुणोंकी या कर्मोंकी आलोचना की जावे, तो उसका स्वभाव ही इतना क्रूर था कि—उसने सोते हुए द्रौपदीके पुत्रोंको ही मार दिया, अपने मामा कृपाचार्यसे (महा० सौप्तिकपर्व ५ अध्याय) समझाने पर भी न रुका। पाण्डवोंको निर्वंश करनेके लिए उसने उत्तराके गर्भ पर अस्त्र भी फेंक दिया (सौप्तिकपर्व १५।३५)। इससे भी निर्दय कर्म अन्य क्या हो सकता है? धृष्टद्युम्नको भी पशुकी भान्ति मारा। महाभारत सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामाके गुणकर्म देखिये—'दुरात्मनः' (१२।७), 'सतां मार्गे जातु न स्याता' (१२।६) दुष्टात्मा, (१२।१०), संरम्भी, दुरात्मा, चपलः (१२।२१) क्रोधी, 'कृतं पापमिदं ब्रह्मन्! रोषाविष्टेन चेतसा' (१५।१८) यह अश्वत्थामा अपने लिए कह रहा है। 'त्वां तु कापुरुषं पापं विदुः सर्वे मनीषिणः। असकृत् पापकर्माणं बालजीवितघातकम्' (१६।६) यह श्रीकृष्णजीने अश्वत्थामाके गुणोंका वर्णन किया है। 'यस्माद् अनादृत्य कृतं त्वयाऽस्मान् कर्म दारुणम्। ब्राह्मणस्य सतश्चैव यस्मात्ते वृत्तमीदृशम्' (१६।१०) यहाँ श्रीव्यासजीने उसे दारुणकर्मा ब्राह्मण कहा है। 'क्षत्रधर्मस्त्वयाश्रितः' (१६।१८) यहाँ उसे क्षत्रियधर्मा कहा है। 'पापेन क्षुद्रेणाकृतकर्मणा। द्रौणिना' (१७।२) यहाँ युधिष्ठिरने अश्वत्थामाकी पापिष्ठता कही है। इस प्रकारके पापीको महाभारतने (सौप्तिक० १५।३५) ब्राह्मण कहा है। प्रत्युत असत्कर्मके आचरण वाले भी उसे राजा युधिष्ठिरने मरवाया नहीं, किन्तु 'राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात्' (८।३८०) इस महाभारतकी सम्मत और आपकी असम्मत मनुकी उक्तिका ही पालन किया (सौप्तिकपर्व १६।३२) क्या अब भी डाक्टरजी 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' को महाभारतका उत्तरपक्ष तथा 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था' को तथा 'राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात्' (८।३८०) इस मनुपद्यको प्रक्षिप्त कहने का साहस कर सकते हैं?

(ग) अन्य भी देखिये—पाण्डव महाभारतके मुख्य पात्र हैं। उसमें युधिष्ठिरके गुणकर्म देखिये। क्या उसके ब्राह्मणोंवाले शम-दम आदि गुणकर्म नहीं थे? जिसके लिए उसे भीमसेनने भी कहा था—'घृणी (दयालुः) *ब्राह्मणरूपोसि* कथं क्षत्रेषु जायथाः' (वनपर्व ३५।२०) '*ब्रह्मवर्चसी...पाण्डवनन्दनः*' (उद्योगपर्व ५३।८) यह धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरके लिए कहा था। परन्तु भीमसेन तो बात-बातमें थोड़ी-सी भी प्रतिकूलतामें क्रुद्ध हो जाता था; उसके गुणकर्म जगत्प्रसिद्ध हैं, फिर भी भिन्न-भिन्न गुणकर्म वाले भी दोनोंको महाभारतकारने क्षत्रियकी सन्तान होनेसे जन्मसे ही क्षत्रिय माना है, क्या यहाँ जन्मसे वर्ण-व्यवस्था उत्तर-पक्ष नहीं? यदि गुणकर्म ही वर्ण-निर्णायक होते, तो दोनों का वर्ण भिन्न-भिन्न होना चाहिये था, पर ऐसा नहीं है। बल्कि—'युद्धे चाप्यपलायनम्' (गीता १८।४३) इस शास्त्रसे विरुद्ध कर्णादिके युद्धमें भागते हुए भी युधिष्ठिरको क्षत्रिय ही माना गया है। देखिये उसका भागना—'एवं पार्थोऽभ्युपायात् स निहतः पार्ष्णिसारथिः। अशक्नुवन् प्रमुखतः स्थातुं कर्णस्य दुर्मनाः' (कर्णपर्व ४६।४९-५०) इस प्रकार भागने पर कर्णने कहा था—'कथं नाम कुले जातः क्षत्रधर्मे व्यवस्थितः। प्रजह्यात् समरं भीतः प्राणान् रक्षन् महाहवे। न भवान् क्षत्रधर्मेषु *कुशलोऽस्तीति मे मतिः। ब्राह्मे बले* भवान् युक्तः स्वाध्याये यज्ञकर्मणि। मा स्म युध्यस्व कौन्तेय! मा स्म वीरान् समासदः' (कर्णपर्व ४९।४४-५५-५६) ततोऽपायाद् द्रुतं राजन्! व्रीडन्निव नरेश्वरः' (४९।६०) यहाँ पर युधिष्ठिरको ब्राह्मणधर्मा कहने पर भी महाभारतने उसे ब्राह्मण नहीं माना, न उसका किसी ब्राह्मण-कन्यासे विवाह हुआ। इस तरह अश्वत्थामासे युद्ध करते हुए भी युधिष्ठिर उसके आगे से भी भाग गये। जैसे कि—'स च्छाद्यमानस्तु तदा द्रोणपुत्रेण मारिष! पार्थोपयातः शीघ्रं वै विहाय महतीं चमूम्' (कर्णपर्व ५५।३७) इस प्रकार अन्यत्र (६२।३१) भी।

(घ) भगवान् श्रीकृष्णको ही देखिये, जो महाभारतके आराध्यदेव हैं, वादि-प्रतिवादिमान्य भगवद्गीताके उपदेष्टा हैं। महाभारत उन्हें परमात्माका अवतार मानता है, गीता भी उन्हें उत्तम गुणकर्मवाला मानती है। क्या डाक्टरजी उनमें ब्राह्मण-विरुद्ध गुणकर्म बता सकते हैं? फिर भी महाभारतने उन्हें ब्राह्मण नहीं माना, किन्तु क्षत्रियपुत्र होनेसे क्षत्रिय कहा। श्रीकृष्णके पिता वसुदेवजीको ही देख लीजिये। किसने उनके क्षत्रिय-योग्य कर्म सुने हैं, तथापि उन्हें क्षत्रिय कहा गया है। तब क्या डाक्टरजी महाभारतमें सिद्धान्तित 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था' को प्रक्षिप्त कह सकते हैं? जब महाभारतको यह सिद्धान्त मान्य है, तब उसके अन्तर्गत गीताको भी वही सिद्धान्त मान्य है, नहीं तो गीता रथ-चालक श्रीकृष्णको सूतजातिवाला वा गीतोपदेशकको ब्राह्मण कहती, पर ऐसा नहीं। वह तो उन्हें 'वृष्णीनां वासुदेवोस्मि' (१०।३७) वसुदेवका पुत्र और वृष्णि (क्षत्रिय) वंशका कहती है।

(ङ) और देखिये—महाभारतीय धर्मव्याधमें ब्राह्मणोचित गुण तथा कर्म थे। व्याध भी वह हिंसारहित कर्मवाला था। कौशिक नामक ब्राह्मणने तो उसे ब्राह्मणसदृश कहा भी था, तथापि वह रहा शूद्र ही। ब्राह्मणत्वके लिए उसने इस शरीरकी समाप्तिकी प्रतीक्षा की, दूसरे जन्ममें ही वह ब्राह्मण हुआ।

(च) इस प्रकार कर्णका वृत्त भी डाक्टरजी जानते ही हैं कि वह क्षत्रिय-कर्मा भी, वास्तवमें क्षत्रिय भी सूत-पिताकी सन्तानमात्रताकी प्रसिद्धिसे सूत ही माना गया। क्या यहाँ स्पष्ट नहीं कि—महाभारतको जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्था उत्तरपक्ष इष्ट है?

(छ) इस प्रकार आदिपर्व (२६ अध्याय) में निजधर्म कर्मसे हीन निषादाचार ब्राह्मणको भी ब्राह्मण माना गया। तभी उसके निगलनेके समय गरुड़के गलेमें दाह दिखलाया गया है। इससे म० भा० को जन्मसे वर्ण-व्यवस्था ही सम्मत सिद्ध है। इससे स्पष्ट है कि—महाभारतके 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्थाभास' प्रदर्शक क्वाचित्क वचन केवल कर्मके प्रशंसार्थवादमात्र हैं। अर्थवादमें शब्दार्थमें ध्यान नहीं देना पड़ता, किन्तु उसका तात्पर्य ही देखना पड़ता है।

(ज) महाभारत वर्ण-व्यवस्थाको जन्मसे मानता है, और गुणकर्मसे तो स्तुति-निन्दा हो मानता है। जैसे कि—उसीमें लिखा है—'प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा कर्म तासु विधाय च। वर्णे-वर्णे समाधत्ते ह्येकैकं गुणभाग्गुणम्' (सौप्तिकपर्व ३।१८) ब्राह्मणे वेदमग्र्यं तु क्षत्रिये तेज उत्तमम्। दाक्ष्यं वैश्ये च, शूद्रे च सर्ववर्णानुकूलताम्' (३।१६) 'अदान्तो *ब्राह्मणोऽसाधुर्निस्तेजाः क्षत्रियोऽधमः।* अदक्षो *निन्द्यते* वैश्यः, शूद्रश्च प्रतिकूलवान्' (३।२०) यहाँ पर अपने वर्णके गुणकर्मसे हीन ब्राह्मण आदियों को निन्दित तथा असाधु माना गया है। उससे उन्हें अन्य वर्णका होजाना नहीं कहा है। ब्राह्मण आदिको वेद आदिसे अग्र्य वा उत्तम बताया है, अन्य वर्णमें हो जाना नहीं कहा। आशा है डाक्टरजी महाभारतके इस हृदय पर ध्यान देंगे।

(झ) आपके लेखानुसार 'अध्यात्ममयी' महाभारतकी शिरोमणि भगवद्गीताका मुख्य प्रतिपाद्यका आधार भी 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था' ही है। जब अर्जुन युद्धसे हटने लगा और भिक्षावृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेको तैयार हो गया; तब भगवान् कृष्णने उसे कहा था कि—ऐसा करनेमे तुम्हें पाप होगा। यदि वर्ण-व्यवस्था कर्मानुसार होती; तो अर्जुनको युद्धसे हटनेसे पाप क्यों होता? जब तक वह युद्ध करता; तब तक क्षत्रिय कहा जाता। भिक्षा आदि शान्तवृत्ति स्वीकार करने

पर वह ब्राह्मण कहा जाता। जन्मना वर्ण-व्यवस्थामें तो कोई वृत्ति उसी जाति वाले व्यक्तिविशेषके लिए उचित हो सकती है, और उस वृत्तिका त्याग उसके लिए पाप हो सकता है। कर्मणा वर्ण-व्यवस्थामें तो दूसरे वर्णके कर्म लेने पर किसीकी निन्दाकी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि तब सबको सब कर्मोंके अनुष्ठानमें स्वतन्त्रता होती है, परन्तु तब निन्दा करनेसे, तथा 'स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (१८।४५) श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्' (१८।४७) सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्' (१८।४८) 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' (३।३५) इस प्रकार महाभारतान्तर्गत भगवद्‌गीताके द्वारा निषेध करनेसे उसमें जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्थामें तात्पर्य सिद्ध हुआ।

(४) यह है 'महाभारत'का हृदय, यदि उसीसे हमने जन्मना वर्ण-व्यवस्था सूचक पद्य उद्धृत किया है, तो उसमें इस विषयमें प्रतिसता कैसे हो सकती है ? अथवा महाभारतको छोड़िये—स्थूल-बुद्धिसे भी यही जाना जाता है कि—गुणकर्मसे जाति वा वर्णका निर्णय असम्भव है। किसी मनुष्यमें ब्राह्मणोचित गुण हो सकते हैं, परन्तु उसके कर्म क्षत्रियके हो सकते हैं, तब उसके वर्णका कैसा निर्णय हो सकता है ? क्या हम कह सकते हैं कि—अमुक पुरुषके गुण ब्राह्मण-सदृश हैं या क्षत्रिय सदृश हैं ? वैश्य-सदृश हैं वा शूद्र-सदृश हैं ? यदि हम इस विषयमें अपनी सम्मति देनेका साहस करें, तो क्या इसमें सबका ऐकमत्य हो सकता है ? यदि नहीं, तब गुणोंके द्वारा वर्ण-निर्णय क्या बहुमतसे किया जायगा ? इसके अतिरिक्त एक ही मनुष्यके गुण वा कर्म समय-समय पर बदल भी सकते हैं। इस दशामें क्या उसका वर्ण पुनः-पुनः बदला जायगा ? इस प्रकार होने पर क्या घोर अव्यवस्था नहीं आ पड़ेगी ?

वस्तुतः कर्मसे वर्ण-व्यवस्था असम्भव ही है। समान माता-पितासे उत्पन्न हुए-हुए भी बालकोंके गुणकर्ममें आकाश-पातालका अन्तर भी देखा गया है। एक ही मनुष्य सारा दिन कभी ब्राह्मणके सदृश, कभी शूद्रके सदृश कर्म करता है, तब उसके वर्णका निश्चय कैसे हो ? ऐसा होने पर शूद्र या नीच कौन होना चाहेगा ? खान-पानकी व्यवस्थामें, विवाह आदिमें, दायभागके विभाग आदिमें बहुतसी रुकावटें आ पड़ेंगी। फलतः कर्मणा वर्ण-व्यवस्था वर्ण-विप्लव है। इस प्रकारकी वर्ण-व्यवस्थामें बड़ी बाधाएँ उपस्थित हो जावेंगी।

(४) इस प्रकार जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्था मानने वाले उसी महाभारतमें यदि 'ब्राह्मणो नावमन्तव्यः सद् असद् वा समाचरन्' यह पद्य मिलता है; तो उसमें प्रक्षिप्तता कैसी ? इससे महाभारत ब्राह्मणके लिए सदाचारका निषेध वा असदाचरणका प्रोत्साहन नहीं करता, अपितु दोनों ही अवस्थाओंमें उसको ब्राह्मण बताकर, कर्मणा वर्ण-व्यवस्थाके सिद्धान्तको खण्डित करके, अपने परम उद्देश्य जन्मना वर्ण-व्यवस्थाके सिद्धान्तको स्पष्ट करता है। तब यहां प्रक्षिप्तताका अवकाश ही कैसा ? यह पद्य ग्रन्थकारके हृदयसे विरुद्ध कैसे हो सकता है ?

शेष प्रश्न है कि—असदाचारी भी ब्राह्मणके लिए 'नावमन्तव्यः' (उसका अपमान मत करो) कैसे कहा ? इस पर उत्तर यह है कि—यह अन्य कुछ नहीं; केवल जन्मसे स्वयं इष्ट वर्ण-व्यवस्थाके मूलभूत पूर्वजन्मके गुणकर्मोंका यह सम्मान है। स्वयं उत्तम माने हुए जन्म-ब्राह्मणका यह अन्य वर्णोंकी अपेक्षा दण्डादिविधानमें तारतम्यमात्र है। वस्तुतः तो यहां असदाचरणकी विधि नहीं है। यह डाक्टरजी समझ लें। इसका पूर्वार्ध यह स्पष्ट कर रहा है—'दुर्बला अपि विप्रा हि बलीयांसः स्वतेजसा' (आदिपर्व १६०।१२)। केवल महाभारतमें यहीं

नहीं, किन्तु दूसरे स्थानमें भी कहा है—'दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा। ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नयः' (वनपर्व २००।८८) यथा श्मशाने दीप्तौजा: पावको नैव दुष्यति। एवं विद्वान् अविद्वान् वा ब्राह्मणो दैवतं महत्' (२००।८६) यहां भी अविद्वान् ब्राह्मण कहा गया है। इससे अधिक स्पष्ट तो इस श्लोकमें कहा है—'अविद्वान् ब्राह्मणो देव' पात्रं वै पावनं महत्। विद्वान् भूयस्तरो देव' पूर्णसागरसन्निभ' (अनुशासनपर्व १२२।२०) इस प्रकारके बहुतसे श्लोक, श्लोक क्या, अध्यायके अध्याय भी महाभारतमें भरे हुए हैं जो प्रासङ्गिक हैं; क्या सब जगह प्रक्षिप्तता ही है? वस्तुतः 'प्रक्षिप्तता' कहना अपने पक्षकी निर्बलता बताना है।

(६) अब मनुस्मृतिका श्लोक भी देखिये—'न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्। राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्' (८।३८०) इससे तथा महाभारतके पूर्व श्लोकसे हमने जन्मना वर्ण-व्यवस्थाका मण्डन तथा कर्मसे वर्ण-व्यवस्थाका खण्डन किया था। पर डाक्टर भगवान्दासजीने इसमें निरुत्तर होकर अपने पक्षके बचावके लिए इन श्लोकोंको प्रक्षिप्तार्थ प्रयत्न करके अपने पक्षको शिथिल सिद्ध कर दिया है। हमने तो इसका 'राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात्' यह उत्तरार्ध लिखा था, पर डा० जी ने उसे छोड़ दिया, कदाचित् इससे उन्होंने आगेके अपने लेखका खण्डन देख लिया हो।

डाक्टर महाशय! मनुजीने 'न ब्राह्मणो हिंसितव्यः' (अथर्व० ५। १८।६, ५।१६।८) इत्यादिक वेदमन्त्रोंके अनुकूल ब्राह्मणकी हिंसा निषिद्ध की थी, परन्तु उसे सर्वथा दण्डसे छोड़ा भी नहीं गया, राष्ट्रसे बाहर कर देनेका दण्ड उसे भी दिया गया है। यह अन्य वर्णोंकी अपेक्षा दण्डमें तारतम्य तो है, बड़े पापमें दण्डका सर्वथा

अभाव नहीं है, वा पापार्थ प्रोत्साहन नहीं है। राष्ट्रसे निकाल देना एक बड़ेके लिए छोटा दण्ड नहीं है। जबकि मनुस्मृति ब्राह्मणको अन्य वर्णोंकी अपेक्षा बड़ा मानती है, तब इससे स्पष्ट है कि उसके लिए दण्डका तारतम्य भी रखना चाहिये। पर मनुजी इससे ब्राह्मणोंको सब पापोंके करनेकी विधि नहीं बताते; बल्कि सर्व पापोंमें स्थित भी उसे ब्राह्मण कहकर और उसे अन्य वर्णोंकी अपेक्षा लघु दण्ड देकर जन्मसे वर्ण-व्यवस्था बताते हैं।

(७) जब मनुजीने 'सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु। आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते' (१०।५) इस पद्यमें तथा दूसरे पद्योंमें अपना उत्तरपक्ष जन्मसे वर्ण-व्यवस्थाका स्थिर किया है, तब उन्हीं मनुजीका वर्ण-व्यवस्थाका साधक यह (८।३८०) श्लोक (जिसका समर्थन महाभारतकारने अश्वत्थामाके अपराधके दण्डके अवसर पर किया है) प्रक्षिप्त कैसे हो सकता है? वा ग्रन्थकारके अभिप्रायके विरुद्ध कैसे हो सकता है? इसी प्रकारका मनुजीका यह श्लोक भी देखिये—'एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु। सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्' (९।३१९) इस प्रकारके अन्य भी श्लोक हैं।

(ख) अन्य देखिये—मनुजी ब्राह्मणके, क्षत्रियके, वैश्यके दान, अध्ययन, तथा यज्ञकर्म तो समान कहते हैं; परन्तु उनकी वृत्तिमें केवल भेद बताते हैं। यदि कर्मसे वर्ण-व्यवस्था मनुजीका सिद्धान्त होता; तो तीनोंके समान कर्मविभागमें वे वर्ण तीन क्यों मानते हैं? सभीको वर्ण पहले (जन्म) से बताते हैं; पीछे उनके लिए कर्म बताते हैं, परन्तु डाक्टरजी मनुजीके अभिप्रायसे विरुद्ध पहले कर्मोंको मानते हैं, पीछे वर्णोंको मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि—मनुजीके मतमें कर्मसे वर्ण-व्यवस्था नहीं; किन्तु वह जन्मसे ही है। जहां कर्मसे वर्ण-व्यवस्था प्रतीत होती है; वहां पूर्वजन्मके कर्म इष्ट होते हैं—इस जन्मके नहीं।

जब ऐसा है, तो हमसे उद्धृत, मनुजीके उत्तरपक्षका पोषक श्लोक प्रक्षिप्त या परिवर्तित कैसे हो सकता है?

(८) जो कि—डा० भ० दा० जी बताते हैं कि—"जो श्लोकार्ध उक्त सज्जनने उद्धृत किये हैं [हमने मनुजीका पौना श्लोक उद्धृत किया था, आधा नहीं। इसमें डाक्टरजीका कर्म असत्यका है। हमसे उद्धृत मनुके पद्यका तीसरा पाद श्री भ० दा० के सारे पक्षको ही काट रहा है क्योंकि मनुजीने ब्राह्मणके लिए कुछ दण्डविधान कहा ही है, अपराधमें उसे दण्डसे सर्वथा उन्मुक्त भी नहीं किया गया।] उनके विषयमें क्या लिखूं। सिर नीचा करके चुप रहना ही अच्छा होता, किन्तु जो प्रसंग चला है, वह इतना लिखनेको विवश करता है कि—कोई सद्हृदयका सद्ब्राह्मण उनको अपनी जिह्वा पर नहीं लाएगा। जो 'सदसद् वा समाचरन्' होगा, 'सर्वपापेष्ववस्थित' होगा, वही उचित दण्डसे बचनेके लिए ऐसा कहेगा।"

यह लिखकर डा० भ० दा० जीने अपनी असर्वतोमुखीन दृष्टिका परिचय दिया है। हमने उक्त पद्योंको 'ब्राह्मणको पाप करना चाहिये' इस विधिके लिए नहीं दिया। हमने तो "इन श्लोकोंसे 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' का सिद्धान्त मनुजीको तथा व्यासजीको इष्ट नहीं, किन्तु उन्हें इनसे 'जन्मना वर्ण व्यवस्था' ही इष्ट है" इस बातको बतानेके लिए दिया है। यह डाक्टरजीने देखकर भी क्यों नहीं देखा? किसलिए हमसे लिखे तीसरे पादको छिपाया? क्या यह उनका सत्य व्यवहार है? क्यों उन्होंने प्रकरणको छोड़कर अप्राकरणिकता वा अन्य सरणिका आश्रय लिया?

तथापि डाक्टरजीको यहां यह जानना चाहिये कि एक पुरुषके चार पुत्र हों, उन चारोंने असत्यवचनरूप अपराध किया हो, समान भी अप-

राधमें 'प्रजावत्सल' पिता यथाधिकार दण्डमें तारतम्य करता है। वह अपने बड़े लड़केको उस असत्य व्यवहारके अपराधसे वैसा दण्ड नहीं देता, जैसा छोटे पुत्रको। छोटेके गाल पर वह थप्पड़ मारता है, पर बड़ेसे वैसा व्यवहार नहीं करता, किन्तु उसे इतना ही कहता है कि— 'मुझे तुमसे ऐसी आशा नहीं थी'। दूसरेको कुछ डांटकर इतना ही कहता है—'दुष्ट ! फिर ऐसा न करना'। तीसरेका कान मरोड़ लेता है। चौथेको असत्य व्यवहारके लिए चपेट मारता है वा छड़ीसे मारता है। इस प्रकार विद्यालयोंमें भी दण्डका तारतम्य देखा जा सकता है। इस तारतम्यको यदि कोई धर्मशास्त्रकार कहे, तो क्या डाक्टरजी यही कहेंगे कि इस पिताने बड़े पुत्रको छोटे पुत्र वाला दण्ड न देकर बड़ेको असत्य व्यवहारके लिए प्रोत्साहन दिया है! नहीं-नहीं, ऐसा नहीं। ऐसा कोई निष्पक्ष विचारक नहीं मान सकता।

बीरबलने एक बार चोरीके अपराधमें पकड़े हुए चार पुरुषोंको उनका पद देखकर दण्डविधान कर दिया। उसमें पहलेको कहा कि— मुझे तुमसे तो ऐसे दुष्कर्मकी आशा नहीं थी। दूसरेको कठोर शब्दोंसे डांटा। तीसरेको बेत मरवाया। चौथेका मुंह काला करके उसे गधे पर चढ़ाकर नगरमें घुमवाया। फिर उसने उनका परिणाम जाननेके लिए जासूसोंको छोड़ा। पता लगा कि—पहलेने तो इससे अपनी बेइज्ज़ती समझकर आत्महत्या करली। दूसरा भी इस प्रकारके काममें फिर शामिल न होनेकी प्रतिज्ञा करके उससे हट गया। तीसरा भी फिर वैसे अपराधमें पकड़ा नहीं गया, पर चौथा फिर वैसे अपराधमें पकड़ा गया। तो क्या डाक्टरजी यही कहेंगे कि—पहले-दूसरेका भी काला मुंह करके उन्हें भी गधे पर चढाकर घुमाना चाहिये था, नहीं, कभी नहीं। जैसे साहित्यमें 'क्वचिद् दोषस्तु समता मार्गाऽभेदस्वरूपिणी' समता गुण भी रचनाका दोष माना गया है, वैसे ब्राह्मण तथा शूद्रमें

समान दण्ड भी दोषावायक ही है। यह डाक्टरजीको दूरदर्शितासे सोचना चाहिये।

(९) मनुस्मृतिमें ऐसा ब्राह्मण आदियोंमें व्यवहार-तारतम्य सर्वत्र देखा गया है। कचहरीके प्रश्नका ही तारतम्य देखिये—'ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्, सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम्। गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं, शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः' (८।८८) यहां आर्यसमाजी श्रीतुलसीराम स्वामीसे किया अर्थ देखिये—'कहो' ऐसा ब्राह्मणसे पूछे और 'सच बोल' ऐसा क्षत्रियसे पूछे, और 'गाय, बीज, सुवर्णके चुरानेका पातक तुमको होगा जो झूठ बोलोगे तो' ऐसा कहकर वैश्योंसे पूछे, 'सब पातक तुमको लगेंगे, जो झूठ बोलोगे तो' ऐसा कहकर शूद्रसे पूछे'। देखिये-ब्राह्मण-का दूसरोंकी अपेक्षा मनुजीने प्रश्नमें भी तारतम्य बताकर कितना सम्मान रखा है? और देखिये—'शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति। वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति' (८।२६७) 'पञ्चाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने (आक्षेपे)। वैश्ये स्याद् अर्धपञ्चाशत्, शूद्रे द्वादशको दमः' (८।२६८) यहाँ कुल्लूकने कहा है—'ब्राह्मणः क्षत्रियस्य उत्कृष्टाक्षेपे कृते पञ्चाशत् पणान् दण्ड्यः। वैश्ये, शूद्रे च यथोक्ताक्रोशे कृते पञ्चविंशतिर्द्वादश पणाः क्रमेण ब्राह्मणस्य दण्डः स्यात्'। मनुजीने यहां ब्राह्मण आदियोंके दण्डविधानमें कैसा तारतम्य किया है? पूर्व-श्लोकमें ब्राह्मणको दण्ड क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा न्यून मात्रामें दिया गया है। उसे दण्डसे सर्वथा छोड़ा भी नहीं गया।

(१०) डा० भगवान्दासजी कहते हैं—'कोई सहृदयका सद्-ब्राह्मण उन दो श्लोकोंको अपनी जिह्वा पर नहीं लावेगा। जो 'सर्वपापे-ष्ववस्थित' होगा, वही उचित दण्डसे बचनेके लिए ऐसा कहेगा' परन्तु डॉ० जी यह नहीं सोचते कि—यह पद्य न तो हमने कहा है, न ही किसी अन्य ब्राह्मणने; किन्तु आपके शब्दोंमें 'प्रजावत्सल' वेदमूलक

यथाधिकार दण्डविधि बनाने वाले, प्रजापति मनुने कहा है, और भृगुने उसे अनूदित किया है। पूर्व दृष्टान्तकी भाँति इसमें भी कोई अनौचित्य नहीं, जिससे प्रक्षिप्तताकी शङ्काको अवकाश मिले। ज्येष्ठ-पुत्र होनेसे ब्राह्मणको कनिष्ठ-पुत्रकी तरह शारीरिक दण्ड न देकर राष्ट्रसे बहिष्कार रूप दण्ड ही मनुजीने दिया है। केवल उसीने नहीं, बल्कि—'गौतम-धर्मसूत्र' में भी कहा है—'राजा सर्वस्य ईष्टे *ब्राह्मणवर्जम्*' (१।२।१, ११।१)। तब वहाँ प्रक्षिप्तता कैसे हो सकती है? वा उसके लिए पापा-ज्ञाविधानरूपता कैसे हुई?

हमने तो उक्त श्लोक मनुजीके इस हृदयके प्रकाशनार्थ उद्धृत किया था कि—डाक्टरजीसे भी आदरणीय मनुजीको 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था इष्ट नहीं; किन्तु 'जन्मना' ही इष्ट है, परन्तु डा० जीने इसका उत्तर क्यों नहीं दिया? इसमें वे क्या अनुपपत्ति देखते हैं जिससे वे शिर नीचा करना वा चुप रहनेका संकेत करते हैं, वा प्रक्षिप्तताकी शङ्का करते हैं। मनुने उसके लिए राष्ट्रनिर्वासनका दण्ड दिया ही है, यह उसके लिए छोटा दण्ड भी नहीं है। इसलिए इसमें कोई अनुपपत्ति, वा प्रक्षिप्तता, वा मनु-भिन्न प्रणीतता भी नहीं। इसकी अप्रक्षिप्ततामें प्राचीन नाटक 'मृच्छकटिक' भी साक्षी देता है। उसमें कहा है—'अयं हि *पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।* राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवै-रक्षतैः सह' (९।३९)। इसकी '*न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।* राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्' (८।३८०) इस मनु-पद्यसे तुलना कीजिये। इसी तरह का अन्य श्लोक भी मनुस्मृतिमें देखिये—'आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यम—साहसः। *विवास्यो वा भवेद् राष्ट्रात् सद्रव्यः* सपरिच्छदः' (९।२४१) मनुस्मृतिमें प्रक्षिप्तता मानने वाले श्रीतुलसीराम स्वामीने भी इसे प्रक्षिप्त नहीं माना। तब उक्त मनुपद्यका प्राचीन नाटकसे स्मरण किया जानेसे, दूसरे स्थलमें

उसका अनुवाद करनेसे, इसके उदाहरणमें पापिष्ठ अश्वत्थामा ब्राह्मण को दैहिक-दण्ड न मिलनेसे उसकी अप्रक्षिप्तता ही सिद्ध हुई। इस प्रकार प्रसिद्ध राजनीतिके ग्रन्थ 'कौटलीय अर्थशास्त्र' में भी इसका समर्थन देखिये—'सर्वापराधेपु अदण्डनीयो ब्राह्मणः' (४।८।३२), 'ब्राह्मणं पापकर्माणमुद्‌घुष्याङ्कृतव्रणम्। कुर्यान्निर्विषयं राजा वासयेदा-करेषु वा' (४।८।२८)। अब क्या डाक्टरजीकी उक्त मनुपद्यको प्रक्षिप्त कहने की शक्ति है?

(११) 'प्रत्युत कोई सद्‌हृदयका सद्‌ब्राह्मण इनको अपनी जिह्वापर नहीं लावेगा' यह वाक्य उसी 'आज' पत्रके ५ म पृष्ठ, २ य स्तम्भमें लिखकर तथा अपने 'मानवधर्मसार' के ४६ पृष्ठमें 'नहि सद्‌ब्राह्मणः कश्चित् · वक्तुमेवमिहार्हति' लिखकर श्रीभगवान्‌दासजीने अपना (कर्मणा वर्ण-व्यवस्था) सिद्धान्त भी काट दिया है। 'सद्‌ब्राह्मण' शब्द से डा० जीने 'असद्‌ब्राह्मण' को भी मान लिया है; नहीं तो 'ब्राह्मण' के साथ 'सद्' शब्दके देनेकी आवश्यकता नहीं थी। इसीलिए उसी पत्रके छठे पृष्ठके १म स्तम्भमें डा० जीने 'असद्‌ब्राह्मण' की घोर निन्दा भी की है' इस अपने वाक्यमें 'असद्‌ब्राह्मण' शब्द स्पष्ट कह दिया है।' और 'जो 'सर्वपापेष्ववस्थित' होगा' इस अपने वाक्यमें डा० जीने 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' को चकनाचूर कर डाला है।

इसको यों समझिये—'आज'में प्रकाशित डा० जीके लेखमें लेखकका नाम सम्पादकने लिखा है—'श्रद्धेय भगवान्‌दास'। यह भगवान्‌दासजी मनुष्य हैं, पर उक्त नामके साथ सम्पादक वा लेखकने 'मनुष्य' विशेषण क्यों नहीं दिया? वहाँ यही उत्तर होगा कि इस लेखके लेखक डाक्टर भगवान्‌दास कभी 'अमनुष्य' नहीं हो सकते। तब क्यों 'मनुष्य' यह व्यर्थ विशेषण दिया जाय? 'श्रद्धेय' विशेषण तो सम्पादकने इसलिए दिया है कि अन्य अग्रवाल वैश्यगणकी अपेक्षा डा०जी अधिक सद्-

गुणकर्म वाले हैं, अथवा अधिक संस्कृत विद्वान् हैं। सब वैश्य तो ऐसे नहीं। इस कारण अन्य वैश्योंके नामके साथ 'श्रद्धेय' विशेषण न लगाकर सम्पादकने इन्हींके नामके साथ उक्त विशेषण दिया। इसीसे यह न्याय प्रसिद्ध है—'सम्भव-व्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्' अर्थात् विशेषण तब सार्थक हुआ करता है, जब अपने विशेष्यमें हो भी सके, और वैसे अन्य विशेष्यमें व्यभिचरित भी हो (न हो सके), परन्तु 'मनुष्य' यह विशेषण सब विशेष्यभूत लेखकोंमें सम्भव होता हुआ भी किसीमें व्यभिचारको प्राप्त नहीं हो सकता, तब 'अव्यभिचारमें विशेषण नहीं हुआ करता' यह सोचकर 'मनुष्य' यह विशेषण मनुष्यों के नामके साथ नहीं दिया जाता।

अब प्रकरण पर आइये—कर्मणा वर्ण-व्यवस्थाके आग्रही डा० जी सत्कर्मोंसे ही ब्राह्मणत्व मानते हैं, असद् गुणकर्मोंसे नहीं। इस प्रकार यदि ब्राह्मणत्वका सद्गुणकर्मोंसे सर्वथा अव्यभिचार है, तो ब्राह्मणके साथ 'मनुष्य' विशेषणकी व्यर्थताकी तरह 'सद्' यह विशेषण भी अव्यभिचार होनेसे व्यर्थ है। इस कारण 'कर्मणा वर्णः' मानने वालोंको तो 'ब्राह्मण' शब्दके साथ 'सद्' यह विशेषण भी व्यर्थ होनेसे प्रयुक्त नहीं करना चाहिये। परन्तु इस पक्षके डा० जी 'सद्ब्राह्मण' शब्द लिखकर दो ब्राह्मण सिद्ध कर रहे हैं कि—'सद्ब्राह्मण' तो 'सर्वपापे-ष्ववस्थित' न होना चाहेगा, परन्तु 'असद्ब्राह्मण' तो 'सर्वपापेष्ववस्थित' होना चाहेगा। यदि ऐसा है; तो 'सर्वपापेष्ववस्थित' ब्राह्मणको भी डा० जीने 'आज' पत्रमें स्वयं ही कहे हुए 'असद्ब्राह्मण' शब्दसे

'ब्राह्मण' मान लिया, तब 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' उनके सिद्धान्तका सर्वथा खण्डन हो गया। भेद केवल यही रहा कि—डा० जी असद्-ब्राह्मणको भी शूद्र जैसा दण्ड दिलाया चाहते हैं, परन्तु ब्राह्मणको ज्येष्ठपुत्र मानने वाले मनुजी 'विश ! एष वोऽमी ! राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' (यजुः वा० सं० ६।४०) इस मन्त्रसे ब्राह्मण पर राजशासनको वेद-विरुद्ध मानते हुए राजा द्वारा ब्राह्मणको शूद्रादिकी तरह मारना पीटना दण्ड न दिलवाकर लोकव्यवस्थार्थ अपने शासनसे बाहर कर देना ही दण्ड चाहते हैं। डा० जी तो शायद उस ब्राह्मणको अब्राह्मणके तुल्य दण्ड इसलिए दिलाना चाहते हैं कि वे स्वयं ब्राह्मण न हों, या ब्राह्मणवत्सल न हों, या ब्राह्मणको बड़ा मानने वाले न हों, या यथाधिकार दण्डका तारतम्य मानने वाले न हों, सभीको एक लाठी-से हांकना चाहते हों, पर मनु ब्रह्माके पुत्र होनेसे ब्राह्मणवत्सल थे, ब्राह्मणको ही वेदानुसार बड़े मानने वाले थे और यथाधिकार दण्डके तारतम्य मानने वाले थे, इस कारण उन्होंने अपनी स्मृतिमें ब्राह्मणादिके दण्डमें तारतम्य भी रखना ही था।

अब डा० जी ही कहें कि आपके लेख में लिखा 'असद्-ब्राह्मण' शब्द प्रक्षिप्त है, या आपका अपना है ? यदि 'प्रक्षिप्त' है, तो इसमें क्या प्रमाण है, क्योंकि उस उल्लेखमें प्रकरणका व्याकोप या कोई भी असंगति नहीं दीखती। यदि 'असद्ब्राह्मण' शब्द डा० जी ने ही लिखा है, 'प्रक्षिप्त' नहीं, तो उसी शब्दसे ही 'कर्मणा वर्ण' यह

डाक्टरजीका सिद्धान्त* खण्डित हो गया, क्योंकि—उनके मतमें 'असत्' कभी ब्राह्मण नहीं बन सकता। इस प्रकार उनका लिखा 'असद्-ब्राह्मण' शब्द उनके मतसे विरुद्ध होने पर भी यदि उनके लेखमें प्रक्षिप्त नहीं, तब 'पापयुक्त भी ब्राह्मण (असद्-ब्राह्मण) को भी ब्राह्मण कहने वाला वैसा मानने वाले श्रीमनु और श्रीव्यासका वचन भी उनके मतसे विरुद्ध होने पर भी प्रक्षिप्त नहीं। इसमें विश्वास भी करना पड़ता है, नहीं तो मनुस्मृतिके डा०जी से लिखे श्लोक ही शायद मनुके न हों, किन्तु किसी ब्राह्मणद्वेषीने ही प्रक्षिप्त कर दिये

* इसी प्रकार डा० भ० दा० जीने स० १६७७ में पौष मासकी 'आज' की कई संख्याओंमें यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था कि—'काशी हिंदुविश्वविद्यालयके 'धर्म-विज्ञान' विभागका यह निश्चय कि—'धर्म-शिक्षकके पद पर ब्राह्मणेतर व्यक्तिकी नियुक्ति नहीं होगी—यह अनुचित है; क्योंकि—वर्ण-व्यवस्था केवल कर्मसे ही शास्त्र सम्मत है'। इस उनके वाक्यसे भी 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था' ही सिद्ध होती है। यदि वे 'कर्मणा वर्णः' मानते हैं, और जब वे विद्वत्तासे ही ब्राह्मण मानते हैं, तो 'अब्राह्मण हिंदुविश्वविद्यालयके धर्मविज्ञान विभागके अध्यापक न होवें' इस विश्व-विद्यालयकी घोषणाका विरोध क्यों करते हैं? जब करते हैं, इससे वे अविद्वान् भी जन्मके ब्राह्मणको ब्राह्मण सिद्धान्तित करते हैं, नहीं तो 'ब्राह्मणे-तर जातिवाले भी 'हिंदुविश्वविद्यालयके अध्यापक हो सकते हैं' इस श्री-भगवान्दासजीके अभिप्रेत वाक्यका अन्य क्या अर्थ है? क्योंकि—अविद्वान् तो वहां स्वतः ही पढ़ा नहीं सकेंगे, तब स्वयं ही अविद्वान्के अब्राह्मण होने से उनके मतमें उसका निषेध प्रतिफलित हो जाता है। तब उन्होंने अब्राह्मण को भी धर्मशिक्षकके पदमें रखनेका आन्दोलन क्यों चलाया? इससे उनके सिद्धान्तमें भी जन्मसे वर्ण-व्यवस्था सिद्ध हो गई। यह उनका अपनेसे ही स्वयं खण्डन हो गया।

हों। डा०जीके पास उनकी अप्रक्षिप्तताका क्या प्रमाण है? तब प्रक्षिप्तताके ब्याजको हटाकर डाक्टरजी तथा तत्सदृश अन्य वादियोंको 'उक्त पद्यसे जन्मसे वर्ण व्यवस्था नहीं निरस्त सकती' यही सिद्ध कर दिखाना चाहिये। यदि डा० जी ऐसा न करके प्रक्षिप्तताके बहानेसे अपने सिद्धान्तकी सरणिके कांटे इस श्लोकको हटाना चाहें, तो उनके सिद्धान्तकी सरणिका कण्टकाकीर्ण होना छिप न सकेगा, इससे उनके पक्षकी शिथिलता स्वयं ही सिद्ध हो जायगी।

(१२) फलत 'कर्मणा वर्ण.' के सिद्धान्तमें 'असद्-ब्राह्मण' शब्दका भी अत्यन्ताभाव होना चाहिये, 'सद्-ब्राह्मण' शब्दका भी। 'कर्मणा वर्ण' सिद्धान्तमें ब्राह्मणके 'असद्' इस विशेषणका अत्यन्ताभाव *असम्भव होनेसे* होगा, और 'सद्' इस 'ब्राह्मण' के विशेषणका अत्यन्ताभाव 'कर्मणा वर्ण' सिद्धान्तमें *व्यर्थताके कारण* होगा। इस प्रकार 'कर्मणा वर्ण.' सिद्धान्तमें 'असत् शूद्र' और 'सत्-शूद्र' का भी अत्यन्ताभाव होना चाहिये। उक्त सिद्धान्तमें 'सत् शूद्र' शब्दका अत्यन्ताभाव सर्वथा व्यभिचारके कारण होगा, और 'असत् शूद्र' शब्दका अत्यन्ताभाव सर्वथा अव्यभिचारमूलक व्यर्थताके कारण होगा। परन्तु जबकि 'असद्-ब्राह्मण' और 'सद् ब्राह्मण' शब्दकी, तथा 'असत् शूद्र' तथा 'सत् शूद्र' शब्दकी सत्ता डाक्टरजीके लेखमें है, जैसकि–'भारतीय संस्कृति सम्मेलन देहलीके चतुर्थाधिवेशनके उनके भाषणके २२-२६ पृष्ठमें उन्होंने लिखा है—'*सब ब्राह्मणों, सब क्षत्रियोंकी* प्रशंसा प्राचीनों नहीं की है, प्रत्युत *कुत्सितों* [ब्राह्मण क्षत्रियों] को घोर जुगुप्सा और भर्त्सना की है। यह दिखानेके लिए मनुके कुछ श्लोक यहां पर्याप्त होंगे, अन्य बहुतसे मनु, महाभारत आदिमें भरे हैं—'वैडालव्रतिके द्विजे' (४।१९१) 'हैतुकान् बकवृत्तींश्च' (४।३०) 'न वारयपि विप्रे, नावेदविदि धर्मवित्' (४।१९२) 'सद् ब्राह्मण, *सत्*-क्षत्रियोंने भारतको

बहुत ऊंचे उठाया, *असद्-ब्राह्मणों और असत्-क्षत्रियोंने उतना ही नीचे गिराया*' यहां डा० जीने '*कुब्राह्मण कुक्षत्रियकी कुत्सा*' इस शीर्षकमें लिखा है। जबकि शास्त्रमें भी ऐसा लिखा है, जैसे कि—'धर्मनिष्ठान् श्रुतवतो देव-ब्रह्म-समाहितान्। अर्चयित्वा भजेथास्त्वं गृहे *गुणवतो द्विजान्*' (महाभारत शान्तिपर्व ७१।२) '*दुर्ब्राह्मणं* शिरःकम्पेन न सोपायनमपि' (बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र ७०) 'कुब्राह्मणः, सुब्राह्मणः, कुवृषलः, सुवृषलः, दुर्ब्राह्मणः, दुर्वृषलः' (महाभाष्ये २।२।१८) यहां सुब्राह्मण, कुब्राह्मण शब्द आये हैं, तब इन शब्दोंकी सत्तासे 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' सिद्धान्तका ही खण्डन हो गया। केवल सुकर्मसे उन-उन वर्णोंकी *प्रतिष्ठा, तथा कुकर्मसे उन-उन वर्णोंकी अप्रतिष्ठा ही सिद्ध हुई*, वर्ण-परिवर्तन नहीं। इस जन्मके कर्म अपने-अपने वर्णमें उत्तम, मध्यम, अधम करने वाले होते हैं, उन-उन वर्णोंके उत्पादक नहीं। हां, इस जन्मके कर्म अग्रिम जन्ममें तदनुकूल वर्णको कर दिया करते हैं।

यदि सुकर्म तथा कुकर्मसे वर्ण-व्यवस्था हो तो क्षत्रिय-वैश्य वर्णकी *पृथक् आवश्यकता ही नहीं रहती। तब केवल ब्राह्मण और शूद्र ही हो* सकते हैं। इन्हीं ब्राह्मण और शूद्रोंमें जो युद्धादि कार्य सम्भाल लें वही क्षत्रिय, जो धनादि कार्य करें, वे इन्हींमें वैश्य हो जाएंगे। तब क्षत्रिय और वैश्यके साथ सुकर्म तथा कुकर्मका सम्बन्ध ही अनुपपन्न हो जायगा, परन्तु शास्त्रोंमें जब चार वर्ण कहे गये हैं, तब जन्मसे ही इनका भेद है, कर्मसे नहीं। कर्मसे प्रतिष्ठामें तारतम्य होता है, वर्णमें परिवर्तन नहीं। *क्या डा० भगवान्‌दासजी तथा अन्य वादी यहां ध्यान देंगे?*'

इससे "सज्जन विद्वान् विचार करें कि—ऐसे श्लोकों पर आग्रह करनेसे अहङ्कार-तिरस्कार और परस्पर वैमनस्य बढ़ता है, अथवा सौमनस्य, और परस्पर वैमनस्य बढ़ता है, अथवा सौमनस्य और

शान्ति, तुष्टि पुष्टि प्रीति' डा० जीका यह वाक्य प्रयुक्त हो गया। "मैं तो ऐसे श्लोकोंको प्रक्षिप्त ही मानता हूं" ऐसा क्यों न कहें, क्योंकि—इससे आपका पक्ष घटता है। पर एक व्यक्ति वा पक्षपाती वादिसमाजके कथनमात्रसे इन प्रमाणोंकी प्रक्षिप्तता कैसे हो जावेगी?

(१३) "क्योंकि इनके विरोधी श्लोक विस्पष्ट और *न्यायोचित* 'मनु महाभारत' में मिलते हैं' डा० जीके सामने हमने महाभारत तथा मनुका उत्तरपक्ष तथा हृदय दिखला ही दिया है। इससे जन्मना वर्ण-व्यवस्थाके प्रतिपादक वचन तो इन दोनोंका सिद्धान्त पक्ष ही हैं। कर्मणा वर्ण-व्यवस्था तो उन दोनोंने कहीं दिखलाई ही नहीं। जहा-कहीं उसका आभास दीखे, वहां कर्मका *प्रशंसार्थवाद* तथा कर्म न करने वालेका निन्दार्थवाद ही होता है, ऐसा जान लेने पर विरोध स्वयं हट जाता है। जैसे *'मानवधर्मसार'* (पृ० ४६) में डा० जीसे दिया गया हुआ—'योनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स *जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु* गच्छति *सान्वयः*' (२।१६८) यह मनुपद्य ही देख लीजिये यह स्पष्ट अर्थवाद है। नहीं तो पढ़ता वेद नहीं है एक पुरुष, पर उसका निरपराध भी, वेदपाठी भी सारा वंश (पुत्र, पौत्रादि) उससे शूद्र कैसे हो सकता है? ऐसा होने पर तो बिना अपराध शूद्रत्व होने पर 'अकृताभ्यागम' वेद पढ़ने पर भी शूद्रत्व होनेसे 'कृतहान' दोष उपस्थित होता है। तब स्पष्ट है कि—यह *'साहित्यसङ्गीतकला-* विहीन' साक्षात् पशु पुच्छविषाणहीन.' (भर्तृहरि.) 'विद्याविहीन' पशु' (भर्तृ०) आदि की तरह निन्दार्थवादात्मक गुणवाद है। जैसेकि—इस पर श्रीमेधातिथिने लिखा है—'शूद्रत्वप्राप्तिवचनं *निन्दातिशयः*'। इसलिए इससे उस ब्राह्मणका शूद्र हो जाना इष्ट नहीं, जैसेकि—'शूद्रत्वाप्तिस्तु तत्रापि' यह 'मानवधर्मसार' में उक्त पद्यके आगे डा० जीने लिखा है, किन्तु यहां 'शूद्रत्वं' का अर्थ 'शूद्रसदृशता' ही

है। केवल हम ही नहीं कहते, वसिष्ठजी भी अपने धर्मसूत्रमें इसका अर्थ यही कहते हैं। जैसेकि—'अश्रोत्रिया:[अवेदपाठिन:]...*शूद्रसधर्माणो* भवन्ति (३।१) मानवं चात्र श्लोकमुदाहरन्ति (३।१) 'योनधीत्य द्विजो वेदं ..सञ्जीवन्नेव शूद्रत्वं' (वसिष्ठधर्मसूत्र ३।३)।

बल्कि—'जीवन्नेव शूद्रत्वं' में 'जीवन् एव' इस 'एव' शब्दसे बल देना ही सिद्ध कर रहा है कि—वर्ण-परिवर्तन मरणोत्तर होता है, जीते जी नहीं। इसी अर्थकी सिद्धिके डरसे इस जीवनमें वर्ण-परिवर्तन मानने वाले स्वा० दयानन्दजीने स० प्र० में इस श्लोकके अर्थ करनेके समय 'जीवन्नेव' पदका अर्थ ही छिपा लिया, नहीं लिखा। पर वेद-विद्याको छोड़ देना ऐसा भारी पाप है कि—वह जीते जी शूद्र जैसा हो जाता है। इसे सभी स्पष्ट ही अर्थवाद मानेंगे, यदि यह अर्थवाद न होता, तो 'जीवन्नेव' में 'एव' शब्द न होता, प्रत्युत 'एव' 'अनियमे नियम:' दोषयुक्त होता। यह इस प्रकारका अर्थवाद है, जैसेकि—'वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्। इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते' (मनु० १२।१०२) इस लोकमें ब्रह्मभाव (मुक्ति) नहीं होता, किन्तु परलोकमें। यह इसीमें स्थित 'एव' शब्दसे सिद्ध होता है। यह वेद पढ़नेका प्रशंसार्थवाद है, पूर्व पद्य वेद न पढ़नेका निन्दार्थवाद है। नहीं तो डा० जीके अपने ही लड़के वेदविद्याराहित्यसे शूद्र हो जावेंगे। *क्या डा० जी तथा वे यह स्वीकार कर लेंगे?* इसी प्रकार डा० जीसे दिया हुआ 'न तिष्ठति तु य: पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद् बहिष्कार्य: सर्वस्माद् द्विजकर्मण:' (मनु० २।१०३) यह श्लोक भी समाहित हो गया। इसमें 'शूद्रवत्' है, 'वति' प्रत्यय तुल्यतामें होता है, वही हो जानेमें नहीं। यदि डा० जी कहें, कि—'तत्रापि दण्डो हि मनुना धृत:' (मानव० ध० सा० पृ० ४६); तो मनुने सर्वपापेष्वपि स्थितम्। राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात्' (८।३८०) यहां भी तो

राष्ट्र-बहिष्कारका दण्ड दिया है; तब इन दो पद्योंके दृष्टान्तसे डा० जी उक्त पद्यको प्रक्षिप्त कैसे कह सकते हैं? तब इससे 'नैतद् घोरतमं पापं वेदानध्ययनं तु यत्। सर्वपापसमं नापि सन्ध्योपासनवर्जनम्। शूद्रत्वाप्तिस्तु तत्रापि दण्डो हि मनुना धृतः। ब्राह्मण्यमवशिष्येत सर्वपापस्थितौ कथम्' (पृ० ४६) डा० जीके इस कथनका भी खण्डन हो गया। क्योंकि—मनुके उक्त पद्योंमें शूद्रसदृशता तो बताई गई है, पर शूद्रवर्ण होना, ब्राह्मण वर्ण हटना नहीं बताया। 'द्विजकर्मणो बहिष्कार्यः' कहा है 'द्विजत्वाद् बहिष्कार्यः' नहीं कहा। सो ऐसा ब्राह्मण यज्ञादि दूसरेको न करावे-यह आशय है। तब स्पष्ट सन्ध्या न करनेका निन्दार्थवाद तथा सन्ध्या करनेका प्रशंसार्थवाद होनेसे पूर्व पद्य (सर्वपापेष्ववस्थितम्) मनुका अनर्थक सिद्ध न हुआ। इसी प्रकार 'मानवधर्मसार' में डा० जीके दिये हुए 'ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिन। न वार्यपि प्रयच्छेत् तान्' इस मनुपद्यसे बकमार्जारव्रती विप्रको पानी देनेका निषेध तो किया गया है, पर उसका विप्रत्व (ब्राह्मणत्व) नहीं छीना गया। इससे जहां डा० जीका 'कर्मणा वर्णः' सिद्धान्त खण्डित होता है, वहां उससे दिखलाया हुआ मनुपद्योंका परस्पर विरोध भी हट जाता है, पर बाबू भगवान्दास आदि वादी एतदादि वचनोंको एक आंखसे ही देखा करते हैं, उन पर सर्वतोमुखी दृष्टि नहीं डालते। इस कारण उनके दृष्टिकोणमें अपने सिद्धान्तकी रक्षार्थ प्रक्षिप्ततारोपणके बहानेके बिना काम नहीं चलता, और उन्हें पुस्तकोंमें विरोध भी मालूम होता है।

(१४) यदि कोई जन्मका ब्राह्मण एतदादिक श्लोकोंको प्रक्षिप्त कहे; तो वह क्षम्य हो सकता है, उसके कथनका कुछ गौरव भी हो सकता है, परन्तु यदि कोई क्षत्रिय-वैश्य आदि वैसा कहे, तो लोग स्वयं जान जाते हैं कि—यह कुछ विद्या पाकर स्वयं ब्राह्मण बनना चाहता है, या ब्राह्मणके समान मान पाना चाहता है, अथवा उनकी

प्रक्षिप्तताकी घोषणा करने वाला ब्राह्मण भी एक ऐसी संस्थाका होता है, और उससे जीवन प्राप्त कर रहा होता है वा उस संस्थाका कई कारणोंसे पक्षपाती होता है, जो संस्था गुणकर्मोंसे वर्ण अपनी इच्छानुसार मानती हो। इस कारण स्वार्थवश होनेसे उसकी प्रक्षिप्ततोद्घोषणाका कुछ भी मूल्य नहीं माना जाता। परन्तु अब्राह्मणोंको यह जानना चाहिये कि—*क्षत्रिय, वैश्यको भी ब्राह्मण- इतनी विद्या अपेक्षित होती है, यज्ञ तथा दान तो उन्हें ब्राह्मणसे भी अधिक करने पड़ते हैं।* बल्कि उपनिषद्के ब्रह्मविद्याभिज्ञ क्षत्रिय तो ब्राह्मणोंसे भी अधिक *विद्वान्* थे, वे ब्राह्मणोंको ब्रह्मविद्या पढ़ाते थे, इस प्रकार होने पर भी उन्हें न तो उपनिषद्ने ब्राह्मण बनाया, न कोई धर्मशास्त्र ब्राह्मण बनाता है, न ही ब्राह्मणसदृश मानको वह पा सकनेका अधिकारी है। तभी तो समर्थ भी क्षत्रिय-वैश्यका प्रतिग्रह तथा आचार्यरूपसे अध्यापन तथा यज्ञ कराना धर्मशास्त्र निषिद्ध है।

इसी कारण डा० जीके भी मान्य मनुजीने कहा है—'त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात् क्षत्रियं प्रति। अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः' (१०।७७) वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः। न तौ प्रति हि तान् धर्मान् मनुराह प्रजापतिः' (१०।७८) इससे भी अधिक मनुके हृदयकी स्पष्टता कैसी हो, जिसमें स्पष्ट ही जन्मसे वर्ण-व्यवस्था सूचित हो रही है। क्या डा० जी सब स्थान प्रक्षिप्तता ही मानेंगे? उन्हें जानना चाहिये कि—'प्राप्तौ सत्यां हि निषेधो भवति' प्राप्ति होने पर ही निषेध होता है। प्राप्ति यही है कि—क्षत्रिय-वैश्यमें भी विद्यावश अध्यापन-याजन आदि की शक्ति है। इस प्रकार सामर्थ्यमें भी उन्हें ब्राह्मण न कहकर, उन्हें क्षत्रिय-वैश्य ही कहकर, उन्हें ब्राह्मणकर्म सर्वथा ही निषिद्ध करके मनुजी ने अपना हृदय स्पष्ट ही जन्मकी वर्ण-व्यवस्थाका बता दिया। तब उनका 'सर्ववापेष्वपि स्थितम्' वचन कैसे प्रक्षिप्त हो सकता है? क्षत्रिय

आदिका अध्यापन आपत्तिकालमें ही मनुने सह्य माना है—'अब्राह्मणाद् अध्ययनमापत्काले विधीयते' (२।२४१)। तभी उपनिषदोंके क्षत्रियोंने ब्राह्मणोंको ब्रह्मविद्या पढ़ानेके समय उनका उपनयन नहीं किया, जो कि आचार्यको अपेक्षित होता है; इससे उपनिषदात्मक वेदोंने भी अपना हृदय खोलकर रख दिया कि—वर्ण-व्यवस्था जन्मसे होती है, गुणकर्मसे नहीं।

इस प्रकार उन्हीं मनुजीने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको ही जन्मसे द्विजत्वमें अधिकार दिया, जन्मसे ही, जन्मसे ही क्या, बल्कि गर्भसे ही ब्राह्मणका ८ वें, क्षत्रियका ११ वें, वैश्यका १२ वें वर्षसे आचार्य-करण (उपनयन) कहकर उनके विद्याकालमें भी कमी कर दी, अब क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मणसे ३-४ वर्ष विद्या कम पढ़ेंगे; तब वे ब्राह्मण कैसे बन सकेंगे? उन्हीं शास्त्रकारोंने शूद्रको जन्मसे ही द्विजत्वमें अनधिकारी बता दिया, उसको सदाके लिये 'एकज' रख दिया। आचार्यकरणसे उसे पृथक् रखकर उसे वेदविद्यासे भी पृथक् कर दिया। शूद्र तो वर्ण भी था, पर अन्त्यज तो अवर्ण ही माने गये, और अपपात्र कर दिये गये। तब वे ब्राह्मण कैसे हो सकते हैं? क्या इससे भी अधिक स्पष्ट प्रमाण मनुजीका जन्मसे वर्ण-व्यवस्था-पक्षपाती होनेमें अपेक्षित हो सकता है? यदि यही पर्याप्त है, तो उसके 'जन्मना वर्ण-व्यवस्थापक' श्लोकको प्रक्षिप्त कैसे कहा जा सकता है? इससे स्पष्ट है कि—द्या० जी का मनुमें आदर वाणी-विलासमात्र है, आदर इनका स्वार्थपूर्ण अपने मतमें ही होता है। अपने मतसे विरुद्ध मनुका पद्य इनके मतमें प्रक्षिप्त हो जाता है, और यह लोग प्रक्षिप्तताके व्याजके बिना अपने मतका निर्वाह नहीं कर सकते। प्रक्षिप्तताका यह व्याज ही इनके पक्षकी शिथिलताका प्रमाण है। मनुजी तो 'जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्याद् अन्यद्, न वा कुर्याद् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' (२।८७) यहां पर साधारण-जपकर्ता, तथा अन्य कुछ भी न करनेवाले ब्राह्मणको

भी ब्राह्मण माना है। 'सावित्रीमात्रसारोपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः। नायन्त्रितस्त्रिवेदोपि सर्वाशी सर्वविक्रयी' (२।११८) यहाँ भी मनु साधारण गायत्री जपवालेको भी ब्राह्मण कहते हैं, सर्वभक्षकको भी अब्राह्मण न कहकर अवर ब्राह्मण ही कहते हैं। डाक्टर भगवान्दासजी तथा आर्यसमाजके श्रीतुलसीराम स्वामी आदि कर्मणा वर्ण माननेवाले भी इन श्लोकोंको प्रक्षिप्त नहीं मानते। तब पूर्वोक्त श्लोकमें भी मनुजीको यही जन्मसे वर्ण-व्यवस्था इष्ट है, ब्राह्मणका पाप करना नहीं।

(१५) आगे डा० जी कहते हैं—'भागवतमें पृथुके आख्यानमें 'वात्सल्यं मनुवन्नृणाम्' ऐसी उपमा कही है। न केवल एक जाति या एक वर्णके, किन्तु सर्व मानवमात्रके आदि प्रजापति, ऐसे क्रूर वाक्य, पापाचारके प्रोत्साहक कैसे लिख सकते हैं?' इसका उत्तर हम एक पिताके चार पुत्रोंके दृष्टान्तसे दे चुके हैं। इसमें ब्राह्मणको पापका प्रोत्साहन नहीं है, किन्तु अग्रजन्माको अवर-वर्णकी अपेक्षा थोड़ा दण्ड देना है, और कुछ नहीं। *वह भी उनके पूर्वजन्मोंके सुकर्मोंके सम्मानका लक्ष्य करके किया जाता है*, जिनके कारण उनका इस जन्ममें ब्राह्मण-वंशमें जन्म हुआ। इससे उन्हें *इस जन्ममें भी सुकर्म करनेके लिए प्रोत्साहित किया जाता है*; जिससे इस जन्ममें भी उनका सम्मान हो, और भविष्य जन्म भी उनका अच्छे वर्णमें हो। स्मृतियोंमें चाण्डालोंका वर्णन भी है, उनकी उत्पत्तिका प्रकार भी वर्णित है, तो क्या उसे देखकर डा० जी यही कहेंगे कि—'यहाँ मनुजीने शूद्र जातिवालोंको ब्राह्मणीके ग्रहणके लिए प्रोत्साहित किया है, अतः यहाँ भी प्रक्षिप्तता है' नहीं, ऐसा नहीं। ऐसा होने पर तो सारी मनुस्मृति ही प्रक्षिप्त बनाई जा सकती है। तब तो मनुका सच्चा आदर (? होगा।

(१६) डा० जी आगे कहते हैं—'यदि ऐसे श्लोक प्रामाणिक और उचित माने जाएँ, तब तो महात्माको प्रवर्तमान भारतीय दण्डविधानमें

यह लिखवा देना अनुचित होगा कि—'अँग्रेजो नावमन्तव्यः सदसद् वा समाचरन्। न जातु हन्याद् अँग्रेजं सर्वपापेष्वपि स्थितम्। प्लीहानं स्फोटयेद् वापि यकृद् वा भेदयेत् यदा। द्विजैकजानाम्, अँग्रेजो नैव दोषेण लिप्यते॥ प्रत्यक्षं श्वेतवर्णोऽयं सर्ववर्णोत्तमोत्तमः। सर्वेषामेव वर्णानां अँग्रेजो न्यायतः प्रभुः। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति। पृथिव्यामिन्द्रवच्चापि प्रसर्पति नभस्तले'।

यद्यपि इस बातका प्रकृत विषयसे सम्बन्ध नहीं है, तथापि डा० जोसे प्रष्टव्य है कि—अँग्रेजी राज्यमें ऐसा दीखता था या नहीं? जिस अपराधको काला आदमी करे, उसको गोरा भी करे, तो यदि उस अपराधमें कालेको फाँसी दी जाती थी, तो गोरेको उसीमें केवल देश-निर्वासन होता था, उसमें कारण क्या? कारण यही कि—अँग्रेजी राज्यमें अँग्रेज अग्रजन्मा था, अतएव उसको वध-दण्ड न देकर राष्ट्रसे ही बाहर किया जाता था। यही सुधारक लोग गांधीजीको, या स्वामी दयानन्दजीको शतशः दोषयुक्त होने पर भी वैसे वाग्बाणोंसे क्या हिंसित करते हैं, जैसे कि जन्म-ब्राह्मणको। वही भांग-तमाखू पीनेसे स्वा० द० को वैसी निन्दा नहीं करते, जैसे कि—भांग तमाखू पीनेवाले किसी सनातनधर्मी की। यह प्रसङ्ग सर्वत्र ही होता है।

यदि प्राच्य धर्मशास्त्रकार 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं' यह विचार पर जैसे आचरण करें, वैसा ही लिखें, पर अँग्रेजी सभ्य 'मनस्यन्यद्, वचस्यन्यत्, कर्मण्यन्यद्' इस नीतिको अवलम्बन करके जो न लिखें, उसे भी आचरण कर लें, तब क्या इससे 'न जातु ब्राह्मण हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्। राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात्' यह कहने वाला धर्मशास्त्र अपराधी होगा? अथवा क्या हिन्दुराज्य तथा अँग्रेज राज्योंके नियमोंको समानरूपसे लिखनेकी व्याप्ति हो सकती है?

'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' इस पद्यको उपहास्य बना कर डा० जी मनु पर चोट कर रहे हैं। यह है मनुके आदरका आदर्श। क्योंकि यह अंश 'मनुस्मृति' का है; अब डा० जी बतावें कि—राजाके लिए लिखा यह मनुका पद्य क्या आपके मतमें प्रक्षिप्त है कि—आपने उसे उपहास्य बना लिया। यदि ऐसा है, तो 'नराणां च नराधिपम्' (१०।२७। अपनी प्रमाणित गीताके इस वचनको तथा *'राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवो मर्त्यान् अति'* (अथर्व० शौ० सं० २०।१२७।७) पूर्व पद्यके मूलभूत इस वेदवचनको भी डा० जी प्रक्षिप्त मान लेंगे? ऐसा हो तो आप धन्य हैं। श्रीमन्! जो आपको असम्मत है, वह वेदानुकूल भी क्या प्रक्षिप्त है? यदि ऐसा है—तो यह अपने बचावका आपने उत्तम उपाय बना रखा है!

(१७) 'न जातु ब्राह्मणं हन्याद्' (८।३८०) यह मनुपद्य भी 'न ब्राह्मणो हिंसितव्यः' (अथर्व० ५।१८।६) इस वेदमन्त्रके अनुकूल ही है। यहां ब्राह्मणकी हिंसाका निषेध है, निषेध, प्राप्ति होने पर होता है; प्राप्ति, वैसी योग्यतामें होती है, पर गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्थामें ब्राह्मणका गुण-कर्म हिंसायोग्य नहीं। तब यहां यही 'सर्वपापेष्ववस्थितम्' आदिका संकेत मिलता है—जो हिंसाकी योग्यताका आधायक है। परन्तु हिंसाकी योग्यतामें भी उसका निषेध करनेसे जहां जन्मसे वर्ण-व्यवस्था सिद्ध होती है, वहां मनुका उक्त पद्य वेदमूलक भी सिद्ध हो जाता है। इसी कारण मनुने इसकी स्पष्टता की है कि—'न ब्राह्मणवधाद् भूयान् अधर्मो विद्यते भुवि। तस्माद् अस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्' (८।३८१) यह ठीक है और वेदानुकूल है। 'ब्रह्महा च एते पतन्ति' (छान्दो० ५।१०।९) इस प्रकारके बहुतसे इसके मूल हैं। अथर्व०सं० का ५।१८-१९ आदि सूक्त तो ब्राह्मणको तंग करने वालेके लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। देखिये—उसके लिए वेदने कैसे दन्तधर्षण किया है—'वृश्च प्रवृश्च,

संवृश्च, दह, प्रदह, संदह, ब्रह्मज्यं देवि ! अघ्न्ये ! आमूलाद् अनुसन्दह । यथा याद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः' (अथर्व० १२।१।११ २-३) इसका आर्यसमाजी श्रीराजारामजी शास्त्रीने यह अर्थ किया है—'काट, काट डाल, टुकड़े-टुकड़े करदे, जला दे, जला डाल, जलाकर राख करदे ब्राह्मणके सताने वालेको। हे *न मारने योग्य देवि ! जड़ से लेकर सारा* जलाकर राख करदे। जैसेकि वह यमके घर [लोक] में दूरवर्ती पाप-लोकोंको जाए' इस प्रकारके हम बहुतसे मन्त्र दे सकते हैं। वेदको ब्राह्मण जन्मसे इष्ट है—यह हम गत निबन्धमें सिद्ध कर चुके हैं। इस प्रकार 'ब्राह्मणो नावमन्तव्यः' (१।१६०।१३) यह महाभारतका पद्य भी 'तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेद-विद्भ्यो दिवे-दिवे नमस्कुर्यात्, नाश्लीलं कीर्तयेद्, एता एव देवताः प्रीणाति' (तै० आ० २।१५) इस कृष्णयजुर्वेदकी कण्डिकाके अनुकूल है। 'नाश्लीलं कीर्तयेत्' का अर्थ श्रीसायणने ऋ० भाष्यके उपोद्घातमें लिखा है—'न तु तस्मिन् [ब्राह्मणे] *विद्यमानमपि दोषं कीर्तयेत्*'। तब वेदानुकूलको प्रक्षिप्त कैसे माना जा सकता है ? क्या डाक्टरजी तथा उन—जैसे वादी ध्यान देंगे ?

'सो याद रखनेकी बात है—शास्त्रकी दुहाई-तिहाई देनेसे यह लाभ नहीं हुआ, प्रत्युत इत्यादि शास्त्र अथवा शास्त्राभास अथवा प्रक्षिप्तके विपरीत नवाविष्कृत उपज्ञात प्रकारोंसे' यह भी डा० जीका कथन वाग्विलासमात्र है। वस्तुतः जब शास्त्रोंका पूर्ण आचरण था; तभी सब प्रकारकी शान्ति थी। जब आप लोगोंने 'यह प्रक्षिप्त है, यह गप्प है' इत्यादि नये आविष्कारोंको प्रवृत्त करके जनताकी शास्त्रोंमें श्रद्धा हटवाई, और जनताको अपनी छायाके नीचे खींचा; इधर लोगों की शास्त्रोंमें अविश्वास-प्रवर्तिका अंग्रेजी शिक्षामें जबसे रति हुई; तभीसे अशान्ति भी बढ़ी है, जहां-तहाँ हानियां भी हुई हैं, स्वराज्य भी बहुत समय तक नष्ट रहा। अवशिष्ट स्वराज्य भी आप—जैसे लोग शास्त्रके

वचनोंको अन्यथा करके अन्तर्वर्णविवाहसदृश धर्मशास्त्रनिन्दित कुकर्मों को, कन्याओंकी बड़ी वयकी आयुमें विवाह, देवमन्दिरोंमें अन्त्यजप्रवेश, विवाहोच्छेद आदि कुनियमोंको राजकीय शासनमें लाकर शास्त्रोंका भी अतिक्रमण कर रहे हैं; शास्त्रविश्वासी पूर्वोक्त कानूनोंका उल्लंघन करने वाले अपने ही भाइयोंको दण्ड भी दिलवाते हैं। इधर आप लोग अपने शास्त्रोंको वैदेशिक दृष्टिकोणसे देखकर उनमें आपाततः विरोध दिखलाकर शास्त्रोंका प्रभाव भी कम करते जाते हैं, जिससे उच्छृङ्खलता प्रवृत्त होती है।

"हे भाई! थोड़ा विचारो, ऐसे पापिष्ठ प्रक्षिप्त श्लोकोंका ही फल है कि—इस अभागे देशमें भयंकर अनाचार, अत्याचार, दुराचार, प्रजापीड़न होने लगा" डा० जीका यह कथन निष्प्रमाण ही है, विधिशास्त्रकी आज्ञाका त्याग ही इसमें कारण है। जब 'राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात्' यह दण्ड उस श्लोकमें भी लिखा है; तो उन पद्योंको पापिष्ठ कैसे कहा जा सकता है? राष्ट्रसे बहिष्कार एक अग्रजन्माकी बड़ी अप्रतिष्ठा है जो कि—'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' (गीता २।३४) के अनुसार उसकी मृत्युसे भी बढ़कर है। तब इससे भयंकर अनाचार कैसे फैलेगा? उन्हीं शास्त्रोंमें जहां ब्राह्मणमें कर्तव्यभार डाला गया है; उनमें ही शूद्रको उससे बचाया गया है। *शास्त्रमें सदा उत्सर्गमात्र (केवल सामान्यशास्त्र) नहीं होता, किन्तु उत्सर्ग भी तथा अपवाद भी होता है।* कई अपराधोंमें ब्राह्मणोंको दण्ड सर्वथा ही नहीं होता, कइयोंमें ब्राह्मणोंको शूद्रसे भी अधिक दण्ड मिलता है। इसे उत्सर्ग एवम् अपवादके व्यवस्थापक बहुश्रुत ही निर्णीत कर सकते हैं, आपातदृष्टाओं वा उत्सर्गमात्रद्रष्टाओंको जहां-तहां विरोध ही दीखेगा। इसमें ऐकदेशिक दृष्टिकोण अपेक्षित नहीं होता, किन्तु सर्वमुखीन ही। इसलिए जो डा० जीने 'आज' पत्रमें 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा

बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' (८।३५०) इस मनुपद्यका विरोध दिखलाकर 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्' (८।३८०) इस मनुस्मृतिके श्लोकको प्रक्षिप्त माना है; इसमें धैर्य रखनेकी आवश्यकता है, जल्दबाजीकी नहीं। यहां उत्सर्गापवाद व्यवस्थासे विरोध वा प्रक्षिप्तता नहीं रहती—वे यह ध्यानसे सुनें।

(१८) यदि एतदादिक श्लोकोंमें उत्सर्गापवाद-व्यवस्था न मानी जावे, तो 'एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किञ्चित् सहाचरेत्। *कृतनिर्णेजनाँश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित्*' (११।१८९) इस और 'बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च *विशुद्धानपि* धर्मतः। शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत्' (११।१९०) इस मनुश्लोकका भी आपसमें विरोध हो जावे, परन्तु वैसा कोई भी नहीं मानता। सभी विद्वान् पूर्वश्लोकको उत्सर्ग और दूसरेको अपवाद मानते हैं। तब 'अपवादविषयपरिहारेण उत्सर्गस्य व्यवस्थितिर्भवति' इस न्यायसे उत्सर्गमें अपवादातिरिक्तता ही माननी पड़ती है, इससे विरोध हट जाता है।

इस प्रकार 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्' यदि यह उत्सर्ग है, तो 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' (८।३५०) यह अपवाद भी मिलता है। इसमें विरोध क्या है? 'परीवादात् खरो भवति', श्वा वै भवति निन्दकः' (मनु० २।२०१) विद्यमान दोषका कहना 'परीवाद' होता है, अविद्यमान दोषका कहना 'निन्दा' होता है। यहाँ पर गुरुके विद्यमान दोषके कहनेसे भी दूसरे जन्ममें गधेकी योनि पाना कहा है। यदि यह सामान्यशास्त्र है; तो 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यात्' (८।३५०) इस डा० जीसे उद्धृत श्लोकमें आततायित्व दोषसे मिले हुए गुरुका मारना भी कहा है। क्या यहाँ डा० जी विरोध मानेंगे?

अथवा पहले श्लोकको गुरुको दोष करने के प्रोत्साहनसे प्रक्षिप्त मान लेंगे ? प्रक्षिप्तता वे कहाँ-कहाँ मानेंगे ? इसी अपनेसे उद्धृत श्लोकको डा० जी सोचें। इसमें *आततायी भी ब्राह्मणको* ब्राह्मण कहकर मनुने इस श्लोकके देनेवाले 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' के पक्षपाती डा० जी का पक्ष क्या समूल नहीं काट दिया, क्योंकि—डा०जी सुकर्माको ही ब्राह्मण सिद्धान्तित करते हैं, पर यहाँ मनुजीने कुकर्मा आततायीको भी ब्राह्मण मान लिया। जब डा० जीके शब्दोंमें इस 'सच्छास्त्र' ने उनके पक्षको काट दिया है, तो वे इस श्लोकको तो मनुका 'सच्छास्त्र' मानते हैं, और पहलेको 'असच्छास्त्र' तो क्या यहाँ उनके पक्षका स्पष्ट खण्डन नहीं ? इस श्लोकको भी कर्मणा वर्ण-व्यवस्था रूप अपने पक्षका खण्डक होनेसे प्रक्षिप्त क्यों नहीं मानते ?

तब इस आततायी ब्राह्मणके मारनेको बताने वाले मनुके अपवाद-श्लोकसे 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्' इस उत्सर्ग श्लोकके 'सर्वपापेषु' इस शब्दमें सब पाप आततायित्वसे भिन्न ही इष्ट हैं; क्योंकि—उत्सर्गकी व्यवस्था अपवाद-विषयको छोड़कर ही हुआ करती है, क्योंकि—आततायीपन एक विशेष पाप है, इसीलिए मनुजीने उसकी निन्दार्थ एक अलग श्लोक ही बना दिया कि—'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' (८।३५१) इससे मनुजीने आततायित्वको एक अक्षम्य पाप घोषित करके, आततायी भी ब्राह्मणके वधमें अदोष- कहकर, दूसरे सब पापोंमें ब्राह्मणका वध न कहकर देशसे निर्वासनमात्र कहकर पूर्व पद्यको स्वसम्मत तथा अप्रक्षिप्त सूचित कर दिया है। डा० जी कहें कि—अब उनका बताया हुआ विरोध कहाँ गया ? क्या वे 'अपवादविषयपरिहारेण उत्सर्गस्य व्यवस्थितिर्भवति' (काव्य-प्रकाश १० उ० असङ्गति अलं०) 'प्रकल्प्य चापवाद-

विषयं तत उरसर्गोभिनिविशते' (महाभाष्य ३।२।१२४) इस न्यायको नहीं जानते ?

वस्तुत: आततायी ब्राह्मणका वध भी शास्त्रानुसार शारीरिक नहीं होता। इसीलिए डा० जीने भी मान्य श्रीमद्भागवतमें आततायी ब्राह्मण अश्वत्थामाके लिए उक्ति आई है—'ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः। वपनं, द्रविणादानं, स्थानान्निर्यापणं तथा। स एष ब्रह्मबन्धूनां वधो, नान्योस्ति दैहिकः' (१।७।५३-५७)। इस प्रकार डा० जीने महामान्य महाभारतमें भी पाण्डवोंने आततायी अश्वत्थामाके न मारनेका हेतु कहा है—'जित्वा मुक्तो [न निहतो] द्रोणपुत्रो ब्राह्मण्याद् (ब्राह्मणत्वाद्) गौरवेण च। यशोस्य पतितं देवि ! शरीरं त्ववशेषितम्' (सौप्तिकपर्व १६।३२)। इस प्रकार आततायी ब्राह्मणको दण्ड बताने वाले मनुपद्यकी व्यवस्था भी जाननी चाहिये। यहां पर आततायी तथा 'विदितं चापलं ह्यासीद् आत्मजस्य (अश्वत्थाम्नः) दुरात्मनः' (महा० सौप्तिक० १२।७) इस प्रकार दुष्टात्मा तथा चञ्चल 'न त्वं जातु सतां मार्गे स्थातेति' (१२।१) यह द्रोणाचार्यका कथन है 'स तदाज्ञाय दुष्टात्मा पितुर्वचनमप्रियम्। निराशः सर्वकल्याणैः शोकात् पर्यचरन्महीम्' (१२।१०) 'स संरम्भी दुरात्मा च चपलः क्रूर एव च' (१२।४१) इस प्रकार दुराचारी, क्रोधी और क्रूर अश्वत्थामाको ब्राह्मण कहना जहां 'कर्मणा वर्णः' के मूलको काट रहा है, वहां वैसे ब्राह्मणका भी दैहिक वध नहीं होता, किन्तु मुण्डनादि रूप वध ही वहां इष्ट होता है, ऐसा कहना हमारे तथा आपके उद्धृत मनुके पहले तथा दूसरे श्लोकके विरोध को काट रहा है।

मनुस्मृतिकी भांति महाभारतमें भी 'दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा। ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नयः' (वनपर्व

२००।८८) यथा श्मशाने दीप्तौजाः पावको नैव शाम्यति । एवं विद्वान् अविद्वान् वा ब्राह्मणो दैवतं महत्' (२००।८९) यह कहा है। अन्यत्र भी कहा है—'नहि मे ब्राह्मणो वध्यः पापेष्वपि रतः सदा' (आदिपर्व २१।२) 'सापराधानपि हि तान् (ब्राह्मणान्) विषयान्ते (देशतो बहिः) समुत्सृजेत्' (शान्ति० ५६।३१) 'विधीयते न शारीरं दण्डमेषां कदाचन' (शान्ति० ५६।३२) 'क्षत्रियेण हि हन्तव्यः क्षत्रियो लोभमास्थितः। अक्षत्रियो वा दाशार्ह ! स्वधर्ममनुतिष्ठता । अन्यत्र *ब्राह्मणात्* तात ! *सर्वपापेष्ववस्थितात्* । गुरुर्हि सर्ववर्णानां ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक्' (उद्योग० ८२।१६-१७) इस प्रकारके महाभारतीय श्लोक मनुस्मृतिके डा० जीसे आक्षिप्त उक्त पद्यके उपजीवक हैं; तब वह प्रक्षिप्त कैसे हो सकता है ?

क्या सब स्थान डा० जी प्रक्षिप्तता ही मानेंगे ? ऐसा नहीं हो सकता। वास्तवमें उक्त पद्य ठीक भी है, क्योंकि इससे ब्राह्मणके *पूर्व-जन्मके कर्मोंका—जिनसे इस वर्णमें उसका जन्म हुआ है—सम्मान ही किया जाता है*, उसकी अग्रजन्मताका यह सम्मान किया जाता है, अग्रज और अवरजके दण्डमें तारतम्य भी स्वाभाविक ही होता है। इस कारण मनुजी डा० जीसे उद्धृत श्लोकमें आततायी ब्राह्मणका वध कहकर भी उसके वधकी व्यवस्था यह कहते हैं—'*मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो* ब्राह्मणस्य विधीयते । इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत्' (८।३७९) यहां पर मेधातिथि लिखता है—'यत्र क्षत्रियादीनां वध उक्तः, तत्र ब्राह्मणस्य मौण्ड्यम्'। सर्वज्ञनारायण टीका करता है '[ब्राह्मणस्य] प्राणान्तिकदण्डस्थाने मुण्डनमेव कार्यम्' । श्रीकुल्लूकमें लिखा है—'ब्राह्मणस्य वधदण्डस्थाने शिरोमुण्डनं दण्डः शास्त्रेण उपदिश्यते'। राघवानन्दने लिखा है—अन्येषां प्राणान्तिके दण्डे ब्राह्मणस्य मौण्ड्यं विधत्ते । जात्यन्तरस्य प्राणान्तिकेऽपराधे यत्र दण्डस्तत्र विप्रस्य मौण्ड्यमात्रमिति सार्वत्रिकः' । नन्दनने यहां लिखा है—'ब्राह्मणस्य

वधार्हे दण्डे प्राप्ते मौण्ड्यमेव, न वधः, इतरेषां वध एव'। इस प्रकार मनुजीने ब्राह्मणका सिर मुण्डवा देना ही प्राणदण्डस्थानीय माना है। कितनी स्पष्टता है ? इससे डा० जीसे दिखलाया हुआ मनुजीका पूर्वापर विरोध कट गया। *यह ब्राह्मणको पापकरणार्थ प्रोत्साहन भी नहीं है; प्रत्युत जिन गतजन्मके कर्मोंसे उसका ब्राह्मण वर्णमें जन्म हुआ है; उनका सम्मान करके उसे भविष्यत्में भी ब्राह्मण वर्णके पाने के लिए सुकर्मोंके करनेका प्रोत्साहन दिया गया है।* 'सत्यम् उत्तरः पक्ष' (तैत्तिरीयोपनिषत् २.४) यही मनुजीका उत्तरपक्ष है। तब हमसे दिया उक्त मनुका पद्य प्रक्षिप्त कैसे हो सकता है ? डाक्टरजी वा उनके विचार वाले वादी इधर ध्यान दें। *आततायी अश्वत्थामाको ब्राह्मण होनेके नाते मृत्युदण्ड न देने वाली प्रसिद्ध घटना कभी प्रक्षिप्त नहीं हो सकती। इसलिए महाभारतमें राजाको ब्राह्मणसे अतिरिक्त ही वर्णकी शासनामें अधिकृत कहा है।* जैसेकि—'ब्राह्मणेभ्यो नमेन्नित्यं धर्मयेच्च सञ्जय ! नियच्छन्नितरान् वर्णान् विनिघ्नन् सर्वदुष्कृतः। *यावज्जीवं तथा भवेः*' (उद्योग० १३४।४०-४१, यहां विदुला अपने पुत्रको ब्राह्मणातिरिक्त अन्य वर्णोंके नियमनकी बात कहकर उसे राज्य-प्रबन्धका ढंग सिखला रही है।

(१६) जोकि—'अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य....ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः' (८।३३७-३३८) यह मनुके श्लोक डा० जीने उद्धृत किये हैं, वे वर्णोंको चोरीके पापके परिणामको दिखाने वाले हैं; दण्ड बताने वाले नहीं। 'स्तेये भवति किल्बिषम्' अर्थात् चोरी करनेमें शूद्रको पाप आठगुणा होता है, क्षत्रियको १६ गुना, वैश्यको ३२ गुना, ब्राह्मणको ६४ गुना वा सौ गुना; क्योंकि—'तद्दोषगुणविद् हि सः' ब्राह्मण चोरी आदिके गुण-दोष जानता है। सो पापका फल जन्मान्तरमें होता है, जैसेकि—'कैतैस्तु यथाल्पार्थं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः। कथञ्चिदप्यतिक्रामन् पापः

सूकरतां व्रजेत्' (मनु० ३।१९०) यहां पर पापसे सुअर बनना कहा है-सो इस जन्ममें न होकर परलोक या जन्मान्तरमें इष्ट है—यह स्पष्ट है। 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्' यह पूर्व मनुपद्य ब्राह्मणको इस लोकमें हिंसाका निषेधक था; परन्तु परलोकमें उसको पापका फल भला कौन न मानेगा? क्योंकि इस जन्मके पाप-पुण्य अग्रिम जन्मके शरीरके आरम्भक होते हैं। अथवा 'अष्टापाद्य' वाला श्लोक चोरीके ऐहिक दण्डके लिए भी माना जाय; तथापि इस श्लोकसे धर्मके अङ्ग अस्तेय-कर्मसे हीन चोरको भी ब्राह्मण कहकर कर्मसे वर्ण-व्यवस्था पक्षको काट ही दिया है। चोर शूद्रको भी दिखलाया गया है, ब्राह्मणको भी, क्षत्रिय-वैश्यको भी। 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्' से इन श्लोकोंका विरोध भी नहीं। उसमें तो यह लिखा है कि—पापी भी ब्राह्मणको मृत्युदण्ड न दे; 'अष्टापाद्य' वाले पद्यमें कोई मृत्युदण्डकी बात नहीं है; जो कि-इनका आपसमें विरोध हो। हां, वर्णोंके दण्डोंमें तारतम्य तो सर्वसम्मत है। कई अपराधोंमें ब्राह्मणको शूद्रादिकी अपेक्षा अधिक प्रायश्चित्त, तथा अधिक पवित्रता रखना, तथा अधिक दण्ड कहा है; कई अपराधोंमें अल्पतम दण्ड कहा है—पर विशेष अपराधोंमें अन्य वर्णोंको मृत्युदण्ड कहकर ब्राह्मणको वहां मृत्युदण्ड न दिलवाकर राष्ट्र-बहिष्कार दण्ड ही दिया है—यह अवसर-अवसरकी दण्ड-व्यवस्था होती है, इससे प्रक्षिप्तता-अप्रक्षिप्तता नहीं हुआ करती। 'अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम्। सम्प्रधार्याब्रवीद् धाता न समौ नासमौ इति (मनु० १०।७३) अर्थात् शूद्र द्विजोंके कर्म करता हुआ, द्विज शूद्रोंके कर्म करता हुआ—न सम हैं, न विषम हैं; इस पर श्रीकुल्लूकने भाव दिया है—'शूद्र द्विजोंके कर्म करता हुआ भी द्विजके समान नहीं हो जाता, क्योंकि—अनधिकारी होनेसे द्विजकर्म करने पर भी उसमें उनकी समता नहीं होती। इस प्रकार द्विज शूद्रकर्मा भी शूद्रसमान नहीं होता, क्योंकि—निषिद्ध सेवन करने पर भी उसकी उत्कृष्ट जाति नहीं हटती। वे दोनों असम

भी नहीं; क्योंकि—निषिद्धाचरणमें दोनों समान हैं। इससे मनुजीको जन्मसे वर्ण व्यवस्था इष्ट है, कर्मणा वर्ण व्यवस्था इष्ट नहीं—यह स्पष्ट है। एक मनुजीका अन्य श्लोक भी देखें। डाक्टर भगवान्दासजी 'भारतीय संस्कृति सम्मेलन' के चतुर्थ अधिवेशनमें अपने 'सभापतिके भाषण' (पृ० ८१-८२) में लिखते हैं—' मनुने तो यहां तक कहा है—'जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः'। कुर्याद् अन्यद् न वा कुर्याद् 'मैत्रो' ब्राह्मण उच्यते' [२।८७] [ब्राह्मण] और कुछ करे या न करे, केवल गायत्रीका जप करे, उसके अर्थकी भावना करे, तो भी ब्राह्मण सिद्ध हो जायगा। ब्राह्मण 'मैत्र' है, मित्र अर्थात् सूर्य . उसके देवता हैं'। इसमें कुछ न करते हुए भी गायत्रीजपमात्रमें लगे भी ब्राह्मणको ब्राह्मण माना गया है। इससे जन्मना ही ब्राह्मणत्व-सिद्धि स्पष्ट है।

(२०) आगे डा० जी लिखते हैं—'लिखनेको तो बहुत कुछ लिखा जा सकता है और जैसा ऊपर कहा—बहुत वर्षोंसे लिखता ही रहा हूँ, पर निष्कर्ष यह है कि—'कर्मणा वर्णः' का ही सिद्धान्त माननेसे हिंदू समाज क्या, मानवसमाजकी सुव्यवस्था और कल्याणसाधना हो सकती है'। यहाँ डा० जी 'जन्मना वर्णका ही सिद्धान्त माननेसे तथा तदनुकूल कर्माचरणसे' इस पाठको करके अपने वाक्यको पढ़ लें, तो हमारा इसमें प्रत्युत्तर हो जायगा। क्योंकि-कर्मणा वर्ण व्यवस्था तो अव्यवस्था तथा कई प्रकारकी हानियाँ पैदा करने वाली है, कारण—पुरुषका चित्त परिवर्तनशील तथा नवीनताप्रिय होनेसे समान कर्मोंमें स्थिर नहीं रहता। ऐसा होनेसे अपने वर्णके कार्यभारका उत्तरदायित्व कोई भी न लेगा, न उसे इस विषयमें कुछ पूछा भी जा सकता है; फिर तो वर्ण प्रतिक्षण बदलते रहेंगे, व्यवहारमें बहुतसी 'अव्यवस्थाएँ होंगी—स्थानाभावसे उन विषमताओंका यहां निरूपण न कर उन्हें भिन्न निबन्धमें बताया जायगा।

डा० जी 'जन्मना वर्णः' माननेसे इसके विपरीत समाजकी दुरवस्था, समाजमें अनन्त प्रकारके दोषों और मानस और शारीर दुराचारों और रोगोंकी वृद्धि और नित्य नयी आपत्ति विपत्ति होती रहेगी, जैसी हो रही है' इस अपने वाक्यमें 'जन्मना वर्णः' के स्थान 'कर्मणा वर्ण' पाठ कर दें; तो यही वाक्य हमारा पक्ष-पोषक हो जायगा। यदि डा० जीको इस पर विश्वास न हो, तो 'कर्मणा वर्ण व्यवस्थामें हानि' यह हमारा निबन्ध देखें। पर यह लोग अपनी ही बात सुनाते हैं, दूसरेकी बात न तो सुनते हैं, और न उस पर ध्यान ही देते हैं; पाप समझकर उस पर दृष्टि ही नहीं डालते।

यदि डा० जी वर्ण-व्यवस्था कर्मसे मानते हैं, तो कर्म तो जन्मसे शुरू करके मरने तक होते ही रहते हैं, तब तदनुकूल वर्ण वे कब देंगे? कर्मोंके समकाल तो आप वर्ण दे ही नहीं सकते, क्योंकि—आपके अनुसार ऐहिक कर्मोंका परिणाम ही वर्ण है। पर परीक्षा और उसका परिणाम समकाल कदापि नहीं होते और फिर समय-समय पर कर्म बदलते भी रहते हैं, तब क्या आप भी वर्ण बदलते रहेंगे? यदि एक बार एक वर्णको स्थिर करके फिर कर्म-परिवर्तनमें भी आप उस वर्णको नहीं बदलेंगे; तब फिर आपका जन्मना वर्ण-व्यवस्थापक सनातनधर्मियोंसे क्या भेद रहेगा? क्या यही भेद रहेगा कि—वे परमात्मासे दिये हुए जन्म-प्राप्त वर्णको ही स्वीकार करते हैं और आप विस्मृतिशील, प्रमाद-पक्षपात आदि दोषोंसे व्याप्त, कुछ चान्दीके सिक्के लेकर बिना योग्यताके ब्राह्मणत्व आदिके प्रमाण-पत्रको दे देने वाले अनीश्वर मनुष्यसे दिये हुए कृत्रिम वर्णको स्वीकार कर लेते हैं। यदि ऐसा है तो ईश्वरका उल्लङ्घन कर देने वाले आप धन्य हैं! यदि डा० जी गुणकर्मकी परीक्षाके बाद वर्ण दे देना मानते हैं; तो यह बात लोक

एव शास्त्रसे विरुद्ध ही है। उनके वचनोंका मूल्य वहानेवाज़ीके अधिक कुछ भी नहीं।

(२१) अब डा० जीके 'न विशेषोऽस्ति वर्णाना' तथा दो तीन अन्य वाक्योंमें प्रकाश डालकर यह निबन्ध समाप्त किया जाता है।

'न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मणा वर्णतां गतम्' (महा० शान्ति० १८८ १०) इस पद्य पर डा० जीको बड़ा गर्व है। अतएव इसको उन्होंने 'बहुत प्रसिद्ध श्लोक' कहा है। यदि हम भी महाभारतके श्लोकोंको अपने पक्षकी पुष्ट्यर्थ दें, और मतङ्ग आदिक वहाके इतिहास दें, तो डा० जी उन्हें तत्क्षण 'अप्रसिद्ध, प्रक्षिप्त' आदि विशेषणोंसे सत्कृत करने लग जायगे। इसलिए हम उन्हें छोड़कर डा० जीके प्रिय पद्यको ही अपनी मीमांसाका विषय बनाते हैं। इसका अर्थ यह है कि—

'वर्णाना कोपि विशेषो नास्ति—ब्राह्मणादि वर्णोंमें कोई आकारका भेद नहीं है। सर्वमिदं जगद् ब्राह्मम्, हि ब्रह्मणा पूर्वसृष्टम्—यह जगत् 'ब्राह्म' है, क्योंकि—ब्रह्मासे उत्पन्न हुआ हुआ है। इस अर्थमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं। यहा ब्रह्माकी सन्तान होनेसे उसे अपत्यार्थक अण्-प्रत्ययान्त होनेसे शब्दमात्रसे 'ब्राह्म' कहा गया है। इसी कारण श्रीपाणिनिने भी कहा है—'ब्राह्मोऽजातौ' (६।४।१७१) यहा 'ब्रह्मन्' शब्दसे अपत्य और अजाति अर्थमें टिलोपका निपात हो जाता है। महाभारतीय उक्त पद्यमें 'सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि' यह दूसरा-तीसरा पाद आपसमें सम्बद्ध हैं। दूसरा पाद प्रतिज्ञावाक्य है, तीसरा पाद हेतुवाक्य है, इसीलिए तीसरे पादमें हेतु अर्थवाला 'हि' शब्द साक्षात् लिया गया है। इसमें पहले पादमें वर्णोंकी कोई विशेषता नहीं कही गई, दूसरे और तीसरे पादमें जन्मसे वर्ण-व्यवस्था

सिद्ध की गई है; क्योंकि ब्रह्मासे सृष्ट (निर्मित) होनेसे ही उसे ग्राह्य कहा गया है, गुणकर्मसे नहीं। चौथे पादमें ब्रह्मासे सृष्ट वर्णोंका भेदक कर्म कहा गया है।

इससे वादियोंकी कोई भी इष्ट सिद्धि नहीं, क्योंकि—यहाँ यही विचारणीय है कि—यहाँ ब्रह्मासे सृष्ट वर्णोंके जो कर्म संकेतित किये गये हैं, वे पूर्व जन्मके हैं या इस जन्मके? यदि संसारप्रवाहके अनादि होनेसे पूर्वजन्मके ही कर्म हैं जिनसे ब्रह्माने उन वर्णोंको बनाया; वे ही ब्रह्मासे सृष्ट वर्णोंके मूल हैं; तब तो जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्थाका सिद्धान्त सिद्ध हो ही गया, क्योंकि—जन्मसे वर्ण-व्यवस्था पूर्वजन्मके कर्मसे ही मानी जाती है, इस जन्मके कर्मसे नहीं।

यदि डा० जी आग्रहवश इस जन्मके कर्मोंको ही मानें; तो ठीक नहीं, क्योंकि *वर्णोंकी जब ब्रह्माजीने सृष्टि की, उस समय उनके ऐहिक* वर्ण कहांसे आ गये? क्या जन्मके समकालमें ही बच्चा उस-उस वर्णके योग्य कर्मोंको कर लेता है, जिनसे उसे जन्मसे ही ब्राह्मणादि कहा जा सके? यदि हाँ, तो यह प्रत्यक्षका अपलाप है। यदि जन्मके साथ ही ऐहिक कर्म असम्भव है, वैसे ही वर्णोंके ब्रह्मा-द्वारा सृष्टिके समयमें भी उनके ऐहिक कर्म असम्भव हैं। इस श्लोकके आगेके श्लोकों में सुफेद, लाल, पीले, काले रङ्ग जो दिखलाये गये हैं, उनसे भी वर्ण-परिवर्तनका अन्य जन्ममें होना स्पष्ट है। उसी जन्ममें पुरुषका जो रङ्ग होता है—वह बदलता नहीं, वही रहता है, अग्रिम जन्ममें भिन्न शरीरकी प्राप्तिसे रङ्गमें परिवर्तन आना तो सम्भव है। इससे पूर्वजन्मके कर्मोंकी इस जन्ममें कारणता होनेसे डा० भगवान्दासजीका इस श्लोक-में भी पक्ष 'डण्डलगुड' न्यायसे कट गया। तभी तो न्यायदर्शनमें भी कहा गया है—'अथापि....धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपादीयते:, तथापि *पूर्वशरीरयोगोऽप्रत्याख्येयः*। तत्र [पूर्वजन्म-शरीरे] हि तस्य [धर्मा-

धर्मलक्षणादृष्टस्य] निर्वृत्तिः (मत्त.), न अस्मिन् जन्मनि [पूर्वजन्म-कृत-कर्मणामेव अत्र जन्मनि भोगस्वीकारात्]। [पूर्वजन्मनः] कर्म खलु इद-जातिविशेषनिर्वर्तकम्' (वात्स्यायन० ३।१।२७) तब पूर्वजन्मके ही कर्मोंके कारण होनेमें इस जन्ममें तदनुसार भिन्न-भिन्न एक वर्णमें उत्पत्ति स्वाभाविक ही है। इससे सनातनधर्मके ही सिद्धान्त 'जन्मना वर्ण व्यवस्था' का मण्डन होगया।

फिर इस जन्मके कर्मोंसे अग्रिम जन्ममें ही वर्ण परिवर्तन होता है; क्योंकि महाभारतके उक्त प्रकरणमें इसी जन्ममें वर्ण-परिवर्तन स्वीकृत नहीं किया गया। तभी इसी अध्यायके आदिम श्लोकोंमें 'असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन्। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम! ये चान्ये भूतसङ्घानां वर्णास्तांश्चापि निर्ममे' (शान्ति० १८८ १-४) यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंकी ब्रह्मा द्वारा उत्पत्ति कही गई है, ऐहिक गुणकर्मसे नहीं। इस प्रकार श्रीभगवान्दासजीके प्रधान प्रमाणका उत्तर हो गया।

(२२) सत्ययुगके लिए 'वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन् न सङ्करः' (८।६१) इस 'वायुपुराण' के श्लोकार्धको उद्धृत करके—न मालूम डा० जीने अपना पक्ष कैसे सिद्ध करना चाहा है, प्रत्युत इससे तो उनके पक्षका खण्डन हो रहा है; क्योंकि जब उस समय वर्णाश्रमकी व्यवस्था नहीं थी, तब भी ब्राह्मणादि थे या नहीं? यदि थे; तो वे जन्मसे ही सिद्ध हुए। यदि नहीं थे, तो क्या लोग तब कोई भी कर्म नहीं करते थे? यदि करते थे फिर भी यदि किसी वर्णको प्राप्त नहीं होते थे, तब कर्मसे वर्ण-व्यवस्था कट गई। इस श्लोकमें सङ्करका अभाव दिखानेसे स्पष्ट मालूम होता है कि तब पूर्वजन्मके कर्मोंसे उत्पन्न वर्ण थे, परन्तु वर्णोंका आपसमें सङ्कर, कर्मसंकर, और विवाहादि-सङ्कर नहीं

था। अन्यथा वर्णोंके न होनेसे संकर-निषेधका बताने वाला यह वचन व्याहत हो जायगा। इस पद्य में सङ्करकी निन्दा की गई है, परन्तु अन्तर्वर्णविवाहके पक्षपाती डा० जी उसकी प्रशंसा करते हैं। तब क्या यह श्लोक उनके मतमें प्रक्षिप्त नहीं? क्या वे पुराणोंमें प्रक्षेप नहीं मानते, जोकि उनके वचन अपने पक्षकी पुष्टिमें देनेको उद्यत हो गये हैं?

डा० जीसे प्रष्टव्य है कि वेद पहले थे, वा सत्ययुग पहले था? यदि वेद पहले थे, तो उसके 'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्' (ऋ १०।९०।१२, यजु० ३१।११ अथर्व० १९।६।६) इत्यादि मन्त्रोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णोंका वर्णन आता है, इससे स्पष्ट है कि सत्ययुगमें भी वर्ण थे। यदि सत्ययुग वेदसे पहले था, तब वेदोंका अनादित्व कटता है, जो आपको भी अनिष्ट है। क्या सत्ययुगमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास—यह आश्रम भी नहीं थे, क्योंकि उक्त पुराण-पद्यमें आश्रमोंका भी निषेध किया गया है? तब पुत्र उत्पन्न कैसे होते थे? वस्तुतः यहाँ डा० जीका सम्मत अर्थ नहीं। उक्त पद्यमें वर्ण एवं आश्रमोंका निषेध नहीं कहा गया, किन्तु वर्णाश्रमकी *व्यवस्थाका* निषेध किया गया है। 'वर्णाश्रम-*व्यवस्थाश्च* न तदासन्' यही पाठ वहां पर है। इससे स्पष्ट है कि तब वर्ण आश्रम थे, तभी तो 'न सङ्कर' वर्णसङ्कर एवम् आश्रमसङ्कर नहीं थे—यह कहना सङ्गत हो जाता है, नहीं तो यहां पर 'यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी तु मे पिता। माता तु मम वन्ध्यासीद् अपुत्रश्च पितामहः' यह न्याय चरितार्थ हो जायगा।

तब वर्णाश्रमकी व्यवस्था न होनेका यह आशय है कि तब वर्ण उन्मार्गगामी नहीं थे, अपने धर्मका अनुसरण करते थे, इस कारण उस समय व्यवस्था अर्थात् नियन्त्रण (कण्ट्रोल) नहीं था। वर्ण-सङ्करता, आश्रमसङ्करताको हटानेके लिए नियन्त्रणरूप व्यवस्था अपेक्षित

होती है। परन्तु जब सत्ययुगमें स्वभावत. ही सभी वर्ण अपने-अपने नियत कर्मोंमें लगे थे; तब उस युगमें व्यवस्था (नियन्त्रण) की आवश्यकता भी क्या थी? नियन्त्रण तो आजकलके समय उपयोगी है, आजकल अब्राह्मण भी याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह कर रहे हैं, ब्राह्मण भी वणिग्वृत्ति, सेवावृत्ति कर रहे हैं। जब वर्ण अपने-अपने कर्मको छोड़ देते हैं, तब उनके प्रबोधनार्थ व्यवस्था आवश्यक होती है। तभी उसी प्रकरणमें कहा है—'तासां (प्रजानां) विशुद्धात् संकल्पाज्जायन्ते मिथुना: प्रजाः' (वायुपुराण ८।४८) क्या आप बिना ही मैथुनके संकल्पमात्रसे प्रजाकी उत्पत्ति मान लेंगे? यदि नहीं, तो पहला पद्य ही कैसे प्रमाणित कर लिया?

जोकि—भविष्यपुराणको 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' बताने वाला डा० जी कहते हैं—यह भी ठीक नहीं, वहां तो कर्मणाका भी खंडन किया है—'तस्माद् देहात्मके नैतद् ब्राह्मण्यं नापि कर्मजम्' (ब्राह्मपर्व ४१।२७)। उसमें वर्ण-व्यवस्थाका सिद्धान्त जन्म और कर्मका समुच्चय माना है (४४।२-३-४) इसे अग्रिम निबन्धमें स्पष्ट किया जायगा। अत: पुराणका वचन भी अन्ततः कर्मप्रशंसामात्रपर्यवसायी ही रहता है। यदि किसी पुराणवचनमें स्मृतिविरुद्धता मिले, तो वह 'द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (व्यासस्मृति १।४) इस कथनसे स्मृतिसे बाधित हो जाता है। पुराणका मुख्य विषय लोकव्यवहारकी व्यवस्था करना नहीं; किन्तु लोकवृत्तको बताना ही उसका मुख्य विषय है। जैसे कि—४।१।६२ न्यायदर्शनके वात्स्यायनभाष्यमें कहा है—'लोकव्यवहार-व्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः'। पुराण-इतिहासका विषय वहां पर 'लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य' लोकवृत्तका प्रतिपादनमात्र बताया है। पुराण तथा धर्मशास्त्रका वहां अपने-अपने विषयमें ही अधिक प्रामाण्य माना गया

है। जैसेकि—'यथाविषयमेतानि [मन्त्रब्राह्मण-धर्मशास्त्र इतिहास-पुराणानि] प्रमाणानि इन्द्रियादिवदिति'।

(२३) आगे डा० जी कहते हैं—'वर्णपरिवर्तनके लिए स्वयं मनुमें तथा आपस्तम्ब आदिमें वचन हैं [यह स्वच्छ असत्य है] पर उनकी व्याख्यामें लोग विवाद करते हैं। जैसे वकील लोग अपने पक्षके अनुकूल ही कानूनके शब्दोंका लापन और प्रतिकूलका अपलापन करते हैं, जिससे भी अवान्तररूपसे यही सिद्ध होता है कि शास्त्रका अर्थ व्याख्याता की बुद्धि है' यह डा०जीका वाक्य सनातन-धर्मियोंमें वस्तुतः नहीं घटता, जैसा आप लोगोंमें। उसका आदर्श भारतीय संस्कृतिसम्मेलनके चतुर्थाधिवेशन (२ मार्च १९५२) के अपने भाषण (४६ पृष्ठ) में देखिये—उसमें आपने 'तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्' यह मनुका आधा श्लोक दिया है। उसका उत्तरार्ध 'तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते' (१२।१०४) यह छिपा लिया है—उसका अर्थ बलसे खींचा-तानीका किया है कि—'जिस मनुष्यमें तपस्या और विद्या नहीं, वह ब्राह्मण नहीं। जिसमें यह हों, वही ब्राह्मण है'। यहाँ यह आशय नहीं है। यहाँ तो यह आशय है—तपस्यासे ब्राह्मणका पाप क्षीण होता है और ज्ञानसे उसे मोक्ष मिलता है। यहाँ पर ज्ञान और तपस्या पारलौकिक सुगतिमें सुविधा करने वाले माने गये हैं, उनके होने-न होनेसे ब्राह्मणताका होना-न होना कहीं नहीं माना गया। 'विद्यातपोभ्यां भूतात्मा शुध्यति' (मनु० ५।१०६) यहां मनुजीने विद्या और तपस्यासे आत्माकी शुद्धि कहकर उनको उत्कर्षाधायक माना है, स्वरूपाधायक वा जातिप्रद सर्वथा नहीं माना। निःश्रेयसका अर्थ पारलौकिक कल्याण है, ब्राह्मण बनना-न-बनना नहीं। इस प्रकार तोड़-मरोड़ आप लोगोंमें स्पष्ट है। आप हमें उपालम्भ कैसे दे सकते हैं? आपने मनुका वचन कोई दिया नहीं—जिससे वर्णपरिवर्तन सिद्ध होता हो।

(ग) आपस्तम्बको भी 'चत्वारो' वर्णा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रा, तेषा पूर्वपूर्वो जन्मत श्रेयान्' (आप धर्मसूत्र १।१।४ ५) इन शब्दोंमे जन्मसे वर्ण व्यवस्था इष्ट है। 'ब्राह्मणमात्र च [हत्वा ब्रह्मघ्ना भवति]' (१।२४।७) इस आपस्तम्बके वचनमें मात्रशब्दसे जन्मना वर्ण-व्यवस्था इष्ट है। इसलिए यहा श्रीहरदत्तने टीका की है—'मात्रग्रहणात् नाऽभिजन-विद्या-संस्कारादपेक्षा' कितनी स्पष्टता है? और देखिये—'गर्भं च तस्य [ब्राह्मणस्य] अविज्ञातम्' [स्त्रीपु नपु सकभेदेन अविज्ञातम्]' (१।२४।८) 'आत्रेयीं [रजस्वला] च स्त्रियम्' (आ ध सू १।२४।९) यहा पर ब्राह्मणोंके गर्भको मारनेसे भी ब्रह्म हत्या मानी गई है, इसमे भी ब्राह्मणवर्ण जन्म बल्कि गर्भसे ही सिद्ध हो रहा है। तभी यहा श्रीहरदत्तने लिखा है—'सम्भवत्यस्या ब्राह्मणगर्भ। इत्यादि बहुत स्थलोंमें जन्मना वर्ण व्यवस्था सिद्धान्तित है। तब डा०जी आपस्तम्बका नाम कर्मणा वर्ण व्यवस्थामें कैसे लेते हैं? कदाचित् डा०जीका आपस्तम्ब का 'धर्मचर्यया जघन्यो जघन्या वर्ण पूर्व-पूर्व वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ। अधर्मचर्यया पूर्व पूर्वो वर्णो जघन्य जघन्य वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ' (२।१।१।१० ११) स्वा० द० जीसे स० प्र० में उद्धृत यही वचन गुणकर्मणा वर्ण व्यवस्थामें अभिमत हो—जैसे कि उन्होंने उसे 'मानव धर्मसार' (४४ पृष्ठ) में उद्धृत किया है—यहा पर भी डा०जीका भ्रम है। जैसे स्वा द जीने स०प्र०के ९३ पृष्ठमें 'जातिपरिवृत्तौ' पदका अर्थ छिपाकर अपने तद्विषयक मतको निर्मूल सूचित किया है वैसे डा० जीने भी उस पदमें ध्यान न देकर अपने पक्षका 'सिकताभित्ति' सिद्ध कर दिया है।

'जातिपरिवृत्तौ' का अर्थ है 'जाते —जन्मन मनुष्यत्वजातेर्वा परिवृत्तौ परिवर्तने। 'जाति' का अर्थ जन्म होता है, जैसे कि—'मृच्छकटिक' में—'अन्यस्यामपि जातौ (जन्मनि) मा वेश्या भूस्त्व हि

सुन्दरि !' (८।७३) । 'जातिः सामान्य-जन्मनोः' (३।३।६८) यह अमरकोषका वचन भी इसमें साक्षी है। 'जाति' का अर्थ 'मनुष्यजाति' भी होता है जैसे कि--'समानप्रसवात्मिका जातिः' (न्यायदर्शन२।२।७०) यहां पर श्रीहरदत्तमिश्रकी टीका भी हमारे पक्षको स्पष्ट कर रही है— 'धर्मचर्यया-स्वधर्मानुष्ठानेन जघन्यो वर्णः-शूद्रादिः पूर्व-पूर्वं वर्णमापद्यते वैश्यादिकं प्राप्नोति जातिपरिवृत्तौ-जन्मनः परिवर्तने शूद्रो वैश्यो जायते; तत्रापि स्वधर्मनिष्ठः क्षत्रियो जायते। तत्रापि स्वधर्मपरो ब्राह्मण इति। एवं क्षत्रिय-वैश्ययोरपि द्रष्टव्यम् ।'

सो जन्मका परिवर्तन, मरकर पुनर्जन्ममें होता है। इस जन्ममें स्वकर्म करके और मरकर शूद्रादि नीच-वर्ण पुनर्जन्ममें उत्तम-वर्ण प्राप्त करें, और ब्राह्मणादि उत्तम-वर्ण इस जन्ममें स्वकर्मभ्रष्ट होकर फिर मरकर पुनर्जन्ममें शूद्रादि नीच वर्णको प्राप्त करे—इसमें सनातन-धर्मके पक्षकी कोई हानि नहीं; क्योंकि यही तो सनातनधर्मका सिद्धान्त है। विप्रतिपत्ति तो इस जन्मके कर्मोंसे इसी जन्ममें वर्ण-परिवर्तनमें है, जन्मान्तरमें वर्ण-परिवर्तनमें तो विप्रतिपत्ति नहीं। बल्कि उसका साधक वचन 'छान्दोग्योपनिषद्' में सुप्रसिद्ध है—'यथा हि रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा, सूकरयोनिं वा, चाण्डालयोनिं वा' (५।१०।७) तो क्या डा० जीने कुत्सित आचरण वाले पुरुषको इस जन्ममें कुत्ता वा सुवर आदि बना हुआ देखा है ? 'केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः। कथञ्चिदप्यतिक्रामन् पापः सूकरतां व्रजेत्' (मनु० ३।१९०) तो माने हुए न्यौतेमें न पहुँचे हुए ब्राह्मणको डाक्टर जीने इस जन्ममें सुअर बना हुआ देखा है ? यदि नहीं; किन्तु जन्मान्तरमें वैसा बनता है, वा ऐसे वचन विहितके प्रशंसार्थ-वाद तथा निषिद्धके निन्दार्थवाद हैं, वस्तुतः वैसा वह नहीं हुआ करता; वैसे ही आपस्तम्बादिके वचनमें भी अन्य वर्णता-अन्य जन्ममें इष्ट है;

इस जन्ममें नहीं; अथवा निन्दार्थवादमात्र है। 'जातिपरिवृत्ति' का अर्थ 'जन्मपरिवर्तन' है; इसका अर्थ स्वा. द. जीने अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकामें बहुत बिगाड़ा है; पदोंका अर्थ अपनी इच्छानुसार करना भाषाशास्त्रपर आक्रमण करना है। विश्वामित्र तथा वाल्मीकि आदिके विषयमें भिन्न निबन्धमें कहा जायगा*।

(२४) आगे डा० जी लिखते हैं—'उन्हींकी देखा-देखी वैश्य और शूद्र भी स्वस्वप्रवृत्त्युचित काम, दाम, आरामका न्यायानुसार बटवारा नहीं करना चाहते। सब वस्तुओंके लोलुप सभी हो रहे हैं। शिक्षक तो वंचक, रक्षक तो भक्षक, पोषक तो शोषक हो गया है और सेवक भी अब धर्षक हुआ जाता है' यहां पर डा० जीको जानना चाहिये कि—यह कृपा ब्राह्मणोंकी नहीं, बल्कि आप जैसे सुधारक नामधारियोंकी ही है। क्योंकि—आप लोगोंने 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (गीता १८।४५) श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् (३।३५) 'सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (१८।४८) एतदादि श्लोकोंको भुलवाकर वा उन्हें उन्नतिका बाधक सिद्ध करके 'सभी उन्नति करो' ऐसी प्रेरणा करके कर्मस्वातन्त्र्य जारी कराया, तभीसे स्वयं ही कर्मसाङ्कर्य जारी हुआ। इसमें ब्राह्मणोंका क्या अपराध? ब्राह्मणोंके ही कर्म वा वृत्तिको सब छीन रहे हैं वा छीनना चाहते हैं। ब्राह्मण फिर भी पढ़ने-पढ़ाने, यजन-याजन, दान-प्रतिग्रह आदि मनुप्रोक्त कर्मोंमें प्रायः लगे हुए हैं। परन्तु क्षत्रिय आदि ही ब्राह्मण आदियोंका संरक्षण कर्म छोड़कर ब्राह्मणोंके ही कर्म उपदेश तथा अध्यापन एवं प्रतिग्रहादि स्वीकार करनेको उद्यत हो

* वाल्मीकिके विषयमें 'श्रीसनातनधर्मालोक' ३य पुष्पमें देखें। वह हमारे पतेसे (३) में मंगावें।

गये हैं। तब ब्राह्मण भी अपने लिए आपत्काल देखकर लाचारीसे मनु० (१०।८१-८२) के संकेतसे कहीं क्षत्रिय, वैश्योंके कर्म करते हुए भी दीख जाते हैं। इस प्रकार अब्राह्मण लोग ब्राह्मणोंकी वृत्ति छीनकर ब्राह्मणोंकी भी हानि करने वाले सिद्ध हो रहे हैं; अपनी भी हानि करते हैं। तब वे ही लोग 'इतो भ्रष्टास्ततो नष्टाः' के उदाहरण बनकर यदि ब्राह्मणोंको गालियां दें; तो इसमें ब्राह्मणोंका क्या दोष ?

"यह सब 'जन्मनैव वर्णः' का विलसित-विक्रीडित" है यह बाबू भगवान्‌दासजीका कथन निर्मूल ही है। वस्तुतः आप लोगोंसे प्रवर्तित कर्मस्वातन्त्र्यका ही यह फल है। सनातनधर्म उन-उन वर्णोंके कर्म बताता है, कर्मोंसे वर्ण नहीं बताता। परन्तु आप लोग इस सिद्धान्तको पलटकर स्वयं ही पूर्वोक्त हानियाँ करवा रहे हैं। और सनातनधर्म जन्मसे वर्ण स्वीकार करके भी उन-उनके लिए कर्मोंका कहीं निषेध नहीं करता; बल्कि अपने कर्मको छोड़ने वालोंकी अग्रिम जन्ममें बड़ी दुर्दशा बतलाता है। तब डा० जीका तथाकथित दोष कैसे उपस्थित हो सकता है ?

यह आलोचना विस्तीर्ण हो गई है। डा०जीको वर्ण व्यवस्था-विषयक हमारे सब निबन्ध पढ़ लेने चाहियें—जिनसे उनके सब संशय मिट जावें। डा० जीको यह जानना चाहिये कि— सर्वभक्षी च गौः श्रेष्ठः सर्वत्यागी न गर्दभः। निदुग्धापि च गौः पूज्या न तु दुग्धवती खरी' (सत्यार्थप्रकाशमें पराशरस्मृतिके नामसे उद्धृत) 'दुःशीलोपि द्विजः पूज्यो न तु शूद्रो जितेन्द्रियः। कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छील-वतीं खरीम्' (पराशरस्मृति ८।३३) इस बातको अवलम्बन करके यदि शास्त्रकारोंने कहीं कर्महीन भी ब्राह्मणकी प्रशंसा की है; वहां कारण वास्तविकता ही है, कर्मत्यागकी वहां प्रोत्साहना नहीं है। स्वकर्महीनता

में शास्त्रकारोंने अग्रिम जन्ममें उनकी दुर्दशा सूचित कर ही दी है, देखिये मनुस्मृति (१२।७०-७१-७२ । ऐहिक कर्महीन भी ब्राह्मणकी प्रशंसा जो कि शास्त्रकारोंने सूचित की है; वह गतजन्मके सुकर्मोंके ही कारणसे है। जबकि ऐहिक-कर्मोंसे हीनकी अग्रिम जन्ममें दुर्दशा शास्त्रकारोंने बताई है; तब वहां गतजन्मके सुकर्म वाले उन ब्राह्मणोंकी प्रशंसा-प्रतिपादक श्लोक प्रक्षिप्त कैसे माने जा सकते हैं? हमारा यह शरीर गतजन्मके कर्मोंसे बना हुआ है। इस जन्मके कर्मोंसे बनने वाला शरीर तो अग्रिम जन्ममें होगा। इस कारण पूर्वजन्मके सुकर्मोंसे ही ब्राह्मण वर्ण वाले पिताके घरमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणकी इस जन्ममें कर्म-हीन होने पर भी यदि प्रशंसारूप पूजनीयता न मानी जावे, यदि पूर्व जन्मके कुकर्मोंसे ही शूद्र वर्ण वाले पिताके घरमें उत्पन्न शूद्रकी अब सुकर्ममें लगे होने पर भी अपूजनीयता न मानी जावे, तो स्पष्ट होगा कि इस प्रकारके लोग पूर्वजन्म और पुनर्जन्मको नहीं मानते। इस कारण यह दीख रहे हुए चन्द्रको मानने वाले नास्तिक हैं या प्रच्छन्न-बौद्ध हैं, या स्वेच्छाधर्मी हैं, या शास्त्रोंके उल्लंघन करने वाले हैं। वे इसी वर्तमान जन्मको तथा उसीके कर्मोंको मानते हैं, पूर्व और परजन्मों तथा उनके कर्मोंके फल नहीं मानते। परन्तु यदि वे पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्मवादको मानते हैं; तब पूर्वजन्मकर्मानुसार ही हुए-हुए इस जन्मसे ही उन्हें वर्ण-व्यवस्था माननी चाहिये। इस जन्मके कर्मोंसे तो उन्हें अग्रिम ही जन्ममें वर्ण व्यवस्था माननी पड़ेगी, नहीं तो गतजन्मके कर्म व्यर्थ हो जाएंगे। जबकि कर्म मरण तक होते ही रहते हैं; तब उनका परिणाम भी उस समय तक कैसे निकल सकता है? उन कर्मोंका परिणाम तो मरण और पुनर्जन्मके बीचके समयमें ही घोषित होता है। वादियोंके मतानुसार इस जन्मके कर्मोंका फल यदि यहीं मिल जाय, तो अग्रिम जन्म ही न हो सकेगा, क्योंकि अग्रिम जन्मके मूल इस पूर्व जन्मके कर्म ही हुआ करते हैं।

यह है शास्त्र व्यवस्था, शेष है लोक-सम्मान, सो वह अपने गुण-कर्मोंसे श्रेष्ठ, अवर जाति वालेका भी होता है। सनातनधर्मी ही कबीर जैसे जुलाहेका भी सम्मान करते हैं ए० सी० वुलनर- जैसे भिन्नधर्मी वैदेशिकको भी सभापति पद देकर सम्मानित कर चुके हैं। डाक्टर भगवान्दासजी जैसे वैश्यको भी 'श्रद्धेय' मानते हैं। श्रीगान्धिसदृश वैश्यको भी 'महात्मा' मानते हैं। वही सनातनधर्मी रावण जैसे ब्राह्मण को भी प्रतिवर्ष अपमानित करते ही रहते हैं। इस प्रकार सम्मान तो सगुण होने पर ही होता है। निर्गुण होने पर तो ब्रह्मकी पूजा भी नहीं होती, ब्रह्मकी भी सगुण ईश्वर होने पर ही पूजा हुआ करती है। पर इससे सनातनधर्मी वर्णव्यवस्थामें परिवर्तन नहीं चाहते। वे *कुकर्मा* रावणको भी *ब्राह्मण* ही कहते हैं, *ज्ञानी धर्मव्याधको भी शूद्र* ही कहते हैं। वर्ण-व्यवस्था जन्मसे ही सिद्धान्तित की हुई कई प्रकारकी हानियोंसे बचायगी। इससे वैसे कह रहे हुए शास्त्रका उल्लङ्घन भी नहीं होगा। आशा है बा० भगवान्दास M A महाशय, तथा उन जैसे दूसरे सुधारक भी निष्पक्ष होकर ध्यानसे विचार कर इस विषयको निर्णीत कर लेंगे, प्रक्षिप्तता आदिके बहानेसे शास्त्रवचनोंका तिरस्कार न करेंगे। उन्हें हमारे वर्ण व्यवस्था विषयक सब निबन्धोंका मनोयोगसे अध्ययन कर लेना चाहिये, जिनसे एतत्सम्बन्धी उनकी शङ्काएं दूर हो जाएं।

[डाक्टर महाशयने इस हमारे निबन्धका प्रत्युत्तर नहीं दिया]

—)ॐ(—

(१०) वर्ण-व्यवस्थाविषयक कुछ भ्रमोंका परिहार

कई महाशय कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिसमें उन्हें गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था प्रतीत होती है। कुछ थोड़ेसे प्रमाणोंकी यहां आलोचना दी जाती है; शेष प्रमाण अग्रिम पुष्पोंमें उद्धृत तथा आलोचित किये जावेंगे।

मनुका प्रसिद्ध श्लोक

(१) स्वा० दयानन्द आदि बहुतसे सुधारक 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैव शूद्रताम्' (मनु० १०।६५) इस श्लोकको बड़े संरम्भसे देते हैं, और इससे गुणकर्मकृत वर्ण-व्यवस्था सिद्ध हुई समझ लेते हैं।

प्रत्युत्तर—यहां प्रष्टव्य है कि उक्त पद्यमें 'शूद्र' शब्द जन्मसिद्ध इष्ट है, वा गुणकर्मसे? यदि जन्मसिद्ध, तब वर्ण-व्यवस्था भी जन्मसे सिद्ध हुई। यदि गुणकर्मसे शूद्र इष्ट है, तब वह ब्राह्मण कैसे हो सकता है? इस पद्यमें गुणकर्मका कहीं गन्ध भी नहीं है। तब ऐसा कह देना वादियोंका पहला छल है। दूसरा छल यह है कि इस श्लोकका पहलेके ६४वें श्लोकसे सम्बन्ध है, क्योंकि ६४-६५ श्लोक युग्मक हैं। वादी इन्हें इकट्ठा नहीं कहते, क्योंकि वैसा करनेसे उनका पक्ष कटता है। जबकि उनसे दिये जाते हुए पद्यमें कोई हेतु नहीं कहा गया कि—शूद्र ब्राह्मण कैसे होता है और ब्राह्मण शूद्र कैसे होता है, तब उक्त श्लोक उनका इष्टसाधक कैसे हो सकता है? इससे स्पष्ट उन्हें भी इससे पूर्वका श्लोक मानना पड़ेगा, जिससे यह विषय स्पष्ट हो जाता है। वह युग्मक पद्य इस प्रकार है—

, 'शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत् प्रजायते। अश्रेयान् श्रेयसीं जाति गच्छत्यासप्तमाद् युगात्' (मनु० १०।६४) शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च (१०।६५ यदि ६५ पद्यका ६४ पद्यसे सम्बन्ध न माना जावे; तो ६५ पद्यमें 'एवं' पदका कथन भी व्यर्थ हो जाता है। और फिर ६४ पद्य भी असम्बद्ध हो जाता है।

इस पद्यमें पारशवका *सातवें जन्ममें* (एक जन्ममें नहीं) ब्राह्मण हो जाना कहा है। ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न हुआ पारशव कहा जाता है। यहां रक्तकी अपेक्षा वीर्यकी प्रधानता बताई गई है। जब इसी जन्ममें वर्ण-परिवर्तन नहीं कहा गया, किन्तु सातवें जन्ममें, तब वादियोंका पक्ष तो कट गया। वैसेकी ब्राह्मणता भी सप्तम जन्ममें रक्तकी अपेक्षा शुक्रकी प्रधानता-प्रतिपादनार्थ है; नहीं तो तल्' प्रत्यय भी तद्धर्मत्व, तथा तद्भावको बताता है, साक्षात् उसीको नहीं, नहीं तो 'अथ जनः पशुतामुपसन्नः' का अर्थ साक्षात् पशु होना माना जावेगा? पशुभावका अर्थ 'पशुधर्मा' ही होता है, साक्षात् पशु नहीं।

उक्त पद्योंका स्पष्ट तात्पर्य यह है—ब्राह्मणसे शूद्रामें यदि कन्या उत्पन्न हो; उससे यदि ब्राह्मण विवाह करे, उससे भी कन्या हो, और उससे ब्राह्मण विवाह करे, इस प्रकार सातवीं पीढ़ी तक उत्पन्न होती हुई कन्याका सम्बन्ध लगातार सातवें ब्राह्मण पुरुष तक हो जावे, तब ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न कन्या शूद्रत्वसे हटकर शुद्ध ब्राह्मणी हो जाती है फिर उससे ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न बालक शुद्ध ब्राह्मण होता है। यहां *वर्णसङ्करोंका प्रकरण* चला हुआ है—गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था का कुछ भी प्रकरण नहीं। न यहां पर ऐसा करना विधि है। वर्णसङ्करकी शुद्ध वर्णता कैसे हो सकती है—यही यहां बताया गया है।

इस प्रकार यदि शूद्रसे ब्राह्मणीमें लड़की उत्पन्न हो, उसका संबन्ध तथा तदुत्पन्न कन्याओंका सम्बन्ध शूद्र पुरुषोंसे होता जावे, तब सप्तम जन्ममें उत्पन्न लड़की ब्राह्मणी न रहकर शुद्ध शूद्र वर्णकी हो जावेगी; फिर उसके लड़के भी असकीर्ण शूद्र होंगे। इस प्रकार शूद्रामें क्षत्रियसे कन्या उत्पन्न होवे, उससे उत्पन्न कन्याओंका उत्तरोत्तर क्षत्रियसे विवाह होता रहे, तब सातवीं कन्या शूद्रात्वके सङ्करसे हटकर शुद्ध क्षत्रिय वर्ण की हो जावेगी। इसी प्रकार यदि शूद्रसे ब्राह्मणीमें बालक हो, उसका सम्बन्ध तथा उससे उत्पन्न बालकोंका सम्बन्ध सात पीढ़ी तक शूद्राओंसे होता रहे, तो सातवें जन्ममें उत्पन्न बालक ब्राह्मणत्वके संकरसे हटकर शुद्ध शूद्र वर्णका हो जावेगा। इसी भान्ति शूद्रामें क्षत्रियसे लड़का हो, उसका तथा उससे उत्पन्न बालकोंका विवाह-सम्बन्ध क्रमशः सात पीढ़ी तक शूद्राओंसे होता चले, तो सातवें जन्ममें वह क्षत्रियत्वके सङ्कर से हटकर शूद्र हो जावेगा। इस प्रकार सप्तम जन्म तक शूद्र-सङ्कर शुद्ध क्षत्रिय और क्षत्रिय-संकर शुद्ध शूद्र हो जाता है।

इसी भान्ति शूद्रामें वैश्यसे उत्पन्न लड़की क्रमसे सातवें जन्म तक वैश्योंमें सम्बद्ध होती रहे, तो वह सातवें जन्ममें शूद्रात्वके सङ्करसे हटकर शुद्ध वैश्य वर्णकी हो जाती है। वैश्यसे शूद्रामें उत्पन्न बालक उत्तरोत्तर सात पुरुष तक शूद्राओंसे सम्बद्ध होता रहे, वहां सातवें जन्ममें वैश्यता हटकर शुद्ध शूद्रता उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार वैश्य सातवीं पीढ़ी तक शूद्र, और शूद्र सातवीं पीढ़ी तक आकर वैश्य हो जाता है।

मनुस्मृतिके सभी टीकाकारोंने इन पद्योंका यही अर्थ किया है, सङ्कर प्रकरण होनेसे यह प्राकरणिक भी है। आर्यसमाजी श्रीतुलसीराम स्वामीने 'भास्करप्रकाश' में इसके निराकरणकी चेष्टा करते हुए भी कोई

उल्लेखयोग्य उपपत्ति नहीं दी। जब यह विधिवाक्य नहीं है, 'तो ७ ब्राह्मण शूद्रासे विवाह करनेसे भ्रष्ट बनें, अपना ब्राह्मणत्व खोवें, तब यह आपकी वर्णोन्नति हो, यह श्लोक ब्राह्मणोंके बिगाडनेका है,'अच्छे रहे ! जो बात एक जन्ममें न मानी वह सात जन्ममें मानी' ऐसा कथन श्रीतुलसीरामजीके पक्षको शिथिल सिद्ध कर रहा है। इन पद्योंमें गुण-कर्मसे वर्ण परिवर्तन अर्थ किसीने भी नहीं किया, तब सत्यार्थप्रकाशमें स्वा० दयानन्दजीका वैसा अर्थ करना निराधार है। उक्त पद्यके अर्थको स्पष्ट करनेके लिए हम कई उदाहरण देते हैं; तब पाठकोंको यह बात ठीक समझ आ जावेगी।

बकरीके साथ यदि मृगका मैथुन हो जाए, और बकरीको गर्भ भी हो जावे, और स्त्री सन्तान हो, तो उसका रूप दोनोंका मिला-जुला होगा। उसका संयोग भी फिर मृगसे हो, उससे भी उत्पन्न स्त्री सन्तानका संयोग फिर मृगसे हो, सात जन्म तक ऐसे ही हो, तब क्रमसे वह सङ्करता हटकर सातवें जन्ममें शुद्ध मृग जाति हो जावेगी। इस प्रकार बकरेका मृगीसे मैथुन हो, उससे उत्पन्न स्त्री सन्तानका संयोग सात जन्म तक फिर बकरे से होता रहे तो धीरे धीरे उस स्त्री सन्तानमें मृगकी सङ्कीर्णता उत्तरोत्तर कम होती जावेगी। सातवें जन्ममें मृगीकी सङ्करता बिलकुल हटकर शुद्ध बकरा जाति हो जावेगी। उस समय मृगत्वका कुछ भी अंश उसमें नहीं रहेगा। ऋषि-मुनि लोग वैज्ञानिक होनेसे इस बातको जानते थे कि छठी पीढ़ी तक भी सकीर्णता का कुछ अंश रहेगा, सातवें जन्ममें सर्वथा शुद्धता हो जावेगी। तब न यह कि पहले छः नीच रहें और सातवां उच्च बनें' यह श्रीतुलसीरामजीका कथन वस्तुस्थिति न समझनेका परिणाम है। इस प्रकार सुन्दरका [illegible] साथ संयोग होने पर भी [illegible] होना चाहिये।

स्वा० दयानन्दजीने 'स्त्रैणताद्धित' के ३८ पृष्ठमें 'वडवाया वृषे वाच्ये' (१६६) इस वार्तिकमें टिप्पणी की है—"यहां घोड़ीसे बैलकी उत्पत्ति असम्भव तो है, तथापि बीजके [की] प्रधान [ता] के पक्षमें अर्थात् जो-जो बीज बोया जाता है, वही उत्पन्न होता है. खेतके गुणोंका अनुयायी बीज नहीं होता, किन्तु खेतके गुण बीजके गुणोंको ही पुष्ट करते हैं। गेहूँ आदि अन्न जो-जो बोये जाते हैं, वे ही उत्पन्न होते हैं, ऐसे ही जो बैल और घोड़ीका समागम होवे, तो घोड़ीसे बैल हो सकता है" स्वा० दयानन्दजीकी इस व्याख्यासे पूर्वोक्त विषय पर प्रकाश पड़ता है।

अथवा पाठक अन्य सुगम उदाहरण देखें—बम्बईके आममें मालदह आमकी कलीका पैबन्द किया जावे, उससे दोनों जातियोंका संकर जो आम होगा, उसकी शाखा फिर बम्बईके आममें जोड़ी जावे. इस प्रकार सातवीं उत्पत्तिमें वह मालदह आम बम्बई जाति वाला आम हो जायगा। अथवा यह समझें कि—किसी भारतीय सुधारक रमणीका अंग्रेजसे संयोग हो जावे, उससे उत्पन्न लड़कीमें कालापन गोरापन दोनों संकीर्ण होंगे। फिर उस लड़कीका भी संयोग अंग्रेजसे हो, उससे उत्पन्न लड़कीका भी संयोग अंग्रेजसे हो, इस प्रकार सातवीं अंग्रेजोत्पन्न लड़कीसे उत्पन्न हुआ बालक पूरा अंग्रेज हो जावेगा; भारतीयताका थोड़ा भी कालेपनका चिन्ह उसमें नहीं रहेगा। इससे उल्टा किसी हिन्दुस्थानीका अंग्रेज लड़कीसे विवाह होवे, उससे उत्पन्न लड़की भी दोनों जातियोंको धारण करनेसे सङ्कर होगी। फिर उसका अन्य हिन्दुस्तानीसे विवाह हो, उससे भी उत्पन्न लड़कीका अन्य हिन्दुस्तानीसे मेल हो, इस प्रकार सातवीं पीढ़ीमें उत्पन्न हुई लड़कीका लड़का पूरा हिन्दुस्तानी हो जाता है, उसमें गोरापन बिल्कुल नहीं रह जाता। इस प्रकार हिन्दु-मुसलमान तथा हिन्दु-पठानके पारस्परिक सम्बन्धमें भी समझा जा सकता है।

यही उक्त युग्मक श्लोकका आशय है। पूर्व श्लोकका सम्बन्ध तोड़कर गुणकर्मसे वर्ण परिवर्तनका तात्पर्य इस पद्यसे निकालना वादियों का अपने पक्षको शिथिल सिद्ध करना है। इसका संक्षेप यह है कि—सङ्करवर्णकी सकरता नष्ट होकर कब शुद्ध वर्ण बन जाता है—यही इस पद्यमें दिखलाया गया है। वह यह कि वीर्य ब्राह्मणका हो, रक्त शूद्राका, उनके संयोगसे जो सन्तान होती है, उसमें वीर्यकी प्रधानताके कारण ब्राह्मणत्व अधिक होता है, रक्तकी गौणताके कारण शूद्रत्व थोड़ा होता है, इस प्रकार सङ्करता होती है। यह सकरता क्या कभी हट भी सकती है, यदि हां, तो वह किस प्रकार से ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। उसीका उत्तर उक्त युग्म पद्यसे है कि - यदि शूद्र सन्तान कन्या हो उसका सम्बन्ध ब्राह्मणके साथ हो, उससे जो लड़की होगी, उसमें ब्राह्मणता पहलेसे बढ़ेगी और शूद्रत्व पहलेकी अपेक्षा घटेगा। फिर उस कन्याका भी ब्राह्मणसे ही सम्बन्ध हो, तो उससे पूर्वकी अपेक्षा ब्राह्मणत्व और बढ़ेगा शूद्रता और घटेगी। इस प्रकार उत्तरोत्तर उत्पन्न हुई लड़कियोंका उत्तरोत्तर ब्राह्मणके साथ सम्बन्ध होनेसे तदुत्पन्न कन्याओं का ब्राह्मणत्व बढ़ते-बढ़ते सप्तम जन्ममें उत्पन्न कन्या पूर्ण ब्राह्मणी हो जाती है, क्रमशः क्षीण होता हुआ उनका शूद्रत्व सप्तम जन्ममें सर्वथा नष्ट हो जाता है। वह शुद्ध ब्राह्मणी हो जाती है। तब उस सातवींसे ब्राह्मणसे उत्पन्न लड़का शुद्ध ब्राह्मण हो जाता है, यह आशय है। इससे वादियोंका पक्ष कुछ भी सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत उनका खण्डन होता है—क्योंकि—यहाँ ब्राह्मण वीर्यसे उत्पत्तिके कारण ही ब्राह्मणता कही गई है।

इस प्रकार ब्राह्मणी में शूद्र द्वारा उत्पन्न कन्या वर्णसङ्कर होती है; उत्तरोत्तर उससे उत्पन्न कन्याका शूद्रसे सम्बन्ध होनेसे सातवीं पीढ़ीमें पैदा हुई कन्या शुद्ध शूद्रा हो जाती है, क्योंकि – उन कन्याओंमें विद्यमान ब्राह्मणता उत्तरोत्तर शूद्रके वीर्य सम्बन्ध होने पर घटती घटती

सातवीं पीढ़ीमें सर्वथा नष्ट हो जाती है। इस प्रकार क्षत्रिय, वैश्य वर्णों में भी जान लेना चाहिये। सो यहाँ वर्णसङ्करका ही शुद्ध वर्ण हो जाने का प्रकार बताया गया है, जो वीर्य सम्बन्धसे उत्पत्ति मूलक ही है। इसमें जन्मसे ही वर्ण व्यवस्था सिद्ध है, गुणकर्मोंका गन्ध भी नहीं। यही मनुका हृदय है। यही समस्त टीकाकारोंका आशय है। 'शूद्रायां ब्राह्मणाजात . प्रजायते' यहाँ पर 'प्रजायते' का अर्थ 'प्रसूयते' है, सो उसकी सामर्थ्यसे 'जात' का यहाँ स्त्री रूप' यह अर्थ है। 'जाति शब्द' के स्त्री पुरुष दोनों ही अर्थ हो जाते हैं। जैसे—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु' (गीता २।२७) यहाँ 'जात' से स्त्री भी अर्थ गृहीत हो जाता है। पुरुष अर्थमें सामर्थ्यसे 'प्रजायते' का 'प्रजनयति' अर्थ है। 'आ सप्तमात्' का अर्थ यद्यपि 'सप्तम जन्म तक' है, अर्थात् सात जन्म तक ऐसा होते होते यह सङ्कीर्ण वर्ण सङ्करतासे हटकर शुद्ध हो जाता है, तथापि 'आ सप्तमात्' का तात्पर्य अन्तिम अवधि होनेसे 'सातवें जन्ममें' ही होगा। क्योंकि—उसके आगे कोई अवधि नहीं बताई गई। जब सातवें में ही शुद्धता बताई गई है, तो पहले छ जन्मोंमें सङ्करताका अंश होनेसे, शुद्धवर्णकी अपेक्षा अशुद्धता होनेसे नीचता भी हुई। इस प्रकार 'भास्कर प्रकाश' में श्रीतुलसीराम स्वामीसे की हुई "जातः अश्रेयान्' इन पुल्लिङ्ग पदोंसे 'कन्या' अर्थ कहाँसे आया ? [यहाँ श्रीतुलसीराम जी 'असम्प्रिका तु कार्येय' इस मनुके पदकी अपनी टीकामें लिखे 'या-ज्ञामिष्यति, स मृत्युं प्राप्स्यति' इस वाक्यको भूल गये]। तथा 'आसप्तमात्' का अर्थ 'सातवें जन्ममें' कैसे हुआ जबकि—आङ् के अर्थ मर्यादा और अभिविधि हैं। तो यह अर्थ होगा कि सात तक नीचा वर्ण उच्च जातिको प्राप्त होता रहता है, न यह कि—पहले छः नीच रहें और सातवां उच्च बने [छ तक सङ्करताका अंश रहनेसे नीचता, सातवें में सङ्करताका अंश सर्वथा हट जानेसे उच्चता स्वाभाविक है। 'सात पीढ़ी' शब्द इसीलिए प्रचलित है, जैसेकि मनुस्मृतिमें ही कहा है—

'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते' (२।६०) सो यह अवधि वर्ण-शुद्धिकी भी है]। यह श्लोक ब्राह्मणोंके बिगाड़नेका है" [तो क्या मनुजीको आप ब्राह्मणोंको बिगाड़ने वाला कहते हैं ! यदि ऐसा है तो निकालिये स.प्र.से मनुके समस्त श्लोक, जिससे स.प्र. की तोंद हलकी हो जावे] यह सभी आपत्तियाँ निरस्त हो गईं, हमारा पक्ष सिद्ध हो गया। शब्दोंका अर्थ यद्यपि थोड़ा होता है, तथापि तात्पर्य बड़ा हो जाता है। पर स्वा० द० जीने इस पद्यमें गुणकर्मोंको निर्मूल घुसेड़ दिया—इस पर तुलसीरामजीकी आंख नहीं पड़ी और पं० ज्वालाप्रसादजीके अर्थ पर पड़ गई—इसका कारण ये ही जान सकते हैं।

भविष्य पुराणके कई श्लोक।

(२ कई आर्यसमाजी महाशय भविष्य-पुराणके कई श्लोकोंको उद्धृत करके जन्मसे वर्ण-व्यवस्थाको खण्डन करनेकी तथा गुण कर्मणा वर्ण-व्यवस्था सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं। वे उन पद्योंको उद्धृत करते हुए एक धूर्तता करते हैं—वह यह कि—कभी पूर्वापर प्रकरण छिपा कर बीचके पुराणके श्लोकोंको दे देते हैं, ऐसा करने पर उनमें सनातनधर्म के सिद्धान्तसे विरुद्धता दीखने लग जाती है। इस विषयमें उन्हें अपने स्वा० द० जीके शब्द याद रखने चाहियें कि—'जैसे शरीरके सब अङ्ग जब तक शरीरके साथ रहते हैं, तब तक कामके और अलग होने से निकम्मे हो जाते हैं, वैसे ही *प्रकरणस्थ वाक्य सार्थक, और प्रकरणसे अलग करने या किसी अन्य के साथ जोड़नेसे* अनर्थक हो जाते हैं' (सत्यार्थ० पृष्ठ १३०)।

वादी भी ऐसा ही करते हैं। आर्यसमाजी विद्वान् श्रीनरदेवशास्त्री जीने 'आर्यसमाजका इतिहास' (प्रथम भाग २२६ पृष्ठ) में ठीक ही

लिखा है—'मनुष्यको अधिकार है कि—वह अपना जो चाहे मत रखे; पर उसको यह अधिकार कदापि नहीं कि—वह वक्ता या ग्रन्थकर्ताके आशयको मनमानी रीतिसे तोड़-मरोड़कर उस ग्रन्थकर्ताके आशय या अभिप्रायसे विरुद्ध जो चाहे निकाले'।

इसमें स्वामी द०जीका निम्न वचन भी द्रष्टव्य है। वह यह है—'जो कोई इस ग्रन्थकर्ताके तात्पर्यसे विरुद्ध मनसे देखेगा, उसको कुछ भी अभिप्राय विदित न होगा; क्योंकि—वाक्यार्थमें चार कारण होते हैं—*आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य*। जब इन चारों बातों पर ध्यान देकर जो पुरुष ग्रन्थको देखता है, तब उसको ग्रन्थका अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है। . तात्पर्य—जिसके लिए वक्ताने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो, उसीके साथ वचन वा लेखको युक्त करना। बहुतसे हठी दुराग्रही मनुष्य ऐसे होते हैं, जोकि—वक्ताके अभिप्रायसे विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, *विशेषकर- मतवाले लोग, क्योंकि—मतके आग्रहसे उनकी बुद्धि अन्धकारमें फंसके नष्ट हो जाती है'*। (सत्यार्थप्रकाश भूमिका पृष्ठ ४)।

इसी अभिप्रायसे 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह न्याय भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार कई लोग भविष्यपुराणके ब्राह्मपर्वके कई श्लोकों को—जो वहाँ पूर्वपक्ष हैं—सुनाकर जनतामें जन्मना वर्ण-व्यवस्थाको पुराण-विरुद्ध और कर्मणा वर्ण-व्यवस्थाको पुराण-सिद्ध बतलाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, परन्तु जब उन श्लोकोंका उपक्रम तथा उपसंहार देखा जाता है, तब वहाँ स्पष्ट ही सनातनधर्मका सिद्धांत सिद्ध हो जाता है। यदि उनके मतसे जन्मना वर्ण व्यवस्थाका उन श्लोकोंमें खण्डन माना जावे; तो वहाँ ऐसे भी श्लोक हैं—जहाँ विद्या, आचार, संस्कार तथा कर्मोंसे भी वर्णका खण्डन सिद्ध होता है, तब *क्या वादी अपने पक्षका भी खण्डन मान लेंगे? देखिये—*

'संस्कारतः सोतिशयो यदि स्यात् सर्वस्य पुंसोऽस्त्यति-संस्कृतस्य । यः संस्कृतो विप्रगणप्रधानो व्यासादिकस्तेन न तस्य साम्यम्' (४१।३०) यहां वादिसम्मत संस्कारका खण्डन है। 'वेदाध्ययनमप्येतद् ब्राह्मण्यं प्रतिपद्यते। विप्रवद् वैश्यराजन्यौ राक्षसा रावणादयः' (४१।१) यहाँ वादिसम्मत वेदविद्याद्वारा ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिका खण्डन किया गया है कि—संस्कार करने पर भी ब्राह्मणोंका व्यास आदिसे साम्य नहीं हो जाता। वेद तो क्षत्रिय वैश्यको भी ब्राह्मण-इतने पढ़ने पढ़ते हैं और फिर वेदाध्येता रावण भी राक्षस ही रहा। 'जातिधर्म- स्वयं किञ्चिद् विशेष श्रुतिसङ्गमात् । असिद्ध शूद्रजातीनां प्रसिद्धो विप्रजातिषु' (४१।२१) यहाँ वादिसम्मत जाति आचार द्वारा वर्ण परिवर्तनका खण्डन है अर्थात्—जब शूद्रोंके लिए वेदमें आचारका विधान ही नहीं है, तो शूद्रोंका वेद विरुद्ध आचार ही कैसे हो सकता है? वा उनकी उन्नति कैसे हो सकती है? 'देहशक्तिगुणैः क्षीणैः कायभस्मादिरूपवत् । तस्माद् देहात्मके नैतद् ब्राह्मण्यं, *नापि कर्मजम्*' (भविष्य० ४१।२७) यहाँ शरीर द्वारा और कर्म द्वारा अन्य वर्णकी प्राप्तिका खण्डन किया गया है, इससे वादिसम्मत कर्मणा वर्ण-व्यवस्थाका भी पुराणने खण्डन कर दिया। कई छली लोग 'नापि कर्मजम्' यहाँ 'नापि' का सम्बन्ध 'देहात्मके' से जोड़ देते हैं। यह स्पष्ट उनका स्वार्थ है। 'अपि' शब्द पूर्व तथा उत्तर दोनोंका परामर्श करता है। पहले 'नैतद्' यह निषेध 'देहात्मक' के लिए है, दूसरे 'नापि' का सम्बन्ध 'कर्मजम्' इससे है, इससे कर्मणा वर्ण-व्यवस्थाका भी खण्डन हो गया; पर वादी लोग यह श्लोक जनताके सामने नहीं आने देते—यही छल है।

अन्य छल यह है कि—वादी लोग इसके पूर्वापर प्रकरणको सामने नहीं आने देते। मध्यके कई श्लोक उठाकर रख देते हैं, और अपने पक्षकी पुष्टि भोले-भाले लोगोंके आगे कर देते हैं। हम वह पूर्वापर

प्रकरण सामने रख देते हैं। भविष्य पुराण ब्राह्मपर्व ४० वें अध्यायमें 'जातिः श्रेष्ठा भवेद् वीर ! उत कर्म भवेद् वरम्' (११४०।१) एतद् वद विनिश्चित्य न यथा संशयो भवेत्। जन्मतः कर्मणश्चैव यज्ज्यायस्तद् ब्रवीहि मे' (४०।२) यहाँ जाति और कर्ममें कौन श्रेष्ठ है—यह शतानीकका सुमन्तुके प्रति प्रश्न है। भो ब्रह्मन् ! आदिकल्पे हि ब्राह्मण्यं ब्रूहि किं भवेत् ? जात्यध्ययनदेहात्मसंस्काराचारकर्मणाम्' (४०।८) बाह्याभ्यन्तर सामान्यविशेषा यदि कृत्रिमाः। (६) सात्यक्त्या प्रसिद्धा ये जातिभेदविधायिनः' (१०) अव्यक्तागमसिद्धश्चेद् जातिभेदविधिर्नृणाम्। विकल्पोऽयं न पुष्णाति भवतः शेमुषीबलम्' (११) यह ऋषियों का ब्रह्माके प्रति ४० वें अध्यायमें प्रश्न है।

फिर ४१-४२-४३-४४ अध्यायोंमें पूर्वपक्ष अच्छी तरह दिखलाया गया है, जिन पद्योंको वादी बड़े प्रेमसे उद्धृत करते हैं। उसमें ब्रह्माजी का उत्तरपक्ष ४४वें अध्यायमें दिखलाया गया है। ब्रह्मोवाच—'इदं शृणु मयाख्यातं तर्क-पूर्वमिदं वचः। युष्माकं संशये जाते कृते वै जाति कर्मणो' (४२।१) इति पृष्टः पुरा ब्रह्मा ऋषीन् प्रोवाच भारत ! सवितर्कमिदं वाक्यं विप्रर्षे ! जाति कर्मणो। (४२।२) अर्थात् आप लोगों का जो जाति और कर्मके विषयमें संशय हुआ था, उसमें मैंने पहले तर्कयुक्त वचन कहा था। इसी तरह 'शृणुध्वं योगिनो वाक्यं सतर्कं' (४४।१२) यहां भी तर्कसहित वाक्यका कहना माना है। सो 'तर्कपूर्व' और 'सतर्क' का अर्थ है कि पूर्वपक्ष। अर्थात् मैं (ब्रह्मा) ने ४०-४१-४२ ४३-४४ अध्यायोंमें केवल जाति तथा केवल कर्मका खण्डन किया' है। इससे ब्रह्माजीने दोनोंका समुच्चय ही सिद्धान्तपक्ष माना है। जैसेकि—शुक्लयजुर्वेद (वा० स०) में 'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः' (४०।१२) इस मन्त्रमें केवल अविद्या तथा केवल विद्याका खण्डन किया है, यह पूर्व-

पक्ष है; फिर 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयँ सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' (४०।१४) यहां पर अविद्या तथा विद्या दोनोंका समुच्चय ही सिद्धान्तपक्ष माना गया है, वैसे ही ब्रह्माजीने भी जाति (जन्म) और कर्म दोनोंका समुच्चय ही सिद्धान्तपक्ष बताया है। जैसे कि—

'पुनर्वच्मि निबोधध्व समासान्नतु विस्तरात्। *संसिद्धिं यान्ति मनुजा जाति (जन्म) कर्मसमुच्चयात्*' (१।४२।२) अर्थात् जन्म और कर्म दोनोंसे ही ब्राह्मणत्व आदिकी सिद्धि होती है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए श्रीब्रह्माजी एक सुन्दर दृष्टान्त या उपमा देते हैं—'सिद्धिं गच्छेद् यथा कार्यं दैव-कर्मसमुच्चयात्। एव संसिद्धिमाप्नोति पुरुषो *जाति-कर्मणो*' (४२।३) यहां बात स्पष्ट हो गई कि केवल दैवाधीन भी सिद्धिको नहीं पाता, केवल कर्म पर भी सिद्धिको नहीं पाता। तब जैसे कार्यसिद्ध्यर्थ ऐहिक कर्म और उसके साथ दैव—पूर्वजन्मके कर्मों की अपेक्षा रहा करती है, वैसे ही ब्राह्मणत्वादिके लिए मनु आदिसे प्रोक्त ऐहिक कर्म तथा उसके साथ जाति (पूर्वजन्मके कर्मसे उत्पन्न जाति) यह दोनों ही अपेक्षित हैं—यह बहुत ही स्पष्ट है।

इससे जो कि पूर्वपक्षमें जातिका खण्डन किया था—इसमें उसका उद्धार कर दिया गया। जातिके साथ कर्मकी आवश्यकता भी बता दी गई। उसमें भी कर्मकी अपेक्षा जातिके अभ्यर्हित होनेसे प्रधानताके कारण उस (जाति) को पूर्व रखा गया। यह वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें जाति कर्मका समुच्चय सनातनधर्मका ही सिद्धान्त है। पर छलके बल वाले वादी उपक्रम और उपसंहारको छोडकर पुराणके बीच वाले पद्य ही उद्धृत कर दिया करते हैं—जिससे अर्थका अनर्थ हो जाता है—यह उनका बडा साहस है। उनसे दिये जाते हुए पूर्वपक्षक श्लोकोंमें केवल कर्मका तथा केवल जातिका खण्डन किया है। जातिमें

भीरधीवराः। येऽन्येपि वृषलाः केचित् तेपि वेदानधीयते' (२) यहां केवल वेदाध्ययनसे भी ब्राह्मणत्वका खण्डन कर दिया गया। 'शूद्रो देशान्तरं गत्वा ब्राह्मण्यं क्षत्रियं श्रितः। व्यापाराकारभावाद्यैर्विप्रतुल्यैः प्रकल्पितैः' (३) वेदानधीत्य वेदौ वा, वेदं वापि यथाक्रमम्। मोद्वहन्ति शुभां कन्यां शुद्ध-ब्राह्मणजा नराः' (४) अपरिज्ञातशूद्रत्वाद् ब्राह्मण्यं याति कामतः। तस्मान्न ज्ञायते भेदो वेदाध्याय-क्रियाकृतः' (५) इससे केवल वेदाध्ययनसे भी ब्राह्मणता काट दी गई।

अब यज्ञोपवीतादि चिन्ह द्वारा ब्राह्मणत्व आदिका खण्डन करते हैं। 'शिखाप्रणवसंस्कारसन्ध्योपासनमेखलाः। दण्डाजिनपवित्राद्याः शूद्रेष्वपि निरङ्कुशाः' (१०) तस्मान्नैतेपि लक्ष्यन्ते विलक्षणतया नृणाम्। यज्ञोपवीतसंस्कार - मेखलाचूलिकादयः'। अब वादिसम्मत संस्कारका पुराण खण्डन करता है—'संस्कारतः सोतिशयो यदि स्यात् सर्वस्य पुंसोऽस्त्यतिसंस्कृतस्य। यः संस्कृतो विप्रगणप्रधानो व्यासादिकस्तेन न तस्य साम्यम्' (४१।२०) अर्थात् संस्कार वालेकी भी बिना संस्कारोंवाले व्यासादिसे समता नहीं होती; तो संस्कार भी ब्राह्मणत्व-कारक न हुआ।

आगे कहते हैं—'तस्मान्न च विभेदोस्ति, न बहिर्नान्तरात्मनि। न सुखादौ नचैश्वर्ये नाज्ञायां नाभयेष्वपि। (२५) न वीर्ये, नाकृतौ नाद्ये न च व्यापारे न चायुषि। नाङ्गे पुष्टे न दौर्बल्ये न स्थैर्ये नापि चापले (२६) न प्रज्ञायां न वैराग्ये न धर्मे न पराक्रमे। न त्रिवर्गे, न नैपुण्ये, न रूपादौ न भेषजे। (२७) न स्त्री-गर्भे, न गमने, न देहमलसंप्लवे। नास्थिरन्ध्रे, न च प्रेम्णि प्रमादे न च लोमसु (२८) शूद्र-ब्राह्मणयोर्भेदो मृग्यमाणोपि यत्नतः। नेक्ष्यते सर्वधर्मेषु संहतैस्त्रिदशैरपि ।' (२९) इन श्लोकोंमें गाय-घोड़े आदिकी तरह ब्राह्मण-शूद्रादिमें स्थूल भेद न मिल सकना माना है। इससे हमारा भी विवाद नहीं। इसीलिए जो

व्याकरण (स्त्रीप्रत्ययों) में 'आकृतिग्रहणा जातिः' इस लक्षणसे ब्राह्मण-शूद्र आदिके आकृति-भेद न मिलनेसे जाति-संज्ञाकी प्राप्ति न मानकर 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' ऐसा ब्राह्मणादि जातिका लक्षण किया है। इससे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं।

इस प्रकार आगे रंगोंमें भी ब्राह्मणत्व आदिका निषेध करते हैं—'न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचिशुभ्राः (सुफेद), न क्षत्रियाः किंशुकपुष्पवर्णाः (लाल), न चेह वैश्या हरितालतुल्याः (पीले), शूद्रा नचाङ्गार (कोयला)-समानवर्णाः (काले)' (४१।४१) पादप्रचारैस्तनुवर्णकेशैः सुखेन दुःखेन च शोणितेन। त्वङ्मांसमेदोऽस्थिरसैः समानाश्चतुःप्रभेदा हि कथं भवन्ति (४२) वर्णप्रमाणाकृति - गर्भवासवाग्बुद्धिकर्मेन्द्रियजीवितेषु। बलत्रिवर्गामयभेषजेषु न विद्यते जातिकृतो विशेष.' (४३) चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च तेषां सुतानां खलु जातिरेका। एवं प्रजानां हि पितैक एव पित्रेकभावान्न च जातिभेदः (४४) आगे देहसे ब्राह्मणताको काटता है—'एकैकोवयवस्तेषां न ब्राह्मण्यं समश्नुते। नचानेकसमूहेपि सर्वथातिप्रसंगतः (४१।४२) मृग्यमाणे प्रयत्नेन देहे *तन्नोपलभ्यते।* तस्मान्न देहे ब्राह्मण्यं नापि देहात्मकं भवेत्' (४४) तस्माद् देहात्मके नैतद् *ब्राह्मण्यं, नापि कर्मजम्'* (४१।४७) यहां देहके साथ वादि-सम्मत कर्मसे भी ब्राह्मणत्वका खण्डन कर दिया है।

(ख) अब पुराण वादिसम्मत संस्कारोंसे भी ब्राह्मणत्वको काटता है—'आचारमनुतिष्ठन्तो व्यासादिमुनिसत्तमाः। गर्भाधानादि संस्कारकलाप-रहिताः स्फुटम्' (४२।२०) विप्रोत्तमाः श्रियं प्राप्ताः सर्वलोकनमस्कृताः। बहवः *कथ्यमाना* ये, कतिचित् तान् निबोधत' (२१) जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः, श्वपाक्याश्च पराशरः'। शुक्याः शुकः, कणादाख्यस्तथोलूक्याः सुतोभवत्' (२२) मृगीजोऽथर्ष्यशृङ्गोपि, वसिष्ठो गणिकात्मजः। मन्द-पालो मुनिश्रेष्ठो नाविकापत्यमुच्यते' (२३) माण्डव्यो मुनिराजस्तु

मण्डूकीगर्भसम्भवः। बहवोऽन्येपि विप्रत्वं प्राप्ता ये पूर्ववद् द्विजाः' (२४। यहां पर 'कथ्यमानाः, उच्यते' यह शब्द ऐसी लोकप्रसिद्धिको बताते हैं - वास्तविकताको नहीं। इसे आगे स्पष्ट करते हैं—

'हरिणी गर्भसम्भूत ऋष्यशृङ्गो महामुनिः। तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्' (४२।२६) श्वपाकीगर्भ-सम्भूतः पिता व्यासस्य पार्थिव! तपसा ब्रा× × × (२७, उलूकीगर्भसम्भूतः कणादाख्यो महामुनिः। तपसा ब्रा (२८) गणिकागर्भसम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः। तपसा + + +' (२९) नाविकागर्भसम्भूतो मन्दपालो महामुनिः। तपसा ब्रा' (३०)। [इनकी समीक्षा आगे होगी।] आगे पुराणकार पूर्वपक्ष कहता है—'शूद्राणां यान्यनिष्टानि सम्पद्यन्ते स्वभावतः। विप्राणामपि तान्येव निर्दिष्टानि भवन्ति च' (४३।१०) तस्मान्मन्त्रोऽग्निहोत्रं वा वेदाः पशुवधोपि वा। हेतवो नहि विप्रत्वे शूद्रैः शक्या क्रिया यथा' (११) शूद्रविप्रादयो योनौ न भिद्यन्ते परस्परम्। सर्वधर्मसमानत्वात् संस्कारादि निरर्थकम्' (१२) यहाँ पर संस्कार आदि भी ब्राह्मणत्व के लिए निरर्थक कहे हैं। इस प्रकार इस पूर्वपक्षमें 'शूद्र और ब्राह्मणका स्थूल भेद नहीं है' यही बताया गया है। हमने यह श्लोक इसलिए उपस्थित किये हैं कि—जनताको पता लग जाय कि—यह पूर्वपक्षके श्लोक हैं, उत्तरपक्षके नहीं। वादी इन्हींको उठाकर दे देते हैं। पूर्वपक्षी आगे कहता है—

'दौःशील्य - दौर्मनस्याद्यैस्तुल्यजातीयबन्धनात्। शूद्रो प्ररोचते विप्रो रागिणीं मैथुनं प्रति' (४३।३८) सा कामदुःखविगमे गर्भं धत्ते समागमे। कामं कामातुराश्चापि रोचन्ते शूद्रमानवाः' (३९) मैथुनं प्रति ब्राह्मण्ये तेपि तस्य सुखावहाः। ये तु जात्यादिभिर्भिन्ना गवाश्वोष्ट्रमतङ्गजाः' (४०) ते विजातिषु नो गर्भं कुर्वतेपि सुखार्थिनः। अनड्वानेव गोरेव कामं पुष्णाति सङ्गमे (४१) घोटकाश्च रतिं सम्यक् कुर्वते वडवासु

च। पति करभमेवाऽस्य करभी रमते मुदा (४२) गजमेव पतिं लब्ध्वा सुखं तिष्ठति हस्तिनी। तिर्यग्जातिस्त्रिया सार्कं कुर्वाणो हि न मैथुनम् (४३) न तस्याः कुरुते गर्भं नरो नापि सुखामिकाम्। तिरश्चा सह कुर्वाणा मैथुनं मनुजाङ्गना। नाधत्ते तत्कृतं गर्भं न युक्तं मैथुनं तयोः। नैव कश्चिद् विभागोस्ति मैथुने स्त्रीमनुष्ययोः' (४५) येन सञ्चीयते भेदः प्रस्फुटं द्विजशूद्रयोः (४६) तस्मान्मनुष्यभेदोऽयं संकेतबलनिर्वृत.' (४३।५०) इन सभी पूर्वपक्षके पद्योंमें भी सूक्ष्म दृष्टि डाली जाय, तो इनसे भी जन्मना वर्ण-व्यवस्था ही सिद्ध होती है। 'वागीश्वरेण देवेन नाभेदेन भवच्छिदा। पुरुणा कृतमर्यादास्त एव ब्राह्मणाः स्मृता' (४४।७)। आगे 'शूद्रोपि शीलसम्पन्नो ब्राह्मणादधिको भवेत्। ब्राह्मणो विगताचारः शूद्राद् हीनतरो भवेत्' (४४।२१) यहाँ तो स्पष्ट ही अर्थवाद है, केवल प्रशंसा और निन्दा रखी गई है, वर्ण परिवर्तन नहीं कहा गया।

अगले ४५ अध्यायमें ब्रह्माजीने जाति और कर्म दोनोंका समुच्चय उत्तरपक्ष बताया है, उसे हम पूर्व उद्धृत कर चुके हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि—केवल देह एवं कर्म आदि ब्राह्मणत्व आदिके कारण नहीं, किन्तु सबका समुच्चय ही कारण है। जैसे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव तीनोंके संयोगसे एक रसकी निष्पत्ति हुआ करती है, वे अलग-अलग ठहरे हुए अनैकान्तिक हो जाते हैं, जैसे कि—शक्ति, निपुणता और अभ्यास यह समुदित होकर ही काव्यका हेतु बन जाते हैं, और अलग अलग हुए अनैकान्तिक हो जाते हैं, जैसे—खुर-विदारण शृङ्गादि वर्ण, इङ्गित, निमिषित, सामान्य आदि पृथक्-पृथक् नहीं, किन्तु समुदित होकर ही 'गो' शब्दवाच्य होते हैं, जैसे कि—जाति, आकृति और व्यक्ति समुदित होकर ही एक पदार्थ बनते हैं, वैसे ही, जाति, (माता-पिता द्वारा जन्म) और कर्म जिसमें संस्कार-अध्ययन आदि सभी

गुणकर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं) इन दोनोंका समुच्चय ही ब्राह्मणत्वमें कारण है। यही भविष्य-पुराणके इस प्रकरणका आशय है। हाँ, यहाँ यह अवश्य है कि *जाति* वस्तुका स्वरूपाधायक, प्राणप्रद, सिद्ध धर्म होता है, और *गुण* विशेषाधानहेतु उत्कर्षाधायक सिद्ध वस्तुधर्म हुआ करते हैं, और *कर्म* उत्कर्षाधायक वस्तुके साध्य, धर्म हुआ करते हैं। वर्ण व्यवस्था तो भविष्य पुराणके मतमें भी जन्मसे हुआ करती है। पूर्वपक्षके श्लोकोंसे भी यही सकेत मिलता है। अन्यत्र भी उसमें स्पष्ट है। उसमें भी ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति ब्रह्माके मुख आदिसे बताई गई है। जैसे कि— 'लोकस्येह विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादत.। ब्रह्मक्षत्र तथा चोभौ वैश्य-शूद्रौ नृपोत्तम ।' (२।४२) इत्यादिमें उत्पत्ति निबन्धन ही ब्राह्मणादि सज्ञा मानी गई है। ४।१२१-१२२-१२३-१२४ पद्यमें मनुस्मृतिकी तरह ब्राह्मणादिके जन्मसे ही कर्म बताये गये हैं। तब वादियाका पूर्वोत्तर प्रकरण छिपाकर बाचके पद्योंका उद्धरण देना उनके छलका तथा उनके पक्षकी शिथिलता का द्योतक है। यहाँ हमने प्रायः पूरा प्रकरण उद्धृत कर दिया है। अब यहाँ स्पष्ट हो गया है कि—यह पूर्वपक्षके पद्य हैं। पूर्वपक्ष माननीय नहीं हुआ करता। यदि पूर्वपक्ष ही माननीय हो जावे, तो क्या वादी सत्यार्थप्रकाशक पूर्वपक्षोंको अपना सिद्धान्त मान लेंगे ?

(ख) अब 'हरिणी-गर्भसम्भूत, श्वपाकी— गर्भसम्भूतः, गणिका गर्भसम्भूत, जातो व्यासस्तु कैवर्त्या' इत्यादि पूर्वोद्धृत पद्यों पर विचार किया जाता है। इस पर यह जानना चाहिये कि वादि द्वारा उपस्थापित उक्त श्लोकोंको अभ्युपगम—सिद्धान्त द्वारा स्वीकृत करके सिद्धान्तीने इनके मुख्य विषयकी परीक्षा की है, वस्तुत. इस बातको सिद्धान्तीने कहीं माना नहीं। 'न्यायदर्शन' में कहा है—'अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगम—सिद्धान्त' (१।१।३१) अर्थात—

बिना परीक्षा किये वह अशुद्ध सिद्धान्त मान लिया जाय, फिर उसकी विशेष बात (मुख्य विषय) की परीक्षा की जाय, उसे अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं। जैसेकि—शब्द गुण है, द्रव्य नहीं, और वह न्यायके मतमें अनित्य है। अब वादीने कह दिया कि शब्द द्रव्य है। यह अशुद्ध सिद्धान्त था। पर सिद्धान्तीने कहा कि—चलो तुम्हारी ही बात हम बिना कोई आपत्ति किये मान लेते हैं कि—शब्द द्रव्य है; पर वह नित्य है या अनित्य—इस उसके मुख्य विषयकी हम परीक्षा करते हैं। यह सिद्धान्त अपनी प्रतिभाकी प्रबलताका परिचायक और वादीकी बुद्धिकी मन्दताका प्रकाशक हुआ करता है; यह भाष्यकार श्रीवात्स्यायनका आशय है। सिद्धान्तीने 'श्वपाकीगर्भसम्भूत, जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः' इन अशुद्ध भी बातोंकी खोद खादस जाच न करके इनके विशेष-विषय कि वर्ण जातिसे है या गुणकर्मसे—इस बातकी परीक्षा की है; अत: अभ्युपगमसिद्धान्तवश जैसे शब्दको द्रव्य नहीं मान लिया जाता; वैसे यहां भी उक्त सभी उत्पत्तियाँ मान नहीं ली जातीं। श्रीव्यासकी माताको वादीने 'कैवर्ती' लिखा है; पर वह कैवर्त (मलाह) की लड़की नहीं थी, किन्तु उपरिचरवसुकी लड़की थी—यह इतिहास-सिद्ध बात है, यह हमने 'श्रीसनातनधर्मालोक' के गत तृतीय पुष्प (२८२ पृष्ठ) में सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार श्रीवसिष्ठ साधारण गणिकाके पुत्र नहीं थे, किन्तु उभयोनि देवाप्सरा उर्वशीके मनसे (योनिस नहीं) उत्पन्न हुए थे, यह भी हम तृतीय पुष्प (२८३ पृष्ठ) में बता चुके हैं। वादीने भी यहां इन बातोंको सुना-सुनाया कह दिया—उस पर स्वयं कुछ भी विचार नहीं किया। साधारण जनोंमें जो प्रसिद्धि होती है; वह सर्वांशमें सत्य हो—यह आवश्यक नहीं। सीताके विषयमें भी रावणके घरमें निवासमात्रसे साधारण जनसमाजमें अशुद्ध अपवाद फैल गया था। इसलिए कवि कहते हैं—'जनानने कः करमर्पयिष्यति'। श्रीपाराशरका श्वपाकी-पुत्र कहना भी इसी प्रकारसे है—इसमें ऐतिहा-

मिक सत्यता सर्वथा नहीं। इसलिए 'वहव कथ्यमाना य' (४२।२१) 'नाविकापत्यमुच्यते' (४।२३) इन पद्योंमें कथ्यमाना, तथा 'उच्यते' पदसे 'तथाकथित' अर्थका बोध है, वास्तविकता नहीं। वादियोंको यह पूर्वपक्षके पद्य न दिखाकर उसके इतिहाससे उसका श्वपाकीत्व दिखलाना चाहिये, अक्षरमती श्वपाकी कहीं नहीं कही गई-इस विषयमें भी गत पुष्पके २८३ पृष्ठमें हम स्पष्ट कर चुके हैं—जिज्ञासुओंको ३४ पुष्प हमसे अवश्य मंगा लेना चाहिये। तब 'श्वपाकी-गर्भसम्भूत पिता व्यासस्य' यह वादीका कथन 'वादी भद्रं न पश्यति' इस न्यायसे है, इसमें वास्तविकता नहीं।

और फिर अपकृष्ट प्रसूति भी स्त्री हो, पर सन्तति पर प्रभाव बीज का ही पड़ता है, नहीं तो इनमें कई स्त्रियां पक्षिणियाँ भी थी, तब ऋषियाम उनसे उत्पन्न सन्तान भी स्त्रीके अनुसार पक्षी होनी चाहिये था। पर व ऋषियोंके बीजसे उत्पन्न होनेसे मनुष्य ही हुए। तभी तो 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि' (२।२३८-२४०) इस प्रकार दुष्कुला स्त्रीकी अभ्यनुज्ञा भी दी गई है, इससे भी प्रतीत होता है कि—दुष्कुला भी स्त्रीका प्रभाव सन्तानके ऊपर नहीं होता, जबकि बीज किसीका प्रबल हो। तो जब बीजवाले ऋषि थे, और बीज योनिकी अपेक्षा प्रबल भी होता है, जैसे कि—'तस्माद् बीजं प्रशस्यते' (मनु० १०।७२। तब सन्तान भी बीजानुसार ही मानी जावेगी। वादीकी शंका समाहित हो गई।

उक्त पद्योंके अनुसार वर्ण व्यवस्था गुणकर्मसे भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि—जहां उन पूर्वपक्षके पद्योंमें जन्मका खण्डन है, वहां संस्कार (४१।२०) विद्या (४३।१), रंग (४१।४१, जीव (४२।२) संस्कार ४-२०) तथा कर्म (४१।२०) आदि वादीसे इष्ट सिद्धान्तोंमें वर्ण होनेका भी खण्डन है। उन पद्योंको हम उद्धृत कर चुके हैं,

तब पूर्वपक्ष होनेसे जन्मका खण्डन महत्त्व नहीं रखता, उत्तरपक्षमें 'जातिकर्मसमुच्चय' (४२१२-३) हमारा पक्ष दिखला दिया।

तथापि वादियोंसे दिये हुए पद्यों पर भी कुछ विचारना चाहिये। इनमें मृगी, उलूकी, शुकी, मण्डूकियोंसे ऋष्यशृङ्ग, कणाद, शुक और माण्डव्यकी उत्पत्ति बताई गई है। क्या वादी मनुष्य द्वारा पशु-पक्षी स्त्रियोंमें मनुष्योत्पत्ति सम्भव मानते हैं? यदि नहीं, तब तो उनके प्रश्नका ही उन्मूलन हो गया। यदि वे अपने पक्षकी रक्षार्थ इसमें सम्भव मानें, तब उनसे प्रष्टव्य है कि अब ऐसा क्यों नहीं होता? अथवा यह सामान्य शास्त्र है या अपवाद है? अन्तत यह अपवाद ही मानना पड़ेगा। तब वादियोंको ऋषियोंसे उत्पन्न सन्तानोंकी ब्राह्मणतामें भी अपवाद ही मानना पड़ेगा, सामान्य शास्त्र नहीं। लौकिक व्यवहार सामान्य-शास्त्रमें ही चलते हैं। इसलिए अपवाद-शास्त्रके उदाहरणभूत इन पुत्रोंके विषयमें बृहस्पतिने कहा है—'तपो-ज्ञानसमायुक्ताः कृत-त्रेतायुगे नराः। द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता। अनेकधा कृता पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः। न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः' यदि ऐसा है, तब शक्ति न होनेसे इस युगमें भी उनसे वर्ण परिवर्तन सम्भव नहीं।

यह भी जानना चाहिये कि—पशु-पक्षी आदि योनियोंमें पुराणने जो पुत्र दिखलाये हैं, वहीं यह भी बताया गया है कि—अमोघवीर्य ऋषियोंने ही उनमें पुत्र पैदा किये। अब जबकि उत्पादक ही ब्राह्मण थे, तब उनके पुत्र भी जब ब्राह्मण हुए, इससे तो वादियोंके पक्षका ही खण्डन हो गया। यहां जन्मसे ही वर्ण व्यवस्था सिद्ध हुई। अवशिष्ट प्रश्न यह है कि—माताएँ तो नीच योनिकी थीं, इस पर यह जानना चाहिये कि—मनुजीने (३।१३) ब्राह्मणका सब वर्णोंकी स्त्रियोंके साथ भी विवाह अभ्यनुज्ञात किया है, तब उनके वचनसे तदुत्पन्न सन्तान

भी ब्राह्मण ही होंगे। तब ब्राह्मणोंने ही यदि उससे भी बढ़कर पशु-पक्षी स्त्रियोंमें भी पुत्र पैदा किये, तब बीजकी प्रधानतासे वे भी ब्राह्मण हुए—इसमें भी सनातन-धर्मके सिद्धान्तकी ही पुष्टि है। बीज और योनिमें बीज ही प्रधान होता है (मनु० १०।७२)

मनुजीने कहा है—'विशिष्टं कुत्रचिद् बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित्' (६।३४) इस न्यायसे बीजकी प्रधानतामें विश्वामित्र, व्यास और कक्षीवान् ब्राह्मण हुए। कहीं योनि (क्षेत्र) की प्रधानतासे श्रीव्यास द्वारा अम्बा, अम्बालिकामें धृतराष्ट्र और पाण्डु क्षत्रिय हुए, क्योंकि सत्यवती भी अपने ही क्षत्रियकुलानुरूप उत्पत्ति चाहती थी—जैसे कि 'तयोरुत्पादयापत्यं अनुरूपं कुलस्यास्य' (महा० १।१०५।३४)। उक्त मनु-(६।३४) वचनमें मेधातिथिने लिखा है—'बीजस्य वैशिष्ट्यं व्यास ऋष्यशृङ्गादीनां महर्षीणां दृष्टम्, स्त्रीयोनिस्त्वेव क्षेत्रजादि-पुत्रेषु धृतराष्ट्रादिषु; ते ब्राह्मणाज्जाता अपि मातृजातय. क्षत्रियाः'। इसी प्रकार कुल्लूक भट्टने भी लिखा है। उक्त पद्यमें मनुजीने सामान्य-शास्त्र बताया है। 'क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृत. पुमान्। क्षेत्रबीज-समायोगात् सम्भव. सर्वदेहिनाम्' (९।३३) यह कहकर मनुने बीज और योनि दोनोंमें बीजको ही उत्कृष्ट माना है। जैसेकि—'बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते। सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता (९।३५) यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते। तादृग् रोहति तत् तस्मिन् बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः' (३६) इय भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते। न च योनिगुणान् कांश्चिद् बीजं पुष्यति पुष्टिषु' (९।३७) (अर्थात्—बीज भूमिके गुणोंको पुष्ट नहीं करता, किन्तु अपने ही गुणों को करता है—यह आर्यसमाजी श्रीतुलसीरामने आशय बताया है।) यहां पर मनुजीने बीजको ही उत्कृष्ट सिद्ध किया है। तभी तो आगे कहा है—'अन्यदुप्तं जातमन्यद्—इत्येतन्नोपपद्यते। उप्यते यद्धि यद्

बीजं तत् तदेव प्ररोहति' (१।४०) अर्थात्—बोया जावे और, और उत्पत्ति हो और—यह नहीं हो सकता।

तब जब बीजरूप इसमें थे तपस्वी ब्राह्मण; तो सन्तान भी वैसी ही होनी थी; क्योंकि—अमोघवीर्य वाले तपस्वियोंके ब्रह्मतेजको साधारण क्षेत्रदोष नहीं दबा सकता। तभी तो क्षत्रिय माताके भी सन्तान विश्वामित्र, ऋचीक ब्राह्मणके चरुसे विश्वामित्र-ब्राह्मण हुए। पराशरके तेजसे सत्यवती क्षत्रिय-कन्यामें वेदव्यास ब्राह्मण हुए। इसलिए मनुजीने भी कहा है—'यस्माद् बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्। पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद् बीजं प्रशस्यते' (१०।७२) तब पशु पक्षियोंमें भी ब्राह्मण ऋषियोंसे उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण हुई, यह हमारा ही पक्ष 'जन्मना वर्णः' सिद्ध हुआ। तब उक्त ऋषि जन्मसे तो ब्राह्मण थे ही; फिर तपस्यासे माताके परमाणुओंको हटाकर शुद्ध ब्राह्मण हो गये—यही पुराणके पद्योंका आशय है। यदि वादी लोग पशु पक्षियोंसे सन्तानकी उत्पत्तिमें असम्भव मानें, और मृगी, उलूकी, शुकी, मण्डूकी आदि उन मानुषियोंके जन्मनाम मानें, वा गुणनाम मानें कि—शुकके गुण होनेसे उस मानुषीका नाम शुकी था, वैसे 'श्वपाकीगर्भसम्भूतः' में भी 'श्वपाकी' यह उस ब्राह्मणीका नाम मानें। अथवा श्वपाक चाण्डाल का नाम हुआ करता है। ब्राह्मणका एक भेद 'चाण्डाल' भी माना गया है। जैसे कि अत्रिस्मृतिमें—'देवो, मुनि., द्विजो, राजा, वैश्य., शूद्रो, निषादकः। पशुम्लेच्छोऽपि, चाण्डालो विप्रा दशविधाः स्मृता' (३७१) तब पराशरकी माता भी ब्राह्मण थी; चाण्डाल उसका भेद था। चाण्डाल-ब्राह्मणका लक्षण अत्रिने इस प्रकार दिया है—'क्रियाहीनश्च मूर्खश्च सर्वधर्मविवर्जितः। निर्दयः सर्वभूतेषु विप्र चाण्डाल उच्यते' (३८१) यहां चाण्डाल ब्राह्मण पारिभाषिक ही इष्ट है, वास्तविक मानने पर उक्त भेदोंमें गणित पशु ब्राह्मण भी वस्तुतः ही पशु

हो जावे, पर ऐसा नहीं। तब ब्राह्मण-वर्णकी भी अदृश्यन्तीको स्त्रीत्व-सुलभ क्रियाहीनता, मूर्खता, निर्दयता आदिके कारण कहीं श्वपाकी कहा गया हो, वहां वास्तविक चाण्डाली नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार अक्षमालाके चाण्डालीत्वमें भी जान लेना चाहिये। इस प्रकार भविष्यपुराण-सम्बन्धी वादियोंकी सभी आशंकाओंका समाधान हो गया।

पुराणोंके कई श्लोक

(२) पूर्वपक्ष—पुराणोंमें वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मसे दीखती है। ब्राह्मणके भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र पुत्र देखे गये हैं। क्षत्रियके भी ब्राह्मण पुत्र दीखते हैं। किसी क्षत्रियके पुत्र वैश्य हुए दिखाये गये हैं, अतः वर्ण-व्यवस्था जन्मसे ठीक नहीं। देखिये इसमें पुराणोंके प्रमाण—

(क) 'भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः। वीतहव्यो महाराज! ब्रह्मवादित्वमेव च। तस्य गृत्समदः पुत्रो रूपेणेन्द्र इवापरः।.. ऋग्वेदे वर्तते चाग्र्या श्रुतिर्यस्य महात्मनः। यत्र गृत्समदो राजन्! ब्राह्मणैः स महीयते। स ब्रह्मचारी विप्रर्षिः श्रीमान् गृत्समदोऽभवत्' (महाभारत अनुशा० ३०।५७-६०) एवं विप्रत्वमगमद् वीतहव्यो नराधिपः। भृगोः प्रसादाद् राजेन्द्र! क्षत्रियः क्षत्रियर्षभ. (६६, यहां क्षत्रिय वीतहव्यका ब्राह्मण हो जाना लिखा है।

(ख) पृषध्रस्तु गुरुगोवधात् शूद्रत्वमगमत् (विष्णुपुराण ४।१।१४)। यहां पृषध्रकी शूद्रता दिखलाई है। इसी प्रकार हरिवंश (६५६ पद्य) में भी कहा है, श्रीमद्भागवतमें भी—'न क्षत्रबन्धुः शूद्रस्त्वं कर्मणा भवितासुना'।

(ग) 'नाभागो नेदिष्टपुत्रस्तु वैश्यतामगमत्' (विष्णु० ४।१।१६) यहां नाभागकी वैश्यता दिखलाई गई है। यद्यपि नाभाग वैश्यवृत्तिमें लगा, तथापि उसके पुत्र ब्राह्मण बताये गये—'नाभागादिष्टपुत्रौ द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणतां गतौ' (११ अ०)।

(घ) 'गृत्समदस्य शौनकः चातुर्वर्ण्यप्रवर्तयिताऽभूत्' (विष्णु० ४।८।१) यहां शौनकको चार वर्ण बनाने वाला कहा है। हरिवंश (२६।८) में भी कहा है—'पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकाः। ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च' यहां भी एक ही गृत्समदके ब्राह्मणादि शूद्रान्त चारों वर्णोंके लड़के बताए हैं। इस प्रकार वायु-पुराणमें भी कहा है। इस प्रकार हरिवंशके ३२ अध्यायमें 'तथा गृत्समतेः पुत्रा ब्राह्मणाः, क्षत्रिया विशः' गृत्समतिकी सन्तानें तीनों वर्णोंकी दिखलाई हैं। इस प्रकार अङ्गिराके पुत्रोंका भी वर्णन है—'एते ह्यङ्गिरसः पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च भरतर्षभ' (३२।२६ ४०)। इस प्रकार गर्गभूमि और वत्सके लड़के भी चारों वर्णोंके बताये हैं; जैसेकि ब्रह्माण्डपुराणमें-'ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव तयोः पुत्रास्तु धार्मिकाः'। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—'रम्भस्य रभसः पुत्रो गम्भीरश्चाक्रियस्ततः'। तस्य क्षेत्रे ब्रह्म जज्ञे' (६।१७।११) यहां पर क्षत्रियके घर ब्राह्मणका उत्पन्न होना कहा है। विष्णुपुराणमें कहा है—'भर्गस्य भर्गभूः, अतः चातुर्वर्ण्यप्रवृत्तिः' (४।८।६) यहां एकके घर चार वर्णों वाले लड़कोंकी उत्पत्ति बताई है। इस प्रकार मनुके विषयमें भी कहा है—'ब्रह्मक्षत्रादयस्तस्मान्मनोर्जातास्तु मानवाः' (महाभा० आदि० ७५।१५)। इससे यह भी सिद्ध होता है कि—पहले चार वर्णोंकी प्रवृत्ति नहीं थी। तब उन राजाओंने गुणकर्मानुसार उनकी प्रवृत्ति की। इसमें ज्ञापक है एकके चार वर्ण वाले पुत्र होना। जैसेकि—हरिवंशके २६ अध्यायमें 'एते ह्यङ्गिरसः

पुत्रा जाता वंशेथ भार्गवे। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयः पुत्राः महस्वराः' ।

(ङ) लिङ्गपुराणमें भी कहा है—'एते ह्यङ्गिरसः पक्षे क्षत्रोपेता द्विजातयः'। इस प्रकार वायुपुराणमें भी कहा है। अन्यत्र भी कहा है—'दिवोदासस्य दायादो ब्रह्मर्षिर्मित्रयुर्नृपः। मैत्रायणास्तया सोमो मैत्रेयास्तु ततः स्मृताः। एते वै संश्रिताः पक्षे क्षत्रोपेतास्तु भार्गवाः। यहाँ पर क्षत्रियोंका भार्गव ब्राह्मण हो जाना कहा है।

(च) 'करूषात् कारूषा महाबलाः क्षत्रिया बभूवुः' (विष्णुपुराण ४।१८।१) इनके विषयमें भागवतमें—'कारूषाः क्षत्रजातयः।.. ब्रह्मण्या धर्मवत्सलाः' (९।२।१२) इन क्षत्रियोंको ब्राह्मण कहा है।

(छ) 'धृष्टस्यापि धार्ष्टकं क्षत्रं समभवत्' (विष्णु० ४।२।२) इसके विषयमें भागवतमें—'धृष्टाद् धार्ष्टमभूत् क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ' (९।२।१७) इन क्षत्रियोंको ब्राह्मण कहा है।

(ज) 'ततोऽग्निवेश्यो भगवान्...ततो ब्रह्मकुलं जातमग्निवेश्यायनं नृप।' (भाग० २१-२२) यहाँ अग्निवेश्यके वंशको ब्राह्मण कहा गया।

(झ) 'रथीतरके विषयमें विष्णुपुराणमें—'एते क्षत्रप्रसूता वै पुनश्चाङ्गिरसाः स्मृताः। रथीतरस्य प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः' (४।२) यहाँ क्षत्रियोंको रथीतर गोत्रका ब्राह्मण कहा है। इस विषयमें भागवतमें कहा है—'रथीतरस्य अप्रजस्य भार्यायां तन्तवेर्थितः। अङ्गिरा जनयामास ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान्। एते क्षत्रे प्रसूता वै पुनस्त्वाङ्गिरसाः स्मृताः। रथीतराणां प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः' (९।६।२२-२३) यहाँ पर रथीतर

के सन्तानहीन होनेसे अङ्गिराने उसकी स्त्रीमें ब्रह्मवर्चसी अङ्गिरागोत्रके ब्राह्मण लड़के उत्पन्न किये।

इस प्रकार स्पष्ट है कि—प्राचीनोंने गुणकर्मानुसार वर्ण व्यवस्था चलाई थी। तभी ब्राह्मणवंशसे शूद्र और शूद्रवंशसे भी ब्राह्मण हुए। इसीलिए ही एक-एक पुरुषके चार वर्णवाले लड़के बताये गये। विष्णु, वायु और हरिवंश पुराण शौनकके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों वाले लड़कोंको बताते हैं—इससे स्पष्ट है कि—शौनकने गुणकर्मों को देखकर योग्यतानुसार अपने पुत्रोंको ब्राह्मण आदि पदवियाँ दीं।

(ज) इस प्रकार 'तस्य मेधातिथिस्तस्मात् प्रस्कण्वाद्या द्विजातयः' (भाग० ६।२०।७) 'अजमीढस्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः' (६।२१ २१) यहाँ अजमीढके वंशमें प्रियमेध आदिका ब्राह्मण हो जाना बताया है। 'मुद्गलस्यापि मौद्गल्याः क्षत्रोपेता द्विजातयः' (मत्स्यपु०) 'गर्गाः संस्कृतयः काव्याः क्षत्रोपेता द्विजातयः' (मत्स्य०) 'गर्गात् शिनिस्ततो गार्ग्यः क्षत्राद् ब्रह्म ह्यवर्तत' (भाग० ६।२१।१६) उरुक्षयसुता ह्यते सर्वे ब्राह्मणतां गताः (मत्स्यपुराण इस प्रकार अन्य भी प्रमाण हैं। (यह पक्ष आर्यसमाजी विद्वान् श्रीशिवशङ्कर काव्यतीर्थजीने 'जाति-निर्णय' के २५०-२६० पृष्ठोंमें रखा है)।

उत्तरपक्ष—इस पर यह जानना चाहिये—जिन व्यासजीके पुराणोंमें यह घटनावली दिखाई गई है; उन्हीं व्यासजीने अपनी स्मृतिमें लिखा है—'श्रुतिस्मृति पुराणानां विरोधो यदि दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (व्यास-स्मृति १।४) अर्थात्—जहाँ वेद, स्मृति और पुराण इनमें विरोध दीखे; वहाँ पर वेदको ही अधिक प्रमाण मानो; और जहाँ स्मृति और पुराणमें विरोध दीखे; वहां स्मृतिको ही अधिक मान्यता दो। तो श्रुति और स्मृतिमें चारों वर्णोंकी व्यवस्था जब कि

पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयः पुत्राः सहस्रशः'।

(ट) लिङ्गपुराणमें भी कहा है—'एते ह्यङ्गिरसः पक्षे क्षत्रोपेता द्विजातयः'। इस प्रकार वायुपुराणमें भी कहा है। अन्यत्र भी कहा है—'दिवोदासस्य दायादो ब्रह्मर्षिर्मित्रयुर्नृपः। मैत्रायणास्तथा सोमो मैत्रेयास्तु ततः स्मृताः। एते वै संश्रिताः पक्षे क्षत्रोपेतास्तु भार्गवाः। यहाँ पर क्षत्रियोंका भार्गव ब्राह्मण हो जाना कहा है।

(च) 'करूषात् कारूषा महाबलाः क्षत्रिया बभूवुः' (विष्णुपुराण ४।१।८।१) इनके विषयमें भागवतमें—'कारूषाः क्षत्रजातयः।.. ब्रह्मण्या धर्मवत्सलाः' (९।२।१६) इन क्षत्रियोंको ब्राह्मण कहा है।

(छ) 'धृष्टस्यापि धार्ष्टकं क्षत्रं समभवत्' (विष्णु० ४।२।२) इसके विषयमें भागवतमें—'धृष्टाद् धार्ष्टमभूत् क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ' (९।२।१७) इन क्षत्रियोंको ब्राह्मण कहा है।

(ज) 'ततोऽग्निवेश्यो भगवान्...ततो ब्रह्मकुलं जातमग्निवेश्यायनं नृप!' (भाग० २१-२२। यहाँ अग्निवेश्यके वंशको ब्राह्मण कहा गया।

(झ) 'रथीतरके विषयमें विष्णुपुराणमें—'एते क्षत्रप्रसूता वै पुनश्चाङ्गिरसाः स्मृताः। रथीतरस्य प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः' (४।२) यहाँ क्षत्रियोंको रथीतर गोत्रका ब्राह्मण कहा है। इस विषयमें भागवतमें कहा है—'रथीतरस्य अप्रजस्य भार्यायां तन्तवेऽर्थितः। अङ्गिरा जनयामास ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान्। एते क्षत्रे प्रसूता वै पुनस्त्वाङ्गिरसाः स्मृताः। रथीतराणां प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः' (९।६।२२-२३) यहाँ पर रथीतर

के सन्तानहीन होनेसे अङ्गिराने उसकी स्त्रीमें ब्रह्मवर्चसी अङ्गिरागोत्रके ब्राह्मण लड़के उत्पन्न किये।

इस प्रकार स्पष्ट है कि—प्राचीनोंने गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था चलाई थी। तभी ब्राह्मणवंशसे शूद्र और शूद्रवंशसे भी ब्राह्मण हुए। इसीलिए ही एक-एक पुरुषके चार वर्णवाले लड़के बताये गये। विष्णु, वायु और हरिवंश पुराण शौनकके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों वाले लड़कोंको बताते हैं—इससे स्पष्ट है कि—शौनकने गुणकर्मों को देखकर योग्यतानुसार अपने पुत्रोंको ब्राह्मण आदि पदवियाँ दीं।

(ज) इस प्रकार 'तस्य मेधातिथिस्तस्मात् प्रस्कण्वाद्या द्विजातयः' (भाग० ९।२०।७) 'अजमीढस्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः' (९।२१।२१) यहाँ *अजमीढके वंशमें प्रियमेध आदिका ब्राह्मण* हो जाना बताया है। 'मुद्गलस्यापि मौद्गल्याः क्षत्रोपेता द्विजातयः' (मत्स्यपु०) 'गर्गात् संस्कृतयः काव्याः क्षत्रोपेता द्विजातयः' (मत्स्य०) 'गर्गात् शिनिस्ततो गार्ग्यः क्षत्राद् ब्रह्म ह्यवर्तत' (भाग० ९।११।१९) उरुक्षयसुता ह्येते सर्वे ब्राह्मणतां गताः (मत्स्यपुराण इस प्रकार अन्य भी प्रमाण हैं। (यह पक्ष आर्यसमाजी विद्वान् श्रीशिवशङ्कर काव्यतीर्थजीने 'जाति-निर्णय' के २५०-२६० पृष्ठोंमें रखा है)।

उत्तरपक्ष—इस पर यह जानना चाहिये—जिन व्यासजीके पुराणोंमें यह घटनावली दिखाई गई है; उन्हीं व्यासजीने अपनी स्मृतिमें लिखा है—'श्रुतिस्मृति-पुराणानां विरोधो यदि दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (व्यास-स्मृति १।४) अर्थात्—जहाँ वेद, स्मृति और पुराण इनमें विरोध दीखे; वहाँ पर वेदको ही अधिक प्रमाण मानो; और जहाँ स्मृति और पुराणमें विरोध दीखे; वहां स्मृतिको ही अधिक मान्यता दो। तो श्रुति और स्मृतिमें चारों वर्णोंकी व्यवस्था जब कि

जन्मसे है, गुणकर्मसे नहीं, यह हम गत निबन्धोंमें सम्यक्तया सिद्ध कर चुके हैं, तब यदि पुराणमें श्रुति एवं स्मृतिसे विरुद्ध कई वचन पाए जावें, तो वे अनुसरणीय नहीं हो सकते। व्यवस्थाएँ सदा श्रुति और स्मृतिके विधायक तथा निषेधक वचनोंसे हुआ करती हैं। अपवाद-भूत दृष्टान्त या इतिहासोंसे कभी व्यवस्था नहीं हुआ करती। इतिहासमें तो अच्छी-बुरी, अनुकरणीय एवम् अनादरणीय सब प्रकारकी घटनाएँ मिलती हैं। उनके आधारसे शास्त्रीय वचनोंकी प्रवृत्ति वा निवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकारके हजारों भी दृष्टान्त-वचन श्रुति-स्मृतिके एक भी विधायक-निषेधक वचनसे बाधित हो जाया करते हैं। पुराण-इतिहासमें भी जब-तब विधायक एवं निषेधक वचन प्रसक्तानुप्रसक्त आ ही जाया करते हैं—वही सिद्धान्तरूप होते हैं, किसीके इतिहासकी कोई अपवाद घटना प्रमाण-भूत नहीं हो जाती।

युधिष्ठिरने श्रीभीष्मजीसे महाभारतके अनुशासनपर्वमें पूछा था कि—'क्षत्रियो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम ! ब्राह्मण्यं प्राप्नुयाद् येन तन्मे व्याख्यातुमर्हसि' (२७।३) तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा ? ब्राह्मण्यमथ चेदिच्छेत् तन्मे ब्रूहि पितामह' (४) अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यदि ब्राह्मण बनना चाहें, तो कौनसा कर्म वा तपस्या वा अध्ययन करें ? इस पर भीष्मजीने उत्तर दिया—'ब्राह्मण्यं तात ! दुष्प्रापं वर्णैः क्षत्रादिभिस्त्रिभिः। परं हि सर्वभूतानां स्थानमेतद् युधिष्ठिर !' (२७।५) बह्वीस्तु संसरन् योनीर्जायमानः पुनः-पुनः। पर्याये तात ! कस्मिँश्चिद् ब्राह्मणो नाम जायते (६) यहाँ पर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंका ब्राह्मणत्व एक जन्ममें न बताकर अन्य बहुतसे जन्मोंके मध्यके किसी एक जन्ममें जाकर ब्राह्मण होना कहा है। जब यह महाभारत तथा पुराणोंका सिद्धान्तपक्ष है, तब पुराणोंने भला एक जन्ममें क्षत्रि-

यादिका ब्राह्मणत्व कैसे कहा जा सकता है? स्पष्ट है कि- उस-उस स्थलमें वर्ण-परिवर्तनमें तात्पर्य न होकर कर्मप्रशंसामें तात्पर्य है।

आशय यह है कि—अब्राह्मणमें भी ब्राह्मणशब्दका प्रयोग, अक्षत्रिय आदिमें भी क्षत्रियादि शब्दका प्रयोग गौण हुआ करता है। कहीं प्रशंसार्थवाद हुआ करता है—कहीं निन्दार्थवाद। निम्नको उत्तम बतानेमें प्रशंसार्थवाद हुआ करता है, जैसे शूद्रादिको ब्राह्मण कह देना। वहाँ वस्तुत वैसे नहीं होता। इस प्रकार उत्तमको निम्न बताना निन्दार्थवाद से होता है, जैसे—ब्राह्मण आदिको शूद्र कह देना। वस्तुतः वहाँ वैसा नहीं होता। इसी कारण 'न्यायदर्शन' में कहा है—'प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देन अनुवादः, निन्दाप्रशंसोपपत्तेः' (४।१।६०) यहाँ वात्स्यायनभाष्यमें उदाहरण दिया गया है—'प्रयुक्तोपमं चैतद्- अग्निर्माणवकः' अर्थात्—'यह लड़का आग है' यहाँ लड़का वस्तुतः आग नहीं होता; किन्तु अग्निकी तरह तेजस्वी है, यह वहाँ तात्पर्य होता है। यह बात पृषध्रके विषयमें भी जान लेनी चाहिये कि—वह शूद्रताको प्राप्त हुआ। 'शूद्रस्य भावः शूद्रत्वम्' यहाँ 'त्व' प्रत्यय 'तस्य भावस्त्वतलौ' (पा० ५।१।११९) तद्भाव अर्थमें तत्सादृश्य अर्थमें है, साक्षात् उसमें नहीं; नहीं तो 'अनाचाराद् अयं पशुतां प्राप्तः' इत्यादिमें आप क्या अनाचारीको वास्तवमें पशु मान लेंगे? और यह भी कहना चाहिये कि—क्या गायका मारना शूद्रका भी साक्षात् धर्म है? मनुजीने तो 'अहिंसा सत्यमस्तेयं...एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः' (१०।६३) शूद्रके लिए भी अहिंसा माना है। और फिर पृषध्रने गायको भी सिंहके भ्रमसे ही रातके गहरे अन्धेरेमें मारा, न कि जान-बूझकर। तब यहाँ उसकी शूद्रसदृशतामें तात्पर्य है, साक्षात् शूद्र हो जाने में नहीं।

कहीं ब्राह्मणको क्षत्रिय और वैश्य आदि कहना उसकी उन कर्मोंमें प्रवीणताको सूचित कर रहा होता है। जैसा कि-शुद्रा लक्षणामें शक्यकर्म-लक्षणासम्बन्धमें 'अतक्षा तक्षा' यह उदाहरण आता है। उसमें अतक्षा होने पर भी उसे तक्षा (बढ़ई) कहना उसको तक्षाके कर्ममें प्रवीण बता रहा होता है; वास्तवमें उसे तक्षाजातिवाला नहीं कहा रहा होता। इसलिए महाभाष्यमें, 'न वैसे' को वैसा कहनेमें ४।१।४८ सूत्रके भाष्यमें विशेष कारण कहे हैं। जैसे कि—'चतुर्भिः प्रकारैः '*अतस्मिन् स*' इत्येतद् भवति—१ तात्स्थ्यात्, २ ताद्धर्म्यात्, ३ तत्सामीप्यात्, ४ तत्साहचर्यात्'। तब १ उसमें रहनेसे, २ उसके धर्म करनेसे, ३ उसकी समीपतासे, और ४ उसके साहचर्यसे वह वस्तुत 'वह' नहीं हो जाया करता है, किन्तु केवल उस शब्दसे कहा जाता है। इस भांति 'न वह' होता हुआ भी जो कि वह 'वह' कहा जाता है, उसमें उसकी तद्वत्ता ही बोधित होती है, न कि वह सचमुच वही हो जाता है। इसीलिए १।२।१, तथा २।३।६६ सूत्रके महाभाष्यमें श्रीपतञ्जलिने कहा है कि-'*अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते, तद् यथा— एष ब्रह्मदत्तः।* अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह, तेन मन्यामहे-- ब्रह्मदत्तवद् अयं भवति-' इति। इस प्रकार क्षत्रियादिको भी जहाँ ब्राह्मण कहा है-- वहाँ ब्राह्मणसदृशता ही इष्ट होती है, उसका साक्षात् ब्राह्मण होना नहीं।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण क्षत्रियादि शब्द लाक्षणिक भी होते हैं। वहाँ उन शब्दोंके लक्षणमें ही तात्पर्य होता है, उस जातिवाला हो जानेमें तात्पर्य नहीं रहता। इस पर अत्रिस्मृतिका प्रमाण द्रष्टव्य है। वह यह है- 'देवो, मुनिर्द्विजो, राजा, वैश्यः, शूद्रो, निषादकः। पशु-म्लेच्छोऽपि चाण्डालो *विप्रा दशविधाः स्मृताः*' (३७१) यहां पर ब्राह्मणके दस नामभेद बताये हैं। उनके लक्षण निम्न हैं- उसमें देव ब्राह्मणका लक्षण यह है-- 'स्नानं सन्ध्यां जपं होमं देवतानित्य-

पूजनम्। अतिथिं वैश्वदेवं च [कुर्वन्] देव-ब्राह्मण उच्यते' (३७२)। मुनि-ब्राह्मणका लक्षण– 'शाके पत्रे फले मूले वनवासे सदा रतः। निरतोऽहरहः श्राद्धे स *विप्रो मुनिरुच्यते*' (३७३), द्विज-ब्राह्मणका लक्षण– 'वेदान्तं पठते नित्यं सर्वसङ्गं परित्यजेत्। सांख्ययोग-विचारस्थः *स विप्रो द्विज* उच्यते' (३७४)। क्षत्रिय-ब्राह्मणका लक्षण– 'अस्त्राहताश्च धन्वानः संग्रामे सर्वसम्मुखे। आरम्भे निर्जिता येन स *विप्रः क्षत्र* उच्यते' (३७५)। यहाँ क्षत्रिय-ब्राह्मणका लक्षण कहा है। स्पष्ट है कि– वह ब्राह्मण क्षत्रिय जैसा है। इससे वह ब्राह्मण सचमुच क्षत्रिय नहीं हो जाता, अन्यथा उसके लिए ब्राह्मण शब्द होता ही नहीं। वैश्य-ब्राह्मणका लक्षण– 'कृषिकर्मरतो यश्च गवां च प्रतिपालकः। वाणिज्य-व्यवसायश्च स *विप्रो वैश्य* उच्यते (३७६)।

अब शूद्र-ब्राह्मणका लक्षण बताते हैं—'लाक्षालवणसंमिश्रः कुसुम्भक्षीरमर्पिषः। विक्रेता मधुमांसानां स *विप्रः शूद्र* उच्यते' (३७७)। निषाद-ब्राह्मणका लक्षण—'चौरस्तस्करश्चैव सूचको दंशकस्तथा। मत्स्यमांसे सदा लुब्धो *निषादो विप्र* उच्यते' (३७८)। अब पशुविप्रका लक्षण कहते हैं—'ब्रह्मतत्त्वं न जानाति ब्रह्मसूत्रेण गर्वितः। तेनैव स च पापेन *विप्रः पशु* रुदाहृतः' (३७९) अब 'आलोक' के पाठकगण सोच सकते हैं कि—ऐसा ब्राह्मण क्या सचमुच पशु हो जाता है? यदि नहीं, किन्तु वह पशु- जैसा कहा जाता है, वैसे ही पुराणमें भी जहां ब्राह्मणको क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कहा गया है; वहां भी वह उस-उसके समान माना जाता है, ब्राह्मण-वर्णकी व्यवस्था तो जन्मसे ही रहती है। इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिये। अब म्लेच्छ-ब्राह्मणका लक्षण कहते हैं—'वापीकूपतडागानामारामस्य सरस्सु च। निःशङ्कं रोधकश्चैव स *विप्रो म्लेच्छ* उच्यते (३८०)। चाण्डालविप्रका लक्षण देखिये—क्रियाहीनश्च मूर्खश्च सर्वधर्मविवर्जितः। निर्दयः सर्वभूतेषु

विप्रश्चाण्डाल उच्यते' (३८१) इस प्रकार किसी ब्राह्मणीको इतिहासमें चाण्डाली कहा गया हो, वहां जन्मसे चाण्डाली न समझकर उसे उक्त लक्षणों वाला ही समझना चाहिये।

यह लाक्षणिक ब्राह्मणके भेद केवल अत्रिस्मृतिके हैं, अतः उस स्मृतिको ही अप्रमाण मानकर उनसे अपनी जान छुड़ाई नहीं जा सकती। प्रसिद्ध चाणक्यनीतिमें भी यही प्रकार देखा गया है, अतः इन भेदोंकी अप्रमाणता भी नहीं कही जा सकती। चाणक्यनीतिके ११।११ पद्यमें ऋषि-विप्रका, ११।१२ पद्यमें द्विज-विप्रका, ११।१३ पद्यमें वैश्य-विप्रका, ११।१४ पद्यमें शूद्र-विप्रका, ११।१५ पद्यमें मार्जार-विप्रका, ११।१६ पद्यमें म्लेच्छ-ब्राह्मणका, ११।१७ पद्यमें चाण्डाल-विप्रका लक्षण कहा है—इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण आदि शब्द लाक्षणिक भी होते हैं। इस प्रकार क्षत्रिय, वैश्य आदिके लिए भी ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य-क्षत्रिय, ब्राह्मण वैश्य, शूद्र-वैश्य, ब्राह्मण-शूद्र, क्षत्रिय-शूद्र' इत्यादि लाक्षणिक शब्द स्तुति-निन्दाफलक हुआ करते हैं। इससे उन-उनका तत्सादृश्य बताया जाता है; उसे साक्षात् वैसा बताना, वा उसका जाति परिवर्तन इष्ट नहीं होता, किन्तु तत्तत्कर्मप्रवीणता ही उसकी इष्ट होती है; नहीं तो जिस ब्राह्मणको पशु कहा गया है, मार्जार (बिलाव) वा बक (बगला) कह दिया है; तो क्या वह ब्राह्मण न रहकर बिलाव, वा बगला, कौवा, वा बैल पशु हो जाता है; अब उसे चूहे वा मछलियां, वा अमेध्य वस्तु, वा खली-भूसा ही खाना शुरू कर देना चाहिये? नहीं-नहीं; किन्तु उसे बगले- जैसा, वा बिलाव- जैसा कहना ही इष्ट होता है। वैसे ही पुराणमें भी क्षत्रिय आदिको जहां ब्राह्मण-शब्दसे कहा गया है, वहां ब्राह्मणवृत्ति वाला, ब्राह्मण- जैसा ही अर्थ इष्ट होता है। सचमुच ब्राह्मण-जाति वाला बन जाना यह अर्थ इष्ट नहीं होता।

केवल चाणक्यनीति ही नहीं, वादि-प्रतिवादि-मान्य महाभारत भी यही बताता है, अतः इसमें अप्रमाणताकी कोई गुंजायश ही नहीं रह जाती। बल्कि—महाभारतने तो उन ब्राह्मणोंको स्पष्ट ही 'वैश्यसमाः, शूद्रसमाः' ऐसा सदृशार्थक 'सम' शब्दमें कहकर हमारे पक्षको बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। देखिये शान्तिपर्व 'स्वकर्मण्यपरे युक्तास्तथैवान्ये विकर्मणि। तेषां विशेषमाचक्ष्व, ब्राह्मणानां पितामह' (७६।१) यहां अच्छे-कर्मों तथा बुरे-कामोंमें लगे ब्राह्मणोंके लिए युधिष्ठिर-द्वारा प्रश्न किया गया है। इस पर भीष्मजी उत्तर देते हैं—'विद्यालक्षणसम्पन्नाः सर्वत्र समदर्शिनः। एते *ब्रह्मसमा* राजन्! *ब्राह्मणाः* परिकीर्तिताः' (७६।२) यहां ब्रह्मसम ब्राह्मणोंका लक्षण आया है। अब देवसम ब्राह्मणोंका लक्षण देखिये—'ऋग्यजुःसामसम्पन्नाः स्वेषु कर्मस्ववस्थिताः। एते *देवसमा* राजन्! *ब्राह्मणानां* भवन्त्युत' (३)। शूद्रसम ब्राह्मणका लक्षण—जन्मकर्मविहीना ये कदर्या ब्रह्मबन्धवः। एते *शूद्रसमा* राजन्! *ब्राह्मणानां* भवन्त्युत (४)। 'आह्वायका देवलका नाक्षत्रा ग्रामयाजकाः। एते *ब्राह्मणचाण्डाला* महापथिकपञ्चमाः' (६) यहां चाण्डाल-ब्राह्मणका लक्षण है। 'ऋत्विक् पुरोहितो मन्त्री दूतो वार्तानुकर्षकः। एते *क्षत्रसमा* राजन्! *ब्राह्मणानां* भवन्त्युत' (७) यह क्षत्रिय-ब्राह्मणका लक्षण है। 'अश्वारोहा गजारोहा रथिनोथ पदातयः (वाणिज्यायम्)। एते *वैश्यसमा* राजन्! ब्राह्मणानां भवन्त्युत (८) यह वैश्य-ब्राह्मणका लक्षण कहा है। यह कहकर भीष्मजी कहते हैं—'अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम्। ब्राह्मणानां च ये केचिद् विकर्मस्था भवन्तु ते। (१०) विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथञ्चन। नियम्याः संविभज्याश्च धर्मानुग्रह-कारणात्' (७६।११, ७७।२३) अर्थात् राजा विकर्मा ब्राह्मणोंको नियममें, सुमार्गमें लावे जिससे धर्म व्यवस्था बनी रहे।

फलतः पूर्वपक्षमें श्रीशिवशङ्कर काव्यतीर्थजीने पुराण-इतिहासके दृष्टान्तोंसे जो गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था सिद्ध करनी चाही है; वह असंगत है, इन प्रमाणोंसे उसका खण्डन हो गया। वहां वस्तुतः वर्ण परिवर्तन इष्ट नहीं है। इस प्रकार ज्यौतिषमें पुष्य, आश्लेषा, अनुराधा, ज्येष्ठा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती आदि नक्षत्रोंमें उत्पत्ति वालेको ब्राह्मण कहा है चाहे जिस भी वर्णका हो; आर्द्रा, पुनर्वसु, स्वाति, विशाखा, शतभिषा आदि नक्षत्रोंमें उत्पन्न जिस-किसी भी वर्ण वालेको शूद्र कहा है। वहीं नक्षत्रानुसार किसीकी वानरयोनि, किसीकी व्याघ्रयोनि, किसी की सिंह-राशि तो किसीकी कन्या-राशि, किसीका मूषक-वर्ग तो दूसरेका मृगवर्ग होता है; पर यह शब्द वहां पर पारिभाषिक ही होते हैं; उस उस योनि वाले वास्तविक शेर, बन्दर, मेष, वृषभ आदि नहीं हो जाते किन्तु वहां उनका लक्षणमात्र ही लिया जाता है। वैसे ही पुराणमें भी ब्राह्मणादिके लिए कहे गये क्षत्रिय, शूद्र आदि शब्द, तथा क्षत्रिय आदिके लिए कहे गये ब्राह्मणादि शब्द भी लाक्षणिक वा पारिभाषिक ही होते हैं, वहां जाति या वर्ण उनके माता पिता वाला ही माना जाता है। वहाँ वहाँ उनके भिन्न-वर्ण वाला लक्षण ही लिया जाता है कि उस वर्णने भिन्न वर्णकी वृत्ति अपना ली, वा उस वर्णकी वृत्तिमें वह ब्राह्मणादि चतुर है। वह भिन्न वर्ण सचमुच उस वर्णका मान नहीं लिया जाता। इससे पुराणोंका 'नाभागो वैश्यतामगमत्' (विष्णु० ४।१।१६) एतदादिक आक्षेप्य स्थलोंका समाधान हो गया। क्षत्रिय नाभागका वहां पर वैश्यकर्मप्रवीण होना ही इष्ट है, वास्तविक वैश्य होना नहीं. तभी वहां उसके पुत्रोंको क्षत्रिय कहा गया है।

वादी लोग वर्ण व्यवस्था गुणकर्मानुसार मानते हैं, तब उन्हें कहना चाहिये कि – वीतहव्य जो क्षत्रिय था; तथा उसी वर्णके गुण कर्मों वाला भी था; वह बिना ही कोई ब्राह्मणोंके कर्म किये ब्राह्मण

कैसे बन गया? यहां वादीको स्वयं ही कहना पड़ेगा कि—दिव्य-शक्तिसम्पन्न तपस्वीके कथनमात्रसे ही वह ब्राह्मण हो गया। तो जैसे वर-शापादिके कारण पुराण महाभारत आदिमें स्त्रीका पुरुष बनना और पुरुषका स्त्री बनना कहा है, स्त्रीका पत्थर बन जाना कहा है, वह बिना दूसरा जन्म लिये नहीं हो सकता; फिर भी जैसे 'यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्' (मनु० ११।२३८) इस श्लोकमें कहे हुए तपस्याके माहात्म्यसे जन्म वा शरीरका परिवर्तन वहाँ कर लिया जाता है, यह अपवाद है; वैसे ही वीतहव्यका भी दूसरा जन्म कर देना, क्षत्रिय शरीरके परमाणुओंका सर्वथा बदल देना अपवाद ही है, उत्सर्ग नहीं। व्यवस्था उत्सर्ग (सामान्यशास्त्र) से हुआ करती है, अपवाद (विशेषशास्त्र) से नहीं। तब उसका तात्पर्य तपस्याके माहात्म्यमें लेना चाहिये, वर्ण-परिवर्तनमें नहीं। इस प्रकारके अर्थवाद सब स्थान मिल जाते हैं, जिनमें शब्दार्थ नहीं, किन्तु तात्पर्य ही लेना पड़ता है।

पुराण-इतिहासका यह सिद्धान्त है कि—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जन्मसिद्ध होते हैं। वे अपने-अपने कर्मके त्यागसे और दूसरेके कर्म लेनेसे उस जन्ममें नहीं, किन्तु दूसरे जन्ममें भिन्न वर्ण बनते हैं। जैसे कि महाभारतमें अनुशासनपर्वमें उमाने श्रीमहादेवसे पूछा कि—'चातुर्वर्ण्यं भगवता पूर्वं सृष्टं स्वयम्भुवा। केन कर्मविपाकेन वैश्यो गच्छति शूद्रताम्' (१४३।२) वैश्यो वा क्षत्रियः केन द्विजो वा क्षत्रियो भवेद् (३) केन वा कर्मणा विप्रः शूद्रयोनौ प्रजायते। क्षत्रियः शूद्रतामेति केन वा कर्मणा विभो! (४) इस प्रश्नसे तथा 'शूद्रयोनौ प्रजायते' कहनेसे स्पष्ट सिद्ध हो रहा है कि—यहां अन्य जन्ममें ही वर्ण बदलनेके में पूछे हैं। उसके उत्तरमें श्रीमहेश्वरने कहा—

'ब्राह्मण्यं देवि ! दुष्प्रापं निसर्गाद् ब्राह्मणः शुभे ! क्षत्रियो वैश्य-शूद्रौ वा निसर्गादिति मे मतिः' (१४३।६) यहाँ ब्राह्मणादि स्वाभाविक अर्थात् जन्मसे कहे गये हैं। पर इस कर्ममें भिन्न कर्म करनेसे भिन्न वर्णकी प्राप्ति अगले जन्ममें होती है, यह कहते हैं—'स्थितो ब्राह्मण-धर्मेण ब्राह्मण्यमुपजीवति। क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा ब्रह्मभूयं स गच्छति (१४३.८) यस्तु विप्रत्वमुत्सृज्य क्षात्रं धर्मं निषेवते। ब्राह्मण्यात् स परिभ्रष्टः क्षत्रयोनौ प्रजायते' (६) यहाँ पर 'क्षत्रयोनौ प्रजायते' इस लिङ्गसे वर्ण-परिवर्तन अन्य जन्ममें होता है—यह सिद्ध हो रहा है। इसी भांति 'वैश्यकर्म च यो विप्रो लोभमोह-व्यपाश्रयः।' ब्राह्मण्यं दुर्लभं प्राप्य करोत्यल्पमतिः सदा। स द्विजो वैश्यतामेति वैश्यो वा शूद्रतामियात्। स्वधर्मात् प्रच्युतो विप्रस्ततः शूद्रत्वमाप्नुते' (१०-११) एतदादिक पद्य अन्य जन्मके लिए हैं। तभी कहा है—'तत्रासौ निरयं प्राप्तो वर्णभ्रष्टो बहिष्कृतः। ब्रह्मलोकात् परिभ्रष्टः शूद्रः समुपजायते' (१४३।१२) 'तां तां योनिं व्रजेद् विप्रो यस्यान्नमुपजीवति (२१) निहीन-सेवी विप्रो हि पतति ब्रह्मयोनितः।' (२४) गुरुतल्पी गुरुद्रोही गुरुकुत्सा-रतिश्च यः। ब्रह्मविच्चापि पतति ब्राह्मणो ब्रह्मयोनितः (२५) एभिस्तु कर्मभिर्देवि ! शुभैराचरितैस्तथा। शूद्रो ब्राह्मणतां याति वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत्। (२६) स वैश्यः क्षत्रियकुले शुचौ महति जायते (३५) एते योनि- फला देवि ! स्थानभागनिदर्शकाः' (५३) इन महा-भारतीय श्लोकोंसे शुभ-अशुभ कर्मोंसे अन्य जन्मोंमें ही ब्राह्मण, शूद्रादियोनि-प्राप्ति सूचित होती है, इसी जन्ममें नहीं—यह स्पष्ट है। तब जहाँ कहीं ब्राह्मणका क्षत्रिय - वैश्य आदि होना पुराणमें कहा है—वहाँ तद्धर्मता होनेसे वह शब्दमात्र कहा है, वहां वस्तुतः वैसा हो जाना इष्ट नहीं।

जहां कहीं एक ही ऋषिके चारों वर्ण वाले सन्तान दिखल.ये गये हैं; वहाँ बहुतसे कारण हो सकते हैं। अन्य युगोंमें पुण्य अन्य

वर्णकी स्त्रियोंको भी लिया करते थे। ब्राह्मण चारों वर्णोंवाली स्त्रीको ले सकता था। जैसे कि मनुस्मृतिमें कहा है—'शूद्रैव भार्या शूद्रस्य, सा च स्वा च (वैश्या और शूद्रा) विशः स्मृते। ते च स्वा चैव (क्षत्रिया-वैश्या-शूद्राः) राज्ञश्च, ताश्च (ब्राह्मणी-क्षत्रिया-वैश्या-शूद्राः) स्वा चाग्रजन्मनः' (३।१३) तब जो सन्तानें होती हैं, वे कहीं बीजकी प्रधानतासे पिताके वर्णसे कही जाती हैं। कहीं योनिकी प्रधानतासे माताके वर्णसे बोली जाती है। तब आपसमें भेद दिखलानेके लिए योनिकी प्रधानताके निदर्शनार्थ चारों वर्णोंकी स्त्री वाले एकके भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सन्तान कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त कई ऋषियोंने बिना मैथुनके अपने तपोबलसे चारों वर्णके सन्तान उत्पन्न कर दिये। इन बातोंसे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं पड़ती। यदि कहीं सृष्टिके आदिकालका वर्णन है, तो वहाँ धर्म-व्यवस्थाका दृढ़ बन्धन रह भी नहीं सकता। व्यवस्थाके आरम्भमें कहीं विशृङ्खलता भी हो सकती है, जैसे कि- आरम्भिक कई विवाह बहिनोंसे भी हुए; परन्तु अब उस विशृङ्खलताका प्रचार करना विचारहीनता है। यदि कहीं 'ब्राह्मणतां गताः' पाठ आया हो; वा 'ब्रह्मभूयं गताः' वहाँ ब्रह्मरूप-(मुक्त) हो गये, यह अर्थ होता है; क्योंकि-'ब्रह्म हि ब्राह्मणः' (शतपथ० २।१।१।११)।

कहीं यदि किसी राजासे चारों वर्णोंकी प्रवृत्ति कही गई है, वहाँ यह तात्पर्य नहीं है कि—उस राजासे पहले चार वर्ण नहीं थे; ऐसा नहीं हो सकता। जब वेदमें ही चारों वर्णोंका निरूपण है, तो उस राजाके समय चारों वर्ण क्यों न होंगे? वहाँ यह तात्पर्य होता है कि—मध्यमें जो चार वर्णोंमें विशृङ्खलता आगई थी; उसका उक्त राजाने सुधार किया, या उसकी विशेष व्यवस्था की, जिससे वर्ण अपने-अपने कर्ममें दृढ़ होगये, यही चारों वर्णोंके प्रवर्तनका तात्पर्य है।

इसके अतिरिक्त 'साहित्य-संगीतकला-विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाणहीनः' (नीति-शतक १२) यहाँ जब 'साक्षात् पशु' शब्द भी पशुसदृश अर्थमें पर्यवसित हो जाता है, 'नरपशु' शब्दमें भी नरका पशुसदृश बताना ही इष्ट होता है, साक्षात् पशु होनेमें तात्पर्य नहीं रहता, जैसे—'विद्याविहीनः पशुः' (नीति-शतक २०) 'येषां न विद्या न तपो न दानं . ते मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति' (नीति० १३ इत्यादियोंमें भी 'पशु' शब्दका पशुसदृश गुणवाले होनेमें तात्पर्य होता है, पशुजाति बतानेमें नहीं, वैसे ही ब्राह्मणादिके लिए कहीं कहा हुआ क्षत्रिय, वैश्य शब्द उसके क्षत्रियादि गुणोंको बताने वाला होता है, क्षत्रिय आदि जातिको नहीं। इधर जहाँ-कहीं ब्राह्मण-क्षत्रिय आदियोंके समान गोत्र मिलें, वहां यह कारण जानना चाहिये कि—'वंशो द्विधा-विद्यया जन्मना च' ('संख्या वंश्येन' २।१।१९ सिद्धान्त कौमुदी, अव्ययीभाव समासमें) तब वशके विद्या-गुरुके अनुसारी भी होनेसे जिन-जिन क्षत्रिय आदियोंने जिस जिस ऋषिसे विद्या सीखी, तब गोत्र भी उसीका स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त जो ब्राह्मण जिस गोत्र वाले थे, उसके यजमानोंने भी अपने पुरोहितोंके गोत्र स्वीकार कर लिये, यह भी समानगोत्रतामें कारण हुआ करता है।

यह पहले संकेत दिया जा चुका है कि—ऋषि-मुनियोंमें मानसिक सन्तानके पैदा करनेकी शक्ति भी थी—जिसका उपयोग वे क्षत्रियाणियों के साथ नियोगके समय करते थे। तब जैसे परमात्माने स्वयं वर्ण रहित होते हुए भी चार वर्ण मुखादि द्वारा उत्पन्न किये थे; वैसे ही ऋषियोंने भी चार वर्ण वाली मानसिक सृष्टि उत्पन्न की। जैसे कि—ऋचीक ऋषि ने क्षत्रिया गाधिकी स्त्रीमें चरु द्वारा विश्वामित्रको ब्राह्मण वर्णमें उत्पन्न किया। सृष्टिके आदिमें मन, वचन तथा दृष्टिमें बड़ी शक्ति थी; इसलिए तब संकल्पमात्रसे उत्पत्ति होती थी। कालक्रमसे जब यह शक्ति क्षीण

हो गई, तब मैथुनी-सृष्टि प्रारम्भ हुई। तब मैथुनी सृष्टिमें साङ्कल्पिक सृष्टिके समान नियम नहीं हो सकते; उन्हें शास्त्रीय नियम अनुसरण करने पड़ते हैं। शास्त्रोंमें वर्ण-व्यवस्था जन्मसे मानी गई है—यह हम गत निबन्धोंमें सिद्ध कर चुके हैं। अच्छे-बुरे गुणकर्मसे तो उस-उस वर्ण की केवल प्रशंसा वा निन्दा ही हुआ करती है।

जहाँ *'क्षत्रोपेता द्विजातयः'* कहा गया हो, वहाँ यह तात्पर्य होता है कि—वे ब्राह्मण द्रोणाचार्य वा परशुरामकी भान्ति बलवान् वा धनुर्विद्यानिष्णात थे। जहाँ क्षत्रियादियोंके लिए 'ब्रह्मण्याः' शब्द आया हो, वहाँ 'ब्रह्मसु-ब्राह्मणेषु साधुः' इस व्युत्पत्तिसे ब्राह्मणभक्त वा 'ब्रह्मणि-वैदिककार्ये साधुः' वा वैदिककार्यरत, या जनकादि क्षत्रियोंकी तरह ब्रह्मपर. ब्रह्मलग्न, या ब्रह्मविद्यानिष्णात यह अर्थ होता है—उसका 'ब्राह्मण वर्णके होगये' ऐसा अर्थ कभी सम्भव नहीं। कहीं क्षत्रियादिके लिए 'ब्रह्मर्षि' शब्द आया हो; वहाँ 'ब्रह्मणः-वेदस्य ऋषिः' ऐसा अर्थ भी प्रकरणवश हुआ करता है। जहां 'ब्रह्मभूयं गतः क्षितौ' ऐसा शब्द आया हो, वहाँ अर्थ है कि—'भूमौ एव ब्रह्मभावं गतः' अर्थात् जनकादि क्षत्रियकी तरह जीवन्मुक्त होगया। जहाँ 'कर्मणा ब्रह्मतां गतः' यह पाठ मिले, वहाँ कर्मसे ब्रह्मत्वको प्राप्त हुआ-ब्रह्मपदको प्राप्त हुआ, मुक्त बना, यह अर्थ है। जैसे कि— मनुस्मृतिमें कहा है— 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च *ब्राह्मीयं* क्रियते तनुः' (२।२८) यहां कर्मविशेषोंसे ब्रह्मपदकी. मुक्तिकी प्राप्ति कही है। पुराणमें भी यही आशय है। भगवद्गीतामें भी यही सूचित किया है— 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (३।२०) 'संसिद्धि' का भाव ब्रह्मपदकी प्राप्ति, 'जीवन्मुक्तिको प्राप्त हुआ- ऐसा सभी कहते हैं। तभी सांख्यतत्त्व-कौमुदीकी द्वितीयकारिकामें श्री-वाचस्पति मिश्रने यह श्रुति उद्धृत की है— 'परे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः' उक्त सभी स्थलोंमें 'कर्म' शब्द 'निष्काम कर्म-

परक' हैं, निष्काम कर्म कर्माभाव होनेमें मुक्ति-प्रदायक होता है। किसी पुराण-वचनमें यदि क्षत्रियादिको 'ब्राह्मण' कहा गया हो; वहां 'ब्रह्म जानाति- इति ब्राह्मणः' ऐसा लाक्षणिक वा पारिभाषिक शब्द है कि- वह अजातशत्रु आदि उपनिषत्में कहे हुए क्षत्रियोंकी तरह ब्रह्म-विद्याका ज्ञाता बना, वह 'ब्राह्मण' शब्द वहां पर 'जाति - शब्द नहीं होता।

फलतः काव्यतीर्थजीसे दिये हुए पुराणोंके उक्त प्रमाण कर्म-प्रशंसामात्रपर्यवसायी हैं, गुणकर्मणा वर्ण-व्यवस्थापक नहीं। इस रीतिसे अन्य पुराणोंके प्रमाणोंकी व्यवस्था भी उनके पूर्वापर-प्रकरण देखकर कर लेनी चाहिये। यहां पर विस्तार-भयसे सब आक्षेपोंका समाधान हम नहीं कर सके; शेष आक्षेपोंका उत्तर अन्य भागमें दिया जायगा। तथापि पाठकोंको यह याद रखना चाहिये कि—'द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा'। (व्यास-स्मृति १.४) अर्थात्—स्मृति और पुराणका विरोध हो तो स्मृतिकी ही बातमें व्यवस्था होती है। इसीलिए न्यायदर्शनमें भी कहा है कि—'पुराणका मुख्यविषय लोकवृत्त-प्रतिपादन है, न कि मुख्यतया लोक-व्यवहारकी व्यवस्था करना। लोक-व्यवहारकी व्यवस्थापना तो धर्मशास्त्रका काम है, पुराण और धर्मशास्त्र इन्द्रियोंकी तरह अपने-अपने विषयमें अधिक मान्य हुआ करते हैं' 'लोकवृत्तमितिहास - पुराणस्य, लोक-व्यवहार-व्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः। तत्रैकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते—इति यथाविषयम् [स्वस्वविषये] एतानि [अधिक-] प्रमाणानि, इन्द्रियादिवद्' (न्या० ४।१.६२)। पुराण-इतिहासमें तो धर्मशास्त्र-विरुद्ध भी आचरण कभी देखे जाते हैं; पर वे अनुकरणीय नहीं हो जाते। इसीलिए 'गौतमधर्मसूत्र' में कहा है—'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम्; न तु दृष्टोर्थो वरो, दौर्बल्यात्' (१।१-२)। यही बात आपस्तम्बधर्मसूत्रमें भी कही है—'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं

'च पूर्वेषाम्' २।१३।७) 'तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते' (८) तद् अन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः' (६)। इतिहासमें स्वा० द०जीका हुक्का पीना, भांग पीना आदि लिखा होने पर भी वह उनके अनुयायिओंसे आचरणीय नहीं हो जाता।

यदि गुणकर्मकृत वर्ण-व्यवस्था चलाई जावे, उसमें एक तो शास्त्रका व्याकोप होगा; दूसरा उसमें आजकल लाखोंमें केवल एक वा दो ही ब्राह्मण बन सकें। तब इस असम्भावित और शास्त्रसे अननुशिष्ट विषयमें पाद-प्रवेश न करके जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्थाका सिद्धान्त मान लेना चाहिये। हाँ, उस-उस वर्णमें उत्पन्न हुए को उस वर्णके कर्म अवश्य करने चाहियें—ऐसा प्रचार किया जाय। अन्य वर्णोंके कर्म कर रहे हुए तथा अवैध-कर्मत्यागी पुरुषोंकी निन्दा करनी चाहिये। ऐसा करने पर सभीकी अपने-अपने कर्म करनेमें रुचि बढ़ेगी।

एक आक्षेप

(४) पूर्वपक्ष—जन्मसे वर्ण-व्यवस्था होने पर स्वतः ब्राह्मण पदवी प्राप्त होनेसे उस पदवीकी प्राप्त्यर्थ कोई परिश्रम नहीं करेगा। सभी वर्ण उन्नतिसे रहित हो जाएँगे (श्रीधर्मदेव शास्त्री-'सूर्योदय' में)।

उत्तरपक्ष—इससे शास्त्र-सिद्ध जन्मना वर्ण-व्यवस्थाका नाश कर डालना ठीक नहीं। उसके लिए अन्य उपाय बहुत हैं। शास्त्रोंमें मूर्ख ब्राह्मणोंको दान देने का निषेध किया गया है। जैसे कि—'नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम्। भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद् दत्तानि दातृभिः' (मनु० ३।६७) 'विद्यातपः - समृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु। निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात्' (३।६८)। अथर्ववेद गोपथ-

ब्राह्मणमें भी कहा है—'एवमेव अयं ब्राह्मणोऽनग्निकः, तस्य ब्राह्मणस्य अनग्निकस्य नैव दैवं दद्यात्, न पित्र्यं, न चास्य स्वाध्यायाशिषो न यज्ञे आशिषः स्वर्गङ्गमा भवन्ति (१।२।१३) यहाँ पर अग्निहोत्रादि-रहितको ब्राह्मण तो कहा है; पर उसे दान देनेका निषेध किया है। इसे आचरणमें लानेसे गुणकर्महीन ब्राह्मणोंको बहुत भय उत्पन्न होगा। शूद्रता दर देनेसे उनका क्या होगा? यही कि- शूद्रोंकी संख्या बढ़ेगी, और ब्राह्मणोंकी घटेगी। फिर वे ही शूद्र बने हुए, ब्राह्मण बने हुओंसे विद्वेष प्रारम्भ करेंगे, जिससे महायुद्धोंकी सृष्टि होकर भारतकी भारी हानि होगी। यदि कोई क्षत्रियादि ब्राह्मण भी हो गया, तो ब्राह्मण वर्णमें मिल जाने पर उसकी कुछ भी विशेषता नहीं रहेगी। विशेषता अपने वर्णमें रहने पर अच्छे गुणकर्मोंसे होती है। गुण, हीन-वर्णका भी सम्मान ब्राह्मणसे भी बढ़कर करा देते है—'गुणाः पूजा स्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः'। विशेष प्रकार की लोहेकी तारका भी मूल्य समय पर सोनेके मूल्यसे भी बढ़ जाता है। लोग ब्राह्मणोंसे हीनवर्ण भी गान्धिजीका ब्राह्मणोंसे भी अधिक सम्मान करते ही थे। हिन्दुधर्मसे भिन्न धर्मवाले भी ए. सी. वुलनर आदि जर्मन वा अँग्रेजोंको सभापति बनाकर उनको सम्मानित करते ही थे। इस कारण वर्ण परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं। एक भवन है जोकि उद्धार न होनेसे पतनकी दशामें है। उसका आप थोड़ेसे परिश्रमसे उद्धार कर सकते हैं, उसके उद्धारमें वह सुन्दर हो सकता है। परन्तु आप उसे गिराकर नया घर बनाना चाहते हैं—जिसके बननेमें ही सन्देह है, जिसके लिए ईंटें आदि सामग्रीकी प्राप्ति भी कठिन है। एक मर्यादाहीन अपने पुत्रका आप उद्धार न करके, उसे मारकर वा छोड़कर वा दूसरे शूद्रादिको देकर उसके स्थानमें दूसरे शूद्रादिके सुन्दर पुत्रको लेना चाहते हैं, क्या यह ठीक रहेगा? अपना अन्धा भी पति श्रेष्ठ होता है; उसे छोड़कर दूसरे अच्छे

भी पतिको लेना ठीक नहीं। अपना विगुण भी धर्म ठीक है, दूसरेका अच्छा दीख रहा हुआ भी धर्म ग्राह्य नहीं होता।

हमें त्रुटित कार्यमें सुधार करना चाहिये, पर सुधारके बहाने संहार करना ठीक नहीं। सब क्षत्रियादिको उचित है कि-अपने पुरोहित ब्राह्मणोंका धन जमा करके उसे *बाल्यावस्थासे ही उनके पढ़ाने आदिके कार्योंमें व्यय* करें। इस प्रकार उनकी शीघ्र उन्नति होगी, शूद्रादि करनेसे नहीं। स्वा०द० को मृत्यु हुए ७० साल हो गये हैं, उसमें कितने, क्षत्रिय, शूद्र साङ्ग-वेदको पढ़कर ब्राह्मण हुए? डा० अम्बेदकर न्यायमन्त्री बनकर भी वैसे ही अन्त्यज हैं। मौलाना आज़ाद शिक्षामन्त्री भी अब भी मुसलमान ही हैं। यदि आर्यसमाजमें भी गुणकर्म कृत वर्ण-व्यवस्था होती, तो उसमें कोई भी वेदानभिज्ञ वा मूर्ख ब्राह्मण न मिलता; परन्तु उसमें भी विपरीतता दीखती है, इससे स्पष्ट है कि—*गुणकर्मणा वर्ण-व्यवस्थाके* सिद्धान्तित करने पर भी कोई लाभ नहीं होता है। तब जन्मना वर्ण-व्यवस्था सिद्धान्तको हटानेका प्रयत्न व्यर्थ ही है। वेदके पूर्ण पण्डित फिर भी द्विजोंमें जन्म ब्राह्मणोंमें ही मिलेंगे। वास्तवमें जैसे मनुष्यत्व भिन्न वस्तु है और विद्वत्ता-मूर्खता आदि भिन्न वस्तु है, अर्थात् यह कोई नियम नहीं कि-सभी मनुष्य सुकर्मा या विद्वान् हों, वैसे ही ब्राह्मणत्व भिन्न वस्तु है-और विद्वत्ता और मूर्खता आदि भिन्न वस्तु है। जो ब्राह्मण हो- वह सुकर्मा वा विद्वान् हो- यह अधिकतया तो सम्भव है, पर इसमें अनिवार्यता नहीं- (इस विषयमें न्यायदर्शनके १।२।१२ सूत्र-का वात्स्यायन-भाष्य देखा जा सकता है।) विद्वत्ता और सुकर्मता आदिका सम्बन्ध ब्राह्मणोंमें क्या, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चाण्डालादि सबमें सम्भव है। वादियोंकी नीतिसे तो सभी ब्राह्मण बनना चाहेंगे, तब क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डालादि कर्मोंसे सभी घृणा करने लग जावेंगे, जो वैसे हैं- वे ब्राह्मणोंसे भी घृणा करने लग जावेंगे? तब

सांसारिक व्यवस्था कहांसे चलेगी ? इस प्रकार तो यही हानि होगी और भारतवर्ष अवनत हो जायगा।

तब उचित यह है कि- 'सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (गीता १८।४८) 'स्वे-स्वे कर्मण्यभिरत. संसिद्धिं लभते नरः' (१८।४५) स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः (३।३५) श्रेयान् स्वधर्मो विगुणोऽपरधर्मात् स्वनुष्ठितात्' (१८।४७) 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लंघ्य वर्तते। आज्ञाभङ्गान्मम द्वेषी स मे भक्तोपि न प्रियः' (शां० दि० वि०) इन भगवद्-वचनोंको तथा 'वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः' (मनु० १०।९७)। 'आत्मीये संस्थितो धर्मे शूद्रोपि स्वर्गमश्नुते। परधर्मो भवेत् त्याज्यः सुरूप-परदारवत्' (अत्रि० १८) इत्यादि स्मार्त वचनोंको स्मरण करके जिस वर्णवाले पिताके घरमें जिसका जन्म हुआ है, वह उस वर्णके नियत कर्मोंको करता हुआ व्यवहार करे। नहीं तो अपनी अपेक्षा उच्चवर्णके कर्मोंको अपनी उन्नतिकी इच्छासे करता हुआ, अथवा आलस्य वा सुविधासे अपनी अपेक्षा अधम वर्णके कर्मोंको आचरण करता हुआ मनुष्य संस्कार-विरुद्ध होकर 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' इस न्यायको सार्थक करेगा। तब उसकी जो दुरवस्था होगी— उसके चित्रका चित्रण हमने 'कर्मसे वर्ण-व्यवस्थामें हानि' इस निबन्धमें किया है; उसे 'आलोक' के अग्रिम पुष्पोंमें दिया जायगा।

इस प्रकार हमने शास्त्रानुसार सिद्ध कर दिया कि— वर्ण-व्यवस्था जन्मसे होती है, कर्मसे नहीं, पर न तो हमारा, न शास्त्रका 'ही यह

सिद्धान्त है कि—वह-वह वर्ण अपने-अपने वर्ण-कर्मको छोड़ दे। नहीं-नहीं, ऐसा नहीं। स्वस्ववर्ण-कर्म ही वर्णके स्वरूपकी रक्षा करते हैं—उसीसे व्यवस्था रहती है। दूसरे वर्णके कर्मोंको अपनाना अपने वर्णका स्वरूप नष्ट करके भारतवर्षमें अव्यवस्था उत्पन्न करना है। ब्राह्मणोंको पढ़ने-पढ़ाने आदि कर्मों, क्षत्रियोंको राजकीय सम्बन्धी कर्मों तथा वैश्यों को वणिग्वृत्ति और शूद्रादिको सेवा-शिल्पादि-सम्बद्ध कर्मोंको अपनाना चाहिये। अन्य यह भी आवश्यक है कि—आदिम तीन वर्ण अपनी संस्कृत-भाषाको अवश्य पढ़ें, अपनी भाषाको भुलाकर अन्य विदेशी-भाषाओंमें लगे रहना अपने वर्णाश्रमधर्म तथा तदाश्रित भारतवर्षको वैदेशिकोंके पदाक्रान्त होनेका निमन्त्रण देना है। इस यथार्थ बात पर सब भारतीयोंको ध्यान देना चाहिये।

++++

(११) मृतकश्राद्ध और ब्राह्मणभोजन

हिन्दुधर्म-सम्मत वर्ण-व्यवस्थाका निरूपण करके अब उसके एक विषय—मृतकश्राद्धका भी संक्षिप्त निरूपण किया जाता है। अर्वाचीन विचारधारा रखनेवाले व्यक्ति 'श्राद्ध' जीवितोंका मानते हैं, मृतकोंका नहीं। वे जीवित पिता आदिको खिला देना ही श्राद्ध मानते हैं, उनके स्थानापन्न ब्राह्मणको खिलाना वे निरुपपत्तिक मानते हैं। इस विषयमें हम विस्तीर्ण विचार अन्य पुष्पमें रखेंगे, आज इस विषयमें कई आवश्यक बातें संक्षेपसे बतायी जाती हैं। विज्ञ 'आलोक' पाठक इधर अवधान दें।

पितृश्राद्ध प्रतिमास हुआ करता है, यह बात शास्त्रीय संसारमें प्रसिद्ध है। इस विषयमें कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। पहले वेदवचन देखिये—'तस्मात् *पितृभ्यो मासि* उपमास्यं ददाति' (अथर्व० शौ० स० ८।१२।१५), 'परायात *पितरः*! अथा *मासि* पुनरायात नो गृहान् हविरत्तुम्' (अथर्व० १८।४।६३)। 'आश्वलायनगृह्यसूत्र' में भी कहा है—'*मासि* मासि चैव *पितृभ्योऽ*युक्षु प्रतिष्ठापयेत्' (२।२।१०)। इस प्रकार अन्य भी बहुतसे ग्रन्थोंमें कहा गया है। यह बात मृतकश्राद्धमें ही घटती है, जीवितश्राद्धमें नहीं, क्योंकि 'मासेन स्याद् अहोरात्रः पैत्र.' (१।४ २१) इस 'अमर-कोष' के वचनसे और 'पित्र्ये रात्र्यहनी मास.' (१।६६) इस 'मनुस्मृति' के वचनानुसार मनुष्योंका मास (महीना) पितरोंका एक दिन-रात होता है। इस प्रकार प्रतिमास श्राद्ध करने पर पितरोंको वह भोजन प्रतिदिनकी तरह मिलता है। 'अपर (कृष्ण) पक्षे श्राद्धं कुर्वीत' इस कातीय श्राद्धसूत्रके अनुसार कृष्णपक्षमें श्राद्ध इसलिए

किया जाता है कि 'पित्र्ये राम्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः। कर्म-चेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी' (मनु० १।६६) हमारा कृष्णपक्ष पितरोंका दिन होता है और शुक्लपक्ष उनकी रात्रि हुआ करती है।

इसमें कारण यह है कि 'विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः स्वाऽधः सुधादीधितिमामनन्ति। पश्यन्ति तेऽर्कं निजमस्तकोर्ध्वे दर्शे यतोऽस्माद् द्युदलं तदैषाम्' (सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याय त्रिप्रश्नवासना १३ श्लोक) इससे पितृलोक चन्द्रलोकके ऊपर सिद्ध होता है। स्वामी दयानन्द अपने 'सत्यार्थप्रकाश' के आठवें समुल्लास १४४ पृष्ठमें कह गये हैं—'ये सब [सूर्य, चन्द्र, तारे] भूगोल लोक, इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है। कुछ-कुछ आकृतिमें भेद होनेका सम्भव है'। इस प्रकार यदि यहाँ से मरे हुए चन्द्रलोकमें जन्म लें, वे हमारे दिये श्राद्धादिको अपनी आकर्षण-शक्तिसे खींच लें, तो क्या यह असम्भव है? इस प्रकार यहाँ मृतकश्राद्धकी सिद्धि तथा सनातनधर्मकी विजय है। अस्तु।

जब चन्द्रमा शुक्लपक्षमें इस लोकमें अपना प्रकाश कर रहा होता है, तब वह सूर्यसे दूसरे कोनेमें होता है। तब पितृलोकमें पन्द्रह दिन तक निरन्तर एक रात्रि होती है। जब कृष्णपक्ष होता है, तब इस लोकमें रातको शुक्लपक्षकी तरह प्रकाश नहीं होता, उस समय चन्द्रलोक सूर्यके निकट होता है। तब पितृलोककी प्रजा पन्द्रह दिन तक निरन्तर (कृष्ण अष्टमीसे शुक्ल अष्टमी तक) सूर्यको देखती है—इस प्रकार निरन्तर उनका एक दिन प्रातः के ६ से सायंके ६ तक) होता है। अमावस्याको, जब सूर्य और चन्द्रमा एक राशिमें होते हैं, तब हमारे अपराह्णकालमें सूर्यके चन्द्रलोकके शिर पर वर्तमान होनेसे, चन्द्रलोकके ऊर्ध्वस्थ पितरोंका भोजनकाल मध्याह्न होता है।

यहाँ पर पितृलोकका समयक्रम इस प्रकार जानना चाहिये—पितृलोक चन्द्रलोकसे ऊपर होता है—यह कहा जा चुका है। चन्द्रमामें अपना प्रकाश नहीं है, वह सूर्यकी एक सुषुम्णारश्मिसे प्रकाशित होता है, यह निरुक्त' (२।६।३। के विद्वानोंसे तिरोहित नहीं है। हमारी जब पूर्णिमा होती है, तब सूर्य-चन्द्रलोकमें छः राशिके अन्तरमें बहुत दूर होता है। तब चन्द्रलोकके ऊपर ठहरे हुए पितृलोकमें पूर्ण रात्रि होती है अर्थात् तब पितरोंकी घड़ीमें रातके बारह बजते हैं। हमारा ३० दिन का एक मास होता है, परन्तु चन्द्रके ऊपर रहते हुए उन पितरोंका उतना ही समय सामान्यतया* २४ घण्टेका दिन-रात होता है। इस गणनासे हमारी जो एक तिथि अर्थात् एक दिन है, वह पितरोंका मध्यम मानसे ४८ मिनटोंका समय होता है। हमारा एक घण्टा और यही समय पितरोंका दो मिनट होता है। इस अन्तरका कारण सूर्यका अन्तर है। जिस सूर्यको हम तीस बार रात्रिके व्यवधानमें देखते हैं, उसी सूर्यको पितृगण रात्रिके व्यवधानमें निरन्तर एक बार देखते हैं। इसी कारण हमारा सम्पूर्ण दिन उनका प्रायः पौन घण्टा होता है, हमारा सपाद दिन (३० घण्टे) उनका एक घण्टा होता है, हमारे तीस मिनिट उनका एक मिनिटात्मक समय होता है। यह पाठकोंने समझ लिया होगा।

* 'सामान्यतया' कहनेका तात्पर्य यह है कि तिथियोंमें क्षय-वृद्धि हुआ ही करती है। तदनुसार उनका समय भी कुछ न्यून-अधिक हो जायगा।

इस क्रमसे निश्चित हुआ कि अमावास्या पितरोंका मध्याह्नकाल है। इसलिए हम लोग अमावास्या अपराह्नमें यहाँ पर प्रतिमास श्राद्ध करते हैं। पर हमारे शुक्लपक्षमें (शुक्लाष्टमीसे कृष्णाष्टमी तक, क्योंकि इस समयमें हम चाँदनी प्राप्त कर रहे होते हैं) पितृलोकका सूर्यलोकसे दूरान्तर होनेसे उसमें रात्रि रहती है, हमारे कृष्णपक्षमें (कृष्णपक्षकी अष्टमीसे शुक्लपक्षकी अष्टमी तक, क्योंकि इस समय हम चान्दनी ठीक-ठीक प्राप्त नहीं करते) पितृलोक सूर्यसे क्रमशः निकट होता जाता है, इसी कारण उसमें पूर्ण दिन रहता है। मासिक अमावास्यामें पूर्व कहे प्रकारसे मध्याह्न होनेसे उसमें पितृश्राद्ध होने पर पितरोंकी प्रतिदिन भोजनक्रिया हो जाती है। जीवितश्राद्ध स्वीकार करने पर तो प्रतिमास वैसा करने पर वे जीवित पितर क्या शेष २६ दिनोंमें भूखे रह सकेंगे? इस पक्षको माननेवालोंके मतमें मासिक श्राद्धविधानकी शास्त्रीय वा वैज्ञानिक क्या उपपत्ति रहेगी? इससे उनका जीवितश्राद्ध भी निराधार ही है। केवल उनकी कपोल-कल्पनाप्रसूत ही यह बात हो सकती है। अस्तु।

मासिक श्राद्धका वर्णन तो हो चुका, आश्विनमें जो वार्षिकश्राद्ध हुआ करता है, उसका भी संक्षिप्त रहस्य बतलाते हुए हम पहले उनका समय-क्रम लिखते हैं कि शुक्लपक्षकी किस-किस तिथिमें पितरोंकी घड़ीमें कितना बजा होता है और कृष्णपक्षकी किस तिथिमें पितरोंका क्या समय होता है, 'आलोक'-पाठक अवधानसे देखें—

पितरोंका समय-विभाग

शुक्लपक्षतिथि,	पितरोंके घं०-मि०		कृष्णपक्षतिथि,	पितरोंके घं०-मि०	
१	मध्याह्न घंटा	१२।४८ मि०	१	मध्यरात्रि घंटा	१२।४८मि०
२	"	१।३६	२	"	१।३६
३	"	२।२४	३	"	२।२४
४	"	३।१२	४	"	३।१२
५	अपराह्न	४।०	५	उषा	४।०
६	"	४।४८	६	"	४।४८
७	"	५।३६	७	"	५।३६
८	सायं	६।२४	८	प्रातः	६।२४
९	"	७।१२	९	"	७।१२
१०	रात्रि	८।०	१०	दिन	८।०
११	"	८।४८	११	"	८।४८
१२	"	९।३६	१२	"	९।३६
१३	"	१०।२४	१३	"	१०।२४
१४	"	११।१२	१४	"	११।१२
१५	मध्यरात्रि	१२।०	३०	मध्याह्न	१२।०

इस समय-विभागसे 'पित्र्ये राज्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः। कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी' (मनु० १।६६, मनुष्योंका एक मास पितरोंका रात-दिन होता है। कृष्णपक्ष उनके कार्यके लिए होता है, शुक्लपक्ष सोनेके लिए) यह सनातनधर्मका सिद्धान्त वैज्ञानिक होनेसे सत्य सिद्ध हुआ। यहां से मर कर गये हुए हमारे पितरोंकी स्थिति पितृलोकमें हुआ करती है। तब हमें उनके मध्याह्नकालमें उन्हें भोजन पहुँचाना है। उसमें दो प्रकार है—एक तो यह कि हमें उनके

नामसे अग्निमें हविका हवन करना चाहिए। तभी 'अथर्ववेद' में मृत पितरोंको खिलानेके लिए आह्वानार्थ अग्निसे प्रार्थनाकी गयी है। जैसे कि 'ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः। सर्वांस्तान् अग्ने! आवह पितॄन् हविषे अत्तवे' (शौ० सं० १८।२।३४)। 'महाभारत' आदिपर्वमें भी अग्निकी उक्ति है—'वेदोक्तेन विधानेन मयि यद् हूयते हविः। देवताः पितरश्चैव तेन तृप्ता भवन्ति ते' (७।७) देवतानां पितॄणां च मुखमेतद् अहं स्मृतम्' (७।१०) अमावास्यां हि पितरः पौर्णमास्यां हि देवताः। मन्मुखेनैव हवनं भुञ्जाते च हुतं हविः' (७।११)।

दूसरा प्रकार यह है कि अग्निके सहोदरभूत ब्राह्मणकी जाठराग्निमें ब्राह्मणके मुखके द्वारा उन पितरोंके नामसे कव्य दिया जाय। 'विद्यातपः-समृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु' (मनु० ३।६८) अग्नि और ब्राह्मणकी सहोदरतामें प्रमाण यह है कि ब्राह्मण तथा अग्निकी विराट् पुरुषके मुख से उत्पत्ति कही है, जैसे कि 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (यजुः वा० सं० ३१।११), 'मुखादग्निरजायत' यजुः वा० सं० ३१।१२)। इसीलिए शास्त्रोंमें ब्राह्मणोंको आग्नेय वा अग्नि कहा गया है। तभी 'मीमांसा-दर्शन' के १।४।२४ सूत्रके शाबरभाष्यमें 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' पर प्रकाश डालनेके लिए इस प्रकार प्रश्नोत्तर प्रक्रिया की गयी है (प्रश्न)- 'अनाग्नेयेषु (ब्राह्मणेषु) आग्नेयादिशब्दाः केन प्रकारेण ?' (उ०) गुण-वादेन। (प्र०) को गुणवादः ? (उ० अग्नि-सम्बन्धः। (प्र०) कथम् ? (उ०) एकजातीयत्वाद् (अग्निब्राह्मणयोः)। (प्र०) किमेकजातीयत्वं [तयोः] ? (उ०) 'प्रजापतिरकामयत—प्रजाः सृजेयमिति स मुखतस्त्रि-वृतं निरमिमीत। तमग्निर्देवता अन्वसृज्यत..... ब्राह्मणो मनुष्याणाम्। तस्मात् ते मुख्याः, मुखतोऽन्वसृज्यन्त'। यहाँ पर अग्नि और ब्राह्मणकी एकजातीयता स्पष्ट शब्दोंमें कही है।

कुछ अन्य प्रमाण भी देख लेने चाहिएँ। 'मनुस्मृति' में लिखा है कि अग्नि न हो तो ब्राह्मणको ही कव्य दे दे—'अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्' यह कहकर वहाँ हेतु दिया गया है—'यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते' (३।२१२)। इसीलिए पिण्डोंके लिए कहा है—'गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत्' (मनु० ३।२६०), यहाँ अग्नि वा ब्राह्मणको खिलाना लिखा है। केवल 'मनुस्मृति' में ही नहीं, 'गोपथब्राह्मण' (अथर्ववेद पं० सं०) में भी कहा है—'ब्राह्मणो ह वा इममग्निं वैश्वानरं बभार' (१।२।१०)। 'अग्निः ब्राह्मणाना-विवेश' (अथर्व० १६।२१।२), 'कठोपनिषद्' में भी ब्राह्मणका अग्नित्व इस प्रकार कहा है—'वैश्वानरः प्रविशति अतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्' (१।१।७)। यहाँ पर श्रीस्वामी शङ्कराचार्यने भी कहा है—'वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात् प्रविशति अतिथिः सन् ब्राह्मणो गृहान्'। 'भविष्यपुराण' में भी कहा है—'ब्राह्मणा ह्यग्निदेवास्तु' (ब्राह्मपर्व १३।३६)। इसका ऐतिहासिक प्रमाण 'महाभारत' में देखना चाहिए। वहाँ पर निषादके आचारवाले भी ब्राह्मणको निगलनेके समय गरुडके कण्ठमें अग्निदाह होने लग गया था, देखिये—आदिपर्व २८ अध्याय। 'साऽस्य देवता' (४।२।२४) इस सूत्रके व्याख्यानमें 'सिद्धान्त कौमुदी' में 'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया' यह श्रुति उद्धृतकी गयी है। इस पर बालमनोरमा कहती है—'अग्निर्नाम यो देवताजातिविशेषो लोकवेदप्रसिद्धः, तद-भिमानिको ब्राह्मणः'।

इस प्रकार हो जाने पर पूर्व प्रकारसे साक्षात् अग्नि और दूसरे प्रकारसे ब्राह्मणस्थ वैश्वानर अग्नि उस कव्यको सूक्ष्म करके पितरोंको पहुँचाता है। वे पितर उस सूक्ष्म कव्यसे तृप्त हो जाते हैं, क्योंकि वे स्वयं सूक्ष्म शरीरात्मक होते हैं। इसी कारण उनके लिए स्थूलमें सूक्ष्मभूत भोजनकी आवश्यकता होती है। उसीसे उनकी तृप्ति होती है।

इसको इस प्रकार समझना चाहिये—हम अपने मुख द्वारा स्थूल भोजनको अपने पेटमें भेजते हैं, परन्तु हमारा आत्मा सूक्ष्म है। उसके लिए सूक्ष्म भोजन अपेक्षित है। उस समय उस स्थूल भोजनको हमारी जाठराग्नि सूक्ष्म करके हमारे सूक्ष्म अन्तरात्माको सौंप देती है। उस सूक्ष्म तत्त्वसे हमारा सूक्ष्म आत्मा तृप्त हो जाता है। वहाँ पर वही अग्नि स्वयं ही वह कार्य कर रही होती है, हमें वहाँ कोई चिन्तात्मक व्यापार नहीं करना पड़ता। इस प्रकार सूक्ष्म पितर भी हमारे दिये स्थूल भोजनके अग्नि वा ब्राह्मणाग्नि द्वारा किये हुए सूक्ष्म तत्त्वको प्राप्त करके तृप्त हो जाया करते हैं। वहाँ पर ब्राह्मणाग्नि महाग्निके साथ मिलकर स्वयं ही उस कामको कर रही होती है, वहाँ पर उसके लिए ब्राह्मणोंको कोई व्यापार नहीं करना पड़ता।

यहाँ पर इस प्रकार जानना चाहिये—इस विषय पर आक्षेप करने वाले आर्यसमाजी भी मानते हैं कि यज्ञसे प्रसन्न हुए देवता वृष्टि करते हैं। वहाँ उपपत्ति यह है कि जब हम अग्निमें हव्य डालते हैं, तब स्थूल अग्नि उस हविको जलाकर सूक्ष्म कर देती है और शान्त होकर स्वयं भी सूक्ष्म हो जाती है। तब वह सूक्ष्म अग्नि महाग्निके साथ मिलकर उस सूक्ष्म हविको लेकर अपने मित्र वायु आदिकी सहायतासे आकाशाभिमुख जाती है। आकाशमें ठहरे उन उन देवताओंको वह हवि पहुँचा देती है। वे देवता उस हविसे तृप्त होकर प्रजाके हितके लिए और धान्य आदिकी उत्पत्तिके लिए वृष्टि कर देते हैं। जैसे कि 'मनुस्मृति' में कहा है—'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः' (३।७६) जैसे कि इसका संकेत 'हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृशि आहुतं जुष्टमग्नौ' (ऋ० १०।८८।१) इस मन्त्रमें मिलता है। यहां दुर्गाचार्यने लिखा है—'हविः पान्तं-देवानां च पुरोडाशादि निर्दग्धस्थूलभावमग्निना क्रियते, स्वः आदित्यः, तं वेत्ति,

यथाऽसौ वेदितव्यः- इति स्वर्विद् अग्निः। दिविस्पृशि-द्यामसौ स्पृशति हविष्पनयन् आदित्यम्' (निरुक्त ७।२४।१)। इसी प्रकार श्राद्धमें भी जब कव्यको अग्निका सहोदर ब्राह्मण या अग्नि प्राप्त करता है, तब वह ब्राह्मणकी अग्नि उस हव्यको सूक्ष्म करके स्वयं भी सूक्ष्म होकर महाग्नि के साथ मिलकर आकाशाभिमुख चन्द्रलोकस्थ पितरोंको सौंप देती है। उससे वे पितर तृप्त होकर अपने माहात्म्यसे श्राद्ध करनेवालेके धान्य, सन्तान आदिको कर देते हैं।

जैसे देवताओंको 'सोमाय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा' इत्यादि मन्त्रोंसे दी हुई हविको वादियोंके मतानुसार सूर्य खींचता है, वैसे ही पितरोंके उद्देश्यसे दी हुई हविको चन्द्रमा खींचता है, अथवा सूर्य खींचकर अपनी सुषुम्णा रश्मिसे प्रकाशित चन्द्रलोकमें भेज देता है, वह चन्द्र अपनेमें स्थित पितरोंको उक्त हवि पहुँचाता है। उस श्राद्धभोक्ता ब्राह्मणकी अग्नि मन्द न पड़ जाय जिससे महाग्निसे उसका मेल न हो सके — इसलिए धर्मशास्त्रोंने उस दिन कई विधीपिकाएँ देकर उसे उस रात्रि मैथुनका- विशेष करके शूद्रासे-मैथुनका निषेध किया है। यही उसमें रहस्य है। वह अग्नि भी वेदादि शास्त्रोंके विद्वान्, सदाचारी ब्राह्मणोंमें रहती है। शेष ब्राह्मणोंको 'भस्मीभूत' (मनु० ३।९७) कहा गया है। इसलिए पितृश्राद्धमें मनुस्मृति आदिमें दोष-हीन, विशिष्ट ब्राह्मणको बुलाना कहा है।

एक यह भी प्रश्न हो सकता है कि हम श्राद्ध रातको तो करते नहीं, तब उस श्राद्धको चन्द्रमा कैसे खींच सकता है? इस पर यह जानना चाहिये कि चन्द्रमा सूर्यकी सुषुम्णा नामक किरणसे ही प्रकाशित होता है। दिनमें जो श्राद्ध किया जाता है, उसे अग्नि खींचकर सूर्य-किरणोंमें ले जाता है। उसे चन्द्रमा खींच लेता है। जैसे चन्द्रमा सूर्य

की किरणको खींच लेता है, वैसे ही सूर्यकी किरणोंमें स्थित सूक्ष्म अन्न को भी खींचकर वह उस-उस पितरको सौंप देता है। इसमें 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' के निम्न पद्य भी सहायक हैं—'यो द्रव्यदेवतात्यागसम्भूतो रस उत्तमः। देवान् संतर्प्य स रसो यजमानं फलेन च' (प्रायश्चित्ताध्याय ३, यतिधर्मप्रकरणे ४, १२१) 'संयोज्य वायुना सोमं नीयते रश्मिभिस्ततः। ऋग्यजुः-सामविहितं सौरं धामोपनीयते।१२२। खमण्डलादसौ सूर्यः सृजत्यमृतमुत्तमम्। यज्जन्म सर्वभूतानामशनानशनात्मनाम्' (१२३)। इसमें कारण है सङ्कल्पकी महिमा, क्योंकि हम उस हविको तत्तत्-पितर के उद्देश्यसे सङ्कल्पित करके दिया करते हैं। देवता लोग हमारे मानसिक सङ्कल्पको जान लिया करते हैं। वेद भी इसका अनुमोदन करता है, देखिये—'मनो देवा मनुष्यस्य आजानन्ति, मनसा सङ्कल्पयाति, तत् प्राणमभिपद्यते, प्राणो वातं, वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मनः' (शतपथ ब्रा० ३।४।२।६)। इसी प्रकार 'अथर्ववेद' में भी कहा है—'मनसा सङ्कल्पयति, तद् देवान् अभिगच्छति' (शौ० सं० १२।४।३१)। सूर्य आदि देवता सब लोगोंका वृत्त जानते हैं, इसमें 'मनुस्मृति' की साक्षी भी देखिये—'तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः' (८।८५) 'द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः। रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम्' (८।८६) यहां पर सूर्य-चन्द्रका भी लोगोंका वृत्त जानना कहा है। इधर चन्द्रमा तो मनका ही देवता माना जाता है। श्राद्धमें सङ्कल्प तो प्रसिद्ध ही है।

कई लोग देवताओंको जड़ मानते हैं, तब सूर्य-चन्द्र आदिकी किरणोंके भी जड़ होनेसे वे उस-उस पितरको दिया हुआ कव्य कैसे पहुँचा सकते हैं? यह प्रश्न उनका हुआ करता है। उनसे पूछना चाहिये कि हम लोगोंके कर्म भी जड़ हुआ करते हैं। वे भी अग्रिम जन्ममें कर्ताको कैसे प्राप्त कर सकते हैं? यदि कहा जाय कि कर्मोंका अधिष्ठाता

परमात्मा जड नहीं है, किन्तु सर्वव्यापक और चेतन है, तब तो देवताओंका अधिष्ठाता भी वही है। देवताओं तथा उनकी किरणोंमें भी उसकी व्यापकता स्वयं ही माननी पड़ेगी। इसलिए उस मनुपद्यकी टीकामें श्रीकुल्लूकभट्टने भी लिखा है— 'पित्रादीनां (दुष्यादिदेवानां) अधिष्ठातृदेवतास्ति, सा च शरीरिणी एकत्र अवस्थापिता सर्वत्र जानाति इत्यागमप्रामाण्याद् वेदान्तदर्शने तद् अक्षीर्ण्यैदमुक्तम्' (८।२६)। जिस प्रकार वह सर्वाधिष्ठाता देव उन-उन कर्मोंका फल उन उनको प्राप्त कराता है, वैसे ही उन उन देवताओंके अधिष्ठातृ वर्ग उस उस पितरको श्राद्धका फल प्राप्त कराता है, यह जान लेना चाहिये। अथवा जैसे हजारों गौओंमें बछड़ा अपनी माताको प्राप्त कर लिया करता है, वैसे ही पुत्रकृत श्राद्ध भी पितरोंके पास उपस्थित हो जाया करता है।

यही मृतकश्राद्धका रहस्य है, जिसको न जानकर वादी इसमें विप्रतिपन्न होकर अपनी अल्पश्रुतताका परिचय देते हैं। अग्नि पितृलोकस्थ पितरोंको सूक्ष्म कव्य अर्पित करता है इसमें वेदमन्त्रोंकी साक्षी भी देखिये— 'ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः! स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम्' (अथर्व० शौ० सं० १८।२।३५)। 'अव सृज पुनरग्ने! पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान्' (अथर्व० १८।२।१०)। वेदमें श्राद्धमें आया पितृशब्द मृतपितृवाचक है, इसीलिए वेदमें कहा है — 'पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः' (अथर्व० १२।२।४५), 'अधा मृताः पितृषु सम्भवन्तु' (अथर्व० १८।४।४८)। इस प्रकार मृतकश्राद्धकी वैदिकता सिद्ध हो गई।

यह रहस्य है मृतकके मासिक श्राद्धका। शारदिक वार्षिक श्राद्ध तो विशिष्ट होता है। तब भाद्रपद पूर्णिमासे प्रारम्भ करके आश्विनकी अमावास्या तक सब तिथियोंमें भिन्न भिन्न पितर भोजन करते हैं। जैसे

हम कभी विवाहादि विशिष्ट अवसरों पर रात्रिके १२-१-२ आदि बजनेके समय भी भोजन प्राप्त करते हैं, जन्माष्टमी आदिके अवसर पर भक्तगण आधी रातके समय उपवासका पारण करते हैं, इस प्रकार अपवाद होने से पितरोंके विषयमें शुक्लपक्षीय इत्यादि तिथिमें भी जानना चाहिए। वे पितर उस तिथिमें उस मार्गमें होते हैं। तिथियोंका सम्बन्ध चन्द्रमा से प्रत्यक्ष ही है। तिथियोंके क्षय-वृद्धि चन्द्रानुसार ही होते हैं। शारदिक श्राद्ध भी पार्वण होनेसे विशेष पितरोंका विशेष पर्व ही समझना चाहिये। तब पितर रातके बारह-एक बजे भी भोजन प्राप्त करते हैं।

स्वा० दयानन्दजी और मृतकश्राद्ध

आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीके अनुसार भी मृतकश्राद्ध सिद्ध है। देखिये—स्वामीजीने अपनी 'संस्कारविधि' के गृहाश्रम-प्रकरणमें पितृयज्ञकी बलिवैश्वदेवविधिमें पूर्व दिशामें इन्द्रके नामसे ग्रास रखाया है, दक्षिणमें यमके नामसे, पश्चिममें वरुणके नामसे, उत्तरमें सोमके नामसे ग्रास रखाया है। इस प्रकार अन्यान्य दिशाओंमें अन्य देवताओंके नाम ग्रास स्थापित किया है। दक्षिणमें स्वामी दयानन्दजीने 'ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः' इस मन्त्रसे २१३ पृष्ठ 'संस्कार-विधि' में पितरोंके लिये ग्रास रखवाया है। आगे स्वामीजीने लिखा है—'यदि भाग धरनेके समय कोई अतिथि आ जाय, तो उसीको दे दे, नहीं तो अग्निमें धर देना'। यहाँ पर द्रष्टव्य है कि उस ब्राह्मण अतिथिसे खाये हुए वे ग्रास इन्द्र, यम, वरुण, सोम, पितर आदिके पास प्राप्त होंगे या नहीं? यदि प्राप्त होंगे, तो सनातनधर्मका मृतकश्राद्ध भी उसी प्रकारसे सिद्ध हो गया। यहां भी ब्राह्मण खाता है, वह खाया हुआ भी पितरोंके पास पहुँचेगा। ब्राह्मणके न मिलने पर उसे अग्निमें डाल देना सनातनधर्मी भी मानते हैं। यदि स्वामीजी यह नहीं मानते, तो उनसे कहा उक्त विधान भी अवैदिक सिद्ध हो गया। यदि वैदिक है, तो

मृतकश्राद्ध भी वैदिक सिद्ध हो गया, क्योंकि वहां भी पितृनिमित्तक भोजन ब्राह्मणको खिलाया जाता है, अथवा अग्निमें धर दिया जाता है। इस प्रकार हमारे पक्षकी स्पष्ट सिद्धि हो गयी।

यहां पर स्वामी दयानन्दजीको भी मृतक-पितर अभीष्ट हैं, जिनका भोजन अतिथिको दिया जाता है। अन्यथा यदि स्वामीजीको जीवित पितर यहां इष्ट होते, तो उनके नामसे दिये ग्रासको वे उन्हींको दिलाते, न अतिथिको खिलाते, न अतिथिके अभावमें उस ग्रासको अग्निमें धरने को कहते। जैसे इसके साथ ही स्वामीजीने लिखा है—'कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पापरोगी, काक और कृमि इन छः नामोंसे छः भाग पृथिवी में धरे और वह छः भाग जिस-जिसके नाम हैं, उस उसको दना चाहिए' (पृष्ठ २१३) यहां पर कुत्ता आदि *जीवित थे*, इसलिए *उनके नामसे* रखा ग्रास स्वामीजीने *उन-उनको* दिलवाया है। *इस प्रकार पितर भी यदि स्वामीजीको जीवित इष्ट होते, तो उनके नामसे रखा ग्रास उनको दिया जाता, न अतिथिको, न ही अग्निको दिया जाता। इस प्रकार स्वामी दयानन्दजीके मतमें भी श्राद्ध मृतकोंका सिद्ध हो गया।*

इधर स्वामीजी 'सत्यार्थप्रकाश' ४ समुल्लास, पृष्ठ ६२ में कृमि आदिको अन्न इसलिए दिलाते हैं कि 'जो अज्ञात अदृष्ट जीवोंकी हत्या होती है, उसका प्रत्युपकार कर देना'। तब क्या *जीवित कृमियोंको अर्पण कर देनेसे वह अन्नादि मृतक कृमियोंको मिल जाता है* या नहीं? यदि नहीं मिलता, तो अदृष्टजीवहत्याका प्रत्युपकार तो न हुआ। यदि उनको श्रद्धादिका फल प्राप्त हो जाता है, तो *स्वामी दयानन्दजीके मतमें भी मृतकश्राद्ध सिद्ध हो ही गया।*

यदि इस पर कहा जाय कि स्वामीजीको जब मृतकश्राद्ध इष्ट नहीं, तब 'स्वधायिभ्यः' इस मन्त्रमें कहे गये पितर, जिनको वे दक्षिणमें ग्रास दिलवाते हैं--मृतक कैसे हो सकते हैं ? तो इस पर यह जानना चाहिए कि स्वामीजीने जो यह क्रिया लिखी है, वहाँ उन्होंने 'मनुस्मृति' (३।८७।९१) का नाम दिया है। पर 'मनुस्मृति' पितृयज्ञमें जीवितश्राद्ध कहीं नहीं मानती, किन्तु मृतक पितृश्राद्ध ही 'मनुस्मृति' को इष्ट है, तब यहाँ जीवित पितरोंका अर्थ हो ही कैसे सकता है ? सुतरां, यहाँ पर स्वामी दयानन्दजीके मतमें भी मृतकश्राद्ध सिद्ध हो ही गया। प्रथम 'सत्यार्थप्रकाश' में तो वे मृतकश्राद्ध सोपपत्तिक दिखला ही चुके हैं।

श्राद्धमें ब्राह्मण-भोजनके विषयमें पहले कुछ कहा ही जा चुका है, अब उस विषयमें कुछ प्रमाण भी दिये जाते हैं—' [श्राद्धे] *भोजयेद् ब्राह्मणान्* ब्रह्मविदो योनिगोत्रमन्त्रान्तेवास्यसम्बन्धान्' (आपस्तम्बधर्म-सूत्र २।१७।४)। 'बोधायनीय पितृमेधसूत्र' में भी कहा है—'पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं *ब्राह्मणस्य* त्वा विद्यावतः *प्राणापानयोर्जुहोमि* मा प्रेतस्य चेष्टा अमुत्रामुष्मिन् लोके' (तै० मं० २।२०) (२।११।७)। इसी प्रकार 'बोधायनीय गृह्यसूत्र' (२।१०।३६) में भी कहा है। 'हिरण्य-केशीय गृह्यसूत्र' में भी कहा है—'अमावास्यायामपराह्णे मासिकम् अपरपक्षस्य पितृभ्योऽन्नं संस्कृत्य'' *ब्राह्मणान्* शुचीन् मन्त्रवत आमन्त्र-यते, 'पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्रह्मणस्त्वा मुखे जुहोमि ब्राह्मणानाम्' (२० ४।१०-११)। 'मानवगृह्यसूत्र' में भी कहा है—'श्राद्धमपरपक्षे पितृभ्यो दद्यात् अयुग्मसमन्नं *ब्राह्मणान् भोजयेत्*, नाऽवेदविद् भुञ्जीत

इति श्रुतिः' (२।९।९-१०)। 'गोभिलगृह्यसूत्र' में भी कहा है—'शुचौ देशे ब्राह्मणान् अनिन्द्यान् अयुग्मान् उदङ्मुखानुपवेश्य दर्भान् प्रदाय, उदकपूर्वं तिलोदकं ददाति पितुर्नाम गृहीत्वा' (४।२।२१, ४।३।१०)। 'वैखानसगृह्यसूत्र' में भी कहा है—'अथ श्राद्धं मासि-मासि अपरपक्षे अन्यतमेऽहनि ब्राह्मणनिमन्त्रणादि सर्वमष्टकावत्...अन्नं पिण्डार्थं पात्रे समवदाय ब्राह्मणान् भोजयित्वा' (४।७)। 'न श्राद्धे भोजयेद् द्विजम्' (मनुस्मृति ३।१२८)। 'ब्राह्मणान् यथातृप्ति भोजयेत्, तेषु तृप्तेषु पितरस्तृप्ता भवन्ति. वाग्यतान् भुञ्जानान् ऋचः पैतृकाः श्रावयेत्' (वैखानसगृ० ४।४)। 'यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीरे ओदनम्' (अथर्ववेद शौ० स० १८।२।३०) यहाँ पर मृतकके निमित्त गोदान तथा खीरका विधान है। 'इममोदनं निदधे ब्राह्मणेषु' (अथर्व० ४ ३४।८) यहाँ पर ब्राह्मणोंको ओदन देना कहा है। 'महाभारत' में कहा है—'ब्राह्मणा एव सम्पूज्याः पुण्यस्वर्गमभीप्सता। श्राद्धकाले तु यत्नेन भोक्तव्या अजुगुप्सिताः' (वनपर्व० २००।१६-१७) इस प्रकार मृतक-श्राद्ध और ब्राह्मणभोजन जहाँ वेदशास्त्रसम्मत सिद्ध हुआ, वहाँ पर वैज्ञानिक एवं सोपपत्तिक भी सिद्ध हुआ। इस विषयमें विस्तारसे भिन्न पुष्पमें बड़ा निबन्ध दिया जायेगा।

—:—:—

(१२) 'परलोक-विद्या'

सनातनधर्म अनादिकालसे आज तक मृतकोंका श्राद्धतर्पण करता हुआ परलोक-विद्याको जीवित रक्खे हुए है, पर अपने ही कई भारतीयोंने इसे ढकोसला बताकर इस विद्यासे मुंह फेर रखा है। वैदेशिक वैज्ञानिकोंका हिन्दुओंके इस झुकाव पर ध्यान पड़ा। उन्होंने इसकी जांच प्रारम्भ कर दी। परीक्षणसे उन्हें मालूम पड़ा कि मरा हुआ पुरुष अभावको प्राप्त नहीं हो जाता, किन्तु मरनेके बाद उसकी स्थिति परलोकमें हो जाती है, उत्तम माध्यमके द्वारा हम उससे सम्बन्ध करके उसका लाभ प्राप्त कर सकते हैं। हमारे देशी पुरुषोंका भी इधर ध्यान पड़ा और उन्होंने इसमें पर्याप्त सफलता प्राप्त कर ली। वैदेशिक लोग सब परीक्षणोंमें अपना ही दृष्टिकोण रखते हैं। उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि मृतकका जीव सदा परलोकमें ही रहता है, उसका इस लोकमें पुनर्जन्म नहीं होता। पर पुनः-पुनः अवगाहनसे कई वैदेशिक लोग अब परलोकगतका इस लोकमें पुनर्जन्म भी मानने लग पड़े हैं। अस्तु।

सबकी शैलियां भिन्न-भिन्न होती हैं, वैदेशिकोंने मृतकोंके आकर्षणार्थ अपने ढंगके उपाय जारी किये। हमारे पूर्वजोंने कुश, मधु, तिल, गङ्गाजल, तुलसीपत्र आदिका मृतकोंके आकर्षणार्थ उपयोग कर रखा है। अब इनका भी यन्त्र बनाकर निरीक्षण अवश्य करना चाहिये। हमारे पूर्वजोंकी सभी बातें परीक्षण-निरीक्षण करने पर सत्य सिद्ध हुई हैं। अस्तु।

इस परलोक-विद्याका अपलाप नहीं किया जा सकता, अब यह प्रत्यक्ष हो रही है। अभिज्ञजन इसमें उद्यत हो रहे हैं। इस विद्यासे

कई लाभ होनेकी सम्भावना है। वह यह कि हम स्थूल शरीर-युक्त होनेसे सीमित शक्ति वाले हैं, पर मृतक पुरुष स्थूल-शरीर छूट जानेसे पारलौकिक, दिव्य सूक्ष्म-शरीर मिलनेसे अलौकिक शक्तिशाली होते हैं। उनसे हम सम्बन्ध करके उस लोकोत्तर-शक्तिका लाभ उठा सकते हैं। घड़ेसे ढके दीपककी प्रकाशन शक्ति सीमित होती है, घड़ेसे बाहर ठहरे दीपककी प्रकाशन-शक्ति अधिक रहा करती है। हम भी स्थूल-शरीराच्छन्न होनेसे उस घटस्थित दीपककी तरह हैं, और परलोक प्राप्त पुरुष उसका अपवाद हैं। आत्माका न्यायादिशास्त्र सम्मत विभुत्वका वही उपयोग ले सकते हैं।

मान लीजिये एक व्यक्ति बहुत बीमार है, हम उसका उपचार करके भी उसे स्वस्थ नहीं कर सके। उस समय यदि हम परलोकस्थ आत्मासे सम्बन्ध करके उसकी दवाइयां पूछें, तो अधिक ज्ञानशाली होनेसे उनसे बताई गई दवाइयां उस बीमारको हितकारक सिद्ध होंगी। इस प्रकारकी परलोकस्थ आत्माओंसे बताई गई चिकित्साएं प्रायः सफल हो चुकी हैं। जब उसके हस्ताक्षर मिल जाते देखे गये हैं. उनकी बताई गुप्त धन गड़नेकी बातें मिल गई हैं उनके छाया चित्र गृहीत हो जाते हैं तो इस विद्यामें उन्नति करके हम कई लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इन बातोंके खण्डनसे तो कुछ मिलेगा नहीं, उस विषयमें श्रद्धा करनेसे सत्यताका ज्ञान होगा। वेदमें लिखा है—'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजु १९।३०) 'भगवद्गीता'में लिखा है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' (४।३९)। *अतः आस्था रखकर इस विषयमें उन्नति करनी चाहिए।* हमारे प्राचीन लोग भी इस विषयको कि मृतक व्यक्ति परलोकमें निवास करते हैं, और उनको हम यहां भी बुला सकते हैं, मान गये हैं। जनकनन्दिनी सीताकी जब लङ्का-विजयके बाद अग्नि शुद्धि की जा रही थी, उस समय परलोकसे आये हुए राजा दशरथने भी सीताकी शुद्धिमें साक्षी दी थी। अतः स्पष्ट है कि यह विषय निर्मूल नहीं।

इस विषयमें एक यह बड़ा लाभ होगा कि फिर मृत्यु-भय छूट जायगा। अन्य लाभ यह होगा कि हमारा सम्बन्धी जिसके लिए हम मानते हैं कि यह हमसे सदाके लिए बिछुड़ गया, फिर हम उसे कभी मिल नहीं सकेंगे; यह बात गलत हो जायगी। उसे हम फिर अपने निकट पायेंगे। फिर श्राद्ध-तर्पण यह हमारा सनातनधर्मका सिद्धान्त जो आप्तवचन होनेसे श्रव माना जाता है, वह प्रत्यक्षानुगृहीत हो जाने से—'प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्तरेण' इस न्यायसे हमें उसे विपक्षियोंके सामने सिद्ध करनेके लिए बहुत प्रयत्नकी आवश्यकता न पड़ेगी। अतः परलोक-विद्याके ज्ञानकी अवश्य ही आवश्यकता है, इसके उन्नत हो जाने पर फिर हम स्वर्गीय देवताओंसे भी बातचीत कर सकेंगे। ऐसा सिद्ध हो जाने पर फिर सनातनधर्मके सभी एतद्विषयक सिद्धान्त प्रत्यक्ष सत्य सिद्ध हो जायेंगे।

कई सनातनधर्म-प्रोक्त बातें वर्तमानमें प्रचलित न होनेसे अवश्य ही कठिन वा बुद्ध्यग्राह्य मालूम होती हैं, पर हमारे सनातन ऋषि-मुनि बहुज्ञ थे, अतः उनकी बातें जो पहिले, लोगोंको अनुभूत नहीं थी--अब अनुभव गोचर हो रही हैं। जो अभी अनुभवमें नहीं आई', वे भविष्यत् में अनुभव-गोचर हो जायेंगी—इसमें सन्देहका कोई अवसर नहीं। 'देर है अन्धेर नहीं'।

हमारी अपेक्षा पितरोंमें अधिक शक्ति रहती है। उनकी अपेक्षा देवताओंमें अधिक शक्ति रहती है। देवताविषय बहुत जटिल है—यह ठीक है। आरम्भमें पितृविषय भी बहुत जटिल था। सनातनधर्मियोंके अतिरिक्त कोई भी इस विषयको कि—'पितरोंका आह्वान तथा आकर्षण एवं उनका यहाँ आगमन और संवाद और उनसे हमारा संरक्षण होना है—नहीं मानता था। इतिहास-पुराणमें मृतक दशरथ आदिका इस

लोकमें आनेका वर्णन आया है—'पितॄन् अतीतान् अकस्मात् पश्यति' (३।२२) 'योगदर्शन'के इस व्यासभाष्यमें भी यह संकेत आया है—पहले इसे कोई भी नहीं मानता था। जब अनुसन्धाता लोगोंकी गवेषणाओंमें यह विषय समूल सिद्ध हो रहा है, बहुत-कुछ सफलता भी इस विषयमें प्राप्त हो चुकी है, तब आगे अनुसन्धाताओंका देवतावाद की ओर ध्यान भी बढ़ेगा। जैसे पितरोंने अपने जाननेके लिए हमें सुझाव दिये, सुविधाएं दीं, प्रेरणाएं कीं, वैसेही देवता लोग भी कृपा करेंगे।

शास्त्रानुसार पितृगण चन्द्रलोकके पृष्ठ पर रहते हैं। चन्द्रग्रहकी कक्षा मन्दाऽमरेज्यभूपुत्रसूर्यशुक्रेन्दुजेन्दव । परिभ्रमन्त्यधोध स्थाः, (१२।३१) इस 'सूर्य सिद्धान्त' के वचनानुसार सब ग्रहोंसे निम्न और भूमण्डलके सर्वथा निकट है। तभी भूमण्डलके निवासी उसके साथके ठहरे चन्द्रलोकके पृष्ठ पर रहने वाले पितरोंका यथाशक्ति आह्वान वा आकर्षण करनेमें शीघ्र सफल हो गये हैं। वेदमें भी 'आयन्तु न पितरः' (यजु १९।५८) इत्यादि मन्त्रोंसे पितरोंका आह्वान तथा 'अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्त 'से तृप्ति, 'अधिब्रुवन्तु ते' से पितरोंका हमें उपदेश वा सवाद 'ते अवन्तु अस्मान्'से हमारी पितरों द्वारा 'पान्ति-रक्षन्ति इति पितर' इस व्युत्पत्तिसे (हमारे किसी बीमार आदिके स्वास्थ्यार्थ उत्तम ओषधि आदि बताकर) रक्षा करना प्रसिद्ध है। पितरोंके आकर्षण पर आर्यसमाजी विद्वान् श्रीरघुनन्दनशर्माने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वैदिक सम्पत्ति'के २७१ पृष्ठ पर प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं—

'प्रश्न यह है कि चन्द्रलोकसे जीवोंको किस प्रकार खींचा जाय। जीवोंके खींचनेका वही तरीका है, जो सूर्यकान्त मणिके द्वारा सूर्यतापके खींचनेमें और चन्द्रकान्त मणिके द्वारा चान्द्रजलके खींचनेमें प्रयुक्त किया जाता है।

जिस प्रकार चन्द्रकान्तके प्रयोगसे चान्द्रजलकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार चान्द्र पदार्थोंको एकत्रित करनेसे चान्द्रवीर्य भी आकर्षित होता है। चान्द्रवीर्यमें ही जीव रहते हैं, इसलिए उन पदार्थोंमें खिंच आते हैं, जो चन्द्राकर्षणके लिए, विधिसे एकत्रित किये जाते हैं। वे पदार्थ दूध, घृत, चावल, मधु, तिल, रजतपात्र कुश, [तुलसीपत्र] और जल हैं। यह प्रक्रिया शरत्-पूर्णिमाके दिन लोग करते हैं। परन्तु विधिपूर्वक क्रिया तो पितृ-श्राद्धके समय होती है। पितृ-श्राद्ध अपराह्णके समय होता है। उसमें दूध, घृत, मधु, कुश आदि सभी पदार्थ रखे जाते हैं, पितरोंका प्रतिनिधि पुत्र अथवा पौत्र भी उन पदार्थोंको छूता हुआ वहीं पर बैठता है। इसलिए यह सब हवि आदि सामग्री उसी प्रकारका यंत्र बन जाती है, जिस प्रकार चन्द्रमणि। इसीमें पितर खिंचकर आते हैं। 'परायात पितरः ! सोम्यासो' (अथर्व १८।४।६३)'।

आर्यसमाजके प्रमुख श्रीगङ्गाप्रसाद एम. ए (कार्यनिवृत्त मुख्य-न्यायाधीश जयपुर) भी मृतकका परलोकमें निवास तथा उसका बुलाने पर उपस्थित होना आदि मानते हैं। उनका इस विषयका 'मृत्युके पश्चात् जीवकी गति अर्थात् पुनर्जन्मका पूर्वरूप' लेख आर्यसमाजकी प्रधान-संस्थाके 'सार्वदेशिक' पत्र (सितम्बर-अक्टूबर १९४१ के अङ्क) में देखने योग्य है। उसमें उन्होंने आर्यसमाजियोंसे जीवके तुरन्त पुनर्जन्ममें दिये जाते तृणजलौका न्यायका भी अच्छा उत्तर दिया है।

भूमण्डलके निकट होनेसे ही वैज्ञानिक लोग भी विमानोंसे चन्द्र-लोककी यात्रा करनेकी सोचा करते हैं, पर देवता द्यु लोकके अन्य विभागोंमें रहा करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि—वे हमसे पितरोंकी अपेक्षा बहुत दूर हैं। हमारा एक मास पितरोंका दिन-रात होता है, हमारा एक वर्ष देवताओंका दिन-रात होता है, परन्तु यदि हमारा विज्ञान

बढ़ता गया, तो हम पितरोंकी तरह देवताओंके भी निकट हो जाएँगे। कुन्तीको दुर्वासासे दिये हुए मन्त्रोंमें सूर्य, यम, वायु, इन्द्र, अश्विद्वय ये देवता आये थे—यह प्रसिद्ध ही है।

स्वामी श्रीशङ्कराचार्यने 'वेदान्तदर्शन' के १।३।३३ सूत्रके भाष्यमें लिखा है कि व्यास आदि, देवताओंसे प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे 'भवति हि अस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयाद् इदानीन्तनानामिव नास्ति चिरन्तनानां देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यम् इति स जगद्-वैचित्र्य प्रतिषेधत्'। इसी कारण ही पुराण इतिहासमें भी जो देवताओंका भूलोकमें आना बताया गया है, वह इसी बातको सिद्ध करता है कि—हमारे पूर्वज महानुभावोंको देवताओंके बुलानेकी विद्या भी ज्ञात थी। इस प्रकार यह विज्ञान बढ़ता गया, तो देवतावादकी जटिलता भी अवश्य हट जायगी। हमारे दशरथ आदि राजा अपने रथों द्वारा देव लोकोंमें जाया करते थे, आजकल नहीं जा सकते।

देवताओंकी अलौकिक शक्तिसे सभी वेदादिशास्त्र पूर्ण हैं। जैसे सनातनधर्मी पितरोंके भक्त हैं, वैसे देवताओंके भी, क्योंकि देवता भी उन्हींके पूर्वज हैं। अब यदि प्रयत्नसे पितृवाद कुछ सुलझ गया है, तब समय पर देवतावाद भी सुलझ जायगा। देवता लोग स्वलोकोत्तर-शक्तिवशात् मनुष्यके मनका अभिप्राय जान जाते हैं, ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन आया है। जैसे कि— मनो देवा मनुष्यस्य आजानन्ति, मनसा सङ्कल्पयति, तत् प्राणमभिपद्यते प्राणो वातम्, वातो देवेभ्य आचष्टे, यथा पुरुषस्य मनः (शतपथ ३।४।२।६) मनसा सङ्कल्पयति, तद् देवान् अपि गच्छति (अथर्ववेद स० १२।४।३१) तभी पूर्वकालमें मानसिक शक्तिकी प्रबलतासे यज्ञोंमें देवताओंका आह्वान किया जाता था। वे साक्षात् आते थे। 'महाभाष्य' ने भी इसका सङ्केत दिया है— इन्द्र एकः—कस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति' (१।२।६४)

देवता विद्वान् मनुष्योंका नाम भी नहीं हो सकता। इसका बहुत प्रमाणोंसे निराकरण किया जा सकता है, जिन्हें आगे निबन्धरूपमें लिखा जायगा। जब यह विद्या उन्नत हो जायगी, तो मानसिक शक्तिसे तथा शास्त्रीय अन्य साधनोंसे पितरोंकी तरह देवताओंको भी बुलाया जा सकेगा जैसा कि तपस्याओंसे पुराकालमें उन्हें बुलाया जाता था।

देवता तथा पितर यद्यपि दोनों इस लोककी वस्तु नहीं ; हैं, दोनों परलोकस्थ पदार्थ हैं, तब दोनोंका एक ही नाम होना चाहिये, तथापि गोबलीवर्द-न्यायसे दोनोंका नाम-भेद हुआ करता है। 'साङ्ख्य-कारिका'के 'अष्टविकल्पो दैवः' (५३) इस वचनके अनुसार तो पितृ-सर्ग भी दैवसर्गके ही अन्तर्गत माना जाता है। 'गोबलीवर्द' न्याय का भाव यह है कि—'गावोपि समागताः, बलीवर्दोपि समागतः'। 'गो' बैलका नाम है, बलीवर्द भी बैलका ही नाम है, अन्तर यह है कि बलीवर्द साँडको कह दिया जाता है और 'गो' साधारण बैलको। इस बलके अन्तरसे नामका भी भेद हुआ करता है, इसी प्रकार देव और पितरोंमें भी भेद समझना चाहिये। कर्मानुसार जो दक्षिण मार्गसे जाते हैं, वे पितर कहाते हैं, जो उत्तर मार्गसे परलोकमें जाते हैं. वे देवता कहाते हैं। दक्षिण शीतका घर है, अतः दक्षिणस्थ पितर भी कुछ कम बल वाले होते हैं। उत्तर उष्णताका घर है, अतः उत्तरमार्गस्थ देवता भी उनसे अधिक बल वाले होते हैं। हम उनके मध्य वाले हैं, अतः उन दोनोंसे थोड़े बल वाले हैं इसलिए हमें इन्हीं दोनों पितरों एवं देवताओंका आश्रय अपेक्षित होता है।

देवताओंका कृत्य पूर्वाह्णमें यज्ञोपवीतको बाएं कन्धे पर रखकर पूर्वोत्तराभिमुख किया जाता है, और पितरोंका कृत्य यज्ञोपवीत-सूत्रको

दाहिने स्कन्धे पर रखकर दक्षिणाभिमुख अपराह्णमें किया जाता है। इसका भी रहस्य है। प्रातःकालसे मध्याह्न तक सूर्य पूर्वोत्तर दिशामें रहता है, उसकी किरणें दक्षिण-पश्चिमाभिमुख नत (झुकी) रहती हैं, और उत्तरपूर्वाभिमुख उन्नत। मध्याह्नके बाद यह क्रम बदल जाता है। तब सूर्य दक्षिण दिशामें प्राप्त हो जाता है, उसकी किरणें उत्तराभिमुख नत रहती हैं दक्षिणमें उन्नत।

पृथिवीसे किरणों द्वारा खींचा हुआ द्रव्य (भोजनादिका रस) उसी उसी दिशामें जाता है। यही कारण है कि—उत्तर मार्गसे प्राप्त और देववर्गसे प्राप्त हुओंके यज्ञ पूर्वाह्णमें किये जाते हैं जब कि सूर्यकी किरणें पूर्वोत्तराभिमुख उन्नत हों, जिससे उसकी आकर्षण शक्तिसे खिंची वस्तु पूर्वोत्तर दिशामें जा सके। उस समय यज्ञोपवीतको भी उत्तर स्कन्ध (बाएं कन्धे) में करना पड़ता है। इस प्रकार दक्षिण दिशामें स्थित पितृलोकसे सम्बद्ध श्राद्ध आदि कृत्य भी मध्याह्नके बाद हुआ करते हैं, जब सूर्यकी किरणें दक्षिणाभिमुख उन्नत होवें। शारीरिक मानसिक शक्तियोंको दक्षिणमें उन्मुख करनेके लिए उन्हें सूर्यकी किरणोंके साथ एक-दिशामें करनेके लिए वैदिक विधिके अनुसार अविगुण कर्मके द्वारा विशुद्ध अपूर्वके उत्पादनार्थ उसे दक्षिणदिशा-स्थित पितृलोकके पितरों तक अविकल पहुंचानेकेलिए पितृकर्मके समय यज्ञोपवीतको दक्षिण (दाहिने) कन्धे पर करना आवश्यक होता है।

जैसे 'बेतारका तार' भेजनेके समय एक स्थानकी विद्युद्धाराको दूसरे स्थानमें ठीक प्राप्त करानेके लिए बिजलीके खम्भोंके एक सीधमें होनेकी अपेक्षा होती है, वैसे ही देव-पितृलोकके कार्योंमें भी सूर्य किरणों के साथ ही शारीरिक एवं मानसिक शक्तिका एकमुख होना भी आवश्यक है। जैसे 'बेतारका तार' भेजनेमें बिजली न तो प्रत्यक्ष दीखती है, न ही कोई विकार होता है, फिर भी उसका प्रभाव उसी स्थानमें होता है,

जिस स्तम्भके साथ उसका एक-मुखत्व है, इसी प्रकार विशुद्ध स्वरवर्ण द्वारा उच्चारित वेदमन्त्रसे उत्पन्न शक्ति, अप्रत्यक्ष होने पर भी हव्यों-कव्योंके सूक्ष्म जलीय अंशोंको सूर्य-किरण द्वारा अभीष्ट देवता या पितरों को पहुँचा ही देती है। यज्ञोपवीतको दक्षिण वा उत्तरके समक्ष करना उस कर्मका सहायक अङ्ग है। पितृकार्य अमावस्या आदिमें करना पड़ता है, अतएव यज्ञोपवीतको दक्षिण कन्धेमें भी तभी करना पड़ता है, पर साधारण दशामें हमें दैवी सम्पत्तिका सञ्चय ही अपेक्षित होता है, अतः यज्ञोपवीतको भी सदा उत्तर (बाएँ) कन्धे पर ही रखना पड़ता है।

'आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्तु अस्मान्' (यजुर्वेद वा० मं० १९.५८) इस मन्त्रसे प्रतीत होता है कि—पितरोंको स्वधासे तृप्त करनेका विचार करनेसे ही वे हमारे आह्वान पर हमारे यहां आते हैं; और वे हमसे संवाद (अधिब्रुवन्तु) करते हैं, और हमें उत्तम उपायों को बताकर पितृ नामको (पाति-रक्षति इति) सार्थक करते हुए हमारी रक्षा भी करते हैं। इस अवसर पर माध्यम भी उत्तम होना चाहिये। श्राद्ध भी पूर्व समयमें उन्हीं माध्यमोंके प्रयोगकर्ता वैज्ञानिक ब्राह्मणोंको खिलाया जाता था। श्राद्धविधिके अनुसार सुचरित्र, वेदादिशास्त्रोंका विद्वान्, बहुभाषा-प्रवीण, पितृ-कर्मनिष्णात ब्राह्मण अथवा उसी वर्ण का उसका दौहित्र ही माध्यम रखा जावे; चरित्रभ्रष्ट, निम्नवर्ण अश्रद्धालु, अविद्वान्, अब्राह्मण माध्यम न रखा जावे। इस कर्ममें मृतकके पुत्र, पौत्र वा प्रपौत्रका सम्पर्क अवश्य होना चाहिये, उन्हें श्रद्धालु भी होना चाहिये।

पितरोंके आह्वानके समय अमावास्या आदि तिथिका नियम कृष्ण-पक्षका नियम, अपराह्णकालका नियम, यज्ञोपवीतके दक्षिण स्कन्धमें

करनेका नियम. तिल, घृत, मधु, तुलसीपत्र, गङ्गाजल-युक्त ओदनका तथा रजतपात्रका उपयोग भी शास्त्रानुकूल अनुसृत किया जाना चाहिये। हाँ आश्विनके दिनोंमें मृतककी मृत तिथिके अनुसार भी पितरों का आह्वान हो सकता है, अथवा क्षयाह वाले दिन भी मृतकका आह्वान हो सकता है। उसका कारण यह है कि—पितृलोक चन्द्रलोक पर है, जैसे कि पूर्व कहा जा चुका है। आश्विनके दिनोंमें चन्द्रमा अन्य मासों-की अपेक्षा पृथिवीके अधिक निकट होता है, इसलिए उसकी आकर्षण-शक्तिका प्रभाव पृथिवी तथा उसमें अधिष्ठित देहधारियों पर विशेष रूपसे पड़ता है। तब चन्द्रलोकस्थ पितरोंका भी हममें सम्बन्ध होकर परस्पर आदान प्रदान हो जाता है। क्षयाहकी तिथिमें वे पितर सीधे उसी मार्गमें होते हैं, क्योंकि—तिथि चन्द्रगतिके अनुसार हुआ करती है और उस तिथिमें वे पितर चन्द्रलोकके उसी मार्गमें हुआ करते हैं जिस तिथिमें वे मृत्यु प्राप्त कर उस स्थानमें प्राप्त हुए थे।

नियत तिथिमें पितरोंके बुलाने वा श्राद्धका रहस्य हमने बता दिया, उसमें कृष्णपक्षका रहस्य भी गतनिबन्धमें बता दिया गया है। जब पितरोंका निद्रा-समय हो—उस समय उनका आह्वान नहीं करना चाहिये। क्योंकि—उस समय वे बिना आश्विन मासके अन्य मासमें संवाद नहीं करना चाहते। उस समय कई अन्य निकृष्ट भूतादि ही हमारे साथ संवाद कर रहे हों-यह सम्भव है। तीन पीढ़ीसे अधिक के पितरोंको संवादके लिये नहीं बुलाना चाहिये, क्योंकि—वे उस समय चन्द्रलोकमें नहीं होते, अन्य लोकोंमें चले जाते हैं। पितृकोटिमें न रह कर देवकोटिमें चले जाते हैं। उनको बुलानेके लिए शास्त्रीय अन्य उपाय अवलम्बित करने पड़ेंगे। कई मृतक तो आरम्भमें ही पितृकोटि

में न जाकर परलोकके निम्नस्तर नरकादिमें वा भूत प्रेतादियोनिमें चले जाते हैं। वहाँ उनको बहुत अशान्ति रहती है।

हमारे पूर्वज जिस बातको आध्यात्मिक प्रकारसे तथा मन्त्रशक्तिसे करते थे, पाश्चात्य वैज्ञानिक उसी बातको आधिभौतिक प्रकारसे तथा यन्त्र शक्तिसे करते हैं। पूर्वीय प्रकारका अवलम्बन करने पर शास्त्रों पर दृढ निष्ठा रहती है, श्रद्धा-विश्वास बना रहता है, आस्तिकता बनी रहती है, निःस्वार्थता बनी रहती है; उसमें स्वराज्य स्वतन्त्रता, तथा देशिकता होती है, पर पाश्चात्य यन्त्र शक्तिका उपयोग करने पर अनास्था, शास्त्रों पर अविश्वास, तप शक्ति पर असत्यय, स्वार्थभाव, विदेशों पर निर्भरता, तथा परतन्त्रताआदि दोष रहते हैं।

हम जो नई गवेषणा करते हैं, वा दूसरोंको चमत्कृत करने वाली बातें कहते हैं, देवता वा पितर ही हमें वह ज्ञान देकर हमसे वैसा कहलवाते वा लिखवाते हैं। 'महाभारत' में कहा है—'न देवा दण्ड-मादाय रक्षन्ति पशुपालवत्। य ते रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम् (उद्योगपर्व ३४।८०) 'देवता पशुपालकी तरह डण्डा लेकर मनुष्यका रक्षा नहीं करते। जिसकी वे रक्षा करना चाहते हैं, उसको बुद्धिसे संयुक्त कर देते हैं'। इसीलिए कहा है—'विनाशकाले विपरीत-बुद्धिः'। पितर भी देवताओंमें अन्तर्भूत हैं—यह पूर्व कहा ही जा चुका है। यदि हम उन देव-पितरोंकी वैध पूजा करें, तो वे हम पर अवश्य ही प्रसन्न होकर हमें नये नये उपदेश वा वरदान दें, जिसका

हम अपने लेखों वा वक्तव्योंमें उपयोग कर अपने सम्बन्धियों का 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' इस न्यायसे पृथिवीस्थ अन्य जनोंका उपकार कर सकें। फलत पितरोंके सम्मानसे जहाँ मृतक पितृ-श्राद्ध समूल तथा प्रत्यक्ष विषय सिद्ध होगा, वहाँ तृप्त पितरों द्वारा हमें उपदेश भी प्राप्त होगा, वृद्धि-प्राप्तिसे हमारी रक्षा भी होगी।

इस प्रकार परलोक-विद्याके उन्नत हो जाने पर फिर हम देवताओंसे अपना सम्बन्ध जोड़कर जब-तब उनसे पूर्वापेक्षया स्थायी तथा अधिक लाभप्रद उपदेश आदि प्राप्त करके सब जगत् को दिव्य-शक्ति युक्त करनेमें सक्षम हो सकेंगे। आशा है 'आलोक' के पाठकगण इस आवश्यक विषय पर ध्यान देंगे।

---

(१३) मृतक-श्राद्धविषयक कुछ शङ्काएँ

श्राद्ध विषय पर हम स्थान न होनेसे विस्तीर्ण निबन्ध न दे सके; पुन: सुअवसर मिलने पर विस्तीर्ण निबन्ध उपस्थित किया जायगा। अब श्राद्धविषयक कुछ शङ्काओंका उत्तर देकर यह विषय समाप्त किया जायगा।

(१) प्रश्न—'श्रद्धया यत् क्रियते, तद् श्राद्धम्' यह श्राद्धशब्दकी व्युत्पत्ति है इससे मृतक-श्राद्धकी सिद्धि नहीं।

(उ० कई नाम व्युत्पत्तिमूलक होते हैं और कई प्रवृत्तिनिमित्तक। इनमें पहले यौगिक माने जाते हैं, अन्तिम, रूढ वा योगरूढ। जब यौगिकत्वमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोष आते हैं, तब व्युत्पत्त्यर्थ को हटाकर रूढिसे लोक वा शास्त्रकी प्रवृत्ति-निमित्तता ली जाती है। नहीं तो इस प्रकार विवाह तथा उपनयन आदि शब्द भी व्युत्पत्तिमूलक हो जावेंगे, तब यष्टिका वहन (छड़ी उठाना, वा वेश्या-वहन भी 'विवाह' हो जावेगा। गर्दनके पास पतलून बान्धनेवाले चर्मपट्टको ले जाना भी 'उपनयन', संस्कार हो जायगा; पर ऐसा वादियोंको भी इष्ट नहीं। जैसे इनमें परिभाषा ली जाती है, वैसे 'श्राद्ध' में भी।

व्युत्पत्तिमात्र मानने पर 'गौ' की 'गच्छति' यह व्युत्पत्ति होनेसे पुरुष, घोड़ा, भैंस, बकरी आदि सभी 'गौ' हो जाएँगे। इसी प्रकार 'श्राद्ध' को भी उक्त व्युत्पत्ति मानने पर सभी कार्य 'श्राद्ध' हो जायेंगे, श्रद्धा किस कार्यमें नहीं होती? परन्तु यहां अतिव्याप्ति दोष हटानेके लिए लोक एवं शास्त्रकी रूढिसे श्रद्धासे किया जाने वाला मृतक-पितरों

के उद्देश्यसे ब्राह्मणको अन्नादि-दान ही श्राद्ध होता है, जीवित-पितृ-विषयक नहीं। जैसे—'अकालमृत्यु' शब्दको व्युत्पत्तिमूलक माना जावे, तो 'नाऽकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि' इस उक्तिसे विरोध पड़ता है, परन्तु रूढिसे चोर, रेलगाड़ी आदिसे मारा जाना ही 'अकाल-मृत्यु' कहा जाता है, वैसे 'श्राद्ध' शब्द मृतक-पितृ-विषय होने पर तो उपपन्न हो सकता है, नहीं तो उसमें अतिव्याप्ति आदि दोष आते हैं।

वस्तुतः पितृश्राद्धमें यहांसे मर कर पितृलोकमें पहुँचे हुओंका ही श्रद्धासे आह्वान, उनके साथ संवाद और उनसे रक्षाके लिए प्रार्थना आदि उनमें हमसे विशिष्ट शक्ति होनेसे ही उपपन्न हो सकता है। तभी वेदमें कहा है - 'आयन्तु नः पितरः' सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्' (यजुः वा० सं० १९।५८) 'यत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिषि था रयिं सर्ववीरं दधातन' (१९।६१) इत्यादि मन्त्रोंमें उनके बुलाने, उनसे संवाद, रक्षाकी प्रार्थना, तथा उनकी अतिमानुषशक्तिके बीज मिलते हैं। इसीलिए ही आजकल परलोक-विद्या प्रवृत्त हुई है। यदि इस विद्याका वेद-शास्त्र-पुराणादिके कहे प्रकारसे प्रचार किया जावे, तो उसके दोष दूर हो जावें।

(२) कई आर्यसमाजी श्राद्ध पर शङ्का करते हैं कि—'यदि भुक्त-मिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति। दद्यात् प्रवसतः श्राद्धं न स पथ्योदनं वहेत्'। 'मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम्। प्रस्थितानां हि जन्तूनां वृथा पाथेयकल्पनम्'। यदि यहां पर श्राद्ध खिलानेसे जन्मान्तर में दूसरेके देहमें पहुँच जाता है, तो परदेसमें गये हुए को भी श्राद्ध कर दिया जावे, उसे भी मिल जावे। वह व्यर्थ अपने साथ पाथेय (मुसा-फिरीका खाना) लेकर क्यों जाता है? 'स्वर्ग-स्थिता यदा तृप्तिं गच्छे-युस्तत्र दानतः। प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते' दान देनेसे

यदि स्वर्ग-स्थितोंकी तृप्ति हो जाती है; तब अन्तिम मँज़िल पर ठहरे हुए कों निचली मँज़िलमें दिया हुआ क्यों न मिले ? जैसे यहाँ का दिया नहीं मिलता, वैसे श्राद्धका फल परलोकमें भी नहीं मिलता।

उत्तर—इस युक्ति देने वालोंको याद रखना चाहिये कि—यह युक्ति उनकी नई नहीं है। यह तो नास्तिक वा चार्वाकोंकी युक्ति है—जिसे उन्होंने अपनी पुस्तकमें लिखा है। इस पर प्रश्नकर्ता अपने 'सत्यार्थप्रकाश' के १२वें समुल्लासके आरम्भको देखें। इस प्रकार वनमें श्रीरामको जाबालिमुनिने भी जब वनसे लौटानेके लिए 'यदि भुक्तमिहान्येन' (२।१०८।१५) 'मृतो हि किमशिष्यति' (१४) यह श्लोक सुनाये, तब श्रीरामने भी इन्हें नास्तिक-वचन कहा (देखिये वाल्मीकि-रामायण २।१०६।३०-३३-३४)। जाबालिने भी यही माना—'यथा मया नास्तिकवागुदीरिता' (३६-३८) श्रीवाल्मीकिने भी उक्त वचनको धर्मापेत-धर्मविरुद्ध (२।१०८।१) माना। तब क्या वैदिकम्मन्य प्रश्नकर्ता नास्तिक-युक्तिको अपनी युक्ति मानते हैं। जैसे कि—स्वामी दयानन्दजीने भी उक्त युक्तिका समर्थन करके नास्तिकोंके आगे अपना सिर झुका दिया! यह ठीक नहीं। नास्तिकों और आर्यसमाजी वा सनातनधर्मियोंमें भारी भेद है। हम दोनों आस्तिक हैं—पर चार्वाक नास्तिक। वे केवल प्रत्यक्षको मानते हैं—हम दोनों आप्त वचनको भी मानते हैं। वे परलोक वा पुनर्जन्म नहीं मानते, तब उनके वचनको उपस्थित करने वाले वादी भी परलोक वा पुनर्जन्म वा आप्तवचनको नहीं मानते, यह मानना पडेगा।

नास्तिक कहते हैं—'यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः!' ऋण लेकर खाते पीते और मौज उडाते रहो, फिर तुम्हें परलोकमें ऋण नहीं देना पडेगा—

क्योंकि भस्म हुआ शरीर फिर नहीं लौटेगा'। क्या प्रश्नकर्ता उनकी यह युक्ति मानकर स्वकर्मोंका भी त्याग कर देंगे? तब जो कि अथर्ववेद (शौ० सं०) (६।११८।२) में कहा है कि—'ऋण न देने पर यमलोकमें रस्सीसे बंधना पड़ता है'—क्या वैदिकम्मन्य वादी इस वेदवचनको भी 'गप्प' मानेंगे? नास्तिक कहते हैं—'यदि गच्छेत् पर लोकं देहादेष विनिर्गतः। कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः।' (यदि इस देहसे निकल कर जीव परलोकमें जाता है, बन्धुस्नेहसे फिर उस घरमें क्यों नहीं लौट आता) यह वचन मानकर वादी परलोकको नहीं मानेंगे? नास्तिक कहते हैं—'तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा, देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात्' तो क्या वादी उनके इस अनुमानसे शरीरको ही आत्मा मानेंगे?

नास्तिकोंका आचार्य कहता है—'अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्। बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः।' अर्थात्—वेद, हवन आदि बुद्धिहीनोंकी जीविका है। यह मानकर वादी अपने अभिमत अग्निहोत्र तथा वेदादिको अपनी जीविकाका उपाय मानेंगे? नास्तिक कहते हैं—'त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः। जर्भरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्' तब क्या प्रश्नकर्ता अपने आपको वैदिक माननेवाले भी वेदोंको भाण्ड आदिसे बनाया हुआ—और वैदिक शब्दोंको भी मनुष्यकल्पित मानेंगे? नास्तिक कहते हैं—'न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः। नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः' तो क्या वादी भी सत्यार्थप्रकाशमें उद्धृत इस वचनके अनुसार मुक्ति, जीव, वर्णाश्रम आदि क्रियाओंको नहीं मानेंगे। नास्तिक 'मूर्खाणामीशकल्पना' परमात्माको मूर्खोंकी कल्पना मानते हैं कि—जिससे लोग डरते रहें—क्या वादी भी ऐसा मानते हैं?

यदि शङ्काकर्ता नास्तिकोंकी इन उक्तियोंको नहीं मानते, तो श्राद्ध-विषयमें वे यदि नास्तिकोंकी उक्ति मानते हैं, तो क्या वे नास्तिकोंके अनुयायी हैं ? नास्तिक इस जन्मके किये हुए अपने दानादिकर्मोंका फल भी परलोकमें नहीं मानते, जैसे कि—'परत्रेह कृतं कर्म चेद् भवेत्फलदायकम्। गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयधारणम्' परन्तु आप लोग तो हमारी तरह ऐहिक कर्मोंका फल परलोकमें मानते ही हैं। जैसे कि सत्यार्थप्रकाशमें—(प्रश्न)—दानके फल यहां होते हैं या परलोकमें ? (उ०) सर्वत्र [इस लोक तथा परलोकमें] होते हैं (११ समु० पृष्ठ २२०) तब तो आपकी और हमारी समानता हो गई। जैसे हमारे मृतकश्राद्धमें नास्तिकोंका प्रश्न है कि यदि यहाँ मरे हुए मनुष्योंका श्राद्ध करनेसे परलोकमें फल मिलता है तो परदेसमें गये हुएका भी श्राद्ध करनेसे उसे फल प्राप्त हो जाए, वैसे ही आप लोगोंमें भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—आप लोग भी ब्राह्मणको अपने लिए दान देनेमें परलोकमें अपनेको फल मिलना मानते हैं, तो आप भी परदेसमें जाते हुए किसी स्वाभीष्ट ब्राह्मणको दान दे दें, तो क्या आपको परदेशमें भी 'हुण्डी' की तरह उसका फल मिल जायगा ? ऐसा होने पर परदेशमें पाथेय (मुसाफिरीका खाना) के भार उठानेकी आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। यदि आप पुनर्जन्मवादी होनेसे नास्तिकोंकी इस उक्तिको अश्रद्धेय मानते हैं, तब हम भी 'मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत्' इस उनकी उक्तिको अप्रमाण मानते हैं। आप जैसा उत्तर उन्हें देंगे, हमारा भी वैसा ही उत्तर होगा। तब क्यों आप (प्रश्नकर्ता) नास्तिकोंके कुतर्कों को अपना-कर हमारे सामने उपस्थित करते हैं ? क्या 'प्रच्छन्ननास्तिक' पदवी पानेके लिए ? यदि आप अपने उद्देश्यसे ब्राह्मणको यहाँ खिलावें, और फिर कलकत्ता जाते हुए, रास्तेमें आप अपनी तृप्ति होती हुई न देखें, तो क्या दूसरे जन्ममें आप स्वकर्म फल मिलना भी नहीं मानेंगे ?

वास्तवमें नास्तिकोंका उक्त दृष्टान्त ही विषम है, क्योंकि—जीवित और मृतकोंके सभी व्यवहारोंमें समता नहीं हो सकती, क्योंकि दोनोंमें शक्तिभेद है। मरने पर परलोकमें सूक्ष्म-शरीर मिलनेसे आत्मा-का विभुत्व प्रकट हो जानेसे उसमें बहुत शक्ति प्रकट हो जाती है, पर वह शक्ति स्थूल-शरीराच्छन्न जीवमें नहीं होती। दीपक जब घड़ेमें ढका हुआ हो, तो उसका प्रकाश सीमित हो जाता है, बाहर रखने पर उसकी शक्ति बढ़ जाती है। आप लोग भी दूसरेको अपने उद्देश्यसे दान देते हैं; आप उसका फल मर कर प्राप्त कर सकते हैं, जीवित रहने पर नहीं। पहले ही हम कह चुके हैं कि—मरने पर सीमित शक्तिवाले स्थूलशरीरके नाशसे अधिक शक्तिवाले सूक्ष्मशरीरके मिलने पर विशेष शक्ति प्रादुर्भूत हो जाती है। उसमें आकर्षणशक्ति बहुत हो जाती है, सूक्ष्म होनेसे उस फलका आकर्षण भी अनायास हो जाता है। परन्तु स्थूल-शरीर वालेमें वैसी शक्ति नहीं होती। पार्थिव शरीर उसमें प्रतिबन्धक होता है, परन्तु तैजस-वायव्य आदि देव पितरोंके शरीरोंमें तो उसकी सुलभता हुआ करती है।

जैसे लोहेके टुकड़ेको लेकर उसके बजाने पर भी उसका समाचार अन्य-देशमें नहीं पहुँचता, परन्तु विद्युत्से मिले 'तारघार' में उस लोहखण्डके शब्दित करने पर उसका समाचार अन्य देशमें भी पहुँच जाता है, इस भान्ति यहाँ भी घटा लेना चाहिये। सब व्यवहार सर्वत्र समानतासे नहीं हुआ करते—यह बात अवश्य-स्मरणीय है। जीवितावस्थामें दूसरेको खिलानेसे अपनेको फल नहीं मिलता, पर मरने पर उसका फल हमें मिल जाता है। स्थूलावस्था हटना और सूक्ष्म-अवस्था प्राप्त होनेका नाम ही मरण हुआ करता है। जैसे आर्यसमाजियोंके मतमें स्थूल घर उनका कोई लाभ नहीं करता, उसीको विधि-अनुसार अग्निमें हवन करने पर वह सूक्ष्म होकर जहाँ-तहाँ फैलकर उनके मतमें

वहुवोंका उपकारक सिद्ध होता है, उसमें कारण क्या? कारण यही है कि—अग्नि द्वारा वह सूक्ष्म हो जाता है। वैसे यहाँ पर भी समझ लेना चाहिये। हमने किसी ब्राह्मणको अपने उद्देश्यसे भोजन कराया, पर परदेशमें गये हुए भी हम उस फलको उससे नहीं खींच सकते, वहाँ हमारा स्थूलशरीर ही प्रतिबन्धक होता है, कर्म-व्यवस्थामें भी उसका फल ऐहिक जन्ममें नहीं मिल सकता, क्योंकि वह ऐहिक कर्म अग्रिम जन्मके लिए सञ्चित हो जाया करता है, इस जन्ममें वह फल नहीं दे सकता। पर जब पुरुष मृत्युको प्राप्त हो जाता है, स्थूल अवस्था को छोड़कर सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त कर लिया करता है, तब वह अपनी अतिशयित आकर्षण आदिकी शक्तिकी महिमासे उस कर्मके फलको उससे खींच सकता है। अथवा यदि वह नहीं मरता, वह उसका भोजनादि खाने वाला ब्राह्मण ही मृत्यु को अर्थात् स्थूलावस्थाको छोड़कर सूक्ष्मावस्थाको प्राप्त हो जाता है, तो वही अपनी अतिशयित विकर्षणशक्तिकी महिमासे उसी फलको उस जीवितके पास किसी निमित्तसे भेज देता है। यह तो है अपने उद्देश्यसे दिये हुए दानका फल, इस प्रकार जब पितर-आदि दूसरेके उद्देश्यसे श्राद्धादि किया जाता है, तब हमारे मानसिक तथा वाचिक सङ्कल्पसे पितृ निमित्तक ब्राह्मणको दिये हुए अन्नादि-दानको वह मृतक सूक्ष्मावस्थामें प्राप्त होनेसे मनकी प्रबलता तथा आकर्षणशक्तिकी प्रबलतासे उसी प्रकारसे खींच लिया करता है, यह बात शङ्काकर्ताओंको सूक्ष्म विचार करनेसे प्रतिभासित हो सकती है। इस प्रकार यहाँ पर जहां शास्त्रीयता है, वहाँ पर विज्ञान-सिद्धता भी सिद्ध है। यह शक्ति पितृलोकमें प्राप्त हुओंमें स्वाभाविकतासे हुआ करती है, जब वे पितृलोककी स्थिति समाप्त करके इस लोकमें स्थूलरूपसे आ जाते हैं, तब उन्हें नित्य पितर वसु-रुद्र-आदित्य उस फलको प्राप्त करा देते हैं।

इस प्रकार कई सिक्ख भी नास्तिकोंकी भान्ति, वा आर्यसमाजियों की भान्ति कहते सुने जाते हैं कि—"कोई ब्राह्मण नदीके किनारे मृतक-पितरोंका तर्पण कर रहा था, तब हमारे किसी गुरु—सम्भवतः श्रीगुरु नदेवने पश्चिमकी ओर मुख करके प्रचुर मात्रामें हाथसे जल फेंकना शुरू कर दिया। तर्पण समाप्त कर चुके हुए ब्राह्मणने पूछा—यह क्या कर रहे हो? गुरुने उत्तर दिया—यह जल मैं अपने खेतके नामसे डाल रहा हूँ, वह पश्चिममें है, नदी वहाँ निकट नहीं है। इससे उसे जल पहुँचगा। भोले ब्राह्मणने इसे मृतक-तर्पणमें उपहास न जानते हुए उसमें असम्भवकी आशङ्का प्रकट की। तब गुरुने कहा—जब खेतक नामसे डाला हुआ जल कुछ दूर ठहरे मेरे खेतको नहीं सींच सकता, तब मृतकके नामसे दिया जल इस लोकमें नहीं, किन्तु परलोकमें ठहरे हुए जीवको कैसे मिलेगा? तब ब्राह्मण लज्जित होकर चुप गया"।

मालूम नहीं—यह वृत्त सिक्खोंके किसी मान्य ग्रन्थमें है—वा नहीं पर हमने एक सिक्खके मुखसे सुना है। इस प्रकार अन्य साधारण जन भी आशङ्का करते हैं कि–मृतक प्राणी श्राद्धको कैसे पावेगा, जबकि जीवित भी दूसरेसे खाये हुएको नहीं पा सकता, इस पर सभी का यह जानना चाहिये कि—तर्पणके जल वा श्राद्धके अन्नको जीवित, पुरुष स्थूल शरीरमूलक अशक्तिके कारण नहीं खींच सकता, पर मृतक तो सूक्ष्म पितृशरीरको प्राप्त करके आकाशमें सूक्ष्मतासे ठहरे हुए उसको खींच सकता है। इसके उदाहरणमें 'रेडियो' को ले लीजिये। जिसके पास यह यन्त्र होता है, वह इङ्गलैण्ड, जर्मनी, रूस, अमेरिका आदि देशोंके उसी समय हो रहे हुए शब्दोंको खींच सकता है। परन्तु जिसके पास वह यन्त्र नहीं है, वह लण्डन आदिमें तो क्या, भारतमें भी होरहे हुए कुछ दूरके भी शब्दोंको खींच नहीं सकता। इस प्रकार जीवितोंके पास दूसरे

से दिये हुए श्राद्ध-तर्पणके आकाशस्थ रसको खींचनेकी शक्ति नहीं होती; परन्तु मृतकोंके पितृलोकमें जानेसे उनके पास वह शक्ति सूक्ष्मतावश अनायास उपस्थित हो जाती है। स्थूल शरीरमें तो वह शक्ति नहीं रहती, परन्तु सूक्ष्म शरीरमें वह रहती है, इसीलिए युधिष्ठिर स्थूल शरीरके साथ स्वर्गलोकमें विलम्बसे प्राप्त हुए, परन्तु भीम-अर्जुनादि मर जानेके कारण स्थूल-शरीरत्यागवश युधिष्ठिरसे पूर्व ही प्राप्त हो गये—यह महाभारतमें स्पष्ट है। स्थूल बीजमें वृक्षोत्पादन-शक्ति नहीं होती; जब वह पृथ्वीमें बोया जाकर मर जाता है, तब उसमें सूक्ष्मता आ जानेसे वह शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह स्थूल-सूक्ष्म शक्तिमें अन्तर है। वैज्ञानिक भी कहते हैं कि—चन्द्र आदि लोकोंमें सम्भवतः हमारे लोकके शब्दोंको ग्रहण करनेकी शक्ति है, परन्तु हमारे 'रेडियो' यन्त्रोंमें वह शक्ति नहीं है। उनका अभिप्राय यह है कि—जब रेडियो यन्त्रका कार्यक्रम नहीं होता, तब भी कई शब्द-विशेष सुनाई देते हैं, वे सम्भवतः हमारे समीपके चन्द्र-मंगल आदि लोकोंके हैं, लेकिन हमारे यन्त्र उनको ठीक-ठीक न खींच सकते हैं, न जान सकते हैं वा न जतला सकते हैं।

इस प्रकार स्थूल-शरीरके नाश होने पर प्राप्त हुए देव-पितृ आदिके शरीरमें तो वह शक्ति हुआ करती है। जैसे हम होम करें, उससे—अग्निसे आकाशमें पहुँचाये सूक्ष्म अंशको—सूर्य आदि देव खींच सकते हैं; वैसे ही हमसे किये श्राद्धादिके ब्राह्मणकी अग्नि और महाग्नि द्वारा आकाशमें प्राप्त हुए सूक्ष्म अंशको चन्द्रलोकस्थित पितर यन्त्रस्थानीय अपनी शक्तिके आश्रयसे खींच सकते हैं। इसलिए श्राद्धके आकर्षणार्थ मृत्युकी—ऐहिक शरीरके छूटनेकी—आवश्यकता होती है। तब मरनेके बाद सूक्ष्म देहकी प्राप्तिसे उसमें शक्ति-विशेषकी प्राप्तिसे वह सूक्ष्मदेहसे हमसे दिये श्राद्धका आकर्षण कर लेता है। यही मृतकश्राद्धका

रहस्य है, जिसे न जानकर साधारण लोग नास्तिकोंकी शङ्काओंको भी अपनाने लग जाते हैं।

फलत खेत तो अशक्तिमान् होनेसे दूरसे दिये हुए जलको खींच नहीं सकता, परन्तु पितर तो शक्ति-विशेषशाली होनेसे उसे आकृष्ट कर लेते हैं, तब जो किसी सिक्खगुरुने मृत-पितृतर्पण करने वाले ब्राह्मणका उपहास किया वह शोचनीय ही सिद्ध है।

(३) प्रश्न—एकके किये कर्मके फलको दूसरा कैसे पा सकता है? यदि पा सकता है, तो कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष प्रसक्त हो सकता है, क्योंकि—जिसने कर्म किया, उसे तो उसका फल न मिला—यह 'कृतहानि' हुई। जिसने कर्म नहीं किया, उसे फल मिल गया—यह 'अकृताभ्यागम' हुआ। तब पुत्रके किये कर्मका फल मृत पितृको प्राप्त होने पर यह दो दोष उपस्थित होंगे।

(उत्तर) यह दो दोष तब आते, यदि पुत्र अपने लिए कर्म करता; उसका फल उसे न मिलकर उसके पिताको मिलता। पर पुत्रने जब श्राद्धरूप कर्म अपने उद्देश्यसे किया नहीं, किन्तु मृत पिताके उद्देश्यसे किया है, तब यदि पुत्रको फल नहीं मिला, किन्तु मृत-पिताको, तब उक्त दो दोषोंका यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं, क्योंकि—जिसके उद्देश्यसे कर्म किया जावे, उसे ही फल प्राप्ति हो, तो कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष नहीं आते। एकके किये कर्मके फलको दूसरा भी प्राप्त कर सकता है—इसके कुछ उदाहरण देख लेने चाहियें—

(क) न्यायदर्शन (४।१।६० सूत्र) में 'गुरु अशक्त होने पर शिष्यसे भी अपना होम करवा सकता है' यह माना है। ४।१।४४ न्यायमें होम स्वर्गादि पारलौकिक-फलार्थ माना है। (ख) ४।१।१०४ सूत्रके महाभाष्य

में—'विश्वामित्रकी पहले बारकी तपस्यासे वह स्वयं ऋषि बना, दूसरे बारकी तपस्यासे उसका पिता ऋषि बना, तीसरे बारकी तपस्यासे उसका दादा भी ऋषि बना—यह लिखा है। (ग) महाभाष्यके पस्पशाह्निकके अन्तमें 'आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च तृप्ताः' पुत्रके किये तर्पणके जलसे आमका सींचना तथा पितरोंकी तृप्ति मानी है। प्रत्याहाराह्निकके अन्तमें अक्षर-समाम्नायके पढ़नेसे पढ़ने वालेके माता-पिताकी स्वर्गलोकमें पूजा मानी है। (घ) मनुस्मृति (३।३७) में ब्राह्मविवाहोत्पन्न पुत्रके पुण्यकर्म करने पर उसकी २१ पीढ़ियोंकी पापसे मुक्ति मानी है। (ङ) आर्यसमाजी मृतककी आत्माकी शान्त्यर्थ प्रार्थना करते हैं, मृतक स्वा० दयानन्दके नाम पुस्तक समर्पण करते हैं, उनके नामसे उत्सवोंमें 'ऋषि-लंगर' चलाते हैं। स्वा०द०के नामसे विद्यालय चलाते हैं, अनाथोंको भोजन देते हैं—यह सब मृतक-श्राद्धके प्रकार हैं। (च) बीज कोई अन्य बोता है, फल कोई अन्य खाता है। (छ) संस्कार करता है पिता, फल मिलता है पुत्रको। उस समय लड़का अपने शतवर्ष जीवनको प्रार्थना नहीं करता, किन्तु पिता ही उसकी शतायुकी प्रार्थना करता है, फल किसको मिलता है? पुत्रको। (ज) पाणिनिने वेदाङ्ग व्याकरणके 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (१।३।७२) तथा 'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्' (१।३।७८) इन सूत्रोंमें क्रियाका फल दूसरेको मिलना भी कहा है, तभी 'ऋत्विजो यजन्ति' यह 'परस्मै (दूसरेके लिए)-पद' का प्रयोग कहा जाता है; यहाँ ऋत्विक्‌के किये यज्ञमें यजमानको फल-प्राप्ति सूचित की जाती है। (झ) धन कमाता है पिता; उसका उत्तराधिकारी बनता है पुत्र। (ञ) स्वा० द०जीने संस्कारविधिके २३६ पृष्ठमें 'यदि नात्मनि पुत्रेषु' (४।१७३) इस मनुके पद्यसे पिताके कर्मका फल पुत्र तथा पौत्रको होना भी कहा है। (ट) स० प्र०के ६ठे समुल्लास ९२ पृष्ठमें भृत्यके युद्धसे भागने पर उसका पुण्य स्वामीको मिलना और स्वामीके पापका फल भृत्यको मिलना माना है।

इस प्रकार बहुतसे उदाहरण मिलते हैं; परन्तु पुत्र पितामें कोई भिन्न नहीं होता, 'भार्या, पुत्रः स्वका तनूः' (मनु० ४।१८४) 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (गोभिलगृ० २।८।२१) 'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा ह मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते' (ऐतरेय-ब्राह्मण ७।१४) 'स य एवंविद् अस्माल्लोकात् प्रैति, अथ एभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति' (बृहदारण्यकोपनिषद् १।५।१७। 'पिता पुत्रं प्रविवेश' (अथर्व सं० ११।४।२०) इन प्रमाणोंमें पुत्र पिताका ही रूप है, तो उसके किये कर्मका फल पिताको परलोकमें क्यों न मिले ?

(४) प्रश्न—पिता, पितामह, प्रपितामह तीनका श्राद्ध होता है, तो क्या वृद्ध-प्रपितामह आदिक लिए श्राद्धकी आवश्यकता नहीं ? यदि नहीं; तब इन तीनोंके लिए आवश्यकता भी नहीं।

उत्तर—पारस्कर-गृह्यसूत्रमें कहा है-'निवर्तेत चतुर्थ' (३।१०।४७) 'पिण्डस्त्रिषु इति श्रुतेः' इस श्रुतिसे चौथा पिण्ड नहीं होता, क्योंकि— 'पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते । अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्' (मनु० ९।१३७ 'त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिंडः प्रवर्तते। चतुर्थः सम्प्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते' (९।१८६) इससे यह आशय निकलता है कि—प्रपौत्रके होने पर उससे किये श्राद्धसे प्रपितामह पितृलोकसे हटकर मुक्तिमें चला जाता है, वहाँ हमारा श्राद्धकर्म नहीं पहुँच सकता; अतः वृद्ध-प्रपितामहादिका श्राद्ध नहीं किया जाता।

५) प्रश्न—आत्माके इस देहके त्यागसे पूर्व ही उसके लिए दूसरा देह तैयार रहता है। जैसे कि—'तद् यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वा अन्यमाक्रममाक्रम्य आत्मानमुपसंहरति; एवमेव अयमात्मा इदं शरीरं निहत्य अविद्यां गमयित्वा अन्यमाक्रममाक्रम्य आत्मानमुपसंहरति' (बृहदारण्यक ४।४।३) तब श्राद्धका फल क्या ? तब तो मृतकको परलोकमें रहनेका अवसर ही नहीं रहता।

उत्तर—इस वचनका पुनर्जन्ममें तात्पर्य नहीं। मृत्युके अनन्तर जो तत्क्षण देह तैयार रहता है, वह पारलौकिक सूक्ष्म देह ही है। मृत्युके बाद जीवका पुनर्जन्म एकदम नहीं हो जाता। स्वा० द०जी भी 'सविता प्रथमेऽहन्' (यजु० ३९।६) इत्यादिसे कम से-कम १२ दिनोंके बाद जीव का पुनर्जन्म मानते हैं, उसमें 'तृणजलायुका' न्याय नहीं घटता। मरने के बाद पारलौकिक सूक्ष्म शरीर तो तत्काल मिल जाता है, अतः उक्त उपनिषद्-वचन वहीं सार्थक है। उक्त उपनिषद्के ४थे और ६ठे अध्यायमें मरनेके बाद परलोकमें गमन माना है—तो यहाँ भी उसीका वर्णन है।

(६) प्रश्न—आपने मृत-पितृके उद्देश्यसे ब्राह्मणको खीर दी, यदि वह अन्य जन्ममें कीड़ा बन जावे, तब खीर मिलने पर तो वह उसमें डूब जायगा।

उत्तर—यही बात जीवितश्राद्ध मानने वालों पर भी आती है। वे अपने कर्मका फल तो जन्मान्तरमें मानते ही हैं। यदि उन्होंने गुरुकुल को बहुतसे चान्दीके रुपये दिये, या अनाथोंको गर्म-गर्म खीर दी, मरने पर वह कीड़े बन गये, तो वे रुपये कीड़ेके किस काम आयेंगे? अपितु वह उनके भारसे दब जायगा, गर्म खीरसे मर जायेगा। इस पर जो प्रतिवादियोंका उत्तर होगा—वही हमारा। वास्तवमें दान-श्राद्ध आदि करने पर परलोकमें वा जन्मान्तरमें उस-उस योनिके उपयुक्त अन्न आदि प्राप्त होता है, सुख भी उस योनिके अनुकूल प्राप्त होता है। यहाँ 'देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः। तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति। गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्। मनुष्यत्वेऽन्नपानादि नानासौख्यकरं भवेत्' इत्यादि देवल तथा हेमाद्रिके वचन प्रमाण हैं। जो प्रश्न श्राद्धमें हो सकते हैं, वे ही अपने किये हुए

अग्निरेव दहन् स्वदयति, ते पितरोऽग्निष्वात्ताः' (शतपथ० २।६।१।७) जीवित पितर अग्निदग्ध नहीं होते ।

(८) प्रश्न—ब्राह्मणोंको श्राद्ध खिलानेसे मृत-पितरोंको कैसे मिलेगा ? मृतक तो नष्ट हो गया। क्या ब्राह्मणोंका पेट लैटर-बक्स है ? अब्राह्मणों को ही क्यों नहीं खिलाया जाता ? पितरोंकी रसीद तो आती नहीं।

(उ०) मरनेसे उसका अभाव नहीं हो जाता, किन्तु वह सूक्ष्म हो कर पितृलोकमें चला जाता है—यह हम पहले बता चुके हैं। इस विषयमें मनीआर्डरके दृष्टान्तसे सब समझमें आ सकता है। हमने किसी को मनीआर्डर भेजना है, उसको लेनेका अधिकारी वही डाकबाबू होता है—जिसे सर्कारने इस विभागका अध्यक्ष बना रखा है। उस जैसी योग्यता वाला भी जो सर्कारसे नियत नहीं किया गया—वह नहीं हो सकता। वह अध्यक्ष उन रुपयोंको हमसे ले लेता है। उसके भेजनेका कमीशन भी लेकर उन रुपयोंको यहीं रख लेता है, और उस मनीआर्डर के पत्रको उद्दिष्ट स्थानमें भेज देता है। फिर उद्दिष्ट-स्थानका अधिकारी उस नियत पुरुषको चान्दीके रुपयेके रूपसे, वा 'नोट' या 'पाउण्ड' वा पैसे-आने वा शिलिङ्गादि रूपसे उतना द्रव्य दे देता है। यदि वह पुरुष वहां नहीं होता, दूसरे स्थान चला जाता है; तब वह अधिकारी उसका पता बदलकर दूसरे स्थान भेज देता है। यदि वह वहां भी नहीं होता, तो फिर वे ही रुपये भेजने वालेको लौटा देता है। इस प्रकार हमने किसी सम्बन्धीको 'तार' द्वारा सूचना देनी है—तो हमारा दिया हुआ तार-फार्म तो यहीं रह जाता है, किन्तु उसका शब्द दूसरे तारघरमें पहुँच जाता है; उधरका अधिकारी वैसा तारपत्र बनाकर नियत पुरुषको चपड़ासी द्वारा भिजवा दिया करता है। वैसे ही किसीने मृत-पितृके पास अन्न आदि भेजना है। उसका अधिकारी विद्वान् ब्राह्मण ही है; जिसे परमात्माने जन्मसे नियत किया है, वैसी योग्यता वाला भी

क्षत्रियादि जन्मसे ब्राह्मण न होनेसे परमात्मासे नियमित न होनेके कारण उसका अधिकारी नहीं होता। यदि छलसे दूसरा उस स्थान पर आ जाय; तो उसे दण्ड मिलता है। 'ब्राह्मणस्यैव कर्मैतद् उपदिष्टं मनीषिभिः। राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते (मनुस्मृति २।११०)।

वह अन्नादि वहाँ ब्राह्मणके उपयोगमें ही आता है, जैसे मनीआर्डर के रुपये वहीं रह जाते हैं। ब्राह्मण दक्षिणारूप कमीशन ले लेता है। परन्तु उसके अध्यक्ष परमात्माकी आज्ञासे वही अन्न देवता बनने पर अमृत-रूपमें, मनुष्य बनने पर अन्न-रूपमें, पशु बनने पर तृण आदि-रूपमें, राक्षस होने पर रुधिर-रूपमें इस प्रकार तत्तद्योनिके उपभोज्य अन्नके रूपमें निर्दिष्ट व्यक्तिको प्राप्त हो जाता है। जैसे वह रुपया आदि अध्यक्ष अपने पोस्टमैनके द्वारा नियत पुरुषको पहुँचाता है, वैसे ही परमात्मा वसु, रुद्र, आदित्य आदि दिव्य नित्य-पितरोंके द्वारा नियत पितृको श्राद्धका फल भिजवा देता है। यदि वह पुरुष पितृलोकमें नहीं होता, मनुष्यलोकमें पहुँच गया होता है; तो उस फलको परमात्मा परिवर्तन करके दिव्य-पितरोंके द्वारा वहीं पहुंचा देता है। यदि वह वहां भी नहीं होता; किन्तु मुक्त हो गया होता है; तो वह अन्नादि फल, प्रेषकको ही फिर अन्न वा सुखादि-रूपसे प्राप्त हो जाता है। यहाँ प्राप्तिपत्र (रसीद) तो वेद-शास्त्र आदिके 'त्वमग्ने! ईडितः कव्यवाहनोऽवाड् हव्यानि सुरभीणि कृत्वा प्रादाः पितृभ्यः स्वधया तेऽक्षन्' (अक्षयन्)' (यजुः

वा० सं० १६।६६) इत्यादि वचनोंका विश्वासरूप ही मिलता है; यही विशेषता है। उक्त मन्त्रमें लिखा हुआ है कि—पितरने उस अन्नको पा लिया और खा लिया—यह रसीद ही तो है। वस्तुतः रसीदका प्रश्न ही व्यर्थ है। विश्वास ही पर्याप्त है। कभी बनावटी रसीदें भी आ जाती हैं। आप किसी विश्वस्त मित्रके द्वारा कोई वस्तु दूरदेश-स्थित अपने जीवित पिताके पास भेजते हैं; तो क्या वहां रसीद मांगते हैं? यदि नहीं; तो यहां पर भी रसीदका प्रश्न व्यर्थ है। वेदके वचन पर विश्वास ही यहां 'रसीद' मिलती है। श्राद्धभोक्ता जन्मसे ब्राह्मण वेद-विद्वान् और सदाचारी होना चाहिये; तब कोई धोखेकी आशङ्का नहीं होगी। अन्यथा तो कुछ न-कुछ अविश्वासकी आशङ्का बनी रहेगी।

अब विस्तार-भयवश यह विषय समाप्त करके हिन्दुधर्मके मूर्ति-पूजा आदि विषयों पर कुछ प्रकाश डाला जायगा।

(१४) मूर्तिपूजारहस्य और परापूजास्तोत्र

(१)

सनातन हिन्दुधर्ममें मूर्तिपूजा भी एक अङ्ग है। मूर्तिपूजा इसम बहुत सोच समझकर रखी गई है। उसके रखनेका कारण यह है कि जब तक मनुष्य स्वयं साकार है, तब तक वह मूर्तिपूजासे छूट नहीं सकता। हां, यह हम मानते हैं कि इसका उपयोग सारी आयुके लिए नहीं है। मूर्तिपूजा कर्मकाण्ड है, इसका उपयोग हमारे यज्ञोपवीत पहिरे रहने तक है। परमहंसावस्थामें ज्ञानकाण्डके समय जबकि यज्ञोपवीतका त्याग किया जाता है, यज्ञोंका त्याग किया जाता है, तब मूर्तिपूजाका भी। मूर्तिपूजा भी यज्ञका ही एक प्रकार है।

इसे यों समझना चाहिये।—देवपूजा दो प्रकारकी होती है, हवन तथा मूर्तिपूजा। संस्कृत अग्निमूर्तिके द्वारा 'इन्द्राय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा' इत्यादि रूपसे तत्तद् देवताओं हवि देना हवन द्वारा देवपूजा है, मन्त्र संस्कृत प्रस्तर आदि मूर्तिके द्वारा तत्तद्देवताको बलि देना मूर्ति-द्वारा देवपूजा है। इसीलिए श्रीशङ्कराचार्य स्वामीने लिखा है—'प्रतीकोपासनानि तु जडवस्तुनि मन्त्रादिसंस्कारेण मूर्तिरूपेण तत्तद्देवता-बुद्धिजनकानि तत्तद्-भोग्यवस्तु फलप्राप्तिजनकानि'।

इन दोनों (हवन तथा मूर्तिपूजा) को 'यज्ञ' कहा जाता है, क्योंकि देवपूजार्थक यज् धातुका अर्थ दोनों स्थानोंमें देखा गया है। 'शाङ्खायनब्राह्मणमें' कहा है 'स एवास्मै यज्ञं ददाति, तद् यद् एता देव-

यजति' (४।२) अर्थात्—देवताओंकी पूजा ही यज्ञ होता है। इसीलिए 'श्रीमद्भागवत-पुराण' में भी कहा गया है—

'यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः। यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे। अर्चायां (मूर्तौ) स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाऽप्सु हृदि द्विजे' ११।२७।८-९) अर्थात्—द्विज (यज्ञोपवीती) मूर्ति या अग्निमें देवका पूजन करे। 'स्नानालङ्करणं प्रेष्ठमर्चायामेव तूद्धव!...... वन्हौ आज्यप्लुतं हविः' (११।२७।१६) यहां मूर्तिमें स्नानादि तथा अग्निमें घृताक्त हवि डालना कहा है। 'द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्-यागः प्रतिमा-दिष्वमायिनः' (११।२७।१२) यहाँ प्रतिमापूजनको भी हवनकी भांति याग (यज्ञ) ही कहा है।

जिस प्रकार लोकमें प्रस्तरकी मूर्ति जड मानी जाती है, वैसे ही अग्नि भी। परन्तु 'अभिमानिव्यपदेशः' (वेदान्तदर्शन २।१।५) 'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' (महाभाष्य-वार्तिक ३।१।७) इस शास्त्रीय कथनसे दोनों ही मूर्तियां चैतन्य धारण करती हैं। अग्नि उस हविके स्थूल भागको भस्म करके उसका सूक्ष्म भाग देवताओंको देती है; और मूर्ति मधुमक्षिकासे पीये हुए पुष्पकी भांति उसका सूक्ष्मांश तत्तद्देवको समर्पण करती है।

जैसे अग्नि वेदमन्त्रोंसे संस्कृत की जाती है; वैसे ही मूर्ति भी वेदमन्त्रोंसे संस्कृत की जाती है। जैसे अग्निहोत्रमें द्विज तथा कर्म-काण्डीका अधिकार है, वैसे ही मूर्तिपूजामें भी। इस कारण संस्कृत मूर्तिपूजनमें शूद्र-अन्त्यज आदिका अधिकार नहीं रहता, परमहंसोंका भी नहीं। परमहंसोंका शूद्रोंकी भांति यज्ञमें अनधिकारी होनेसे संस्कृत

मूर्तिपूजनमें निषेध नहीं होता; किन्तु यज्ञोपवीतीसे उच्चाधिकारी होनेसे उसमें उसका निषेध होता है।

मूर्तिपूजाका दूसरा नाम प्रतिमोपासना भी है। यह प्रतिमा-उपासना जहाँ अन्य शास्त्रोंको सम्मत है; वहाँ वेदको भी। यह आगे कहा जायगा। जब तक हम साकार हैं, अथवा व्यावहारिकतामें हैं; तब तक हमें मूर्ति-पूजा करनी ही पड़ेगी। गुरुजीकी पूजा करनी है; कैसे करें? हम उन्हें नमस्कार करते हैं। उनके गलेमें पुष्पमाला डालते हैं। यह क्यों? गुरु आत्माको माना जाता है या शरीरको? यदि आत्माको; तो उसी पर फूल डालने चाहियें, नमस्कार भी उनकी आत्माको ही कीजिये। उनके अस्थि, मज्जा रुधिरके बने गलेमें माला क्यों डाली जाती है? उनके किसी अङ्गकी वन्दना क्यों की जाती है? कहना पड़ेगा कि—न निराकार आत्मा पर फूल पहिनाना बन सकता है, न उसे नमस्कार हो सकती है। अङ्गी आत्माकी पूजा प्रत्येक दशामें उसके किसी अङ्गके द्वारा ही होगी। साकार गुरुके गलेमें हम स्वयं साकार, साकार-मालाको डालते हैं, वही माला हमारी निराकार श्रद्धाका प्रतीक होती है। साकार अङ्ग पर साकार पुष्प चढ़ा, और उससे निराकार गुरुकी आत्मा पर हमारी निराकार श्रद्धा चढ़ी। उद्देश्य भी हमारा यही था; 'अस्थि, माला, रुधिर रूप अङ्ग पर फूल चढ़ाना हमारा उद्देश्य होता भी नहीं। यही बात मूर्तिपूजामें भी समझनी पड़ेगी। लक्ष्य हमारी मूर्ति नहीं होती; किन्तु मूर्ति-स्थित वही शक्ति (परमात्मा) होती है। मूर्ति उसी अणु-अणुमें व्यापक-शक्ति अङ्गीका एक अङ्ग है। उस अङ्ग-द्वारा हम अङ्गीकी पूजा करते हैं। यही 'मूर्तिपूजाका रहस्य' है।

(२)

भारतके भूतपूर्व गृहमन्त्री श्री राजगोपालाचार्य महोदयकी 'राम-कृष्ण उपनिषद्' के १६वें अध्यायमें 'मूर्तिपूजा' विषय आया था, उसमें बताया गया था कि—'जो परमात्मा सर्वव्यापी है, वह क्या उस मूर्तिमें नहीं होगा ? जिन्हें मूर्तिपूजा पसन्द नहीं, वे न करें ; किन्तु मूर्तिपूजाका खण्डन करना मूर्खता है। शङ्कर आदि सन्त मूर्तिपूजासे शान्ति पा चुके हैं' इत्यादि। किन्तु कई महाशयोंको उनकी यह बात रुचिकर प्रतीत नहीं हुई। 'सार्वदेशिक' के भूतपूर्व सम्पादक श्रीधर्मदेवजी सिद्धान्ता-लङ्कारने गृहमन्त्रीके उक्त वक्तव्यका विरोध किया। श्री धर्मदेवजीका विश्वास है कि वेद तथा स्वा० शङ्कराचार्य मूर्तिपूजा नहीं मानते। वेदमें उनके विश्वासके मतानुसार 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः' (यजुर्वेद स० ३२।३) इस मन्त्रमें मूर्तिपूजाका निषेध है और स्वा० शङ्कराचार्यने अपने 'परापूजा स्तोत्र' में भी उनके विश्वासके अनुसार मूर्तिपूजाका निषेध किया है। वे पद्य निम्न हैं—

'पूर्णस्याऽऽवाहनं कुत्र, सर्वाधारस्य चासनम्। स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च शुद्धस्याचमनं कुतः ? निर्मलस्य कुतः स्नानं, वस्त्रं विश्वोदरस्य च। नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं, ताम्बूलं च कुतो विभो ? स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विभोः। अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत्' ?

परन्तु विचारनेसे यह मालूम होता है कि श्रीराजगोपालाचार्यजी ने युक्तियुक्त लिखा था और वेद एवं श्रीशङ्कराचार्य स्वामी आदि सभी मूर्तिपूजाको व्यावहारिक मानते हैं। मूर्तिपूजा है भी स्वाभाविक ही। मनुष्य जब अवधानमें आता है और उसे परमात्माकी सत्ताका विश्वास हो जाता है तो उसके कार्योंको देखकर मनुष्यका मस्तक उसके

आगे झुक पड़ता है। जब मनुष्य देखता है कि वह सर्वव्यापक है और मैं एकदेशी हूं, मैं उसकी सर्वव्यापक पूजा कर ही कैसे सकता हूँ? उस समय उसके आगे दो पक्ष, वा दो दृष्टिकोण उपस्थित होते हैं। उसमें एक तो उसकी उपासनाके असम्भव होनेसे उसका सर्वथा त्याग, दूसरा उसकी एकदेशी उपासनाका अवलम्बन। इसी दूसरे पक्षसे मूर्तिपूजाका अध्याय प्रारम्भ हो जाता है।

अत्यन्त ज्ञान हो जाने पर एक तीसरा पक्ष भी उपस्थित होता है—वह है अद्वैतवाद। अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् परमात्माका विकास है, उससे भिन्न कुछ नहीं है। इस पक्षमें आत्मा परमात्माके अभेद हो जाने से उपास्य-उपासकका भेद नहीं रह जाता। अतः उपासनाकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। पर यह पक्ष पारमार्थिक होता हुआ भी व्यावहारिक नहीं होता। व्यवहारमें मनुष्य एक उच्चकी भक्ति करना चाहता है। उपासनामें सदा उस अभिन्नको भी भिन्न रखना चाहता है। सर्वत्र ओत-प्रोतको भी वह एकदेशी कर देता है, क्योंकि वह स्वयं एकदेशी होता है।

इसको यों समझना चाहिये। उपास्य परमात्मा तो अणु अणुमें सर्वत्र व्यापक है पर उपासक एकदेशी है, पृथिवी पर बैठा है, वह उपास्यका ध्यान करना चाहेगा, तो एक दिशाकी ओर अपना मुख करेगा। एक ही देशमें स्वयं बैठेगा। अपने उपास्यको भी एक ही देशमें बैठावेगा। ध्यानकी समाप्तिके समय उसको अन्तिम नमस्कार भी एक ही अपने सामनेकी दिशाकी ही ओर करेगा। नमस्कार करनेके समय या तो सामने कोई दीवार होगी, या पृथिवी या सूर्यका तेज या आकाश, पर वे उसके नमस्कारके लक्ष्य न होंगे। नमस्कारका लक्ष्य होगा वही एक-उन सबमें व्यापक परमात्मा। बस, यह मूर्तिपूजाका आदि-स्रोत है।

उपासक जानता है कि मेरा उपास्य सर्वव्यापक है, पर मैं हूँ एक-देशी। ध्यानके समय भी वह (उपास्य) सर्वतोमुख है, पर मैं हूं एकतोमुख। मेरा ध्यानका विषय सीमित है, पर वह असीमित है। वह अखण्ड है, पर हम सब उसके उपासक खण्ड-खण्ड हैं। अतः मैं उपासक भी उसकी व्यापक-पूजा नहीं कर सकता, यदि मैं चर्खीकी भांति घूमता हुआ भी उसे नमस्कार करता जाऊं, तथापि मेरा मुख एक ही ओर रहेगा—युगपत् सब दिशाओंमें मैं परमात्माको प्रणाम नहीं कर सकता। अगत्या मुझे उसकी एकदेशी ही पूजा करनी पड़ेगी। बस, यहींसे मूर्तिपूजा शुरू होती है। क्योंकि उसकी उपासना करनेका भाव उसे एकदेश रखनेका होता है। उपगम्य-आसना (समीप-स्थिति) का नाम 'उपासना' सार्थक भी तभी है, अन्यथा हम उसके 'उप' अर्थात् पास पहुच ही कैसे सकते हैं? उस सर्वव्यापकके पास हम एक-देशी पहुंच ही कैसे सकते हैं? वहां 'मूर्तिपूजा' प्रकारसे अतिरिक्त हम उसकी उपासना अन्य ढङ्गसे कर ही नहीं सकते।

यदि इस पर कहा जाय कि हम मन से उस उपास्यको पा लेंगे, हम उसे *ज्ञान* से जान लेंगे, हम उसे *स्तोत्रों-वेदमन्त्रों*से प्राप्त कर लेंगे, पर ऐसा होना दुराशामात्र है। श्रुति इस पर कहती है—'न तत्र चक्षु-र्गच्छति, न वाग् गच्छति, न मनः, नो विद्मो न विजानीमः' (केनो-पनिषद् १।३) उस अनिर्वचनीयको हम परिमित वाणीसे कैसे कह लेंगे! उस अरूपको कैसे देख लेंगे? उस असीमितकी हम अपने मन-से भी कैसे सीमा बना सकेंगे? कैसे उसकी 'मनसा-परिक्रमा' कर सकेंगे? स्पष्ट है कि हम उसकी कुछ मूर्ति अपने सीमित मनमें स्थिर कर लेंगे। तब चाहे हम शरीरसे परिक्रमा करें, चाहे मनसे, यह संगत हो सकता है, अन्यथा नहीं। तभी उस निराकार अक्षरमयको भी केवल

समझनेके लिए, उसकी उपासनार्थ, हमें उसे साकार भी बनाना पड़ जाता है। निर्विकल्पकको भी सविकल्पक करना पड़ जाता है।

इसे लौकिक अक्षरोंमें भी घटा लीजिए। 'श्रीसनातनधर्मालोक' जिन अक्षरोंमें निकल रहा है, क्या यही अक्षरका स्वरूप है? कहना पड़ेगा कि अक्षर तो निराकार है, पर अक्षरको भी समझ कर हमारे ऋषि मुनियोंने उसकी मूर्ति बना डाली है, जिससे अब हम उस अक्षर-की उपासना करनेमें समर्थ हो गये हैं। उसीके फलस्वरूप हम विद्वान् तथा ज्ञानी बन रहे होते हैं। इन अक्षरोंकी आकृति ऋषियोंने यह क्यों रखी है, पाठक यदि यह रहस्य जानना चाहें, तो उन्हें श्रीरघुनन्दनशर्मा द्वारा प्रणीत 'अक्षर-विज्ञान' पुस्तक पढ़नी चाहिए।

कहा जा सकता है कि अक्षरकी मूर्तिकी उपासना मूर्खोंके लिए है, विद्वानोंके लिए नहीं, क्योंकि अक्षर तो निराकार होता है. इस पर जानना चाहिए कि जब तक हम व्यवहार पक्षमें हैं, तब तक सभी मूर्ख हैं। क्या विद्वान् कहे जाने वाले भी साकार अक्षरोंके मन्दिर, पुस्तकोंकी देहलीको नहीं लांघते? उस अक्षर मन्दिरमें पहुँच कर उसकी मूर्तिकी उपासना नहीं करते? हां, जब वह अक्षरोपासनासे परमार्थतः ऐसा विद्वान् हो जाता है कि अब उसे पढ़ने-पढ़ानेके लिए भी किसी पुस्तक वा पत्रकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, न कुछ लिखनेकी, तब समझ लेना पड़ता है कि–अब इसे निराकार अक्षरकी प्राप्ति हो गयी है, तो वही उसीकी मूर्तिको उपासनार्थ दूसरे अल्प विद्वान् को दे देता है कि—इसे अब तुम लो। मुझे अब इसकी कोई आवश्यकता नहीं रही; अब मैं लौकिक-व्यवहारमें नहीं हूँ, अब मैं परमार्थ-पथका पुजारी हो गया हूँ। अब मुझे अक्षरमूर्तिकी उपासना तो क्या, अक्षर-उपासनाकी भी आव-श्यकता नहीं है। यहीं वह पक्ष आकर उपस्थित होता है जिसको

स्वामी श्रीशङ्कराचार्यका 'परा पूजा' स्तोत्र कह रहा है। पर इस परा पूजाका भी प्रसङ्ग तब आ उपस्थित होता है, जब हम इस अपर-मूर्तिकी उपासना करके परिपक्व हो चुके हों। यह भिन्न बात है कि कोई 'माई का लाल' बिना सीढ़ियोंके भी ऊँचे महल पर एकदम चढ़ जावे, पर यह सर्वसाधारणका विषय नहीं।

यही अपरमूर्ति-उपासना मूर्तिपूजा पर भी ठीक घट जाती है। 'श्रीसनातनधर्मालोक' की अभी एक मूर्ति है नागरी। इसकी अन्य गुरु-मुखीकी मूर्ति बन सकती है, अंग्रेजी उर्दूकी मूर्ति बन सकती है। मराठी, बंगाली, गुजराती, कनाडी आदिकी, जर्मनी, फ्रान्सीसी, रूसी, जापानी आदि मूर्तियां भी बन सकती हैं, जबकि यह सर्वत्र प्रसिद्ध हो जाय। तो जिसका उसकी जिस मूर्तिमें अभ्यास वा आस्था वा भक्ति होगी, वह उसी रूप—उसी मूर्तिमें 'श्रीसनातनधर्मालोक' की पूजा करेगा। यही है मूर्तिपूजाका रहस्य, जिसे गृहमन्त्री-महोदयने अपनी दलीलोंमें उपस्थित किया था, जिनकी युक्तियोंको भावुकता कह कर उपेक्षित किया जाता है और कहा जाता है कि उन्होंने इस पर कोई वेदादि के प्रमाण नहीं दिये। उन्होंने तो मूर्तिपूजाको मानवकी भावनाका विषय बताना था कि वह मानवमें स्वाभाविक है, उसीसे उसको सन्तोष होता है। फिर वहां प्रमाणोंको क्यों उपस्थित करते? वेदादि-शास्त्र तो मूर्तिपूजासे ओत प्रोत हैं, प्रत्युत यही कहना ठीक है कि वे स्वयं मूर्तिपूजा हैं, तब वहां प्रमाणकी आवश्यकता ही क्या?

देखिये—वेदोंको परमात्माका ज्ञान बताया जाता है, तब निराकार ज्ञानकी भी कोई मूर्ति होती है? निराकार ज्ञानकी कोई सीमा वा इयत्ता भी हो सकती है? यदि हो सकती है वा होगई, अपि मुनियोंने उस निराकारके ज्ञानकी आकृतिको भी दुह लिया तो इसीसे मूर्तिपूजा सिद्ध हो

हो गयी। जब परमात्माके ज्ञानकी मूर्ति बन गई, उसी ज्ञानके चार मन्दिर भी बन गये, तब उसके अधिकारियों द्वारा उसकी उपासना अनिवार्य हो जाती है, स्वाभाविक हो उठती है। वही चार वेद अपने साक्षात् आचरणसे स्वयं मूर्तिपूजाके, प्रवर्तक सिद्ध हो गये। जब परमात्माके निराकार-ज्ञानकी मूर्ति बन गई, मन्दिर बन गया, तो उस निराकार, वेदमय परमात्माकी मूर्ति तथा उस मूर्तिका मन्दिर न बने-यह कैसे सम्भव हो सकता है?

'न तस्य प्रतिमा अस्ति'

कहा जाता है कि वेद तो 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यश' (यजुर्वेदस० ३२।३) कहकर मूर्तिपूजाका निषेध करता है। इस पर यह जानना चाहिये कि इस मन्त्रमें प्रतिमा' का अर्थ 'मूर्ति' नहीं किन्तु 'तुल्यता' है, सब भाष्यकारोंने यही अर्थ किया है। अर्थात् इस ससारमें उस परमात्माकी बराबरीका कोई नहीं। यह अर्थ जहां सर्व भाष्यकार-सम्मत है, वहां सोपपत्तिक भी है। इस मन्त्रमें उस परमात्माकी 'प्रतिमा' न होनेमें हेतु दिया गया है—'*यस्य नाम महद्यश.*' जिसका नाम बड़े यश वाला है।

अब विद्वान् पाठक ही विचारें कि इस मन्त्रका क्या आशय है? जिसका नाम बड़े यश वाला है, उसकी कोई 'प्रतिमा' नहीं है, यहां 'प्रतिमा' का अर्थ क्या युक्त है? मूर्ति? वा तुल्यता? मानना पड़ेगा कि 'तुल्यता' अर्थ है, मूर्ति नहीं। क्योंकि बड़े यशवालेकी मूर्ति तो उल्टे अवश्य हुआ करती है। हां, उसकी 'तुल्यता' नहीं हुआ करती। आजकल कौन महायशस्वी नाम वाले हैं? कहना पड़ेगा कि श्रीयुत गांधीजी, स्वा० दयानन्दजी, स्वामी श्रीकरपात्रीजी आदि। तब क्या इनकी इस

संसार में 'प्रतिमा' अर्थात् 'मूर्ति' नहीं ? कौन-सा अर्थ इन दो में उचित जंचता है ? मानना पड़ेगा कि 'तुल्यता' अर्थ ही उचित है, क्योंकि इस संसारमें श्रीगांधीजीकी मूर्तियां तो मिल जायंगी, पर उनकी तुल्यता का, उनकी बराबरीका कोई भी पुरुष न मिलेगा।

'नैषधचरित' में राजा नलके मुखके लिए यह शब्द आये हैं—'न तन्मुखस्य *प्रतिमा* चराचरे (१।२३) संसारमें नलके मुखकी 'प्रतिमा' नहीं है। इससे नलके मुखकी 'मूर्ति' का अभाव सिद्ध नहीं होता. किंतु 'उसके मुखकी सदृशताका कोई मुख नहीं' यही अर्थ उचित दीखता है। तब उक्त वेदमन्त्रसे मूर्तिपूजाका निषेध नहीं निकलता—किन्तु उस परमात्माकी 'अनन्य-सदृशता' का ही बोध होता है। स्वा० दयानन्दजीके अनुयायी तो वेदके इस मन्त्रमें 'प्रतिमा' का मूर्ति अर्थ कर ही नहीं सकते। ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकामें स्वा० द० जीने लिखा है (प्र०) 'वेदेषु '*प्रतिमा*' शब्दोऽस्ति नवा (उ०) *अस्ति* । (प्र०) पुनः किमर्थो निषेधः (उ०) *नैव प्रतिमार्थेन* (वेदे) *मूर्तयो गृह्यन्ते*; किं तर्हि ? परिमाणार्थो गृह्यते इति (३२० पृष्ठ) तब स्वामीजीके अनुसार इस मन्त्रमेंभी 'प्रतिमा' शब्द उपमा-वाचक सिद्ध हुआ, 'मूर्ति' वाचक नहीं, तब इस मन्त्रमें परमात्माकी अनुपमेयता सिद्ध हुई; मूर्ति-निषेध नहीं; तभी २।३।७ ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें स्वा० शंकराचार्यजीने भी कहा है—'न तस्य प्रतिमा अस्ति' इति च *ब्रह्मणोऽनुपमानत्वं* दर्शयति'।

अब शेष है स्वा० शंकराचार्यका 'परा-पूजा, स्तोत्र। इसके एकही दो श्लोकोंको उद्धृत- भर कर देनेसे मूर्तिपूजाका निषेध सिद्ध नहीं हो जाता, किन्तु उसे पूर्वापरसे देखनेसे ही उसका आशय मालूम हो सकता है। 'स्तोत्ररत्नावली' में वह पूर्ण उद्धृत किया गया है। उसमें

दस श्लोक हैं। प्रथम श्लोक यह है—'अखण्डे सच्चिदानन्दे, निर्विकल्पैकरूपिणि। स्थितेऽद्वितीयभावेऽस्मिन् कथं पूजा विधीयते ?' अर्थात् जबकि—परमात्मा अखण्ड है, वह सविकल्पक-ज्ञान-ग्राह्य नहीं, जबकि वह अद्वैतभावसे सर्वत्र विद्यमान है, हम भी नहीं हैं, तब उसकी पूजा किस प्रकारकी हो सकती है? इसीकी स्पष्टता आगेके श्लोकोंमें की गई है। उसमें सातवां पद्य यह है 'प्रदक्षिणा ह्यनन्तस्य ह्यद्वयस्य कुतो नतिः। वेदवाक्यैरवेद्यस्य कुतः स्तोत्रं विधीयते ?' अर्थात् जबकि परमात्मा अनन्त है, उसकी परिक्रमा कैसे हो सकती है? जब वह हमसे अद्वितीय है, *अर्थात् हम और वह भिन्न नहीं, तब हम उसे नमस्कार ही कैसे कर सकते हैं? अपने आपको नमस्कार नहीं हुआ करती।* प्रश्न बिल्कुल ठीक है। जब वह निर्विकल्पक है, प्रकारताज्ञानसे शून्य है; अखण्ड है, तब न वह वचन-गोचर हो सकता है, न ही विचार-गोचर। *तब उसका न तो मनमें ध्यान किया जा सकता है, न वेद-मन्त्रोंसे उसकी स्तुति हो सकती है।* पर क्या वादी लोगोंने वेदमन्त्रोंकी संध्यासे *उस परमात्माकी स्तुति,* तथा मनसे *उसका ध्यान* तथा *उसकी मानसिक-परिक्रमा तथा उसे नमस्कार करना बन्द कर रखा है?* यदि नहीं, तब वे इस स्तोत्रसे अपने पक्षका मण्डन तथा हमारे पक्षका खण्डन करनेके किस प्रकार अधिकारी हैं?

इस सबका उत्तर नवम पद्यमें दिया गया है—'एवमेव परा पूजा सर्वावस्थासु सर्वदा। एकबुद्ध्या तु देवेशे विधेया ब्रह्मवित्तमैः', अर्थात् जो 'ब्रह्मवित्तम' हैं 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस सिद्धान्तको हृदयसे मानने वाले हैं, उनको एकत्व बुद्धिसे इस प्रकारकी पूजा करनी चाहिये। यह पूजा अन्तिम दशम श्लोक में इस प्रकार कही गयी है—

आत्मा त्वं, गिरिजा मतिः, सहचराः (गणाः) प्राणाः, शरीरं गृहं,

पूजा ते—विषयोपभोगरचना, निद्रा—समाधिस्थितिः।

संचारः पदयोः—प्रदक्षिणविधिः, स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो ! तवाराधनम् ।'

अर्थात्—हे महादेव ! मैं जो-जो कर्म करता हूँ, वही तेरी पूजा है। मेरा आत्मा तू है। मेरी बुद्धि तेरी पार्वती है। मेरे प्राण तेरे गण हैं। मेरा शरीर तेरा मंदिर है। मेरा विषय-भोग तेरी पूजा है। मेरी नींद तेरी समाधि है। मेरा घूमना-फिरना तेरी परिक्रमा है. मेरा बोलना तेरी स्तुति है।

स्वामी शङ्कराचार्य अद्वैतवादी संन्यासी थे, अतः उन्होंने इस स्तोत्र में बताया है कि—अद्वैतवादमें इसी प्रकारकी पूजा हो सकती है—दूसरी नहीं। *इन श्लोकोंसे मूर्ति-पूजाका निषेध नहीं किया जा सकता, किन्तु इनसे उपासनामात्रका ही निषेध सिद्ध होता है*, तब इन पद्योंको उद्धृत करने वा माननेके अधिकारी *अद्वैतवादी* ही हो सकते हैं, *द्वैतवादी नहीं। द्वैतवादी उपासनाको नहीं छोड़ सकता, परमात्मा को नमस्कार तथा वेदमन्त्रोंसे उसकी स्तुतिको वह नहीं छोड़ सकता*, पर इन अद्वैतवादके श्लोकोंमें यह सब छोड़ना लिखा है। तब स्पष्ट है कि—परमात्माकी हमसे मूर्ति द्वारा की गई, तथा दूसरोंसे *बिना मूर्ति परमात्माकी की हुई उपासना यह* 'परा-पूजा' नहीं, यह तो उसकी 'अपरा-पूजा' है। 'द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा चैव अपरा च। तत्र अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्ववेदः। अथ परा यया तद् अक्षरमधिगम्यते' ('मुण्डकोपनिषद् १।१।४—५) इस प्रमाणसे वैदिक विद्या जैसे अपरा विद्या है. वैसे वैदिक उपासना मूर्ति-पूजा आदिभी परमात्माकी 'अपरा पूजा' है 'परा-पूजा' नहीं। जैसे 'परा-विद्या' में ऋग्वेदादिकों-यज्ञोपवीतको छोड़ना पड़ता है; वैसेही 'परा-पूजा' में वैदिक उपासनाको भी छोड़ना पड़ता है। यह परमहंस अवस्था हुआ करती है, उसमें तो शिखा, यज्ञोपवीत, वेद

तथा उपासनाको भी छोड़ना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि—व्यवहार-वादमें मूर्तिपूजारूप उपासनाका कोई भी, कहीं भी निषेध नहीं।

स्वामी शंकराचार्यजी व्यवहारवादमें मूर्ति-पूजाका कहीं निषेध नहीं कर गये; प्रत्युत वे कई देवमन्दिर भी बनवा गये हैं। जैसेकि—'शंकर दिग्विजय' में लिखा है कि—'*सुरधाम स तत्र कारयित्वा*' (१३।५) पंच देवोंकी पूजा भी वे बता गये हैं, यहभी 'शंकरदिग्विजय' में स्पष्ट है। शालग्राम मूर्तिमें विष्णु-पूजनकी चर्चा स्वा० शंकराचार्यने अपने 'वेदान्तदर्शन' के भाष्य तथा 'छान्दोग्योपनिषद्' में अनेक बार की है, जैसेकि वेदान्त० ४।१।५, १।२।१४, १।३।४-१४ इत्यादि। यह ठीक भी है। परमात्मा है अंगी, देवता या मूर्ति आदि हैं उसका अंग, बिना अंगके अंगीकी पूजा कभी संभव नहीं। तब मूर्तिपूजाका उल्लेख जोकि भूतपूर्व गृहमन्त्री श्री राजगोपालाचार्यजी अपनी पुस्तकमें कर गये हैं, वह जहां प्रमाणानुगृहीत है, वहां युक्ति-युक्त भी है। तब उसका खण्डन किसी भी प्रकारसे नहीं किया जा सकता। तब फिर श्री-धर्मदेवजीका इस विषयका परिश्रम कोई फल नहीं रखता।

—:—:—

(१५) वेदमें प्रतिमोपासना।

आर्यसमाज आदि अर्वाचीन सम्प्रदाय वालोंका विचार है कि—'वेदमें प्रतिमोपासना अर्थात् मूर्तिपूजाका गन्ध भी नहीं है-इसे पुराणोंनेही प्रचलित किया है; अथवा जैनियोंने इसे जारी किया है।' पर ऐसा कहना वेदसे अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है। वैसे तो वेदमें मूर्ति-पूजा ठसाठस भरी पड़ी है; पर हम एक वेद-मन्त्र उपस्थित करते हैं; जिससे प्रतिमोपासनाकी वैदिकता सिद्ध होगी। फिर कोई यह कहनेका साहस न कर सकेगा कि—वेदमें मूर्तिपूजाका गन्ध नहीं है।

अथर्ववेदसंहितामें एक मन्त्र आया है—

'संवत्सरस्य *प्रतिमां* यां त्वां रात्रि! *उपास्महे*।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज' (३।१०।३)

इसमें प्रतिमोपासना तथा प्रतिमासे प्रार्थना वैदिक सिद्ध होरही है। इस मन्त्रका अन्वय इस प्रकार है—'हे रात्रि! संवत्सरस्य *प्रतिमा* यां त्वाम् *उपास्महे*, सा त्वं न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज'। इसका अर्थ यह है—'हे रात्रि! संवत्सरकी *प्रतिमा* (मूर्ति) जिस तेरी हम *उपासना करते हैं*; वह तू प्रतिमा (मूर्ति) हमारी प्रजा (सन्तान) को धन-पुष्टि आदिसे संयुक्त कर'। यहांपर रात्रिको संवत्सरकी प्रतिमा-रूपमें उपासनीय माना है। प्रतिमा *मूर्तिको* और उपासना *पूजाको* कहते हैं और फिर उस प्रतिमासे अपनी सन्तानकी समृद्धि प्रार्थित की गई है। इससे मूर्तिपूजा तथा उससे प्रार्थना वैदिककालसे चली आ-रही है—यह सिद्ध होगया। यदि वेद मूर्तिपूजा न मानता; तो रात्रिको संवत्सरकी *प्रतिमा* न बनाता तथा उसकी *उपासना* तथा *प्रार्थना* न कराता।

'प्रतिमाम् उपास्महे' यह शब्द प्रतिमोपासनाको वैदिक सिद्ध कर रहे हैं।

इसके अतिरिक्त यहांपर 'संवत्सर' का अर्थ प्रजापति (परमात्मा) है। जैसेकि—शतपथ ब्राह्मणमें—'स [प्रजापतिः] ऐक्षत—इमं वा [संवत्सरं] आत्मनः *प्रतिमाम्* असृक्षि यत्-संवत्सरमिति, तस्माद् आहुः—प्रजापतिः संवत्सर इति, आत्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत, यद्वेव चतुरक्षरः संवत्सरः, चतुरक्षरः प्रजापतिः; तेन उ ह एव अस्यैष प्रतिमा' (११।१।६।१३)। वेदमें वादियोंके मतमें रूढ शब्द नहीं होते; अतः रात्रि शब्दभी यहां यौगिक है। स्वा० दयानन्दजीने अपने 'उणादिकोष' में 'रात्रि' का अर्थ इस प्रकार किया है—*'राति-सुखं ददाति-इति रात्रिः'* (४।६७)।

तब भक्त अपने सामने विद्यमान *भगवान्की मूर्तिको* लक्ष्य करके कहता है कि—'हे (रात्रि !) भक्तोंको आनन्द देने वाली ! (संवत्सरस्य) प्रजापति परमात्माकी (प्रतिमां) *मूर्ति* (यां त्वां) जिस तेरी (उपास्महे) हम *उपासना करते* हैं; (सा) वह तू (नः) हमारी (प्रजाम्) सन्तानको (आयुष्मतीम्) चिरायु करके (रायस्पोषेण संसृज) धनवस्त्रादिसे संयुक्त कर'। इस मन्त्रसे सिद्ध हुआ कि—मूर्ति-पूजा तथा उस मूर्तिसे अपने किसी मनोरथ की प्रार्थना करनी सर्वथा वेद-सम्मत है। तब 'वेदको मूर्ति-पूजा सम्मत नहीं' ऐसा कहना वेदसे अपना अज्ञान प्रकाशित करना है। आर्यसमाज जो अपने आपको मूर्ति-पूजक नहीं मानता—यह भी ठीक नहीं, वह भी मूर्तिपूजक है, देखिये।

आर्यसमाजकी मूर्तिपूजा

आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वा०द०जीने 'सत्यार्थप्रकाश' की भूमिकामें लिखा है—'इन समुल्लासोंमें जोकि सत्यमत प्रकाशित किया है वह

वेदोक्त होनेसे मुझको सर्वथा मन्तव्य है' (पृ० ३) यहांपर 'मायमत' शब्दसे स्वामीजीको अपना मत इष्ट है, क्योंकि वे अपने मतको वेदोक्त कहते हैं। स्वामीजीने स० प्र० के ११ समु० ३३० पृष्ठमें श्रीनानकके मतवालोंके लिए लिखा है—'यह मूर्तिपूजा तो नहीं करते; किन्तु उससे विशेष ग्रन्थकी पूजा करते हैं। *क्या यह मूर्तिपूजा नहीं है ?*' स्वा० दयानन्दजीने यहांपर ग्रन्थकी पूजा अर्थात् सम्मानको भी मूर्तिपूजा बताया है। फिर वे इसकी स्पष्टता करते हैं—'*किसी जड़ पदार्थके सामने शिर झुकाना वा उसकी पूजा करना सब मूर्तिपूजा है*'। अब यहां इस स्वामीजीके वेदोक्त वाक्यकी परीक्षा करनी चाहिये कि—आर्यसमाज भी मूर्तिपूजक है वा नहीं ? 'पूजा' का अर्थ '*सम्मान*' हुआ करता है, चाहे वह प्राचीन-ढंगसे किया जाय वा आजकलके ढंगसे। अब देखिये—

(१) ला० लाजपतरायकी मूर्तिपर १७ नवम्बरको डी० ए० वी० कालेजके स्टाफ तथा गुरुकुलवालोंकी ओरसे लाहौरमें फूल चढ़ाये जाते थे, अब भी कहीं चढ़ाये जाते हैं। यह भी स्पष्ट ही मूर्तिपूजा है क्योंकि यह उनका सम्मानप्रदर्शन था। यदि यह कह कहा जावे कि—हमें उनके बुतकी पूजा लक्ष्य नहीं, किन्तु उस हस्ती (सत्ता) ला० लाजपतरायके व्यक्तित्वका सम्मान करना लक्ष्य है—जिसने देशकेलिए अपना उत्सर्ग करदिया—तो मूर्तिपूजाके विषयमेंभी यह क्यों नहीं सोचा जाता ? वहां भी तो पत्थर सम्मानका लक्ष्य नहीं होता; किन्तु शिव, विष्णु आदि ही पूजाके लक्ष्य होते हैं, साकार मूर्तिपर साकार फूल चढ़े, इससे निराकार सत्तापर हमारी निराकार श्रद्धा चढ़ी। लक्ष्य सम्मान सिद्ध हुआ। फलतः ला० लाजपतरायकी जड़-मूर्तिका सम्मान भी स्वामीजीके अनुसार मूर्तिपूजा सिद्ध हुई।

(२) आर्यसमाजी लोग सन्ध्या समाप्त करके फिर उठते हुए परमात्माको नमस्कार करते हैं; क्योंकि—उनकी सन्ध्याका अन्तिम मन्त्र 'नमः शम्भवाय' है। उस समय सामने या कोई दीवार होती है-या पृथ्वी या आकाश। इन जड़ोंके सामने उनका सिर झुका—यह भी स्वामीजीके उक्त वेदोक्त वाक्यके अनुसार मूर्तिपूजा हुई। यदि कहा जावे कि—वहां नमस्कारके लक्ष्य पृथिवी-आकाश नहीं थे; किन्तु परमेश्वरही था—तो यही बात मूर्तिपूजामें भी समझी जा सकती है। वहां यह नहीं कहा जाता कि हे पत्थर! तुझे नमस्कार करता हूँ किन्तु कहा जाता है-'श्रीविष्णवे नमः'।

(३) झण्डाभिवादन आर्यसमाजमें भी होता है—कांग्रेसमेंभी आर्यसमाजियोंद्वारा सम्पन्न होता है। झण्डेपर पुष्पमालाभी चढ़ाई जाती है, खड़े होकर उसकी सलामी की जाती है। जड़के सामने उसका सम्मान एवं प्रकारसे मूर्तिपूजा ही सिद्ध हुई। यदि कहा जावे कि—वह प्रतीक ॐ का है वा भारतमाताका है—अतः उसीका सम्मान होता है, न कि—लाल वा भगवे वस्त्रका; तो यही बात मूर्तिपूजामें भी जानी जा सकती है।

(४) आर्यसमाज परमात्माकी पूजा तो मानता ही है। तब वह जिसभी प्रकारसे उसकी पूजा करे, वह मूर्तिपूजाही होगी। सर्वव्यापककी कभी किसी व्याप्य वस्तुके बिना पूजा की ही नहीं जा सकती; क्योंकि पूजक उसके समान निरवच्छिन्न व्यापक नहीं। पूजक परमात्माकी पूजा किसी एक सीमित स्थानपर ही करेगा, सीमित दिशाकी ओर मुंह करेगा,

सीमितही रूपसे उसे नमस्कार करेगा; सीमित ही वेदमन्त्र पढ़ेगा—तो यह सब मूर्तिपूजाका ही प्रकार हो जाता है। फलतः जबतक पूजक स्वयं सीमित है; उस असीमितको असीमित रूपसे पूजा कभी कर ही नहीं सकता। तब उस असीमितकी सीमित पूजकके द्वारा पूजा-यह मूर्तिपूजा ही होती है-चाहे पुजारी इसे यह नाम न देकर 'ईश्वरोपासना-प्रार्थना' नाम दे। सीमित-पूजकका मनभी उस असीमितकी थाह नहीं पा-सकता। सीमितका सीमित मुखभी असीमितका गुणानुवाद नहीं कर सकता। फिर जब करता है; तो स्पष्ट मूर्तिपूजाके ढंगसे, क्योंकि-वह पूजक स्वयम् एक-देश में होता है इसलिए उसकी एक-देशी ही पूजा करता है। एकदेशी पूजा मूर्तिपूजा ही होती है। जब वह 'प्राची दिगग्नि.' मन्त्रमें पूर्व दिशामें उस परमात्माकी स्तुति-प्रार्थना कर रहा होता है उस समय वह अन्य दिशाओंमेंभी व्यापक उसकी स्तुति-प्रार्थना न कर सकनेसे उसे मूर्तिकी तरह सीमित कर रहा होता है। जब वह 'दक्षिणा दिगिन्द्रो' बोलकर दक्षिणमें परमात्माकी स्तुति-प्रार्थना कर रहा होता है—उस समय शेष दिशाओंमें उसका ध्यान न कर सकनेसे पूजक ईश्वरकी मूर्तिकी तरह सीमित पूजा कर रहा होता है। जब पूजक परमात्माका *उपस्थान* करता है अर्थात् उसको अपने निकट होनेकी बुद्धि रखता है यह भी मूर्तिपूजा ही हो जाती है। फलत: परमात्माका पुजारी प्रत्येक दशामें मूर्तिपूजाकी ही शैलीको अपनाये बिना-नहीं रह सकता। हाँ, कोई नास्तिक हो—*उसका पुजारी न हो—तो यह भिन्न बात है।*

(२) सन् १६१२ में गुरुकुल काङ्गड़ीके वार्षिकोत्सवपर वेदपुस्तकोंको

सम्मान देनेके लिए उन्हें सभापति बनाया गया था—स्वामीजीके पूर्वोक्त वाक्यके अनुसार यह मूर्तिपूजा है। इस मूर्तिपूजाको स्वा० श्रद्धानन्दजी (उस समयके ला० मुन्शीराम) ने सम्पन्न किया था।

(६) वेद-पुस्तकों तथा स्वामीजीकी प्रतिमाको सम्मानार्थ एक विशिष्ट स्थानपर रखना तथा पत्रोंके मुखपृष्ठपर रखना—यह सब मूर्तिपूजा है। *

फलतः प्रतिमोपासना जहां वैदिक है; वहां सभी सम्प्रदायोंमें व्याप्त भी है। घंटा, घड़ियाल वा शंख बजाना ही केवल पूजा नहीं होती। पूजाके भी कई प्रकार होते हैं।कोई सिरसे हैट उतार लेनेसे ही पूजा करता है, कोई फूलमाला ही चढ़ा देनेसे पूजा करता है, कोई स्तुति-प्रार्थना कर देनेसे ही पूजा करता है। कोई विशेष दिशाकी ओर मुख करके ईश्वरकी स्तुति करता है—कोई किसी एक स्थानपर बैठकर प्रभुकी प्रार्थना करता है—यह सब मूर्तिपूजाके ही प्रकार हैं। फलतः मूर्तिपूजा सर्वव्यापक है। इससे कोई ईश्वरपूजक सम्प्रदाय नहीं छूट सकता। मूर्तिपूजाका खण्डन अपना खण्डन है।

---

* एकबार 'प्रकाश' पत्रके अस्पृश्यङ्कके मुख-पृष्ठपर स्वा० द०जीकी मूर्ति थी। दूसरी ओर उनके मुखके साथ 'भल्ले' के बूटका चित्र था; इससे आर्यसमाजी बिगड़ उठे थे कि—यह स्वामीजीका अपमान किया गया है। सम्पादक महाशय-कृष्णने फिर वैसा न करनेकी प्रतिज्ञा की थी। स्वामी द०जीकी मूर्तिपर पांव रखनेसे हैदराबाद दक्षिण में आर्यसमाजी-गण श्री बुद्धदेवजीपर बिगड़ उठे थे कि तुमने महर्षिका अपमान किया है—यह सब स्वामीजीके अनुसार मूर्तिपूजा है।

(१६) अवतारवाद-रहस्य

परमात्मा यद्यपि निराकार और सर्वव्यापक होता है, तथापि प्रयोजनवश अपनी सर्वशक्तिमत्तासे साकारभी हो जाता है। यहांपर यह कहा जाता है कि 'निराकारत्व और साकारत्व परस्पर-विरुद्ध धर्म हैं, वे एकमें कैसे रह सकते हैं?' इसपर यह जानना चाहिए कि एक वस्तुमें परस्पर-विरुद्धता न होना यह लोकका विषय है, लोकोत्तरका नहीं। अलौकिक, लोकोत्तर अथवा सर्वशक्तिमान्‌में परस्परविरुद्ध-धर्मवाला होना तो स्वाभाविक हुआ करता है। प्रत्युत ऐसा होना उसका दूषण नहीं, अपितु भूषण होता है। परमात्मा भी अलौकिक, सर्वशक्तिमान् एवं लोकोत्तरधर्मा है अतः उसमें परस्परविरुद्धधर्मवत्ता भी स्वतःसिद्ध है। साहित्यमें 'रस' अलौकिक माना गया है, इसी कारण उसमें परस्पर विरुद्ध धर्म भी माने जाते हैं। पाठकगण देखें—

रसका 'कार्य' होना खण्डित करके फिर उसे 'कार्य' सिद्ध किया जाता है, उसका 'ज्ञाप्यत्व' निराकृत करके फिर उसे 'ज्ञाप्य' सिद्ध किया जाता है। रसको 'परोक्ष' भी नहीं माना जाता, अपरोक्षभी नहीं। उसे 'निर्विकल्पकज्ञानग्राह्य' भी नहीं माना जाता, 'सविकल्पकज्ञानग्राह्य' भी नहीं। फिर उसे वैसा (सविकल्पकज्ञानग्राह्य तथा निर्विकल्पकज्ञानग्राह्य) माना भी जाता है। उसे 'भविष्यत्' भी नहीं माना जाता, 'वर्तमान' भी नहीं माना जाता। फिर उभयाभाव-स्वरूप रसको उभयात्मक भी माना जाता है।

इसपर वादीका प्रश्न होता है कि वह (रस) परस्पर-विरुद्ध क्यों होता है? और वह स्वयं है क्या वस्तु? उसपर साहित्यकार कहते हैं—'तस्माद् अलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्' ('साहित्यदर्पण'

तृतीय परिच्छेद)अर्थात्-रस अलौकिक-लोकोत्तर है। इसे सहृदयही जान सकते हैं।

फिर वादीका प्रश्न होता है कि वस्तुकी परस्पर-विरुद्धता तो दूषण हुआ करती है, इस (रस) में वह कैसे है ? इसी अभिप्रायसे 'काव्य-प्रकाश' में शङ्का की गई है कि—'कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टम् ?' अर्थात्—इस संसारमें वस्तु या तो कारक होती है या ज्ञापक, पर यह रस कारक या ज्ञापक दोनोंसे भिन्न कैसे है ? इसपर वहां सिद्धान्ती द्वारा उत्तर दिया गया है कि—'न क्वचिद् दृष्टम्'-इति अलौकिकत्व-सिद्धेर्भूषणमेतद् न दूषणम् !उभयाभावस्वरूपस्य च उभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतां गमयति, न तु विरोधम्'। ......(चतुर्थ उल्लास, रसनिरूपण)

तात्पर्य यह है कि इस संसारमें कारक और ज्ञापकसे भिन्न वस्तु कोईभी नहीं देखी गई। पर यह रस उनसे भिन्न देखा गया है अतः यह स्पष्ट है कि रस संसारी लौकिक वस्तु नहीं, किन्तु अलौकिक-लोकोत्तर वस्तु है। लोकोत्तरतामें परस्पर-विरुद्धता स्वाभाविक हुआ करती है। उभयाभावस्वरूप होकर भी उभयात्मक होना---यह अलौकिकताका भूषण है, दूषण नहीं। यही परस्पर-विरुद्धताही वस्तुकी लोकोत्तरता की परिचायिका है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि परस्पर विरुद्धधर्मवत्ता वस्तुकी अलौकिकता बताती है। रस अलौकिक है, अतः उसमें परस्पर-विरुद्धधर्म होना भी स्वाभाविक है। इसी प्रकार परमात्माको 'रसो वै सः' तैत्तिरीयोपनिषत्, ब्रह्मानन्द वल्ली २ सप्तम अनुवाक, अथवा तैत्तिरीयारण्यक ८ २।७) इस प्रकार रस-स्वरूप माना जाता है। परमात्माको अलौकिक तथा सर्वशक्तिमान् सभी मानते हैं। इसीलिए उस परमात्मामें 'निराकार-साकार 'रूपमें परस्पर-विरुद्धधर्मवत्ता उसकी अलौकिकताकी

सिद्धिमें अमोघ अस्त्रही है। इस प्रकार परमात्मा अलौकिक तथा सर्व-शक्तिमान् होनेसे निराकारभी होता है और साकारभी। वह अपनी सर्वशक्तिमत्तासे प्रयोज्या-शक्तिको आविष्कृत करता है, अप्रयोज्या-शक्तिको नहीं।

वस्तुतः परमात्माको जो कि निराकार कहा जाता है—वहां उसके आकारका निषेध इष्ट नहीं होता। आकारका परमात्मामें सर्वथा निषेध इष्ट होनेपर तो उसमें शून्यतापत्ति प्रसक्त होगी। अतः वहांपर 'निराकार' शब्दका 'अनिर्वचनीय आकार वाला' इस अर्थमें तात्पर्य हुआ करता है। जैसे कि किसीने पूछा कि वहांपर कितने पुरुष थे? दूसरेने उत्तर दिया कि असंख्य। यहांपर 'असंख्य' कहनेसे उक्त पुरुषोंका संख्याराहित्य अभिप्रेत नहीं होता, क्योंकि उनकी कोई न कोई संख्या तो हुआ ही करती है, किन्तु जैसे वहां पर अभावार्थक भी 'नञ्' संख्याको अनिर्वचनीयताको बताया करता है, वैसे ही 'निराकार' शब्दमें भी 'निर्' शब्द आकारकी अनिर्वचनीयता दिव्यताको बताता है। जैसेकि ईश्वरके विषयमें वेदोंमें 'नेति-नेति' (बृहदारण्यक ४ (६)४।२२) सुना जाता है। यहांपर परमात्माके निषेधमें तात्पर्य नहीं रहा करता, किन्तु उसकी अनिर्वचनीयतामें तात्पर्य हुआ करता है, वैसे 'निराकार' का 'निर्' शब्द भी आकारके निषेधमें तात्पर्यवान् नहीं, किन्तु उसके आकारकी अनिर्वचनीयतामें तात्पर्य रखता है।

उस निराकारत्वमें न तो परमात्माकी उपासना हो सकती है, न स्तुति, न कीर्तन। न उसका निराकारत्वमें ध्यान हो सकता है, न उसे हम जान सकते हैं। अगम्य एवं अचिंत्य होनेसे न हमारे जीवनपर उसका कुछ प्रभाव पड़ता है, न हम अपनी त्रुटियां पूरी करने और अपनेको उच्च अवस्थामें लानेके लिए उससे कुछ प्रार्थना कर सकते हैं, क्योंकि किसी मानुषी गुण प्रेम, दयालुता आदिका हम उस निराकारके साथ सम्बन्ध नहीं कर सकते, न किसी प्रकारसे उसकी पूजा कर सकते

है, यह हम गत १४वें निबन्धमें बता चुके हैं। इस-रूपमें वह हमारे ज्ञानका परम लक्ष्य तो हो सकता है, पर उपास्य नहीं। उपास्य वह अपने विशिष्ट रूपोंमें ही—साकार रूपमें ही हुआ करता है।

पहले कहा जा चुका है कि परमात्मा लोकोत्तर होता है, अतः उसमें विरुद्ध-धर्म होना स्वाभाविक है। अब उस (परमात्मा) में वेदादिशास्त्रानुसार परस्पर-विरुद्ध धर्म देखें—

'अजायमानो बहुधा विजायते' (यजुर्वेद वा० सं० ३१।१६) यहाँ पर परमात्माको 'अजायमान' कहा है, इधर 'विजायते' से उसका विशेष जन्म कहा है, यह परस्पर विरुद्धता है 'स एव मृत्युः सोऽमृतम्' (अथर्व-शौ० स० १३।४.३।२५) यहांपर उसे मृत्यु तथा अमृत कहा गया है। 'तदेजति-तन्नैजति, तद्दूरे-तद् अन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' (यजुर्वेद वा० सं० ४०।५,यहां उसे चलनक्रिया-शील तथा चलनक्रियारहित, दूर और समीप, भीतर और बाहर बताया है। ये भी परस्पर विरुद्ध-धर्म हैं। 'नासदासीद्, नो सदासीत्' (ऋ० शा० सं० १०।१२६।१ यहांपर उसे सत् अथवा असत् से भिन्न कहा है। 'अणोरणीयान्, महतो महीयान्' (श्वेताश्वतरउपनिषत् ३।२०) 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' (श्वेता० ३/१७, गीता १३।१४) 'नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय च अपरजाय च' (यजुः वा० सं० १६।३२) यहां परमात्माको छोटेसे छोटा और बड़ेसे बड़ा इन्द्रियसहित और इन्द्रियरहित कहा है। जिन उपनिषदोंमें उसे 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' (श्वेताश्व ३।१९) इस प्रकार निराकार कहा है, वहीं उसे 'सर्वतः-पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' (श्वेता० ३।१६) 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्' (वा० यजु० सं० १७।१६) इस प्रकार साकारभी कहा है। तब

परमात्मामें विरुद्धधर्मता सिद्ध होनेसे उसमें अलौकिकता सिद्ध हुई। अलौकिकता होनेसे उसमें निराकारता-साकारताभी सिद्ध हुई। इस प्रकार उसे निर्गुण तथा सगुण, न्यायकारी तथा दयालु भी लोकोत्तर होनेसे कहा जाता है। जब परमात्मा साकारभी सिद्ध होगया; तब उसके अवतार होनेमें कोई भी बाधा न रही। जबकि वह ब्रह्माण्डके अणु-अणु और कण-कणमें व्याप्त है और उसकी शक्ति अग्नि, जल वायु, आकाश, पृथिवी आदिमें ओत-प्रोत हो रही है, तब वह किसी विशिष्ट केन्द्रमें भी प्रकट हो जाता है। इसी विशेष केन्द्रमें प्रकट होनेकी परिभाषाको ही 'अवतार'कहा जाता है।

एक स्थलमें उसकी प्रकटता हो जानेपर उसकी अन्यत्र सत्ता नष्ट नहीं हो जाती, अथवा वह इससे एकदेशी नहीं हो जाता। 'जोकि कहा जाता है कि—'अखण्ड, सच्चिदानन्द, निर्विकार, परिपूर्ण, सर्वशक्तिमान् परमात्माका अवतार नहीं हो सकता, क्योंकि वह सबसे बडा और निराकार है, तब वह मनुष्य आदिके, छोटे-छोटे शरीरों और बहुत छोटे-छोटे गर्भाशयोंमें कैसे प्रवेश कर सकता है? इस कारण उसका अवतारभी नहीं हो सकता'—इसपर यह जानना चाहिये कि आकाश सब संसारी पदार्थोंसे बडा है और निराकार है। परमात्माकी अपेक्षा महा-स्थूलहै, क्योंकि परमात्माके लिए 'सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति' कहा जाता है। इस प्रकार उस परमात्माकी अपेक्षा स्थूल भी आकाश घट आदि छोटी-छोटी वस्तुओंमें अपनी पूर्णतासे प्रवेश करके घडेमें घटाकाश नामसे और महदादिमें महाकाश आदि नामसे प्रसिद्धहो जाता है, घट आदिके नाशमें भी उसका नाश नहीं होसकता, तो आकाशसे भी महा-सूक्ष्म परमात्मा यदि माताके गर्भाशयमें 'जन्मकर्म च मे दिव्यम्' (गीता ४।६) दिव्यरूपमें अवतीर्ण हो जाता है, तो इस विषयमें आश्चर्यका अवकाश क्या?

जब भगवान् न होता हुआ भी निराकार जीव, देहके सम्बन्धसे विकारको प्राप्त नहीं होता, तब भगवान् सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र, मायाका वशकर्ता परमात्मा अवतार लेनेमें भी विकारयुक्त नहीं होता। अग्नि और बिजुली निराकार रूपमें सर्वव्यापक होते हैं, परन्तु घर्षणादि कारणवश ये कहीं-कहीं प्रकट भी हो जाते हैं। एक स्थलमें प्रकट होकर भी अन्य स्थानमें उनकी सत्ता नष्ट नहीं होती, और न कहीं उन्हें बन्धनही होता है। बादलोंमें प्रत्यक्ष दीखती हुई भी विद्युत् वहांसे नीचे पृथिवीपर गिर करभी अन्य स्थलमें नष्ट नहीं हो जाती, उसकी सर्वव्यापकता फिर भी अक्षुण्ण रह जाती है। एक स्थानमें प्रकट होकर तथा बुझकर भी अग्नि अन्यत्र अभाववान् नहीं हो जाती, और न ही वह मूलभूत महाग्निसे भिन्नही होती है, वा भिन्न रहती है—'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' (बृहदारण्यक ५।१।१)।

निराकार रूपमें भी यद्यपि अग्नि सर्वव्यापक रहती है,तथापि वह साधारण पुरुषोंके उपयोगमें नहीं आसकती। कहीं प्रज्वलित होनेपरभी उसकी सर्वव्यापकतामें बाधा नहीं आती। प्रज्वलित अप्रज्वलित अग्निमें कोई वास्तविक भेद नहीं हुआ करता, परन्तु प्रज्वलित होकर ही वह लौकिक पुरुषोंके उपयोगमें आती है। इस कारण उस समयमें वह उपास्य भी होती है। यही बात परमात्माके अवतार-विषयमें भी समझनी चाहिये। उस समय परमात्माका श्रेष्ठोंके साथ स्नेह तथा अधर्मोंके प्रति क्रोधभी स्वाभाविक होता है। उस समय औपचारिकतासे उसका जाति-विशेषसे सम्बन्ध तथा वर्णाश्रमधर्मसे सम्बन्धभी जनशिक्षार्थ हो जाता है। जैसे एक अग्निका एक देशके भी भिन्न-भिन्न स्थलोंमें एक साथ ही प्राकट्य होजाता है; वैसेही दो अवतारभी राम-परशुरामकी भांति एक-देश तथा एक समयमें भी प्रकट हो जाते हैं। उसप्रज्वलित अवताराग्निके पृथिवीसे तिरोभूत हो जानेपरभी उसकी शक्ति दिव्य होनेसे यहां भी अक्षुण्ण रह जाती है। उसे प्राणप्रतिष्ठोपेत तत्तत्-पार्थिव मूर्तिमें केन्द्रीभूत करके दुहा

जा सकता है। यही दुही हुई प्रज्वलित शक्ति भक्तोंकी कामनाओंको पूर्ण करती है, अत वह उनके अधिकारी पुरुषोंमें उपास्य भी हुआ करती है। यही मूर्तिपूजाका भी रहस्य है, अवतारवाद ही मूर्तिपूजाका प्राण हुआ करता है।

जिस समय कोई दो लकड़ियोंको घिसता है, उनके सघर्षसे, अथवा पत्थर लोहेको रगड़से अथवा दियासलाईसे वा आतिशी शीशेसे अग्निका प्राकट्यही अग्निका अवतार है; वैसेही जब आसुरी सम्पत्ति दैवी सम्पत्तिसे सघर्ष करती है उस समय निराकार परमात्मा साकार होकर प्रकट हो जाया करता है, इसीको परिभाषिक रूपमें 'अवतार' कहा जाता है। जैसे 'अनुदरा कन्या'का यह अर्थ नहीं कि 'पेटसे रहित लड़की' क्योंकि पेटके बिना लड़की हो ही कैसे सकती है? तब 'अनुदरा कन्या' का अर्थ किया जाता है बहुत सूक्ष्म, छोटे पेट वाली लड़की। जैसे कि—'अनलङ्कृती पुन क्वापि' में आलङ्कारिक लोग नञ्का अभाव अर्थ 'अलङ्काररहित शब्दार्थ' न कहकर 'कहीं कहीं अस्फुट अलङ्कार वाले शब्द और अर्थ' यह अर्थ किया करते हैं। चित्रकाव्यमें 'अव्यङ्ग्य'का 'व्यङ्ग्यसे रहित शब्दचित्र, अर्थचित्र' अर्थ न करके जैसे 'अस्फुट व्यङ्ग्य' यह अर्थ किया जाता है, वैसेही 'निराकार' शब्दमें स्थित 'निर्' परमात्माके आकारका सर्वथा निषेधक नहीं। वेदमें परमात्माके लिए आया हुआ 'नेति नेति' (बृहदार० ४ (६) ४।२२) शब्द परमात्माके अभावको नहीं बताता; किन्तु उसके आकारकी 'अनिर्वचनीयता' ही 'निर्' शब्दसे द्योतित होती है, अन्यथा 'निराकार' में 'निर्' शब्द सर्वथा अभाव अर्थ वाला माना जावे, तो परमात्मामें शून्यताकी प्रसक्ति हो जावेगी। पर यह इष्ट नहीं, अत. 'निराकार' का अर्थ 'अनिर्वचनीय' वा 'सर्वजनदुर्वेद्य आकार वाला' यही अर्थ है, 'साकार' का 'सर्ववेद्य अथवा 'वचनीय आकार विशेष वाला' यह अर्थ है। तब इसमें उस परमात्माकी लोकोत्तरताके कारण कोई दोष वा

विरोध नहीं पड़ता। निराकारभी जीवात्मा जब अल्पशक्ति वाला होता हुआ भी आकारको धारण कर लेता है; तब सर्व-शक्तिमान् होकर भी परमात्मा मायिक-शरीर धारण करके साकार क्यों न बन सके?

जो यह कहा जाता है कि 'जीव तो कर्मबन्धनमें बद्ध होकर ही शरीर-धारण करता है; तो क्या परमात्मा भी बन्धन-बद्ध है, जोकि शरीरधारणरूप-अवतार ग्रहण करता है?' इसपर यह जानना चाहिये कि कैदी तो किसी कर्मके कारण—चाहे चोरी आदि दुष्कर्म हो, या देश वा धर्मविशेषका हित-विशेषरूप सुकर्म हो, जो राजाको प्रिय न हो—जेलखानेमें आता है और उसमें बन्धा रहता है, उस कर्मके दण्डकी अवधि समाप्त होनेपर राजाके द्वारा जेलखानेसे छूटता है; पर राजा उसी जेलखानेमें अपराधियोंपर दया करनेके लिए स्वयं स्वतन्त्रता से आता है। इस प्रकार परमात्मा भी, क्योंकि 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' (गीता ४।६) न मां कर्माणि लिम्पन्ति' (गीता ४।१४)

अवतार होनेमें प्रमाणभूत 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।' (वा० यजुर्वेद सं० ३१।१६)। इत्यादि बहुतसे वेदमन्त्र हैं। 'विजायते' का अर्थ स्वामी दयानन्दजीने भी 'विशेषकर प्रकट होता है' यही किया है। 'विशेषकर प्रकट होना' ही तो 'अवतार' होता है; वैसे वह अप्रकट-रूपमें तो सर्वत्र व्यापक रहता ही है। अस्तु, इसी मन्त्रका अविकल तथा स्फुट अनुवाद—

'अजोपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन्।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य सम्भवाम्यात्ममायया॥' (४।६)
'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।' (४।७)

इत्यादि 'भगवद्गीता' के पद्य हैं।

'महाभाष्य' में कहा है—'एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति।' (१।२।६४) एक इन्द्र सैंकड़ों यज्ञोंमें बुलाया

(१७) मनुष्ययोनि से देवयोनि की भिन्नता

हिन्दुधर्म सनातनधर्मके साहित्य-वेदादिशास्त्रोंमें प्रचुर-मात्रामें व्याप्त है; तब जो सनातनधर्मका प्रच्छन्न वा प्रकट विरोधी अर्वाचीन सम्प्रदाय उसपर प्रहार करना चाहता है; वह पहले इस पितृ-पूजा तथा देव-पूजाको अवैदिक एवंपुराण-प्रोक्त कहकर उसे उड़ा देना चाहता है; पर जब वही बात वह स्वमान्य वेदमें भी पाता है; तब उससे अपनी जान छुड़ानेके लिए वह उन्हें मनुष्यभिन्न दिव्य-योनि न मानकर मनुष्ययोनि ही सिद्ध करना चाहता है। उसमें हम पितृपूजा पर तो पहले लिख ही चुके हैं कि—इस लोकसे मरकर पितृलोकमें पहुँचे हुए पितर कहलाते हैं; उनकी पूजा श्राद्धादिसे करनी चाहिये इत्यादि। अब अवशिष्ट देवपूजापर भी लिखना आवश्यक है।

यह हम पूर्व कह चुके हैं कि—देवता अङ्गी परमात्माके विशेष अङ्ग हैं। अङ्गीकी पूजा अङ्गके बिना हो ही नहीं सकती; और हम उन देवताओंकी कृपासे ही जीवन प्राप्त कर रहे हैं; सब देवपूजा भी हिन्दु-धर्मका आवश्यक अङ्ग है। तभी भगवान्‌ने अपनी गीतामें कहा है—'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' (३।११) इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञ-भाविताः। तैर्दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः' (३।१२) जैसे देवोंने हमें अपना काव्य वेद दिया है, अपनी नदी गङ्गा दी है, वैसे हमपर अनुग्रह करके अपनी वाणी देव (संस्कृत) भाषा भी हमें दी है, यही कारण है कि—संस्कृत-साहित्यमें देवयोनिका पर्याप्त वर्णन दीखता है। लेकिन आजके कई अर्वाचीन आर्यसमाज आदि

सम्प्रदाय देवयोनिकी सत्ताको छिपाते हुए उसे मनुष्ययोनि से अभिन्न बताते हैं। उनका यह अभिप्राय है कि—विद्वान् अथवा सत्यवक्ता मनुष्यही देवता हुआ करते हैं, देवयोनि कोई मनुष्ययोनिसे स्वतन्त्र योनि नहीं है। वे यहां प्रमाणस्वरूप 'विद्वांसो हि देवाः' इस शतपथ-ब्राह्मणके वचनको देकर विद्वान्-मनुष्योंको ही देवता, तथा 'सत्यसंहिता वै देवा अनृतं मनुष्याः' इस ऐतरेय ब्राह्मणके वचनको देकर सत्यवक्ता मनुष्यको ही देवता सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं—देवताओंको वे मनुष्य-भिन्न नहीं मानना चाहते। यदि उनकी यह धारणा सच्ची मानी जावे; तो हमारे प्राचीन साहित्यका अधिक अंश निकम्मा हो जाता है। वह देवमहिमा और देवता-उपासना व्यर्थ हो जाती है, इस कारण इस निबन्धमें इसपर वेदादिशास्त्रोंका अभिप्राय दिया जाता है।

(१) (क) 'विश्वे देवा अमर्त्याः' (यजुः वा० सं० ३३।७७) यहां पर देवताओंको मनुष्योंसे भिन्न बताया गया है। (ख) 'सुप्रावीरिन्द्र ! मर्त्यः तव ऊतिभिः' (अथर्व० २०।२४।१) हे इन्द्र ! मनुष्य तेरी रक्षाओंसे रक्षित होता है। यहाँपर इन्द्र आदि देवताओंको उपजीव्य और मनुष्योंको उपजीवक, और इन्द्र-देवताको मनुष्योंसे भिन्न बतलाया है। (ग) इसीलिए ही 'इन्द्र! ओजिष्ठ! ओजिष्ठस्त्वं देवेषु असि, ओजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्' (यजु० ८।३९), यहां भी देवता और मनुष्यों-का भेद स्पष्ट है। यहां वक्ता अपनेको इन्द्रसे अलग बताता है। वह इन्द्रको देवताओंमें बलवान् बताता है और अपनेको मनुष्योंमें बलवान् बनानेके लिए इन्द्रसे प्रार्थना करता है। इससे स्पष्ट है कि देवयोनि भिन्न है और मनुष्ययोनि भिन्न, और इन्द्र कोई विशेष देव है, मनुष्य नहीं; और उससे वर भी मांगा जा सकता है।

(२) यहाँ यह भी स्मर्तव्य है—जो वस्तु जिससे अभिन्न होती है,

अर्थात् वहीं होती है, वहां भिन्नता बताने वाले च (और) *वा* (अथवा) *उत* (और) आदि शब्द कभी नहीं हुआ करते। जैसे—'स्वा०दयानन्दजी आर्यसमाजियों *और* आर्यसमाजियोंके नेता थे'। यह वाक्य नहीं बन सकता, क्योंकि—दोनों आर्यसमाजी शब्दोंका आपसमें भेद न होनेसे उसमें भेद प्रदर्शक 'और' शब्द नहीं आ सकता। 'वहां मनुष्य *और* मानुष इकट्ठे हुए' यह वाक्य भी नहीं बन सकता, क्योंकि—मनुष्य और मानुष शब्द आपसमें पर्याय वाचक हैं, उनमें भेद कैसे हो सकता है? जब उनमें भेद नहीं, तो भेद प्रदर्शक 'और' शब्द भी वहां आ नहीं सकता, परन्तु वेद में देवता मनुष्योंके बीच में 'और' अर्थ बताने वाले 'च, *वा*, *उत*' आदि शब्द बहुधा आते हैं उसमें उनका भेद स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण-स्वरूप कई वेद-मन्त्र उपस्थापित किये जाते हैं। 'आलोक' पाठक उन्हें सावधानतासे देखें—

(क) 'अमृतानाम् (देवानाम्) *उत वा* मर्त्यानाम्' (ऋ १०।३३।८) (ख) 'देवेषु *उत* मानुषेषु' (अथर्व० ४।२८।१) (ग) 'देवानामुत *यो* मर्त्यानाम्' (ऋ० ६।१२।१३) (घ) 'य देवा *उत* मर्त्यास' (ऋ० ८।४८।१) (ङ) मानुषीणा विशा, दैवीनामुत' (अथर्व० २०।११।२) (च) 'देवानामुत मानुषाणाम्' (अ० ४।३०।३) (छ) 'यस्मिन् देवा अमृतत्त यस्मिन् *मनुष्या उत*' (अ० १२।२।१७) इत्यादि मन्त्रोंमें 'उत' शब्द देवता एवं मनुष्योंमें भेद ग्राहक है। अभिन्नमें 'उत' शब्दका अन्तर नहीं हुआ करता, तब वादियोंको या तो वेद आदि शास्त्र छोडने पडे गे, अथवा देवयोनिकी मनुष्ययोनि से स्वतन्त्र सत्ता माननी पडेगी। (ज) तभी वाल्मीकि रामायणमें 'देवो *वा* मानुषो *वा* त्व' (युद्धकाण्ड १२०।४२) यहां दोनोंका भेद प्रदर्शक 'वा शब्द आया है।

(३) अब इस प्रकारके मन्त्र दिये जाते हैं; जिनमें देवता और मनुष्यों का भिन्न करने वाला 'च' शब्द आता है।

(क) 'यत्र देवाश्च मनुष्याश्च' (अथर्व० १०।८।३४) (ख) 'दैवीश्च विशो मानुषीश्च' (यजु १७।८६) (ग) 'तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति, या देवानां या च मानुषाणाम्' (निरुक्त १३।६।१) (घ) देवाश्च मनुष्याश्च' (शतपथ २।३।४।४) (ङ) 'ये च देवा असुर ! ये च मर्ताः' (ऋ० २।१७।१०) (च) 'देवस्य मर्त्यस्य च' (ऋ० २।७।२) (छ) 'अन्तर्देवान् मर्त्यांश्च' (ऋ० ८।२।४) (ज) 'तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति-दैवीं च मानुषीं च' (काठक सं० १४।५) (झ) इसी प्रकार 'महाभारत' में भी देव-मनुष्योंका भेदग्राहक 'च' शब्द आया है—'देवानां मानुषाणां च' (वनपर्व २०१।२१)

(४) अब दूसरे शब्दोंके अन्तरसे भी देव-मनुष्योंकी पृथक्ता बताने वाले वेद-मन्त्र उपस्थित किये जाते हैं। पाठक देखें—

(क) पुनर्वै देवा अददुः, पुनर्मनुष्या अददुः' (ऋ० १०।१०९।६) यहां देव-मनुष्य दोनोंके मध्यमें दो बार दिया हुआ पुनः' शब्द दोनोंको पृथक् दिखला रहा है। (ख) देवस्य वा मरुतो ! मर्त्यस्य वा ईजानस्य' (ऋ० १।४८।२०) यहांपर तथा (ग) यदि वाऽसि देवकृता यदि वा पुरुषैः [मनुष्यैः] कृता' (अ० ४।१२।७) यहांपर भी 'वा' शब्दसे दोनोंकी भिन्नता स्पष्ट है। (घ) 'अग्निर्देवेषु राजति, अग्निर्मर्तेषु आविशन्' (ऋ० ४।२४।४) इस मन्त्रमें देव और मनुष्योंके बीचमें दो बार कहा हुआ 'अग्नि' शब्द दोनोंकी भिन्नतामें तात्पर्य-ग्राहक है। यदि यहां 'देव' मनुष्यका नाम होता; तो आगे 'मर्तेषु' कहना व्यर्थ होता। (ङ) 'चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम् इति उभयेषां ह्येतद् देव-मनुष्याणां चक्षु' (शतपथ ६।२।३।२८) यहांपर 'उत' शब्द तथा

'उभय' शब्दसे दोनोंकी भिन्न-भिन्नता व्यक्त है। (घ) 'तस्य यज्ञस्य सम्पत्त्या तुतुषुर्देवता अपि। विस्मयं परमं जग्मुः किमु मानुष-योनयः' (शल्यपर्व ३८।१०) इस महाभारतके पद्यमें 'देवता अपि विस्मयं जग्मुः मानुषयोनयस्तु किमु' 'इस प्रकार अर्थापत्ति द्वारा भिन्न-भिन्न कहनेसे भी दोनोंका भेद सुस्पष्ट है। (ङ) 'अव देवैर्देव-कृतमेनोऽवयक्ष्यव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्' (यजुः २०।१८) यहां भी भिन्नता स्पष्ट है।

(५) अब वेद 'न' आदि शब्दोंसे देवता और मनुष्योंकी भिन्नता दिखलाता है, पाठक उसपर भी ध्यान दें—

(क) 'नहि त्वा शूर! देवा न मर्तासो दित्सन्तं' (सामवेदसं० उत्तरार्चिक २।२।२।३)—हे शूर इन्द्र! जब तुम देना चाहते हो न तुम्हें देवता रोक सकते हैं, न मनुष्य रोक सकते हैं। यहांपर दोनों में व्यवधान करने वाला 'न' शब्द दोनोंकी एकता काट रहा है। (ख) अदेवः''''मर्त्यः' (ऋ० १०।७० (२६)। ७) यहांपर मर्त्यको अदेव बतानेसे (ग) 'देवो न मर्त्यो' (ऋ०१०।२२।५) यहां देवको अमर्त्य बतानेसे नञ् दोनोंको भिन्न बता रहा है। (घ) 'नतु देवेष्वहं स्याता न मनुष्येषु कर्हिचित् (महाभारत-उद्योगपर्व ३५.२०) विरोचन दैत्यके इस वाक्यमें दोनोंकी भिन्नता स्पष्ट है। (ङ) 'नहि देवो न मर्त्यो' (ऋसं० १।१६।२) यहां दोनों में गृहीत 'न' शब्द दोनोंको भिन्न-भिन्न बता रहा है। (च) 'न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र! देवो न मर्त्यः'(अथर्व० २०।२७।४) हे इन्द्र, जिसे तू धन देना चाहता है, उसका निवारक न देवता हो सकता है, न मनुष्य। यहां भी भेद स्पष्ट है। (छ) 'सत्य-मित् तत्र त्वावाँ अन्यो अस्तीन्द्र! 'देवो न मर्त्यो ज्यायान्' (ऋ० ६। ३०।४) यहां इन्द्रको देव-मनुष्य दोनोंमें बड़ा बतानेसे देव एवं मनुष्योंका भेद सुस्पष्ट है (ज) 'न या अदेवो वरते न देवः' (अथर्व० २०।३६।११) यहां अदेव और देवको अलग-अलग कहा है। (झ)

इसी तरह 'नकिर्देवा वारयन्ते न मर्ताः' (ऋ० ४।१७।१६) (ञ) 'न यस्य देवा देवता न मर्ताः शवसो अन्तमापुः' (ऋ० १।१००।१२) 'जिसका देवता भी अन्त नहीं पा सके, मनुष्य भी अन्त नहीं पा सके' यहां भी देव-मनुष्यका भेद प्रत्यक्ष है। 'मर्तः' से मनुष्य मात्रका ग्रहण है; तब 'आर्याभिविनय' में इसका 'साधारण मनुष्य' अर्थ करते हुए स्वा०द०जीका पक्ष निर्मूल सिद्ध हुआ। (ट) 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' (७।८) मनुके इस पद्यसे भी देवता और नरोंका भेद सिद्ध हो रहा है।

(६) अब विज्ञ-पाठक वेदमें देवता और मनुष्योंका पृथक् पृथक् ग्रहण भी देखें—(क) देवाः, पितरो, मनुष्या, गन्धर्वाप्सरसश्च ये' (अथर्व० १०।९।९, ११।७।२७) यहांपर 'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे' यहां 'सर्वे' कहनेसे तथा पृथक् पृथक् कहनेसे देव, पितर तथा मनुष्य भिन्न-भिन्न योनि सिद्ध होते हैं। (ख) 'यं देवा', पितरो, मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा' (अ० १०।६।३२) यहांपर भी देवता, पितर तथा मनुष्य भिन्न-भिन्न कहनेसे भिन्न-भिन्न योनियां सिद्ध होती हैं, तब पितर जीवित-मनुष्य, तथा देवता विद्वान्-मनुष्योंसे भिन्न सिद्ध हो गये। (ग) 'देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि, मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि, पितृकृतस्यैनसोवयजनमसि' (यजुः वा० सं० ८।१३) यहां भी तीनोंका भेद विस्पष्ट है। (घ) 'पितृ-देव-मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्' (१२।९४) इस तथा 'ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा। नृयज्ञं, पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्' (४।२१) इन मनुके श्लोकोंमें भी मनुष्य पितर-देव-ऋषि भिन्न-भिन्न योनि सिद्ध हो जाते हैं। यदि देवता, ऋषि, पितर, नर समानयोनि वाले हों तो पञ्च महायज्ञोंकी पाच संख्या नहीं घटती। ऋषिसृष्टि भी मानुषी सृष्टिसे भिन्न होती है; तब इनके व्यवहार भी एक जैसे नहीं हो सकते। फिर जो कि

पुराणोंमें ऋषि तथा देवोंके आचरणको मानुषी-दृष्टिकोणसे जाँचा जाता है—यह शास्त्रानभिज्ञता है।

(ङ) इसी कारण 'देवान्, मनुष्यान्, असुरान् उत ऋषीन्' (अथर्व० ८।१०।२४) (च) देवाँश्च, मनुष्याँश्च, पशूँश्च, वयांसि च' ('छान्दोग्य-उपनिषद्' ७।२।१) (छ) 'देवा, मनुष्या, असुरा, पितरः' (ऋ० १०।१०।२६) (ज) 'तानि वा एतानि चत्वारि अम्भांसि, देवा, मनुष्याः, पितरोऽसुराः' (तैत्तिरीय ब्रा० २।३।८ (२) इन स्थलों में देवता मनुष्यादिको भिन्न-भिन्न माना गया है। (झ) इसी प्रकार 'देवत्वं सात्त्विका यान्ति, मनुष्यत्वं च राजसाः। तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः' (मनु० १२।४०) यहांपर दूसरे जन्ममें देव, मनुष्य, पशु पक्षी, (ञ) 'नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः' (१२।४८) यहां दैत्य, (ट) 'यज्वान ऋषयो देवा द्वितीया सात्त्विकी गतिः' (मनु० १२।४९) यहां ऋषि, (ठ) 'पितरश्चैव साध्याश्च' (१२।४९) यहां पितर जो कि भिन्न-योनि बताये गये हैं, यह सब पूर्वोक्त वेद-मन्त्रोंके अनुकूल है। (ड) स्वा० द०जीकी संस्कारविधि गृहाश्रमप्रकरण, पितृयज्ञ २२७ पृष्ठ में 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः' पितरोंको स्वधा-योग्य, और शालाकर्मविधि २३८ पृष्ठ में 'देवेभ्यः स्वाहेभ्यः स्वाहा' यहां देवताओंको स्वाहा-योग्य बताकर देवता पितरोंका भेद भी स्पष्ट कर दिया गया है।

(७) अब 'आलोक' के पाठकगण देवता और मनुष्योंके अन्य भेद भी देखें—(क) 'इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्। नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिः' (ऋ० १०।८६।११) यहां इन्द्रकी पत्नी इन्द्राणीके पति इन्द्रका बुढ़ापेसे भी मरणाभाव सूचित करनेसे देव-मनुष्योंका भेद स्पष्ट है; क्यों कि—मानुषियोंका पति तो बुढ़ापेमें

मरही जाता है। देवताओंमें तो 'देवा मृत्युमपाघ्नत' (अ० ११।५।१६) इत्यादि वेद वचनाके अनुसार अमरता हुआ करती है। इसलिए शतपथ-ब्राह्मणमें कहा है—'अमृता देवा' (२।१।३।४) पर मनुष्य अमर नहीं होते, तब देवताओं और मनुष्यों का भेद स्पष्ट हुआ।

(ख) जो श्रीधर्मदेवजी सिद्धान्तालङ्कार आदि आर्यसमाजी विद्वान् मनुष्योंको मर्त्य होनेपर भी 'जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वरा। नास्ति येषां यश काये जरामरणज भयम्' इससे यश-द्वारा अमर बताकर मनुष्योंको देवताओंसे अभिन्न सिद्ध करनेका व्याज किया करते हैं, उनसे प्रष्टव्य है कि—क्या यह आप लोगोंका वैदिक प्रमाण है ? वस्तुत यह कथन भी व्यर्थ है, क्योंकि अमर यश वाले कवियोंकेलिए भी 'अमर्त्य' शब्द वा 'देव' शब्द नहीं आता, किन्तु वे 'मनुष्य' ही कहे जाते हैं। हां, मृत्युवश स्वर्ग जानेपर अमरता हुआ करती है। इसीलिए 'काठकगृह्यसूत्र' में वर वधूको कहता है। 'मुनिपर्वते गिरौ हरितसकाशे। सकल्परमणेऽमरौ उभौ समनसौ चराव' (१२) इस मन्त्रके विवरणमें देवपालने लिखा है—'हे वधु! सुवर्णमये मेरौ सकल्पमात्रेण सर्वाभिलषित-स फलप्राप्ति-यंत्र, तत्र सकल्परमणे अमरण धर्मकौ देवौ भूत्वा उभावपि प्रसन्न-चित्तौ सचरिष्याव पुरुषायुषे पूर्णे'। तब मनुष्य और देवताके मृत्यु अमरताके भेद होनेसे भी परस्पर भेद सिद्ध हुआ।

जोकि श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु आदि आर्यसमाजी विद्वान् 'अग्ने'यज्ञे पु मानुष' (ऋ० १।४४।१०) तथा १।८४।२०, २।१८।१ आदि मन्त्रोंमें इन्द्र अग्नि आदिको 'मनुष्य' शब्दसे युक्त देखकर देव-मनुष्यों का अभेद बताना चाहते हैं—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि—उक्त स्थलों में 'मनुष्याणा हित' मनुष्येभ्यो हित' इत्यादि ही अर्थ है। हित आदि अर्थमें यत् वा अण् प्रत्यय है, श्रीसायणाचार्यने भी वैसा

ही अर्थ किया है । 'तस्मै हितम्' (अष्टा० ५।१।५) 'छन्दसि च' (५।१।६७) 'हलो यमां यमि लोपः' (८।४।६४) इत्यादि सूत्रोंसे उन प्रयोगोंकी सिद्धि होती है । तब वादियोंके यह व्याज निर्मूल होने से देवता तथा मनुष्योंकी भिन्नता स्पष्ट है । (८) 'मनुष्यजातिः—पशून् उद्दिश्य श्रेयसी, देवान् ऋषींश्च अधिकृत्य न' (४।३३). योग-दर्शन-व्यासभाष्यके इस स्थलमें देवता और मनुष्य एवं ऋषियोंकी भिन्न-भिन्न योनि मानी गई हैं। (९) 'सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः (अथर्व० ११।७।२७) यहां देवताओंका निवास द्युलोकमें माना गया है, मनुष्य द्युलोकमें नहीं रहते । इसीलिए निरुक्तमें, 'द्युस्थानो देवगणः' (१२।४१।१) यह कहा है। इसी कारण शास्त्रोंमें देवताओं को 'दिवौकस.' कहा जाता है। 'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋ० १०।१९०।३) इस मन्त्रमें द्युलोकको पृथिवी-लोकसे भिन्न माना गया है; तब पृथिवी-निवासी मनुष्य द्युलोकनिवासी देवताओंसे भिन्न सिद्ध हुए। (१०) 'न वै देवा अश्नन्ति' (छान्दोग्य उपनिषद् ३।६।१) यहां देवताओंका भोजन करना नहीं माना है; पर मनुष्य तो भोजन करते हैं; तब भी इनका परस्पर-भेद सिद्ध हो गया। (११) 'न वै देवाः स्वपन्ति' (शत० ३।२।२।२२) यहांपर देवताओंका शयन नहीं बताया गया; पर मनुष्य तो सोते हैं; तब इनका भेद सुस्पष्ट है। (१२) द्राघीयो हि देवायुषं ह्रसीयो मनुष्यायुषम्' (शत० ७।३।१।१०) सूर्य आदि देवताओंकी आयु सुदीर्घ देखी ही गई है; पर मनुष्योंकी नहीं—इस तरह भी उनका भेद स्पष्ट हुआ। (१३) 'तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः' (३।१।१।८) यहां देवताओंका मनुष्योंकी दृष्टिसे तिरोधान (छिपना) बतलाया है, पर मनुष्य तिरोहित नहीं होते। (१४) 'मनो ह वै देवा मनुष्यस्य आजानन्ति' (शत० २।१।४।१) यहांपर देवताओंका मनुष्योंके मनका वृत्त जान लेना कहा है; पर

मनुष्य दूसरोंका मन नहीं जान पाते। 'प्रो' हि मर्तैरसि समो देवैः' (ऋ० ६।४८।१६) यहापर पूषा देवता है। उसे मनुष्योंसे भिन्न तथा देवोंसे अभिन्न बताकर देवता एवं मनुष्योंका भेद सुस्पष्ट कर दिया गया है। (१५) 'एको देवत्रा दयसे हि मर्त्यान्' (ऋ०।१।८।१।७) हे इन्द्र! देवताओंके बीचमें तू ही एक मनुष्यों पर दया करता है— यहापर भी विभक्ति भेद से स्पष्ट भेद है।

(१६) 'देवा वै नाकसद्' (शत० ८।६।१।१-) 'द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम्' (शत० १४।३।२।८) यहां देवताओंको स्वर्गलोकमें रहने वाला कहा है, परन्तु विद्वान् मनुष्य भी पृथिवीलोकमें ही रहते हैं। तब देव, और विद्वान् में भी भेद सिद्ध हुआ। (१७) महाभाष्य पस्पशाह्निक में एक श्रुति उद्धृत की गई है—'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नचान्तं जगाम' यहांपर देवताओंके वर्ष बताये गये हैं। यदि देवता शब्दका 'विद्वान्' अर्थ लिया जावे; तो क्या विद्वान् मनुष्य और मूर्ख-मनुष्योंका वर्ष परिमाण भिन्न होता है ? क्या मूर्खोंका एक वर्ष विद्वानोंका एक दिन-रात है ? यदि नहीं, तब देवताओं-मनुष्योंका कालगणना-भेदसे भी भेद सिद्ध होगया और स्वामीदयानन्दजी आदिभीमनुष्योंकी हजारवर्षकी आयुनहीं मानते,यहां बृहस्पति और इन्द्रका एक दिव्य हजार वर्ष तक व्याकरण-का पढ़ना-पढ़ाना माना है। तब इन्द्र-बृहस्पति आदि देवता मनुष्य-भिन्न योनि सिद्ध हुए। यदि यहां वादी वर्षका अर्थ 'दिन' करें, तो हजार दिनके ढाई साल होते हैं। इतने समयमें यदि 'शब्दपारायण' समाप्त नहीं होता, तब इससे कोई आश्चर्य नहीं--क्योंकि यह बहुत समय नहीं। पर उक्त श्रुतिके द्वारा आश्चर्य बताया गया है। इस कारण किसी भी भ्रान्ति वादियोंकी इष्ट-सिद्धि नहीं।

(१८) 'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति, तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे दिवे नमस्कुर्यान्नाश्लीलं कीर्तयेत्, एता एव देवता प्रीणाति'(तैत्तिरीयारण्यक२।१५ (१)यदि देवता यहां मनुष्य मान जाएं, तो क्या वे मनुष्य-ब्राह्मणमें घुस सकते हैं?इससे स्पष्ट है कि देवता मनुष्यसे भिन्न हैं। (१६) 'यो देवा मर्त्यां अति (अथर्व०, २०।१२७। ७) यहांपर मनुष्योंसे देवताकी बड़ी शक्ति दिखलाकर परस्पर भेद दिखलाया गया है। यहांपर राजाको तुलाप्रमाण 'देव' कहा गया है कि—वह देवकी तरह है या उस रूपकसे 'देव' कहा गया है। (२०) 'प्राची हि देवानां दिक् उदीची हि मनुष्याणाम् (शत० १।७।१।१२) यहांपर दिशाभेदसे भी दोनोंका भेद कहा गया है। प्रश्न— 'देवो भूत्वा देवान् अप्येति (४।१।२) इस बृहदारण्यकोपनिषद्के वाक्यमें कहा है कि—मनुष्य देव बनकर देवताओंके पास पहुंचता है, तब मनुष्य भी देवता बन सकते हैं? (उत्तर) यहां 'देव' का अर्थ 'देववत्, देवकी भांति गुणशाली होकर यह है जैसकि महाभाष्य में कहा गया है—'अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते तद् यथा एष ब्रह्मदत्त , अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह तेन मन्यामहे–ब्रह्मदत्तवद् अयं भवति (१।१।२२) अब्रह्मदत्तको ब्रह्मदत्त कहनेका तात्पर्य है ब्रह्मदत्तवत्'। इस प्रकार ,अदेव' का देव कहनेसे भी 'देवकी तरह यह तात्पर्य होता है सचमुच देव' बनकर नहीं। इस तरह से तो उसी उपनिषदमें ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति (४।४।६) भी लिखा है। तो क्या आप (द्वैतवादी) के मतमें 'परमात्मा' बनकर मनुष्य परमात्माको प्राप्त होता है यह अर्थ है? ऐसा नहीं, किन्तु ब्रह्मकी तरह गुणवाला बनकर' । इस प्रकार 'देव' के विषयमें भी जानना चाहिये।

(२१) अग्ने! वह हविरद्याय देवान्' (ऋ० ७।११।५) इस मन्त्रमें अग्निकी तृप्ति द्वारा देवताओंकी तृप्ति बताई गई है,

क्योंकि 'अग्निर्देवानां जठरम्' (तैत्तिरीय ब्रा० २।७।१२) अग्नि देवताओंका पेट है। इस प्रकार 'ऋणं ह वै जायते, योऽस्ति, स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः(शत० १।७।२।१) 'स येन देवेभ्य ऋणं जायते तद् एनान् तदवदयते यद् यजते, अथ यदग्नौ जुहोति, (शत०१।७।२।६)'यद् अग्नहोमान् जुहोति; देवानेव तत् प्रीणाति'(शत० १३।२।१।१)इस सन्दर्भसे अग्निमें होमसे देवऋणकी पूर्ति बताई गई है। यदि आर्यसमाजियोंके मतसे देवता इस संसारके विद्वान् मनुष्य ही माने जावें; तो क्या अग्निमें होम करनेसे उनका ऋण उतर जावेगा? किसी आर्यसमाजी विद्वान्से कोई ऋण ले; तब वह अग्निमें होम कर दे; तब क्या उस विद्वान्का ऋण उतर जावेगा? और उस होमसे वह विद्वान् तृप्त भी हो जाएगा? यदि ऐसा हो; तो आर्यप्रतिनिधि-सभाको यह घोषणा कर देनी चाहिये, जिससे निर्धन पुरुष उनसे ऋण ले सकें, फिर वे हवन करके उस ऋणको उतार देंगे। इस प्रकार तत्सम्मत 'छटांकभर घीसे वैदिक हवन'का प्रचार भी बढ़ जायगा। यदि उन्हें यह स्वीकार नहीं; तो स्पष्ट है कि देवता विद्वान्-मनुष्य नहीं; किन्तु मनुष्यसे भिन्न योनि हैं। देवताओंका अग्निमें होम करनेका कारण यह है कि--'न ऋते त्वद् अमृता मादयन्ते' (ऋ० ७।११।१) अग्नि देवोंका मुख है। 'आ अग्ने! वह हविरद्याय देवान् इन्द्रज्येष्ठास इह मादयन्ताम्। इमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहि' (ऋ० ७।११।५) यहांपर अग्निकी तृप्तिके द्वारा देवताओंकी तृप्ति कही गयी है। इसीलिए शतपथ-ब्राह्मणमें कहा गया है--'अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति' (३।१।३।१) 'देवा अग्निमुखा अन्नमदन्ति, यस्यै हि कस्यै च देवतायै जुह्वति, अग्नौ एव जुह्वति, अग्निमुखा हि तद्देवा अन्नमकुर्वत' (शत० ७।१।२।४) 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (३।४।१।१६) निरुक्त १४।३२)।

(२२) 'देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे' (ऋ० १।८९।२) 'अमर्त्या ! मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः' (अथर्व० (६।४१।३) यहांपर मनुष्यों द्वारा देवताओंसे आयु मांगी गई है; इससे दोनोंका भेद सुस्पष्ट है, नहीं तो कौन मनुष्य, मनुष्यको आयु दे सकता है ? अपनी आयु तो कोई मनुष्य बढ़ा सकता नहीं। ऐसा बात केवल देवताओंमें हो सकती है; क्योंकि—वेदमें कहा है—'यस्ते देवेषु महिमा' (ऋ० १०।३।३) 'एषां मरुतां महिमा सत्यो अस्ति' (ऋ० ७।६७) 'अपारो वो [मरुतां] महिमा' (ऋ० ५।८७।२४) यहां देवताओंकी महिमा अपरिमित बताई गई है, अथवा अपवादरूपसे मनुष्य भी किसी प्रकार मनुष्यकी आयु बढ़ा सके; पर उक्त मन्त्रोंमें तो मर्त्यों के द्वारा अमर्त्यों से प्रार्थना है, मर्त्यों से नहीं। अत. देवताओं का और मनुष्योंका भेद सुस्पष्ट है। शतपथमें देवताओंको अमर्त्य कहा है, जैसे कि 'अमृतत्वं वै' (२।४।२।१) और मनुष्योंको मर्त्य कहा है; जैसे कि—'मृत्युर्नः। (२।४।२।२)।

(२३) 'इन्द्राग्नी द्यावा-पृथिवी,मातरिश्वा, मित्रावरुणा, भगा, अश्विनोभा। बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु (अ० १४।१।५४) यहां इन्द्र आदि देवताओंसे विवाही जा रही नारी में सन्तानवृद्धि दिखलाई है। यदि इन्द्र, मरुत् आदि देवता मध्य मनुष्य माने जाएं, तो क्या वर उनसे अपनी स्त्रीमें सन्तान उत्पन्न करवावेगा ? कोई महानियोगी भी ऐसा नहीं कर सकता। इससे भी देवता और मनुष्योंका योनिभेद सुस्पष्ट है। देवताओंसे तो ऐसी प्रार्थना की जा सकती है।

(२४) 'उभौ लोकौ जयेयं देव लोकं च मनुष्य लोकं च' (शत० १३।२।४।१ ; 'अयं वै लोको मनुष्यलोकः', तथा असौ [लोकः] देव-

लोक.' (१) इस प्रकार लोकभेदसे भी देव मनुष्यभेद है। यदि देवशब्द विद्वान्-मनुष्यवाचक है तो क्या उनका लोक मनुष्यलोक नहीं? कोई पृथक् लोक है? (२५) 'प्रजापतिः *ऊर्ध्वेभ्यः प्राणेभ्यो देवानसृजत, येऽवाञ्चः प्राणास्तेभ्यो मर्त्याः प्रजाः'* (शत० १०।१।३।१) यहां उत्पत्तिमूलक प्राणके भेदसे भी देव-मनुष्यका भेद है। (२६) 'तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया' (मनु० ७।२०५) इस धर्मके भेदसे भी दोनोंका भेद सुस्पष्ट है। (२७) *'त्रेधा भागो निहितो यः* पुरा वो देवानां, पितॄणां, *मर्त्यानाम्।* अंशान् जानीध्वं विभजामि तान् वो' (अथर्व० ११।१।५) इस मन्त्रमें देव पितृ-मनुष्योंको 'त्रेधा' पदसे तीन बताकर कैसे भिन्न-भिन्न सिद्ध कर दिया गया है! पितर भी यहां मनुष्योंसे भिन्न बता दिये गये। (२८) 'तेन इमं यज्ञं नो वह [अग्ने!] स्वर्देवेषु-गन्तवे' (ऋ० ३।२९।१७) यहां भी दोनोंका स्पष्ट भेद है, अग्निसे लाया हुआ यज्ञ भला मनुष्योंको कैसे मिल सकता है?

(२९) (क) 'एष ह वै देवान् अनुविद्वान् यद् अग्नि' (शत० १।५।२।६) यहांपर विभक्ति भेदसे देव-विद्वानोंका भेद सुस्पष्ट है। (ख) 'अग्निर्हि यत्र देवेभ्यो मनुष्यान् अभ्युपावर्तत' (शत० ३।२।१।१३) यहांपर विभक्ति-भेदसे देव मनुष्योंका भेद स्पष्ट है। (ग 'देवेभिर्मानुषे जने' सामवेदस० छन्दआर्चिक १।२) यहां भी विभक्ति भेदसे भेद है। (३०)'स यद् अग्नौ जुहोति, तद् देवेषु जुहोति, तस्माद् देवाः सन्ति अथ यद् सदसि भक्षयन्ति, तन्मनुष्येभ्यो, जुहोति, तस्मान्मनुष्या-

सन्ति ।''''तद् पितृषु जुहोति, तस्मात् पितरः सन्ति' (शत० ३।६।२।२४) यहां भी देव-पितर तथा मनुष्योंका भेद स्पष्ट है। (३१) 'इन्द्रस्तुजो'''नृवद्' (ऋ० २०।११।१६) यहां देव (यजुः ८।३६) इन्द्र को मनुष्यकी तरह बताकर देव मनुष्योंका भेद स्पष्ट कर दिया है। साधर्म्यमुपमा भेदे' (काव्यप्रकाश ।१०उ.) इस नियम से उपमा, भिन्नतामें होती है।

इस प्रकार देवता मनुष्योंसे भिन्न, उच्च योनि सिद्ध हुए; उन देवों का पूजन वेद सम्मत है। स्वा॰दयानन्दजीने भी नामकरण-संस्कार में तिथि तथा नक्षत्रोंके देवताओंके नाम हवन माना है, यह देवता किसी प्रकारसे विद्वान् मनुष्य नहीं बन सकते।

समझदार आर्यसमाजी देवयोनि मानना आवश्यक समझते हैं; श्रीगङ्गाप्रसादजी एम० ए० कार्यनिवृत्त मुख्य न्यायाधीश (टिहरी) महाशयने 'वैदिकधर्म' (अप्रैल १९२०) में 'क्या मनुष्यसे उच्च-श्रेणीकी देव आदि योनियोंका मानना आर्यसमाजके सिद्धान्तसे विरुद्ध है?' यह लेख प्रकाशित किया था—इसमें *उन्होंने लोकान्तरों में मनुष्योंसे भिन्न देव, पितर, गन्धर्व आदि योनियोंको माननेसे वेदमन्त्रोंके अर्थ करनेमें कठिनाईका दूर हो जाना माना है*। यह वहाँ के उनके शब्द हैं—'वेदमन्त्रोंमें केवल मनुष्योंमें ही देवशब्दका प्रयोग *सीमित* रखकर और *मनुष्येतर कोई देवयोनि न मानकर अर्थ करनेमें बहुधा कठिनाई पड़ती है*'। इस प्रकार उन्होंने 'सार्वदेशिक' (सितम्बर-अक्तूबर १९४६) में पितृविषयक लेख लिखकर सिद्ध किया था कि—मृत्युके पश्चात् जीवका जन्म एकदम नहीं हो जाता, कुछ समय तक वह परलोक अथवा लोकान्तरों में रहकर फिर इस मनुष्य-लोक में आता है'। इस लेख में उन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द इन तीन प्रमाणोंका उपयोग किया था। यदि यह दोनों पितृविषय

...परमेश्वरका कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता; तो क्या इतने असंख्य लोकोंमें मनुष्यादि सृष्टि न हो, तो सफल कभी हो सकता है ? इसलिए सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है। ....कुछ-कुछ, आकृतिमें भेद होना भी संभव है।.........'

जब अन्य लोकोंमें सृष्टि है; उनका कुछ आकृति-भेद भी स्वाभाविक है; क्योंकि इस लोकके शरीरोंमें पृथिवीकी प्रधानता है, अन्य-लोकोंके शरीरोंमें तेज, वायु, जल की प्रधानता है जैसा कि न्यायदर्शनके ३।१। २८ सूत्रके वात्स्यायनभाष्यमें लिखा है "तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम्.... *आप्य-तैजस-वायव्यानि लोकान्तरे* [वरुण-सूर्य-वायुलोकेषु] शरीराणि। तेष्वपि भूतसंयोगः पुरुषार्थतन्त्रः [अर्थात्—एकभूतारब्धेन *शरीरेण* भोगो न संभवतीति तेष्वपि *शरीरेषु* भूतसंयोगः-भूतचतुष्टययोगः पुरुषार्थतन्त्रः-भोगाधीनो भवत्येव। जलादीनां प्राधान्यादेव जलीयत्वादि-व्यपदेशः] स्थाल्यादि [घटादि] द्रव्यनिष्पत्तावपि [भूतसंयोगो] निःसंशयः [अपेक्ष्यते] न ह्यबादि-संयोगमन्तरेण [जलादिसंयोगं विना] केवलया मृदा [घटादेः] निष्पत्तिः [उत्पत्तिः]" इति। स्वा० दयानन्दजीसे मान्य "प्रशस्तपाद भाष्य" में भी इसी भांति कहा है। तब देवयोनि आदि मनुष्यसे भिन्न सिद्ध हो गईं। पृथिवीलोकके निवासी तो मनुष्य, द्युलोकके देवता, चन्द्रलोकके निवासी पितर सिद्ध हुए। उनके हमसे उच्च-श्रेणी वाले होनेसे हमसे उनका आदान-प्रदान संबन्ध तथा पूजा-सम्बन्ध भी सिद्ध हो सकता है।

स्वा० दयानन्दजीने प्रथम "सत्यार्थप्रकाश" में देवलोकादिको माना है। कुछ उनके उद्धरण दिये जाते हैं— (प्रश्न) स्वर्ग और नरक है या नहीं ? (उत्तर) सब कुछ है, क्योंकि—परमेश्वरसे रचे हुए असंख्यात लोक हैं उनमेंसे *जिन लोकोंमें सुख अधिक है और दुःख थोड़ा;*

उनको स्वर्ग कहते हैं, जिन लोकोंमें दुःख अधिक है और सुख थोडा है उनको नरक कहते हैं। जिन लोकोंमें सुख और दुःख तुल्य हैं; उनको मर्त्यलोक कहते हैं। इस प्रकार के स्वर्ग, मर्त्य और नरकलोक बहुत हैं। ...... इसी हेतुसे परमेश्वरने सब प्रकारके स्थान और पदार्थ रचे हैं कि पापी, पुण्यात्मा और मध्यस्थ जीवोंको यथावत् फल मिले। फिर परमेश्वरके राज्यमें स्वर्ग नरक और मर्त्य-लोकादिकोंकी व्यवस्था कैसे न होगी? अर्थात् अवश्य होगी। (पृष्ठ २६४)।

नवम समुल्लास पृष्ठ २८४ में प्रथम-सत्यार्थप्रकाशका निम्न उद्धरण भी द्रष्टव्य है "मनुष्य ही के शरीरमें पापपुण्य लगता है; अन्य शरीरमें नहीं। जो यह मनुष्यादिका शरीर है, सब जीवोंके लिए है क्योंकि सबको प्राप्त होता है, वैसे ही सब कीट-पतङ्गादिकोंके शरीर भी हैं। जब मनुष्य शरीरमें जीव अधिक पाप करता है, और पुण्य थोड़ा, तब नरकादिक लोक और पश्वादिकोंके शरीरको प्राप्त होता है। जब उसके पापपुण्य तुल्य होते हैं तब मनुष्यका शरीर प्राप्त होता है, और जब पुण्य अधिक करता है और पाप थोड़ा, तब देवलोक और देवादिकोंका शरीर उस जीवको मिलता है, उसमें जितना अधिक पुण्य उसका फल जो सुख उसको भोगके जो पाप-पुण्य रह जाते हैं, जब फिर मनुष्यका शरीर धारण करता है।" यहां पर स्वामीजीने देवलोक, नरकलोक, मर्त्यलोक आदिका तथा देव-मनुष्योंका भेद कहा है।

'यह बात स्वामीजीके प्रथम सत्यार्थप्रकाशमें होनेसे अमान्य है' ऐसा भी नहीं; क्योंकि द्वितीयावृत्तिवाले "सत्यार्थप्रकाश" में भी इसकी पुष्टि मिलती है। पाठकगण देखें- "जैसे बिना किये कर्मोंके सुख-दुःख मिलते हैं, तो आगे नरक स्वर्ग भी न होना चाहिये, क्योंकि जैसे परमेश्वरने इस समय बिना कर्मोंके सुख दुःख दिया है, वैसे मरे पीछे भी

जिसको चाहेगा उसको स्वर्गमें और जिसको चाहे नरकमें भेज देगा" (नवम समु० पृ० १५६) यहां भी स्वर्ग-नरक मरे पीछे (परलोकमें) माने हैं। अन्य भी उनका उद्धरण यह है—"जो साक्षी सत्य बोलता है, वह जन्मान्तरमें उत्तम जन्म और लोकान्तरोंमें जन्मको प्राप्त होके सुख भोगता है (स० प्र० ६ समु० १०३ पृष्ठ) यहां स्वामीजीने लोकान्तर माने हैं।

न्यायाधीश श्रीगङ्गाप्रसादजी एम० ए० आर्यसमाजी—विचारों के विद्वान् हैं, उन्होंने 'वैदिकधर्म' (अप्रैल १६५०) में लिखा था "शतपथ ब्राह्मणका "विद्वांसो हि देवा" एक प्रसिद्ध प्रमाण है, जिसके अनुसार विद्वान्-मनुष्योंके लिये देवशब्दका प्रयोग माना जाता है। परन्तु जैसा स्वाध्यायशील सज्जनोंको अनुभव हुआ होगा, वेदमन्त्रोंमें केवल मनुष्योंमें ही देवशब्दका प्रयोग सीमित रखकर और मनुष्येतर कोई देव-योनि न मानकर अर्थ करनेमें बहुधा कठिनाई पड़ती है" यह बात न्याया-धीश-महोदयकी ठीक है। 'विद्वांसो हि देवा' यह शतपथका प्रमाण आजकलके विद्वानोंको देवयोनिके उड़ानेके लिए एक कीमिया मिल गया है, इससे वे विद्वान् मनुष्योंको देवता कहकर देवयोनिसे अपनी जान छुड़ा लेते हैं, यद्यपि ऐसे अर्थमें भी सब जगह उनकी जान नहीं छूटती। तथापि वैसा अर्थ "शतपथ" के अभिप्रायसे विरुद्ध है, यह हम निम्न पंक्तियोंमें बताते हैं "आलोक" के स्वाध्यायशील पाठक इधर अवहित होंगे।

(१) इस विषयमें पहले यह जानना चाहिये कि "शतपथ ब्राह्मण"के द्रष्टा देवता तथा मनुष्योंको भिन्न-भिन्न मानते हैं। यद्यपि इस विषयमें उसके बहुत उद्धरण दिये जा सकते हैं, कुछ गत निबन्धमें दिये भी हैं, पर यहां उतना स्थान नहीं है। अतः दिङ्मात्र उद्धरण दिये जाते हैं—

'प्रजापतिं वै भूतानि उपासीदन्, प्रजा वै भूतानि। वि नो धेहि यथा जीवाम-इति" यहां पर सब प्रजाओंका ब्रह्माके पास जाकर अपने जीवन-निर्वाहका उपाय पूछना कहा है। 'ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जानु आच्य उपासीदन्, तान् अब्रवीद्-यज्ञो वोऽन्नम्, *अमृतत्वं* वः, ऊर्ग् वः, सूर्यो वो ज्योतिरिति' "(शत० २।४।२।१) यहां पर देवताओंका जीवन कहा है। 'अथैनं *पितरः* ..उपासीदन्, तान् अब्रवीद्—*मासि-मासि* वोऽशनं, स्वधा वः, मनोजवो वः (२।४।२।२) पूर्व-कण्डिकामें देवताओं का अन्न यज्ञ कहा गया है, यहां पर पितरोंका प्रतिमास भोजन माना है। 'अथ पुनं *मनुष्या* .....उपासीदन्। तान् अब्रवीत्—सायं प्रातर्वो ऽशनम्, प्रजा वः, *मृत्युः*" (२।४।२।३) यहां मनुष्योंका दो-बार भोजन कहा है। देवताओंको *अमर* कहा गया था, मनुष्योंकी यहां *मृत्यु* कही गई है।

'अथैनं *पशव* उपासीदन्, तेभ्यः स्वैरमेव चकार। यदैव यूयं कदा च लभाध्वै, यदि काले, यदि अनाकाले, अथैव अश्नाथ" (२।४।२।४) यहां पर पशुओंका निर्वाह बताया है कि तुम्हें जब-कभी मिल जायेगा, तुम उसे खा लिया करोगे। "अथ पुनं शश्वदपि *असुरा* उपसेदुः, तेभ्यः तमश्च मायां च प्रददौ, अस्ति अहैव आसुरमाया। ता इमाः प्रजास्तथैव उपजीवन्ति; यथैव आभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात्, (२।४।२।५) यहां पर असुरोंको माया देना कहा है। फिर कहा गया है कि इन जीवोंके लिए जो-जो नियम बनाये गये, वे उनको पूर्ण करते हैं, पर मनुष्योंके लिए कहा गया है कि—वे अपने नियमोंको पूर्ण न करके उनका उल्लंघन भी कर जाते हैं "नैव देवा अतिक्रामन्ति; न पितरः, न पशवः, मनुष्या एव एके अतिक्रामन्ति (शत० २।४।२।६)।

शतपथकी इन कण्डिकाओंमें कितने स्पष्टरूपसे देव-मनुष्य आदिका आपसमें भेद दिखलाया है। यह अन्य बात है कि मनुष्य कभी

देव सदृश हो, कभी पशु-सदृश, वा कभी असुर-सदृश हो जाए, वा कहीं देव शब्दका किसी मनुष्यका विशेषण होनेसे यौगिक अर्थ कर दिया जाए ; पर इससे देवयोनिको मनुष्य-योनिसे स्वतन्त्र न मानना अशास्त्रीय ही है। यदि "गोवलीवर्द" न्यायसे मनुष्य-जातिके ही विशेष देवता तथा असुर मान लिये जांय, उनकी पृथक् सत्ता न मानी जाय, तब उसी तरह मनुष्यमें पशुत्वके भी सम्भव होनेसे मनुष्यका ही विशेष-भेद पशु मानना पड़ेगा, पशुको भी फिर स्वतन्त्र-योनि नहीं मानना पडेगा। यदि यह असह्य है, तब पूर्वपक्ष (देवोंको मनुष्यविशेष मानना) भी ठीक नहीं है। फलतः देवता तथा मनुष्य भिन्न-भिन्न योनि हैं। तभी 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा है— "देव-योनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्य" (७।४।२।४०)।

जो कि स्वा० दयानन्दजी तथा आजकलके विद्वान् "विद्वांसो हि देवाः" इस शतपथकी श्रुतिको उपस्थापित करके इससे विद्वान् मनुष्योंको देवता कहते हैं, यह या तो उनका छल है, या भ्रम है। वहां वह अर्थ विवक्षित नहीं। इसका पूर्वोत्तर-पाठ उनके द्वारा जाने या अन-जाने उपस्थित नहीं किया जाता। वह पाठ यह है—"उशिजो वन्हितमान् इति, विद्वांसो हि देवा, तस्माद् आह—उशिजो वन्हितमान् इति" (शतपथ० ३।७।३।१०) यहां पर 'हि' शब्द हेतु अर्थ वाला है, क्योंकि—उसका पूर्तिकर्त्ता "तस्मात्" शब्द साथ दिया हुआ है "यत्-तदोर्नित्यः सम्बन्ध" यह एक प्रसिद्ध न्याय है। सो जबकि उक्त कण्डिकाके उपसंहारमें "तस्मात्" यह 'तद्' शब्द है, तब उसके साथ उक्त श्रुतिमें उससे पूर्व "यस्मात्" शब्द भी अवश्य होना चाहिये। देखभाल करनेसे प्रतीत होता है कि-वह शब्द यहां पर है। वह है "हि" शब्द। 'हि' शब्द "हेतु" अर्थमें प्रसिद्ध है। "तस्मात्" के अनुरोधसे "हि" शब्द यहां "यत्, यस्मात्" इस अर्थमें है। इसी हेतु-अर्थके कारण

'तस्मात्' में पञ्चमी है, तब "हि" शब्दके हेतु-अर्थ वाला होनेसे पूर्वपक्षियोंसे अभिमत देव-विद्वत् शब्दकी पर्यायवाचकता निरस्त हो गई।

यहां यह अभिप्राय है कि उक्त 'शतपथ' की श्रुति 'देवान् दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान्' (यजुः मा० सं० ६।७) इस मन्त्रके विवरणमें है। उक्त यजुर्वेदके मन्त्रमें "देवान्" यह पद "विशेष्य" है "उशिजः" यह पद "देव" शब्दका विशेषण है। यहां पर 'उशिज्' का अर्थ है 'बुद्धिमान्'। निघण्टु (३।१५) में मेधावीके २४ नामोंमें ११ वां नाम 'उशिज्' है। यही अर्थ उवट-महीधरके भाष्यमें भी है। स्वा० दयानन्दजीने भी अपने 'निघण्टु वैदिक-कोष' की शब्दानुक्रमणिकाके ३३ पृष्ठमें 'उशिजः मेधावि-नाम' यह लिखा है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उक्त (६।७) यजुर्वेदकी कण्डिकामें देवताओंका विशेषण उशिजः (मेधाविन) क्यों है ? इस विषयमें शतपथने उक्त-कण्डिकाके विवरणमें कहा है 'विद्वांसो हि देवाः, तस्माद् आह-उशिजो वह्नितमान्' इति' (३।७।३।१०) अर्थात् हि=चूंकि देवाः=देवतालोग विद्वांसः=जाननेवाले [जैसे कि निरुक्त (८।२०।१) में 'वयुनानि विद्वान्' इस मन्त्रके 'विद्वान्' पदका अर्थ 'प्रजानन्' किया गया है] होते हैं, सब-कुछ जान जाते हैं तस्मात्=इसी कारण ऋषि=मन्त्र उन देवताओंको 'उशिजो वह्नितमान्' इति आह='उशिजः' इस विशेषणसे युक्त करता है।

देवताओंके सर्व-ज्ञातृत्वमें निम्न प्रमाण द्रष्टव्य हैं जिनसे उनकी परोक्षज्ञता भी सूचित हो जाती है—'यन्मनुष्याणां परोक्षं तद् देवानां प्रत्यक्षम्' (ताण्ड्य-महाब्राह्मण २२।१०।३) 'मनो देवा मनुष्यस्य आजानन्ति' (शतपथ ३।४।२।६) 'न तिष्ठन्ति, न निमिषन्ति एते देवानां

स्पश इह मे चरन्ति' (ऋ० १०।१०।८)। जब इस प्रकार इन्द्र आदि देवता, परोक्ष भी जान जाते हैं कि—अमुक-पुरुष द्वारा हमें आहुति दी जा रही है, तब उन्हें 'उशिजः- बुद्धिमन्त.' कहना ठीक ही है। तभी तो देवता लोग उसी क्षण अर्थात् यज्ञमें देवताके ध्यानके समय—[जैसे कि 'निरुक्त' में कहा है—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्, तां मनसा ध्यायेद् वषट्करिष्यन्' (८।२२।११)] यज्ञोंमें पहुँच जाते हैं। इसी कारण व्याकरण-महाभाष्यमें भी कहा है— 'एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति (१।२।६४)।

जब इस प्रकारकी बात है; तब देवता विद्वान्-मनुष्योंसे भिन्न सिद्ध हुए; क्योंकि—देवता तो परोक्षज्ञ होनेसे शततः यज्ञोंमें बुलाये हुए युगपत् (एकदम) सब यज्ञोंमें प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु विद्वान्-मनुष्य अल्पज्ञ एवं सोमित-गतिवाला होनेसे शतशः यज्ञोंमें बुलाया हुआ युगपत् (एक-साथ) सर्वत्र नहीं पहुँच सकता। इधर उक्त 'शतपथ' की कण्डिकामें 'विद्वांसः' के साथ 'देवाः' शब्द है, 'मनुष्या' नहीं; तब उक्त-श्रुतिमें विद्वान्-मनुष्योंका ग्रहण हो ही कैसे सकता है? यहाँ पर 'मनुष्या' शब्दके न कहनेसे विद्वान् पशुके ग्रहणमें भी कोई बाधा नहीं पड़ती; तब क्या पूर्वपक्षिगण, विद्वान् (समझदार) पशुको भी देवता कहते हैं? यदि नहीं; तब विद्वान्-मनुष्य भी 'देवयोनि' नहीं माना जा सकता।

अन्य शुद्धि वादियोंके पक्षमें यह आ पड़ती है कि उक्त यजुर्वेदके मन्त्रमें शतपथकी उक्त-कण्डिकाके वादिजनाभिप्रेत-अर्थके अनुसार *'देव' शब्दको विद्वान्का पर्यायवाचक मान लें, उसे योनिविशेष-वाचक न मानें, तो 'उशिजः' यह विशेषण व्यर्थ जाता है, अथवा 'देवान्' यह शब्द व्यर्थ होता है* क्योंकि—जब उक्त (६।७) यजुर्वेदके मन्त्रमें

'उशिज:' यह विद्वान्‌का वाचक है, वैसे ही 'देवा' शब्दको भी वादियोंके अनुसार 'विद्वान्' का वाचक मान लिया जाय, तब इन दोमें एक शब्द व्यर्थ हो जाता है। अन्य इस पक्षमें यह हानि आती है कि—*उक्त याजुष मन्त्रमें 'देव' शब्द भी विशेषण हो जाता है, 'उशिज्' शब्द भी विशेषण रहता है, विशेष्य उक्त यजुर्वेदके मन्त्रमें कोई भी नहीं रह जाता।* इधर विद्वान् मनुष्योंके पास 'दैवीविशः प्रागुः' यह अर्थ भी नहीं घटता, क्योंकि—दैवी-प्रजा भिन्न हुआ करती है और मानुषी-प्रजा भिन्न। जैसे कि 'दैवीश्च विशो मानुषीश्च' (यजु० १७।८६) 'मानुषीणां विशां दैवीनामुत' (अथर्व० २०।११।२) 'मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति, गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः' के अनुसार दैवी प्रजाका देवताओंके पास ही जाना ठीक है।

निष्कर्ष यह है कि 'शतपथ' के अनुसार देवता जन्मसे ही विद्वान् हुआ करते हैं, वे अविद्वान् नहीं हुआ करते। विद्वान्-अविद्वान् दो प्रकारके मनुष्य होते हैं, परन्तु देवता विद्वान् तथा अविद्वान् इस तरह दो प्रकारके नहीं होते, केवल विद्वान् ही होते हैं। इस प्रकार उक्त 'शतपथ' की श्रुतिमें 'देव' शब्द 'विशेष्य' है, 'विद्वान्' यह उसका 'विशेषण' है, उनकी अविद्वत्ताका व्यावर्तक है। जैसे भैंसा आदि पशु जन्मसे ही नदियोंमें तैरते हैं, पक्षी गण जन्मसे ही बिना सिखलाये आकाशमें उड़ते हैं, वैसे देवयोनिकी *प्राप्तिमें* ही देवताओंको अणिमादि सिद्धियाँ तथा विद्वत्ता, बिना ही अध्ययन या अभ्यासके प्राप्त हो जाती है, परन्तु मनुष्योंमें अध्ययन तथा अभ्यासके बाद ही विद्वत्ता प्राप्त होती है, देवताओंकी भाति जन्मसे नहीं।

इसके अतिरिक्त उक्त शतपथकी कण्डिकामें 'देवा.' ही विशेष्य है, 'विद्वांस.' यहाँ पर विशेष्य नहीं है। 'विद्वास.' पद तो यहाँ विशेष्यभूत

देवोंका विधेय-विशेषण है, पर्यायवाचक नहीं। तब देवता तो स्वभावसे विद्वान् (ज्ञाता) सिद्ध हुए, विद्वान्-मनुष्य देवता सिद्ध न हुए, क्योंकि उक्त कण्डिकामें 'विद्वांसः' विशेष्य नहीं हैं। जिस यजुर्वेदके (६।७) मन्त्रका शतपथोक्त उक्त-विवरण है, वहाँ पर (उस याजुष मन्त्रमें) विद्वान् शब्दका कहीं गन्ध भी नहीं है, जिससे 'विद्वान्' ही विशेष्य मान लिया जावे। वहाँ तो 'देव' शब्द है, वही उक्त-मन्त्र तथा उक्त ब्राह्मणमें विशेष्य है, यह बात सूक्ष्म-रूपसे जान लेनी चाहिये। इधर उक्त कण्डिकामें देव तथा विद्वान्की परस्पर-पर्यायवाचकता भी इष्ट नहीं है, अन्यथा वहाँ के हेत्वर्थक 'हि' शब्दका व्याकोप होता है, जिसका 'तस्मात्' शब्द सहायक है। इससे 'शतपथ' के मतमें देव एवं मनुष्य-की भिन्न-भिन्नता सिद्ध हो गई।

(क) यदि 'शतपथ' को देव एवं विद्वान्की पर्यायवाचकता इष्ट होती, तब फिर 'विद्वांसो वै शतक्रतु-देवाः, सत्रमतन्वत (शतपथ ११।५।२।१२) यहाँ पर 'विद्वान्' तथा 'देव' शब्दकी पुनरुक्ति न होती। (ख) उक्त यजुर्वेदके मन्त्रमें भी 'देवान्' (विदुषः) उशिजः (विदुषः) इस प्रकार पुनरुक्ति न होती। (ग) 'यो देवस्य प्रियो विद्वान्' (बोधायनीयगृह्यशेषसूत्र १।२२।१५) यहाँ पर 'देवस्य' तथा 'विद्वान्' इनके परस्पर-विभक्तिभेदसे भी देव तथा विद्वान् मनुष्यकी भिन्नता स्पष्ट है। पर्यायवाचकोंमें भला विभक्तिभेद कैसे हो सकता है? (घ) 'देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं..... तप उच्यते'। (भगवद्गीता १७।१४) यहाँ पर तो स्पष्ट ही 'देव' शब्दसे विद्वान्-वाचक 'प्राज्ञ' शब्द पृथक् रखा गया है। इसी कारण किसी भी निघण्टु या कोषमें विद्वान्के पर्यायवाचकोंमें 'देव' शब्द नहीं पढ़ा गया। 'निरुक्त' कार-यास्कने भी कहीं 'देव' का अर्थ 'विद्वान्' नहीं किया।

(ङ) 'महाभारत' आदिपर्वमें 'विश्वे देवास्तथादित्या वसवोऽथा श्विनावपि' (१।३४) इस प्रकार पहले देवताओंकी उत्पत्ति कहकर उसके बाद ही 'ततः प्रसूता विद्वांसः शिष्टा ब्रह्मर्षि-सत्तमाः' (१।३५) यहाँ विद्वान् ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति कही गई है। इससे देवता विद्वान्-मनुष्योंसे पृथक् सिद्ध होते हैं। (च) 'देव' शब्द यदि विद्वान्का पर्यायवाचक होता, तो जैसे वैदिक निघण्टु (३।१५) में विद्वान्के पर्यायवाचक 'कवि (१०) मनीषी (११) विपश्चित् (१६) इत्यादि शब्द आये हैं, वैसे देव शब्द वा उसके पर्यायवाचक 'अमृत' (निरु० ८।२०।१) आदि शब्द भी वहां होते। पर वहाँ न मिलनेसे पूर्वपक्षियोंका यह पक्ष विच्छिन्न हो जाता है।

(छ) वादी लोग विद्वान्को ही देवता तथा विद्वान्को ही ब्राह्मण मानते हैं। ऐसा होनेपर तो देवता तथा ब्राह्मणोंमें भेद न होना चाहिये। परन्तु 'सम्पूजयेद् देवान्, ब्राह्मणाँश्च (मनु० ७।२०१) देवाँश्च ब्राह्मणाँश्च' (शतपथ ३।३।४।२०) 'सम्पूज्य देवतामग्निं गां, ब्राह्मणांश्च' (चरकसंहिता कल्पस्थान १।१२) यहाँपर देवता तथा ब्राह्मणोंकी पृथक्-पृथक् पूजा कही है। यदि यहाँ 'देवा' से "विद्वान् मनुष्य" लिए जाय, तो ब्राह्मण 'अविद्वान्' हो जायेंगे, अन्यथा 'विद्वान्' के दो पर्यायवाचकोंका पृथक् ग्रहण व्यर्थ है। अविद्वान्के भी ब्राह्मण हो जानेसे फिर वादि-सम्मत गुणकर्मणा वर्ण व्यवस्था खण्डित हो जायगी। अथवा ब्राह्मण' शब्दको विद्वान् मनुष्यका पर्यायवाचक माननेपर देव शब्द विद्वान्का पर्यायवाचक न रहेगा, 'उभयतः पाशा रज्जुः' यह न्याय यहां उपस्थित हो जायगा।

(ज) इस प्रकार 'देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा। नाक्रामेत् कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च' (मनु० ४।१३०) यहाँ परिगणित

आचार्य आदि सब विद्वान् दिखलाये गये हैं। यदि देवशब्दसे विद्वान् मनुष्योंका बोध होता; तो आचार्य आदिका पृथक् कथन व्यर्थ था। तब 'देव' शब्दका विद्वान् अर्थ निर्मूल हुआ।

(ग) भगवद्गीतामें 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः' (१०।२) यहाँ 'सुर' शब्द 'देव' का पर्यायवाची है; 'विद्वान्-मनुष्य' के अर्थमें कहीं 'सुर' शब्द नहीं आया। यदि बलात् ऐसा अर्थ किया जावे, तो साथ कहे हुए 'महर्षि' मूलमें सिद्ध होंगे, अथवा उनका पृथक्-ग्रहण व्यर्थ होगा।

(घ) यदि देव और विद्वान् शब्द आपसमें पर्यायवाचक होते, तो कोषों-में विद्वानों तथा देवोंके वाचक शब्द पृथक्-पृथक् न होते, किन्तु एक ही स्थानमें होते। अमरकोषमें देवके पर्याय 'स्वर्ग-वर्ग' में हैं और विद्वान्के पर्याय मनुष्यवर्गके अवान्तरवर्ग 'ब्रह्मवर्ग' में ही हैं। इस प्रकार कोषोंमें विद्वान्के वाचकोंमें 'देव' शब्द कहीं नहीं पढ़ा गया, पर देवके वाचक शब्दोंमें 'विबुध' आदि कई विद्वानोंके नाम आते हैं—इससे स्पष्ट हुआ कि—देवयोनि वाले तो विद्वान् हुआ करते हैं, परन्तु विद्वान्-मनुष्य देवता नहीं हुआ करते। इस प्रकार समझ लेनेसे फिर 'विद्वांसो हि देवाः' के अर्थ समझनेमें कोई भ्रम शेष नहीं रह जाता।

(ट) यदि 'देव' शब्द विद्वान्का पर्यायवाचक होता; तो पतञ्जलि, यास्क, पाणिनि आदि विद्वान् 'देव' कहे जाते, मनुष्य नहीं। पर उन्हें कहीं भी देवता नहीं कहा गया। इस प्रकार 'विद्वांसो हि देवाः' इस प्रसिद्ध वादिसम्मत प्रमाणकी समीक्षा हो गई। विष्णु देव हैं, उसके रामकृष्ण आदि मनुष्यावतार हैं? तब क्या वादियोंके अनुसार विष्णु भगवान् तो विद्वान् होंगे, श्रीरामकृष्णादि मनुष्य अविद्वान् होंगे?

सुतरां यह वादियोंकी अयुक्त दुश्चेष्टा है। क्या वे 'शतपथ'-प्रयुक्त 'मनुष्य-देव' (४।३।४।४) शब्दका 'मूर्ख-विद्वान्' अर्थ करेंगे ? यदि 'देव' शब्दका अर्थ 'विद्वान् मनुष्य' ही है, तो क्या सृष्टिकर्ता 'महादेव' भी 'विद्वान् मनुष्य' ही होगा, देव-विशेष नहीं ? वस्तुतः 'देव' शब्द जातिशब्द है, गुण-शब्द नहीं।

श्रीदर्शनानन्दजीका प्रमाण

(२) इस प्रकार जब मूलवाक्यकी व्याख्या हो गई, तब कैयट आदि-व्याख्याकारोंका भाव भी उससे भिन्न नहीं हो सकता। महाभाष्यकार हों, वा कैयट हों; वे भी 'देव' शब्दको 'विद्वान्' का पर्यायवाचक नहीं मानते किन्तु देवयोनिको पृथक् ही मानते हैं। 'देवा.' इस मूल पदका विवरण करते हुए कैयटने जो यह लिखा है कि—'दिव्यदृशो देवा' तब यदि 'दिव्यदृशः' यह उसे 'देव' पदकी व्याख्या वा पर्यायवाचकता इष्ट होती, तो वह 'देवाः—दिव्यदृशः, पण्डिता इत्यर्थः' इस प्रकार लिखता, पर उसने ऐसा नहीं लिखा, किन्तु 'दिव्यदृशो देवा इति' और 'दिव्यदृश.' का विवरण 'पण्डिता इत्यर्थः' ऐसा लिखा है। उसका आशय यह है कि देवता दिव्यदृष्टि वाले—दिव्य-नेत्र वाले, पण्डित—(सद्-असद्विवेचनी बुद्धि'-पण्डा, तद्वन्तः) अर्थात् सद् और असद्की विवेचना कर सकने वाली बुद्धिसे युक्त होते हैं; इस कारण वे देवता लोग इस अर्थ-तत्त्वको जान लिया करते हैं। शतपथके वाक्यकी भांति यहां भी योजना है। यहां 'दिव्यदृशः' यह हेतुगर्भित-विशेषण है, 'देवाः' यह विशेष्य है। विशेषण-विशेष्य कभी पर्यायवाचक नहीं हुआ करते।

फलतः यहां कैयटने 'देवा एतज्ज्ञातुमर्हन्ति' इस मूलवाक्यकी सिद्धिके लिए कि-देवता इस अर्थतत्त्वको जान जाते हैं, यहां पर 'दिव्यदृश.'

यह उपपत्ति-गर्भित विशेषण दिया है, देवताका पर्यायवाचक नहीं बताया। अर्थात्—दिव्यदृष्टिवश इन्द्रादि देवता सब अर्थतत्त्वको जान जाते हैं। जैसे कि महाभाष्यमें इसका उदाहरण दिया है—'एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति' (१।२।६४) यहां देव-इन्द्रके दिव्यदृष्टि वाले होनेसे ही सब यज्ञोंका एक-साथ ज्ञान तथा एक साथ सर्वत्र पहुँचना दिखलाया गया है। दिव्यदृक्की ही व्याख्या कैयटने 'पण्डिताः—दृष्टार्थाः' की है कि—वह अर्थको तह पर पहुँच जाते हैं। तब 'देवा एतज्ज्ञातुमर्हन्ति' इस मूल-वाक्यकी उपपत्ति सिद्ध हो गई। इस प्रकार कैयटको वादिगणकी भांति 'देव' का विद्वान् मनुष्य' यह अर्थ इष्ट नहीं, किन्तु 'देवयोनि वाले इन्द्रादि, अर्थकी तह तक पहुंचने वाले होते हैं' यह तात्पर्य इष्ट है। तब श्रीदर्शनानन्दजी का पक्ष इससे सिद्ध न हुआ।

श्रीधर्मदेवजीका प्रमाण

(६) इस प्रकार 'सत्यसंहिता वै देवाः, अनृतसंहिता वै मनुष्या.' (१.६) इस ऐतरेय-ब्राह्मणके वाक्यकी व्याख्या भी हो गई। उसका यह आशय है कि—देवता सत्य बोलने वाले होते हैं और मनुष्य असत्यभाषी। पर 'देव' शब्द तथा 'सत्यसंहित' शब्द यहां दिये हुए 'वै' शब्दसे पर्यायवाची नहीं हो जाते, नहीं तो 'आयुर्वै घृतम्' (कृष्ण-यजुर्वेद तै० सं० २।३।२।२) इस तैत्तिरीय संहिताके वाक्यमें 'वै' शब्दसे आयु और घृत भी पर्यायवाचक हो जावें, पर ऐसा नहीं है। यहां पर 'देवा' शब्द 'विशेष्य' है 'सत्यसंहिता.' उसका विधेय विशेषण है। महाराज सत्यहरिश्चन्द्र-जैसे सत्यवादी मनुष्य भी कहीं 'देवता' नहीं माने गये। यदि सत्यवादी होनेसे वादी राजर्षि हरि-श्चन्द्रको 'देव' मानें, तो वे श्रीयुधिष्ठिरको क्या मानेंगे? वे सत्यवादी

थे और उन्होंने एक प्रसिद्ध असत्य भी बोला था। तो क्या वादी उन्हें देव मनुष्यका सकर मानेंगे ? वास्तवमें असत्य बोलते हुए भी विष्णुआदि देव ही रहते हैं, सत्यवादी भी महाराज हरिश्चन्द्र आदि मनुष्य ही रहते हैं। क्या वादियोंके अनुसार ब्राह्मणके लिए प्रयुक्त 'मनुष्यदेव' (शत० ४।३।४।४) शब्द 'सत्य-असत्यवक्ता' इस अर्थ वाला होगा ? यदि ऐसा नहीं, तब ब्राह्मण भी देवता सिद्ध न हुए, किन्तु मनुष्य ही। वहा पर देवत्व आरोपित है, 'मनुष्येषु देवा इव'।

फलत देवयोनि वेदादिशास्त्रोंके अनुसार मनुष्ययोनिसे स्वतन्त्र ही है और मनुष्यसे उच्च ही है। जब देव मनुष्यसे उच्च सिद्ध हो गये, तो वे उपास्य भी हो गये, 'दिवि भवा' होनेसे दिव्य भी हो गये। मनुष्यसे उच्च वा दिव्य होनेसे ही देवता परमात्माके विशेष अङ्ग बन जाते हैं। अङ्गीकी पूजा, बिना विशेष-अङ्गके नहीं हुआ करती। अतएव देवता उपास्य रहेंगे ही। जब गुरु मनुष्य वा जीव होने पर भी उपास्य है, तो देवता क्यों उपास्य न हों ?

देवताओंकी उपास्यता वा दिव्यता केवल पुराणोंका मत नहीं है, जैसा कि वादी कहते हैं, किन्तु यह वेदका मत है। देवताओंकी उपासनासे सारा वेद सम्भृत है। वेद देवताओंके लिए स्वय कहता है—' न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधि कामा अयसत'' (ऋ० १०।६४।२) यहा पर वेदने देवताओंको सुखकारी माना है। अथर्ववेदमें तो यहा तक कहा है—' य. श्रद्दधाति –'सन्ति देवा इति' चतुष्पद द्विपदेऽस्य मृड'' (शौ० स० ११।२।२८) इसका अर्थ आर्यसमाजी विद्वान् श्रीराजारामजी शास्त्रीने इस प्रकार किया है—'जो विश्वास रखता है कि "देवता हैं" इसके दोपाये और चौपायेके लिए दयावान् हो'। 'सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति' (अथर्व० ११।५।२)

यहां पर वेदने देवताओंकी तपस्या करनी सूचित की है। 'यजाम देवान् यदि शक्नवाम' (ऋ० १।२७।१३) यहां पर वेदने सामर्थ्य होने पर देवताओंका पूजन माना है। 'एष ह वा अनद्धा-पुरुषो यो न देवान् अवति (अर्चति), न पितॄन्' (शतपथ० ६।३।१।२४, ऐत० ब्रा० ८।२।८) यहां पर देवपूजन न करनेवाले पुरुषकी निन्दा की गई है। 'यज्ञे-यज्ञे स मर्त्यो देवान् सपर्यति' (ऋ० १०।६३।२) यहां यज्ञमें देवपूजा बताई गई है और पूजकको 'दीर्घ-श्रुत्तम' बताया गया है। 'देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे' (ऋ० १०।६५।१५) यहां पर वेदने देवपूजनमें वसिष्ठका इतिहास भी दिखला दिया। यदि वादी उदारदृष्टि डालेंगे, तो उन्हें यज्ञ-होम भी देवपूजा दिखलाई पड़ेगी। इसी प्रकार वेदमें पितृपूजा भी व्याप्त है। मृतककी आत्मा पितृलोकमें जाकर सूक्ष्म होनेसे अधिक शक्ति प्राप्त कर लेती है, अतः पितृपूजा भी आवश्यक है।

आनन्दकी मात्रासे भी देवता-मनुष्योंमें भेद होता है जैसे कि शतपथमें 'अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः, स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दः, (१४।७।१।३३) यहां पर पितरोंका एक आनन्द मनुष्योंके सौ आनन्दोंके समान माना गया है। 'अथ ये शतं पितॄणामानन्दाः, स एकः कर्मदेवानामानन्द.' (३४) यहां कर्मसे स्वर्गमें पहुँच कर देवता बने पुरुषोंका एक आनन्द सौ पितरोंके आनन्दके समान माना गया है। 'ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः, स एक आजानदेवानामानन्दः' (३५) यहां जन्म-देवोंका एक आनन्द सौ कर्मदेवोंके आनन्दके समान माना

गया है। 'ये शतमाजानदेवानामानन्दाः, स एको देवलोके आनन्दः' (३६) 'अथ ये शतं देवलोके आनन्दाः, स एको गन्धर्वलोक आनन्दः (३७) 'ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः, स एकः प्रजापतिलोके आनन्दः (३८) 'अथ ये शतं प्रजापतिलोके आनन्दाः, स एको ब्रह्मलोके आनन्दः। एष ब्रह्मलोकः सम्राट्' (शत० १४।७।१।३६) इस प्रकार आनन्दकी मात्राके भेद होनेसे भी मनुष्य और देवता भिन्न-भिन्न सिद्ध होते हैं। आशा है कि आर्यसमाजके अनुयायीगण अपने वृद्ध तथा अनुभवी महारथी श्रीगङ्गाप्रसादजी एम० ए० न्यायाधीशके स्वाध्यायसे लाभ उठाकर स्वर्गलोक, पितृलोक आदि लोक लोकान्तर तथा देव, पितर, गन्धर्व आदि मनुष्यभिन्न-योनियां मान लेंगे। इनके मान लेने पर फिर देवपूजा, पितृलोक, श्राद्ध आदि भी अगत्या स्वयं मानने पड़ जावेंगे। इससे जहां वेदादि-शास्त्रोंके अर्थोंमें उन्हें कठिनता न पड़ेगी, वहां उन्हें शास्त्रोंमें प्रक्षिप्तताका अकाण्ड-ताण्डव भी न करना पड़ेगा। इस प्रकार देवताओंका अस्तित्व तथा देवपूजन जब वेद-सम्मत सिद्ध हो गया, तो तदुपजीवक सनातन-हिन्दुधर्म भी वैदिक सिद्ध होगया।

---

(१६) नवग्रहोंके वैदिक-मन्त्र

हिन्दु-धर्ममें ग्रहोंकी पूजा अनादि-कालसे चली आ रही है। 'ग्रहनक्षत्रचरितैर्वा जनपदा उपध्वस्यन्ते' (सूत्रस्थान ६।२०) 'यस्य वक्रानुवक्रगा ग्रहा, गर्हितस्थानगता पीडयन्ति जन्मर्क्षं वा' [स विनश्यति] (सूत्र० ३२।४) उपवेदरूप 'सुश्रुत-संहिता' के इस वचनमें ग्रहोंकी पीड़ा सूचित की गई है, तब उनकी शान्त्यर्थ उनकी पूजा प्रार्थना आदि स्वयम् अनिवार्य सिद्ध हुई। एतदादि मूलको लेकर आयुर्वेदकी पुस्तक 'भैषज्यरत्नावली' के आरम्भिक २८ पद्यमें कहा है-'ग्रहेषु प्रतिकूलेषु नानुकूल हि भेषजम्। ते भेषजानां वीर्याणि हरन्ति बलवन्त्यपि। प्रतिष्ठित्य ग्रहान् आदौ पश्चात्कुर्याच्चिकित्सितम्' इससे ग्रहोंकी प्रतिकूलतासे रोगीको दवाई भी प्रतिकूल पड़ती है—यह कहा गया है। तब उपवेदके मतमें भी ग्रहपूजा सिद्ध हुई।

केवल ग्रहपूजा-प्रार्थना उपवेद-सम्मत ही नहीं; अपितु वेद-सम्मत भी है, तभी तो 'शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा। शं नो मृत्युधूमकेतु. (अथर्ववेदसं० १९।९।१०) 'शं नो दिविचरा ग्रहा' (अथर्व० १९।९।७) इत्यादि वेदमन्त्रोंमें सूर्य-चन्द्रमा, राहु-केतु आदि ग्रहोंसे कल्याणकी प्रार्थना आई है। ग्रहोंके प्रभाव बताने वाला ज्यौतिष वेदका अङ्ग है, इससे स्पष्ट है कि वेदाङ्ग-ज्यौतिषसे प्रोक्त ग्रहपूजा भी उसके अङ्गी वेदसे ही आई है। जब वेद ग्रहोंसे परिचित है; तब उन ग्रहोंके मन्त्र भी वेदमें होने चाहियें। ऋषियोंने ग्रहोंके मन्त्र वेदसे

हुये; जो कि 'कात्यायनी-शान्ति' आदिमें प्रसिद्ध हैं, परन्तु आजके अर्वाचीन-मतानुयायी उन्हें माननेके लिए तैयार नहीं। वे उन पर उपहास वा आक्षेप करते हैं। हम उनके पूर्वपक्ष उपस्थित करके फिर उन पर अपने विचार रखेंगे।

पूर्वपक्ष—(१) देखो, ग्रहोंका चक्र कैसा चलाया है, जिसने विद्याहीन मनुष्योंको ग्रस लिया है। 'आकृष्णेन—*सूर्यका* मन्त्र १, इमं देवा—*चन्द्रका* २, अग्निर्मूर्धा—*मङ्गलका* ३, उद्बुध्यस्वाग्ने—*बुधका* ४, बृहस्पते अति—*बृहस्पतिका* ५, शुक्रमन्धसः—*शुक्रका* ६, शन्नो देवी—*शनिका* ७, कयानश्चित्र—*राहुका* ८, केतुं कृण्वन्—९ इसको केतुकी कण्डिका कहते हैं यह मन्त्र ग्रहोंके वाचक नहीं; अर्थ न जाननेसे भ्रम-जालमें पड़े हैं' (स्वा० द० जी 'सत्यार्थप्रकाश' ११ समु० २१२ पृष्ठ में)।

पूर्व—(२) 'वेदार्थ और वेदपाठमें कितना अन्तर है, उसके लिए केवल यह एक उदाहरण पर्याप्त होना चाहिये कि—आज घर-घर नवग्रहकी पूजामें *शनिके लिए 'शन्नो देवीरभिष्टये' मन्त्र पढ़ा जाता है*, इसमें कहीं *शनिका पता नहीं* है। 'श नो' का अर्थ है—'हमारा कल्याण', परन्तु *'शनि' से कुछ-कुछ स्वन* मिलता है, इसलिए इसे शनिका मन्त्र मान लिया गया है' (बा० सम्पूर्णानन्दजी 'ब्राह्मण, सावधान' निबन्ध पृ० ४ में)।

पूर्व—(३) 'स्वा० दयानन्दजीके प्रचार कार्यसे पूर्व भारतमें वेद-रूपी सूर्यको पुराणरूपी बादलोंने ढक दिया था। नाम तो वेदोंका तब भी लिया जाता था, मन्त्र भी वेदके ही बोले जाते थे, पर उच्चारण-मात्र। '*शंनो देवी, उद्बुध्यस्वाग्ने, केतुं कृण्वन्न केतवे*' इत्यादि मन्त्रोंमें

शब्द-सादृश्यको लेकर शनि, बुध और केतुकी पूजामें वे मन्त्र प्रयुक्त होने लगे, ऐसी भारतकी दीन-हीन दशामें उत्पन्न होकर स्वामीजीने पाषण्डखण्डिनी पताका खड़ी की' (श्री पं० चूड़ामणिजी शास्त्री शाण्डिल्य 'मेरी स्वा० द० के प्रति भावना' लेख 'सार्वदेशिक' दिसम्बर १९४८ में)।

उत्तरपक्ष—इन सब आक्षेप्ताओंने शनैश्चरके मन्त्रको विशेष-आक्षेप्य माना है। यह बात सभीने एकस्वरसे कही है कि शब्द-सादृश्यसे इन मन्त्रोंको ग्रहपरक लगाया गया है; पर मेरा विचार है कि यह बात स्वा० दयानन्दजी आदिमें तो घट सकती है; जिन्होंने 'तरन्तारं' (ऋ० १।११६।१०) मन्त्रमें 'तारं' देखकर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकामें 'तारास्यं यन्त्रं' अर्थ कर डाला। सनातनधर्मियोंमें ऐसी बात नहीं है, वे उसमें कोई-न-कोई मूल वा गुण देखकर तब ही वैसा अर्थ कहते हैं। स्वनमात्रको लेकर उस-उसका मन्त्र बता देना विद्वान्‌का काम नहीं होता; उक्त ग्रहमन्त्रोंको बताने वाले *ऋषि-मुनि* विद्वान् ही थे, उनकी बात असत्य वा अज्ञतामूलक नहीं हो सकती। वेद 'यं वै *सूर्यं स्वर्भानु*-स्तमसाविध्यदासुरः' (ऋ० ५।४०।९) इस मन्त्रमें असुरवंशीय राहुसे सूर्यका ग्रहण होना मानते हैं। यहां 'स्वर्भानु' से राहु इष्ट है, जैसे कि अमरकोषमें 'तमस्तु *राहुः* स्वर्भानुः' (१।३।२६)। यदि इस पर विश्वास न हो तो प्रतिवादिगण अपने नेता स्वा०द०जीके 'उणादि-कोष' की ३।३२ सूत्रकी व्याख्यामें 'स्वर्भानु-राहुः' यह शब्द देखें। जब वेदको भी 'शम् आदित्यश्च *राहुणा*' (अथर्व १९।९।१०) में राहु-ग्रह इष्ट है; तो ग्रहोंका चक्र कल्पित कैसे हुआ? स्वा० दयानन्दजीने 'उणादिकोष' (११३) में 'राहुः-ग्रहविशेषः' यह स्वीकार किया है।

इस प्रकार वेदको 'धूमकेतु' का भी जब पता है; तो केतु, शनि,

बुध-आदिका पता न हो—यह असम्भव बात है। स्वा० दयानन्द स्वयं 'सत्यार्थप्रकाश' प्रथम समुल्लासमें इन नौ ग्रहोंका नाम मान गये हैं। केवल उनका अर्थ उन्होंने परमात्मपरक लगा दिया। इस प्रकार तो 'दयानन्द, आर्यसमाज' आदि पदोंका भी व्युत्पत्तिके बलसे परमात्मा-अर्थ लगाया जा सकता है; तब क्या प्रतिवादी इनका अभाव मान लेंगे? 'उणादि-कोष' (१।७४) में स्वा०द०जीने स्वयं 'केतुः-ग्रहः, पताका वा, धूमकेतु-रुत्पातः' यह लिखा है, फिर स्वा०दयानन्दजीसे भावित लोग हम पर कैसी शङ्का करते हैं, और पुराणों पर उपालम्भ कैसे देते हैं? वेद जब ग्रहोंसे परिचित हैं, तो उसमें उन ग्रहोंके मन्त्र भी अनिवार्य ही हैं। यदि ऊपरके मन्त्र आपको पसन्द नहीं, तो कोई और मन्त्र मानने ही पड़ेंगे। आर्यसमाजके श्रीब्रह्ममुनिजीने अपने 'वैदिक ज्योतिष-शास्त्र' में शनि-बुध आदिके कई मन्त्र दिखलाये ही तो हैं!

जब प्रतिवादियोंका भी सिद्धान्त है कि वेदमन्त्रोंके आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवम् आधिदैविक अर्थ भी हुआ करते हैं, फिर वे किस मुखसे कहते हैं कि 'शं नो देवी' मन्त्रमें 'शनैश्चर' ग्रहका अर्थ नहीं? 'सुदेवो असि वरुण! यस्य ते सप्त सिन्धवः' (ऋ० ८।६९।१२) यहां पर 'सात नदियां' यह स्पष्ट अर्थ होते हुए भी इस मन्त्रका व्याकरण-परक अर्थ लगाने वाले महाभाष्यकारको वे कुछ नहीं कहते। 'द्वादश प्रधयः चक्रमेकं' (ऋ० १।१६४।४८) इस 'संवत्सरात्मा कालः' देवता-वाले (जिसे स्वा०जीने अपने वेदभाष्यमें स्वयं लिखा है, जिसका निरुक्तकार (४।२७।१) ने भी संवत्सर अर्थ किया है) मन्त्रका 'हवाई-जहाज' यह कल्पित अर्थ करनेवाले स्वा० द०जीको भी आप लोग डांट-डपट नहीं करते, पर 'शं नो देवी' का शनैश्चर अर्थ करने वाले सना-तनधर्मियोंको आप फटकारते हैं—यह कैसा न्याय है? स्वा० दया-नन्दजीने तथा उनके अनुयायी आप लोगोंने भी क्या यहां "पर उपदेश-

के क्रमसे वेदमन्त्र बतलाये गये हैं। इनमें शनि, बुध एवं केतुके वही मन्त्र हैं, जो आप लोगोंने आक्षिप्त किये हैं। क्या याज्ञवल्क्य जिन्होंने शुक्ल-यजुर्वेद मन्त्र और ब्राह्मणका समाधि-द्वारा दर्शन किया, इतने वेदानभिज्ञ थे कि जिन्होंने शब्दसादृश्य देखकर इन मन्त्रोंको उन-उन ग्रहोंका मान लिया?

'श्रीवात्स्यायनने न्यायदर्शनमें मन्त्र-ब्राह्मण और स्मृतियोंके द्रष्टा-प्रवक्ता समान माने हैं' (४।१।६२) आर्यसमाजके अनुसन्धानप्रवीण श्रीभगवद्दत्तजीने भी अपने 'भारतवर्षका बृहद्-इतिहास' (प्रथम भाग) में यही माना है—'जिन ऋषियोंने चरक, काठक आदि संहिताएँ और ब्राह्मण तथा कल्पसूत्र-प्रवचन किए, उन्हीं ऋषि-मुनियोंने इतिहास, धर्मशास्त्र और आयुर्वेदीय ग्रन्थोंकी लोकभाषा-संस्कृतमें रचना की। यही कारण है कि—वर्तमान धर्मसूत्रोंके अनेक वचन तथा याज्ञवल्क्य और महाभारतके अनेक पाठ ठीक ब्राह्मण-सदृश भाषामें हैं' (पृ० ७२)

फिर वे ही लिखते हैं—'पं० ईश्वरचन्द्रजी [प्रि० दयानन्द उपदेशक विद्यालय, गुरुदत्तभवन लाहौर] ने 'ब्राह्मण-ग्रन्थोंके द्रष्टा और इतिहास-पुराण-धर्मशास्त्रके रचयिता ऋषियोंका अभेद' नामक एक बृहद्-ग्रन्थ रचा है। इस ग्रन्थमें उन्होंने सिद्ध किया है कि—*शतपथ ब्राह्मणकी भाषा वैदिक प्रवचन-शैलीकी भाषा होनेसे*, तथा ह, वै आदिके प्रयोगों-की बहुलता पर भी *याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी भाषासे पर्याप्त-सदृशता रखती है*। याज्ञवल्क्य-स्मृतिके अनेक पाठ पाणिनीय व्याकरणके प्रभावसे उत्तरोत्तर बदले गये हैं' (पृ० ७३) इत्यादि।

श्रीभगवद्दत्तजीने उक्त विषयमें बहुत स्पष्टता की है। तब वे ही याज्ञवल्क्य उन ग्रहोंके मन्त्र लिखते हुए कैसे अनाप्त हो सकते हैं?

जब ऐसा है तो 'ब्राह्मण-सावधान' की उत्तरमाला ३१ पृष्ठमें श्रीसम्पूर्णानन्दजीका *निम्न-लेख* समाहित होगया। वह लेख यह है कि—'ऐसा नहीं माना जा सकता है कि—जिस ऋषि द्वारा सतयुगमें मन्त्र-दर्शन हुआ, वेदमन्त्र अवतरित हुए, उसीने लौकिक संस्कृतमें स्मृतिकी रचना की। सतयुगमें स्मृतिनिर्माण करने तक लाखों वर्ष होते हैं, तब तक तो जीते रहे, फिर कुछ ऐसी महामारी आयी कि—सब एकाएक मर गये। 'शतपथ-ब्राह्मण और स्मृतिवाले याज्ञवल्क्य उतने ही भिन्न व्यक्ति हैं, जितने शारीरकभाष्यके रचयिता और गोवर्धन-पीठके वर्तमान अध्यक्ष, यद्यपि वे दोनों याज्ञवल्क्य कहाते थे और ये दोनों शङ्कराचार्य कहलाते हैं। ज्यों-ज्यों समय बदला, त्यों त्यों तपस्वी विद्वानोंने धर्मके मूल-तत्त्वोंकी रक्षा और समाजके कल्याणार्थ नये स्मृति-ग्रन्थोंकी रचना की। ये ग्रन्थ हमारे आदरणीय हैं, परन्तु इन्हें न श्रुतिका दर्जा प्राप्त है, न इनके रचयिताओंको मन्त्रद्रष्टा-ऋषियोंका। ..... इनकी मान्यता वहीं तक है, जहाँ तक हम इन्हें वेदानुकूल पाते हैं।'

बाबू-महाशयको यह जानना चाहिये कि—सृष्टिकी आदिमें प्रणीत सर्वमान्य-मनुस्मृतिमें लिखा है—'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः। इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्' (२।९) 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ' (२।१०) 'योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः' (२।११) 'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्' (२।१२) उक्त उद्धरणोंमें श्रुतिके साथ धर्मशास्त्र स्वरूप स्मृतिकी अवश्य-प्रयोजनीयता दिखलाई है। यदि धर्मशास्त्र प्रमाणित न किया जावे, तो लोकव्यवहार न चले। जैसे कि श्रीवात्स्यायनमुनिने कहा

महं यदादित्यादवाप्तवान्' (याज्ञ० स्मृति प्रायश्चित्ताध्याय ४।११०) इससे स्पष्ट है कि—याज्ञवल्क्य-स्मृतिके प्रणेता और शतपथके द्रष्टा याज्ञवल्क्य *भिन्न-भिन्न व्यक्ति नहीं हैं*। भाषाभेदका कारण यह है कि शतपथ *याज्ञवल्क्यकी अपनी भाषा नहीं है*, वह तो सूर्यसे सीधा प्राप्त ब्राह्मणात्मक-वेद है, अतः उसकी भाषा छान्दस हुई, और याज्ञवल्क्य-स्मृति उसकी *अपनी भाषा* है। यही बात आर्यसमाजी यजुर्वेद-भाष्य-कार श्रीजयदेव-विद्यालंकारने भी 'वेदवाणी' (२।४ पृ० ६) में स्वीकृत की है—'वेदकी भाषा सवप्रथम है, लौकिक संस्कृत उससे भिन्न है, वह भी वेदकालमें प्रचलित रही; और वेदके जानने वाले ऋषिगण ही वेदके विद्वान् होकर जब लौकिक-साहित्यमें ग्रन्थ रचते थे तो वे लोक-प्रसिद्ध संस्कृतमें रचते थे। वैदिक भाषासे उनके लौकिक-ग्रन्थोंकी भाषा अनेक अंशोंमें भिन्न थी'।

यह बात ठीक भी है—जैसे ऋषि यज्ञ-समयमें 'यद्वा नः, तद्वा नः' यह बोलते थे, और भिन्न समयमें 'यर्वाणः, तर्वाणः' वैसे ही वेद-दर्शनमें वे ऋषि-मुनि परमात्मासे प्राप्त शब्दका ही उपयोग करते थे, स्मृतिके निर्माण-समयमें लोकभाषाका ही प्रयोग करते थे। फलतः शतपथ-ब्राह्मणके कर्ताने ही याज्ञवल्क्यस्मृति बनाई, यह पूर्वोक्त मीमांसासे सिद्ध हो चुका है—*उन्हीं याज्ञवल्क्यसे अपनी स्मृतिमें प्रोक्त तत्तद्ग्रहोंके मन्त्र भी प्रामाणिक ही सिद्ध हुए, श्रीसम्पूर्णानन्दजीका एतद्विषयक आक्षेप परिहृत हो गया।*

जो कि 'ब्राह्मण सावधान' पृ० ४३में श्री सं० नं० जीने लिखा है—'जो मन्त्र जिस प्रसङ्गमें आया है, उससे भिन्न प्रसङ्गमें उसका विनियोग तभी ठीक माना जा सकता है, जब इस बातके पक्षमें असन्दिग्ध और पुष्ट प्रमाण हों। पीछे की बनी पुस्तकोंका प्रामाण्य न

पुष्ट है, न असन्दिग्ध; क्योंकि—वह अपने समयकी प्रचलित बातोंको लिखती हैं। हां, यदि श्रुति स्वयं कहीं ऐसा संकेत करे या श्रौत-सूत्र-कार ऋषि ऐसा कहते हैं, या कम-से-कम प्रसिद्ध भाष्यकार जिन्होंने उपलब्ध सभी सामग्रीका उपयोग किया होगा—ऐसा उल्लेख करते हों, तब ही मन्त्रका विनियोग अन्यत्र मान्य हो सकता है। 'शं नो देवी' वाला मन्त्र यजुर्वेदके ३६वें अध्यायमें आया है। यहां शनिका कोई प्रसङ्ग नहीं। मन्त्र स्पष्ट रूपसे जल-सम्बन्धी है। किसी भी वेदमें एक भी मन्त्र शनि नामक किसी देवताके निमित्त नहीं आया है, ऐसी दशामें कोई पीछेका रचा ग्रन्थ इसको शनि परक नहीं बना सकता।'

इसका उत्तर पूर्व दिया जा चुका है कि धर्मशास्त्र-स्मृतियां भिन्न भिन्न कालकी सामयिक-रचना नहीं, किन्तु उन्हीं वेदके द्रष्टा-प्रवक्ता ऋषि-मुनियोंने वेदसंहिताओंके हृदयको टटोलकर बना दी हैं। गृह्यसूत्रोंको सभी वेदमन्त्रोंके विनियोजक मानते हैं, उनमें भी जब ग्रहोंके उक्त मन्त्र बताये गये हैं (यह हम आगे कहने वाले हैं) तब आपका आक्षेप परिहृत हो गया। समय पर आप भाष्यकारोंको भी मान लेते हैं, समय पर आप श्रुतिकी बात भी नहीं मानते। श्रुति नागपूजामें किसी मन्त्रका विनियोग बताती है, आप उसे नहीं मानते। भाष्यकार कई मन्त्रोंको 'गणेश' परक मानते हैं, आप उन्हें माननेसे नकार कर दिया करते हैं। 'यह प्रमाण है, यह अप्रमाण है' यह आपका कथन वाग्विलासमात्र ही है। शेष आपका आक्षेप यह है कि—'शं नो देवी' का देवता जल है, तब शनिका इसमें क्या प्रसंग, इस विषय पर हम आगे स्पष्टता करने वाले हैं, आप ध्यान दे देंगे।

अब 'बृहत्पराशरस्मृति' का लेख देखिये—१ 'आकृष्णेनेति तीव्रांशो, २ इमं देवा निशाकरम्। (६६४)। ३, अग्निर्मूर्धेति भूसूनोः, ४ उद्बुध्यस्व बुधस्य च। ५ बृहस्पते अति गुरोः, ६ अन्नात् परिस्रुतो

भृगोः (११६५)। ७ शन्नो देवीः शनैर्मन्तुः (शनैश्वरस्य ८ काण्डात् काण्डात् परस्य (राहोः) च। ६ केतुं कृण्वन्ननिसूनोः (केतोः) इति मन्त्राः प्रकीर्तिताः (११६६) ॥ वेदमन्त्रैर्विना कश्चिद् विधिर्नास्ति द्विजन्मनाम्' (११६७)। 'बृहत्पराशरस्मृति' के लिए आर्यसमाजी स्नातक धर्मदेवजी सिद्धान्तालङ्कार 'श्री' पत्रिकाके २।१ अङ्कके ४१ई पृष्ठमें लिखते हैं—'मूलधर्मशास्त्रं तु बृहत्पराशरसंहितेति नाम्ना प्रख्यातम्'।

अब गृह्यसूत्रोंमें 'बोधायनगृह्यशेषसूत्र' की भी इस विषयमें सम्मति देखिये। ग्रहमन्त्रोंको कहते हुए वहां लिखा है—'१ आसत्येन इत्यादित्याय, २ अग्निर्मूर्धानमित्यङ्गारकाय, ३ प्रवश्शुक्राय इति शुक्राय, ४ आप्यायस्व इति सोमाय, ५ उद्बुध्यस्व इति बुधाय, ६ बृहस्पते! अति यदर्यो अर्हाद् इति बृहस्पतये, ७ शन्नो देवीरभिष्टये इति शनैश्चराय, ८ कयानश्चित्र आभुवद् इति राहवे, ९ केतुं कृण्वन्निति केतवे' (१।१६।२२) यहां पर भी शनि, बुध, केतुके वही मन्त्र बतलाये गये हैं। क्या बोधायन-मुनिको भी वेदका ज्ञान सर्वथा नहीं था? इसी प्रकारके ही मन्त्र 'आग्निवेश्यगृह्यसूत्र' के द्वितीयाध्याय पञ्चम प्रश्नमें भी देखे जा सकते हैं।

अब 'जैमिनिगृह्यसूत्र' पर दृष्टि डालिये—'१ आसत्येन इति आदित्याय, २ अग्निर्मूर्धा दिव इत्यङ्गारकाय, ३ आप्यायस्व इति सोमाय, ४ ब्रह्म जज्ञानमिति बुधाय, ५ बृहस्पते अति यदर्य इति बृहस्पतये, ६ अस्य प्रत्नामनुद्युतम् इति शुक्राय। ७ शन्नो देवीरभिष्टये इति शनैश्चराय। ८ कया नश्चित्र आभुवदिति राहवे, ९ केतुं कृण्वन् केतवे इति केतोः' (२।९) तो क्या जैमिनि मुनि भी मूर्ख थे?

अब आर्यसमाजि-शिरोमणि श्रीधर्मदेवजी-सिद्धान्तालङ्कारके प्रिय गृह्यसूत्र 'वैखानसगृह्यसूत्र' में ग्रहोंके मन्त्र देखिये—'अथ ग्रहशान्ति

प्यायस्वस्याम:, ग्रहायत्ता लोकयात्रा'''यथा क्रमेण १ आसत्येन, २ सोमो धेनुम्, ३ अग्निमूर्धा, ४ उद्बुध्यस्व, ५ बृहस्पते अति, ६ शुक्रं ते अन्यत्, ७ शन्नो देवी:, ८ कया नश्चित्रा, ९ केतुं कृण्वन्निति' (चतुर्थ प्रश्नका १३वां खण्ड)। अब जब वेदाङ्ग 'कल्प' के अन्तर्गत गृह्यसूत्रोंने उक्त वेदमन्त्रोंका उक्त ग्रहोंमें विनियोग कर रखा है, तब 'शब्दसादृश्यमात्रको लेकर जबर्दस्ती ग्रहोंके मन्त्र बनाये गये' यह आक्षेप करना आक्षेप्ताओंको कहां तक शोभा देता है इसका भार हम विद्वान् पाठकों पर छोड़ते हैं। गृह्यसूत्रकारोंको भी चतुरतासे मूर्ख बतलाना मेरे विचारमें एक अक्षम्य अपराध है।

अब 'मत्स्यपुराण' में भी ग्रहोंके मन्त्र देखिये—'१ आकृष्णेनेति सूर्याय होम: कार्यो द्विजन्मना' ९३।३३)। २ आप्यायस्वेति सोमाय मन्त्रेण जुहुयात् पुनः। ३ अग्निमूर्धा दिवो मन्त्र इति भौमाय कीर्तयेत् (३४)॥ ४ अग्ने विवस्वदुषस इति सोमसुताय वै। ५ बृहस्पते परिदीया रथेनेति गुरोर्मत: (३५)॥ ६ शुक्रं ते अन्यदिति च शुक्रस्यापि निगद्यते। ७ शनैश्चरायेति पुनः शन्नो देवीति होमयेत् (३६)॥ ८ कया नश्चित्र आभुवदिति राहोरुदाहृतः। ९ केतुं कृण्वन्नपि ब्रूयात केतूनामपि शान्तये (३७)॥" इस प्रकार 'भविष्यपुराण' में भी देखिये—

'आकृष्णेनेति' (मध्यमपर्व द्वितीय भाग २०।९०), 'इमं देवा इति' (२०।९५), 'अग्निमीलेति' मन्त्रेण' (२०।७०), उद्बुध्यस्वेति मन्त्रेण' (२०।७४), 'बृहस्पतय इति मन्त्रेण' (७८), 'जपमन्नात् परिस्रुतम्' (८४)। 'शन्नो देवीति मन्त्रेण' (८६), 'केतुं कृण्वन्निति' (२०।९२)। क्या ये सब वेदानभिज्ञ थे? वस्तुतः उक्त आक्षेप अननुसन्धान-प्रवृत्तिका ही फल है, यह ठीक कहा है—'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां

प्रकुर्वते' । 'ग्रहोंका फल मिलता है, आशा है इसमें तो आक्षेप्ताओंको कोई आपत्ति न होगी। दृष्टशास्त्र आयुर्वेदका, जिसके दृष्टान्तको लेकर 'न्यायदर्शन' ने वेदको भी प्रमाणभूत सिद्ध किया है, उसके वादिप्रतिवादिमान्य ग्रन्थ 'सुश्रुत-संहिता' में कहा है 'यस्य यत्रानुवक्रगा ग्रहा गर्हितस्थानगता पीडयन्ति जन्मर्क्षं वा [स विनश्यति]' (सूत्रस्थान २३।४)। इस प्रकारके बहुत प्रमाण दिये जा सकते हैं, पर यहाँ उतना स्थान नहीं है।

यदि आक्षेप्ताओंका यह अभिप्राय हो कि 'शन्नो देवी.' मन्त्रमें शनैश्चरका अर्थ नहीं घटता, तब यह शनैश्चरका मन्त्र कैसे हो'? इस पर उन्हें जानना चाहिए कि कई मन्त्र ऐसे हुआ करते हैं, जिनका प्रत्यक्षवृत्तिसे वैसा अर्थ दिखलायी नहीं देता, परन्तु वहां पर विनियोग वैसा हो जाता है। वहां पर अर्थ भी विनियोगके अनुसार हुआ करता है। उदाहरणार्थ यह वाक्य लीजिये—'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इसका यह अर्थ है कि इन्द्रकी ऋचासे गार्हपत्यका उपस्थान करे। यहां पर ऋचा इन्द्रकी है, परन्तु विनियोग अग्निके उपस्थानमें होता है। वर्णन सूर्या नामक देवताका होता है, पर विनियोगवश उस मन्त्रका मानुषी वधूपरक अर्थ भी कहीं हो जाता है। इसीलिए 'निरुक्त' में २।८।१ सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीदुर्गाचार्यने लिखा है—'वेदेव मन्त्रेषु शब्दगतिविभुत्वाद् उभयमप्युपपन्नत एव। तद् यथा 'दधिक्राव्णो अकारिषम् इत्येष मन्त्राऽभ्युपस्थाने अग्निहोत्रे, अयमेव च अग्निष्टोमे अ ग्रीध्रे दधिभक्षणे, अश्वमेधे अश्वसन्निधौ पत्नी जपने। तत्रैव सति प्रतिविनियोगमस्य अन्येन अन्येन अर्थेन भवितव्यम्'। बात स्पष्ट हो गयी। तथापि उक्त मन्त्रोंमें उस-उस ग्रहका अर्थ समन्वित भी हो सकता है। आक्षेप्ताओंने पहले पहल शनैश्चरका मन्त्र 'शन्नो देवी' ही

आक्षेपमें रखा है, इससे स्पष्ट है कि यह मन्त्र उन्हें विशेषतः असम्बद्ध जान पड़ा है।

शनैश्चर का मन्त्र

आक्षेप्ता कह सकते हैं कि 'हाँ ऐसा ही है। 'शन्नो देवी', (ऋ० १०।९।४, यजु० वा० सं० ३६।१२, काण्वसं० ३६।१२, मैत्रायणीसं० ४।१०।४ साम०सं० आग्नेय १।३।१३, अथर्व०शौ० १।६।१, पैप्पलाद-सं० १।१।१) मन्त्रका 'आपो देवता' है, तब जलार्थक मन्त्रमें शनैश्चर-का अर्थ कैसे घट सकता है ?' आक्षेप्ता यहाँ तो सन्देह करते हैं, परन्तु उनके श्रद्धेय स्वामी दयानन्दजीने यहाँ 'परमात्मा' अर्थ कर डाला है, उससे वे 'ननु नच' भी नहीं करते। इससे स्पष्ट है कि भावनासे सब कार्य होता है। स्वामी-दयानन्दजीके प्रति उनकी श्रद्धा-भावना है अतः उनकी बात उन्होंने मान ली, पर पुराणों पर कदाचित् उनकी अश्रद्धा है, अतः वे उसे माननेके लिए तैयार नहीं होते।

श्रीसम्पूर्णानन्दजी कल्पको वेदार्थनिधिकी बड़ी कुञ्जी मानते हैं, और उलाहना देते हैं कि—'जो पण्डित हैं, वे बड़ी कुञ्जियोंमें प्रायः तीन शिक्षा, कल्प, निरुक्तकी ओर आँख उठाकर नहीं देखते' (ब्राह्मण, सावधान पृ० ३) दूसरे विद्वान् कल्पको वेदाङ्ग मानते हैं। जब ऐसा है; तब कल्पसूत्रान्तर्गत गृह्यसूत्रोंने 'शं नो देवी' आदिका 'शनैश्चर' आदि ग्रहोंमें विनियोग बता दिया है, जिसका हम उल्लेख कर चुके हैं, तब कल्प पर श्री सं० नं० जीका प्रहार क्यों ? । बृहत्पराशरने भी लिख दिया है—'शं नो देवीरिति ह्यत्र शनिर्दैवतमुच्यते' (६।२१३) 'शं नो देवी रवेः सूनुम्' (६।६२)। इस विषयमें श्रीनारादत्तजी ज्योतिर्वित् महोदय रियासत कुटलरने कई निबन्ध बना रखे हैं। हम भी तदनुसार अपने क्रममें स्पष्टता करते हैं। 'आलोक' पाठक सावधानतासे देखें।

'अब जब इस मन्त्रमें वर्ण्यमान विषय (देवता) जल है, तब 'शनैश्चर' का अर्थ कैसे ?' इस आक्षेप पर उन्हें जानना चाहिए कि ग्रह पञ्चतत्त्वात्मक होते हैं, उनमें शनैश्चर 'अप्तत्त्वप्रधान' है, तब मन्त्रस्थित 'आप' पदसे शनैश्चर भी गृहीत होता है। जल तथा शनि दोनोंकी सूर्यसे उत्पत्ति हुआ करती है, अतः दोनोंका आपसमें अभेद हुआ करता है। इसी अप्तत्त्वकी प्रधानतासे शनि 'मन्द' वा 'शनैश्चर' कहा जाता है। 'शीतस्पर्शवत्य आपः' यह जल (अप्) का लक्षण है। जिसमें जलका प्राधान्य हो, वह आलसी, ढीला वा ठण्डा माना जाता है। इसीलिए व्याकरणमें *जलके शीत-गुणको धारण करने वाला* 'शीतक' *(आलसी)* कहा जाता है। 'शीतोष्णाभ्यां कारिणि' (५।२।७२) यह पाणिनिका सूत्र है। इसका उदाहरण—'शीतं करोति इति शीतकः' (अलस)' दिखलाया गया है। इसीलिए प्रकृत सूत्र पर 'तत्त्वबोधिनी' टीकामें कहा है—'शीतमिव शीतम्, मन्दमित्यर्थः। शीते सति कार्यकरणे पाटवाऽभावात्' अर्थात् शीतता होने पर काम करनेमें सामर्थ्य नहीं रहता। शनिमें इसी जलके गुण शीतत्वके होनेसे वह मन्द-*शनैश्चर (धीमी गति वाला)* होता है। *यह एक राशिमें ढाई साल लगा देता है।* यह ठीक भी है, तैजस वस्तुकी अपेक्षा जलीय-वस्तुमें *स्वाभाविक मन्दता* होती ही है।

शनैश्चरकी मन्दताका कारण कई ज्योतिषी उसकी परिधिका बड़ा होना बतावें, यह प्रकारभेद है, जैसे कि कोई दिन-रात सूर्यकी गतिसे, कोई पृथ्वीकी गतिसे माने, कोई वर्षके ३६५ दिन और १२ महीने माने, कोई वेदानुसार ३६० दिन माने, ढाई सालके बाद १३वां महीना भी माने, यह सब प्रकार-भेद है। तब वेदका शनैश्चरकी मन्दताका कारण अप् तत्त्वको बताना अयुक्त नहीं हो जाता। वेदमें कहीं भी परिधिके बड़े होनेसे शनैश्चरकी मन्दता नहीं कही गई।

इधर 'अग्नेरापः' (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली १ अनुवाक) इससे तेज-द्वारा जलकी उत्पत्ति कही गयी है। तभी ग्रीष्मऋतुसे जलरूप वर्षा ऋतु उत्पन्न होती है, जब क्रोधाग्नि आंखसे निकलती है; तो उसके बाद उसी आंखसे आंसू रूप जल निकल पड़ता है, तब *अग्निरूप सूर्यके द्वारा जलरूप शनैश्चरकी उत्पत्ति सङ्गत ही है।* शनैश्चर सूर्यका पुत्र प्रसिद्ध ही है। तब 'शन्नो देवीः' मन्त्रके 'आपः' पदसे सूर्यसे उत्पन्न, जलके गुणको धारण करने वाले शनैश्चरका ग्रहण युक्तियुक्त ही है। 'एकस्य आत्मनो अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति' (७।४।६) यह 'निरुक्त' में स्वीकार किया गया है। तब अप् (जल) देवताका अङ्ग होनेसे शनैश्चर भी अप्-शब्दवाच्य हो सकता है।

'वृहत्पराशरहोराशास्त्र' में ऋषि पराशरने मैत्रेय मुनिसे कहा है 'कूर्मो भास्करपुत्रस्य' (ग्रहप्रादुर्भावाध्याय पद्य २१)। यहाँ पर शनिको कूर्म (कछुवे) के रूपवाला कहा है। 'के-जले, ऊर्मिः- गतिर्यस्य स कूर्मः (पृषोदरादिः)। कूर्मको 'कमठ' भी कहा जाता है; 'के-जले मठ'- स्थानं यस्य स कमठः'। जिसका जलमें स्थान हो, उसे संस्कृतमें 'कमठ' कहा जाता है। कच्छप जलमें रहता हुआ पृथिवीकी रक्षा करता है। तब कूर्मरूप शनैश्चरसे भी जलको द्वारीकृत करके पृथिवीके प्राणियोंकी रक्षाकी प्रार्थना ठीक ही है। 'निरुक्त' में कहा गया है='तत्र संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं च उपेक्षितव्यम्। यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं च दृश्यते। यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां च सम्भोगोऽग्निना च इतरस्य लोकस्य' (७।२।८) यहाँ पर श्रीदुर्गाचार्यने लिखा है='तत्र-तस्मिन्, पृथक्त्वे सति संस्थानैकत्वं, सम्भोगैकत्वं च उपपत्तित ईक्षितव्यम्, तत्र दृष्टान्तः, यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशव इत्यादि। सहस्थानतया एकत्वं संस्थानै-

र्थोंसे स्तुति करते हैं। अथवा यह आशय है कि पदार्थोंकी बहुविध प्रकृति होनेसे वेदमन्त्र उस प्रकृतिसे भी उस-उस देवताकी स्तुति करते हैं। इस प्रकार अप् (जल) और शनिकी भी अनन्यरूपसे स्तुति हो सकती है। 'निरुक्त' में यह भी कहा है—'इतरेतरजन्मानो भवन्ति इतरेतर-प्रकृतयः' (७।४।१२) इस तरह जब एक-दूसरेसे देवताओंका जन्म माना गया है और देवता एक-दूसरेकी प्रकृतिवाले होते हैं, वेदार्थरूप-निधिकी बड़ी कुञ्जी 'निरुक्त' भी जब जल और शनिकी एक प्रकृति होनेसे 'शं नो देवीः' को शनैश्चर-वाचक सङ्केतित कर रहा है, तब आक्षेप्ताओं-का इस पर आक्षेप कैसा? फलतः जलसे शनैश्चरका ग्रहण अनुप-पन्न नहीं।

यह भी स्मरण रखनेकी बात है कि ग्रह पञ्चभूतप्रधान हुआ करते हैं, तो उस-उस भूतकी स्तुतिसे भी उस-उस ग्रहका ग्रहण हो ही सकता है। इस प्रकार जलभूतसे जलप्रधान-शनैश्चरका भी ग्रहण हो सकने से 'आपः' पदसे शनैश्चरका भी ग्रहण उपपन्न हो ही सकता है। ज्योतिषी लोग भी 'शं शनिः' कहकर शनिसे 'शं' (कल्याण) की प्रार्थना करते हैं। उक्त मन्त्रमें भी 'शं नः' यह प्रार्थना की जाती है। शनैश्चरका आदिम वर्ण भी 'श' है। उक्त मन्त्रका भी आदिम वर्ण 'श' है। 'श' की कुम्भराशि है। ज्योतिषके अनुसार कुम्भराशिका स्वामी शनि है। इस कारण शनैश्चरके बीजमन्त्रमें भी 'शं शनैश्चराय नमः' यह पढ़ा जाता है। इसीलिए 'श' शब्द उक्त-मन्त्रके पूर्वार्धकी आदि में भी मिलता है, उसके उत्तरार्धकी आदि में भी। जबकि पत्थर उस-उस देवकी प्रतिष्ठा करने पर देवप्रतिमा बन जाता है, तब कल्प-प्रवक्ताओं-द्वारा उक्त मन्त्रमें विनियोगानुसार यदि शनैश्चर ग्रह प्रतिष्ठित किया है, तो वह शनैश्चरका मन्त्र क्यों न माना जाय?

गृह्यसूत्रों, स्मृतियों तथा पुराण-आदिमें अन्य ग्रहोंके मन्त्रों पर कुछ अनैकमत्य भी है, पर इस शनिके मन्त्रमें तो सभी शास्त्रकारोंका विलक्षण ऐकमत्य दीखता है। सभीने शनिका मन्त्र 'शं नो देवीः' ही माना है। पर आश्चर्य है कि आक्षेप्ताओंने अयुक्तता सिद्ध करनेके लिए सबसे पूर्व शनिका ही मन्त्र उपस्थित किया है! अब हम इस विषयमें प्राचीन शास्त्रकारोंको मानें या अर्वाचीन आक्षेप्ताओंको? इसका उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर है। यहाँ पर सब प्राचीनोंका ऐकमत्य होनेसे 'यस्तु अप्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणम्' इस 'महाभाष्य' के वचनानुसार सावधानताका वचन होनेसे प्रामाण्य ही है। 'अप्' शब्दके नित्यबहुवचनान्त होनेसे ही उक्त मन्त्रमें 'देवीः भवन्तु' इस प्रकार बहुवचन दिया गया है। जल और शनिके अभेद में बहुवचन स्वाभाविक ही है। अथवा शनिपक्षमें 'पूजामें बहुवचन' भी सङ्गत हो सकता है।

इस प्रकार प्राचीन शास्त्रकारों द्वारा शनिमें विनियुक्त इस मन्त्रमें तो आक्षेप्ताओंने आक्षेप किया, पर उनकी 'भावनाके देवता' स्वामी दयानन्दजीने 'शं नो देवीः' मन्त्रका 'सत्यार्थप्रकाश' में 'सन्ध्यामें गले-में आये कफको जल-द्वारा फिर भीतर डाल देनेके लिए' जो विनियोग किया है, उस पर उन्होंने उन्हें कोई उपालम्भ नहीं दिया। इसका कारण कदाचित् उनकी स्वामीजीके प्रति श्रद्धाभावना हो और प्राच्य शास्त्रकारोंके प्रति घृणाभावना हो!

बुधका मन्त्र

यद्यपि इस प्रकार शनिमन्त्रकी सङ्गतिके सिद्ध हो जाने पर 'स्थाली-पुलाक' न्यायसे आक्षेप्तागण-द्वारा आक्षिप्त बुध एवं केतु ग्रहके मन्त्रोंकी भी अन्वितता सिद्ध हो जाती है, तथापि बुध और केतु ग्रह पर भी

संक्षेपसे कुछ लिखना उचित प्रतीत होता है, आक्षेपकर्ता कृपया ध्यान दें। जिस प्रकार शनैश्चर अन्तरप्रधान है, अतः तदर्थ अर्थवाला मन्त्र समानकार्यतासे निरुक्तानुसार लिया गया है, वैसे ही बुध अग्नितत्त्व-प्रधान है, तदर्थ अग्निवाला मन्त्र लिया गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति, बृहत्पराशरस्मृति, बौधायनगृह्यशेषसूत्र, वैखानसगृह्यसूत्र, आग्निवेश्य-गृह्यसूत्र, भविष्यपुराण आदि बुधका वैदिक-मन्त्र 'उद्बुध्यस्वाग्ने' (यजु० १५।५४) लिखते हैं। 'मत्स्यपुराण' ने 'अग्ने ! विवस्वदुषसः' यह अग्निदेवतावाला ही मन्त्र दिया है, इससे बुधकी अग्नितत्त्व-प्रधानता स्पष्ट है। अग्नितत्त्वकी प्रधानताके कारण ही उसकी शीघ्र-गति होती है। शनि जिस राशिको ढाई वर्षमें पूरा करता है, उसीको बुध प्रायः २१ दिनोंमें पार कर जाता है। बुध और अग्निका सादृश्य दोनोंका यज्ञकर्ममें उद्बोधक होनेसे भी है। अस्तु।

'ऐतरेयारण्यक' में कहा है—'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्' (२।४।२४) यहां अग्निका वाणीरूप होना कहा गया है। तब अग्निरूप बुध भी वाणीरूप अधिष्ठाता सिद्ध हुआ। 'श्रीमद्भागवत' में कहा है—'वाचां वन्हेर्मुखं क्षेत्रम्' अर्थात् मुख वाणी एवं अग्निका उत्पत्तिस्थान है। यहां श्री श्रीधराचार्यने लिखा है—'वाचामस्मदादिवागिन्द्रियाणां तदधिष्ठातुर्वन्हेश्च मुखं क्षेत्रम् उत्पत्तिस्थानम्'। यहाँ पर वन्हिको वाणीका अधिष्ठाता कहा गया है। 'वाच्यग्निः' (मनु० १२।१२१) इस पद्यमें अग्निसे वाणीका सम्बन्ध कहा है। 'बृहत्पराशरहोराशास्त्र' के ग्रह-प्रादुर्भावाध्यायके दूसरे पद्यमें 'बुधो वाणीप्रदायकः' इस प्रकार बुधका वाणीसे सम्बन्ध बतलाया गया है। 'बृहज्जातक' में ग्रहयोनिभेदाध्यायके प्रथम पद्यमें 'ज्ञो वचः' बुधको वाणीस्वरूप कहा है। इस प्रकार 'अभि-मानि-व्यपदेशः' (वेदान्त० २।१।५) के अनुसार अग्नि, वाणीका अधि-ष्ठाता सिद्ध है। तब अग्निका कार्य वाणी तथा बुधका कार्य भी वाणी

समान होनेसे 'तत्र संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं (समानकार्यत्वं) च उपेक्षितव्यम्' (निरु० ७।४।८) दोनोंको अभेदसे निरूपित किया जा सकता है।

'सद्-बुद्धिं च बुधो गुरुश्च गुरुताम्' एतदादि-पद्योंमें बुधको बुद्धि-प्रदायक भी सूचित किया है। गायत्री भी बुद्धिप्रदायक प्रसिद्ध है। गायत्री भी अग्निस्वरूपा मानी गयी है। सावित्री (गायत्री) का अधि-ष्ठाता देवता सूर्य भी 'स न मन्येत अयम् (पार्थिव) एव अग्निरिति, अपि एते उत्तरे ज्योतिषी (विद्युत्सूर्यौ अपि) अग्नी उच्येते' (७।१६।२) इस 'निरुक्त' के वचनानुसार 'अग्नि' माना जाता है। उसी अग्निरूप सूर्यसे 'धियो यो नः प्रचोदयात्' (यजु० ३।३५) बुद्धिकी प्रार्थना की जाती है। तब बुद्धिप्रदायक बुधका भी अग्निदैवत-मन्त्रसे ग्रहण हो ही जाता है। प्रत्युत अग्निस्वरूप सूर्यके मन्त्रसे भी कहीं-कहीं बुधका ग्रहण देखा गया है। 'ब्रह्म जज्ञानं' (यजुः वा० स० १३।३) का देवता 'सूर्य' माना गया है। यही मन्त्र 'जैमिनिगृ०' (२।६) में बुधका माना गया है। मत्स्यपुराणमें भी 'अग्ने ! विवस्वदुषस. ६३।२५) यह अग्निमन्त्र ही बुधका माना गया है। इस तरह बुधके अग्निरूप होनेसे अग्निदैवत 'उद्बुध्यस्वाग्ने' मन्त्रका बुधमें विनियोग निर्मूल नहीं। बुधके विषयमें यह भी जानना चाहिये कि—'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (७।१७।४) यह 'निरुक्त' में तथा ब्राह्मण-भागमें प्रसिद्ध है। 'तासां [देवतानां] माहाभाग्याद् एकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति' (नि० ७।४।१) इस श्रीयास्कके कथनसे अग्निरूपसे बुधकी स्तुति भी की जा सकती है।

इससे सिद्ध हुआ कि अग्नि तथा बुध दोनों ही बुद्धिके अधिष्ठाता हैं। बुद्धिके अधिष्ठाता 'अग्नि' के होनेसे ही ब्रह्मचारी बुद्धिप्राप्त्यर्थ

अग्निकी उपासना करता है। उससे वह प्रार्थना करता है कि 'ॐ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा' (यजु.० ३२।१४)। इसी प्रकार 'यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसे. एवमहमायुषा, मेधया, वर्चसा, समिन्धे (पारस्करगृ० ७।४) यहां पर भी अग्निसे मेधाकी प्रार्थना की जाती है। 'बुध ! त्वं बुद्धिजननो बोधदः सर्वदा नृणाम्' इस 'भविष्योत्तर' के वचनमें भी बुधका बुद्धिदातृत्व प्रसिद्ध है। तो जब बुध एवं अग्निका बुद्धिदातृत्व समान माना गया है, तब 'तत्र संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं च' (७।१।८) 'निरुक्त' की इस परिभाषा के अनुसार समान कार्यवाले देवताओंको पृथक् पृथक् न गिनकर एक देवता या एक नामसे गिन लिया जाता है। तभी तो ३३ कोटि देवताओंका केवल तीन देवताओंमें अन्तर्भाव कर देना यास्कका सङ्गत हो जाता है। तब फिर 'उद्बुध्यस्वाग्ने' इस अग्निके मन्त्रसे बुधको ले लेना शब्दमात्रसादृश्यहेतुक नहीं, किन्तु यहां पर अर्थसादृश्य भी है। आर्यसमाजके वैदिक यन्त्रालयकी ऋग्वेदसं० में 'उद्बुध्यस्व' (१०।१०।११) मन्त्रका ऋषि भी 'सौम्यो बुधः' (सोमका लड़का बुध) माना गया है।

अथच 'उद्बुध्यस्वाग्ने !' का 'हे अग्ने ! बुध्यस्व-बुध इत्याख्यायमानो भव' यह अर्थ भी गर्भित है कि हे अग्नि ! तुम बुध नामवाले कहे जाओ। 'बुध' शब्दको 'तत्करोति तदाचष्टे' से 'आचष्टे' अर्थमें णिच करने पर 'बुधयति' बन जाता है। उसीका कर्मवाच्यमें लोट के मध्यमपुरुषमें यक् तथा णिलोप और आत्मनेपद होकर 'बुध्यस्व' — 'बुध इत्याख्यायमानो भव' इस प्रकार प्रयोग तथा अर्थ होता है। अर्थकी इस प्रकारकी शैली नैरुक्त-शैली कही जाती है, जहां पर एक ही शब्दको तीन आख्यातोंसे भी निकाला जाता है। तब फिर बुधके 'उद्बुध्यस्वाग्ने' इस मन्त्रके लिखने मात्रसे

पुराणों पर आक्षेप करना आक्षेप्ताओंको युक्त नहीं। पुराण तो वेदका भाष्य हैं। पुराणानुसारी वेदका अर्थ युक्त भी होता है, तभी तो 'महाभारत' में भी कहा है—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति' (१।१।२६७) इसीलिए मनुने 'धर्मेणाधिगतो यैस्तु , सपरिबृंहणः। ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेया: श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः' (१२।१०६) यहां 'सपरिबृंहण' वेदके पढ़ने वालेको शिष्ट ब्राह्मण माना है। यहां पर श्रीकुल्लूकने 'सपरिबृंहण' का 'अङ्गमीमांसा-धर्मशास्त्र-पुराणाद्युपबृंहितो वेदः' यह अर्थ किया है। तब पुराण भी वेदार्थज्ञानार्थ प्रयोजनीय हैं। पर अब तो केवल पुराणने ही नहीं, स्मृति एवं गृह्यसूत्रोंने भी उक्त मन्त्रको जब बुधका मान रखा है, तब तो बहुसाक्षी मिल जानेसे सन्देहका अवकाश ही नहीं रहता।

केतुका मन्त्र

शेष रहा 'केतु' का मन्त्र 'केतुं कृण्वन्न केतवे' (यजुः २९।३७) इस पर भी श्रद्धाबुद्धिसे विचार करने पर समाधान प्राप्त किया जा सकता है। आपके श्रद्धेय स्वामी दयानन्दजीने अपने 'उणादिकोष' (१।७४) में 'केतुः' की सिद्धि करते हुए—'केतुः-ग्रहः, पताका वा' यह अर्थ किया है (देखिये पृष्ठ १८)। उज्ज्वलदत्तकी 'दशपाद्युणादिवृत्ति'में भी लिखा है—'केतुर्ध्वजः, ग्रहश्च' (१।१२६)। तब आक्षेप्ता इस मन्त्रमें भी केतुका 'ग्रहविशेष' अर्थ—जैसा कि स्वामीजीने लिखा है—स्वीकार कर लें। यदि वे स्वामीजी पर श्रद्धेय-बुद्धि रखते हैं, तो उन को उन्हींके अनुसार 'केतु' एक 'ग्रह' स्वीकार करना ही पड़ेगा। स्वामीजीने 'उणादिकोष' को 'वेदाङ्गप्रकाश' का भाग माना है। इससे उणादि भी वेदके अङ्ग सिद्ध हुए। जब ऐसा है, तब उणादिस्थ 'केतु' शब्द वैदिक सिद्ध हुआ। 'उणादिकोष' की भूमिका (पृ० ३) में स्वामीजीने स्पष्ट लिखा है—'इसमें सामान्यसे वैदिक-लौकिक दोनों

ही शब्द सिद्ध किये हैं'। अब बोलिये कि यदि वेदमें 'केतुं कृण्वन्' यह मन्त्र केतुग्रहाभिधायक नहीं है, तो केतु-ग्रहाभिधायक मन्त्र वेदमें कौनसा है? फिर उस पर विचार चल सकता है।

यदि वे कहें कि वेदमें केतुग्रहका निरूपण ही नहीं, तो फिर बतलाइये कि उनके श्रद्धेय श्रीस्वामीजीने 'वेदाङ्गप्रकाश' में ग्रहाभिधायक 'केतु' शब्दको अवैदिक क्यों नहीं माना? अथवा आर्यसमाजियोंकी यदि स्वामीजी पर श्रद्धा है, यदि वे 'पाखण्डखण्डिनी पताकाको लिये हुए' थे, यदि स्वामीजीने उनके शब्दोंमें 'वेदरूपी सूर्यको पुराणों रूपी बादलोंसे' निकाल लिया, यदि उनके शब्दोंके अनुसार स्वामीजीने 'ईश्वरीय प्रेरणासे प्रकाश प्राप्त किया', तो उन्हींसे वेदमें स्वीकृत किये 'केतुग्रह' को माननेमें आर्यसमाज नकार क्यों करते हैं? जबकि वेदमें 'शमादित्यश्च राहुणा। शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः' (अ० १९।९।१०) इस प्रकार राहु-केतु ग्रहका* निरूपण आया है, आर्यसमाजियोंके श्रद्धेय श्री-स्वामीजीने भी 'दसनिजनि...रहिभ्यो युण् (३।२) इस 'उणादिकोष'स्थ-सूत्रकी टीकामें 'राहु-ग्रहविशेषः' (पृ० १), 'केतुः-ग्रहः' (पृ० १८) यह मान लिया है, तब 'राहोश्छाया स्मृतः केतुः' इत्यादि शास्त्रप्रवचनानुसार केतुग्रह भी वैदिक सिद्ध हो गया।' जब तक उस केतुका अन्य

* यहां पर श्रीजयदेव विद्यालङ्कार (आर्यसमाजी भाष्यकार) ऐसा अर्थ करते हैं—'जनोंके मृत्युके कारण धूम्रकेतु ग्रह हमारे लिए शान्त रहें। तीक्ष्ण प्रकाशवाले, प्रजाको रुलानेवाले रुद्रात्मक केतुग्रह अथवा ११ रुद्र शान्त रहें।' श्रीक्षेमकरण (आर्यसमाजी भाष्यकार) यह अर्थ करते हैं—सूर्य राहु—ग्रहविशेष—के साथ शान्तिदायक हो, मृत्युरूप धूम्रकेतु—पुच्छल-तारा—हमें शान्तिदायक हो।'

मन्त्र वेदसे सिद्ध न किया जाय, तब तक 'केतुं कृण्वन्' यही मन्त्र ही केतु-ग्रहका रहेगा। तभी हमने कहा था कि यदि श्रद्धासे उक्त मन्त्रों पर विचार किया जाय, तो उसका समाधान भी प्राप्त हो सकता है। यह ठीक भी है, वेद स्वयं कहता है—'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजु॰ १९।३०), 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' (गीता ४।४०)।

वेदमें केतु तो क्या धूमकेतु' का भी वर्णन आता है। देखिये— 'शन्नो मृत्युधूमकेतुः' (अथर्व॰ १९।९।१०)। अथवा स्वामीजीके मतानुसार आप केतुका अर्थ उक्त वेदमन्त्रमें 'पताका' भी मान लें, तब भी उससे केतुग्रहकी सिद्धि हो सकती है। यदि कहें कि कैसे? तो इसपर यह भी सुन लीजिये। आप जानते हैं कि कभी कभी लिङ्ग (चिन्ह) से भी लिङ्गीको बताया जाया करता है। लिङ्गसे ही सन्यासी ब्रह्मचारी-आदि जाना जाता है। कभी किसी विशेष-वस्तु रखनेवालेका उस वस्तुसे भी बोध हो जाता है। जैसे कि कोई ठेलवाला या खिरौवाला मजदूर हो, तो उसे बुलाया जाता है—'अरे ठेले! ओ खिरो! इधर आ!' आक्षेप्ता यह जानते होंगे कि केतुग्रहका 'झण्डा' (केतु) प्रसिद्ध है, झण्डा (केतु) उसका लिङ्ग है। इसलिए उस झण्डे (केतु) को धारण करनेसे उस ग्रहका नाम भी 'केतु' पड़ गया है। केतुग्रहकी आकृति भी झण्डेकी बनानी पड़ती है, देखिये 'जैमिनिगृह्यसूत्र' में 'अथ ग्रहाऽऽकारा—'केतोर्ध्वजमिति' (२।९)। 'केतवे ध्वजमिति' (बौधायन-गृह्यशे॰सू॰ १।१६।४) पञ्चाङ्गोंमें प्रकाशित केतुग्रहके साथ आक्षेप्ता महोदयोंने 'पताका' देखी ही होगी। उसी झण्डेको 'पताका' अथवा 'ध्वज' अथवा 'केतु' भी कहा जाता है, तब उसी केतु (झण्डे) के वर्णनसे उस झण्डेको धारण करनेवाले केतुग्रहका भी ग्रहण हो जायगा, क्योंकि केतुग्रह तो स्वामीजीके मतानुसार भी 'वैदिक' सिद्ध हो ही चुका। उसका वर्णन वेदमें जिस-किसी रूपमें आ ही सकता है, तब 'केतुं'

कृण्वन्' इस मन्त्रसे केतुग्रहका निरूपण करना भी वेदबाह्य सिद्ध न हुआ। झण्डेकी पूजा कर देनेसे उस झण्डेवालेकी पूजा मानी जाती है। जैसे कि इस राष्ट्रका सत्व-रज-तम इन तीन गुणोंवाला तिरङ्गा झण्डा है, उसका अभिवादन करनेसे इस राष्ट्रका अभिवादन माना जाता है, वैसे ही केतुग्रहके केतु (झण्डे) की पूजा करनेसे केतुग्रहकी पूजा निष्पन्न हो जाती है। जैसे कि निरुक्त (७ अध्याय) में देवताके वाहन, आयुध आदिकी स्तुतिसे भी उसी देवताकी स्तुति मानी जाती है। -

अथवा—'केतुं कृण्वन्' (यजु: २९।३७) मन्त्रका देवता अग्नि है। बृहत्पराशरस्मृतिकार केतुको 'केतुं कृण्वन्नग्निसूनो:' (१।६६) अग्निसूनु-अग्निपुत्र कहते हैं। तब 'आत्मा वै पुत्र-नामासि'—इस कथनसे अग्निका मन्त्र भी उसके लिए ठीक ही है; और अग्निका केतु (प्रज्ञापक) उसका धुआँ होता है। तभी अग्निको 'धूमकेतु' कहते हैं। धुआँ तमोरूप (काला) होता है। तभी अग्निपुत्र केतुको भी तमोमय वा 'धूमकेतु' माना गया है। तब केतुका उक्त मन्त्र इस रीतिसे भी युक्त ही है।

'केतु राहुकी छायामात्र है, अतएव ठीक उसके सामने सातवीं राशिमें रहता है, अतः उसे पृथक् ग्रह मानना और उसकी पूजाके लिए एक मन्त्र खड़ा करना अमौलिक कल्पना है' ऐसा कहना भी ठीक नहीं। जबकि उसकी राहुसे भिन्न दिशामें सत्ता मिलती है; तो ६ राशिके व्यवधानसे उसकी सत्ता पृथक् सिद्ध होगई। एक वस्तुमें व्यवधान कभी नहीं हुआ करता। अतः ग्रहण भी कभी राहुसे होता है, कभी केतुसे; यह पञ्चाङ्गमें देखा जा सकता है। पूर्णिमावाले दिन चन्द्रमा सूर्यके ठीक सामने छः राशिके अन्तर पर होता है, उसी सूर्यसे

प्रकाशित होता है, उसका अपना कोई प्रकाश नहीं; तो क्या सूर्य-चन्द्रमा एक ही मान लिये जाएँगे? स्वा०द०जीने भी राहुसे केतुको भिन्न माना है। यदि एक ही होता; तो भिन्न नामकी आवश्यकता भी क्या थी? इतना है कि राहु सिर है, केतु शेष देह है; तब इन दोनों के भिन्न-भिन्न हो जानेसे इनके मन्त्र भी भिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक है।

इस प्रकार उक्त मन्त्रोंका उन-उन ग्रहोंसे सम्बन्ध सिद्ध हो जानेसे श्रीपण्डित चूडामणिजी शास्त्रि-महाभागका—'स्वामीजीके प्रचारकार्यसे पूर्व लगभग पाँच-सहस्र वर्ष पूर्व वेदरूपी सूर्यको पुराणरूपी बादलोंने ढँक-सा दिया था'''नाम तो तब भी वेदोंका लिया जाता था, मन्त्र भी वेदके ही बोले जाते थे, पर उच्चारणमात्र। 'शन्नो देवी:' उद्बुध्यस्वाग्ने, 'केतुं कृण्वन्न केतवे' इत्यादि मन्त्रोंमें शब्दसादृश्यको लेकर शनि, बुध और केतुकी पूजामें वे मन्त्र प्रयुक्त होने लगे'—यह कथन पूर्णरूपसे समाहित हो गया।

शेष ग्रहोंके मन्त्र

'आलोक' पाठकोंने देख लिया कि—आक्षेप्ता लोगोंने शनि, बुध, केतु इन तीन मन्त्रों पर विशेष आक्षेप किया था, हमने भी उन पर विशेष विवेचना दी। यदि शब्दसादृश्यको लेकर ही इन ग्रहोंके उक्त मन्त्र रखे गये होते, तो शेष 'अग्निर्मूर्धा' यह भौमका, 'कयानश्चित्र' यह राहुका, इस प्रकार अन्य मन्त्र भी सदृशशब्दवाले रखे जाते, परन्तु इनमें कोई शब्द-सादृश्य नहीं। इन ग्रहोंके मन्त्रोंमें कहीं तो उन ग्रहोंका गुण देखकर उसे उस ग्रहका मन्त्र माना गया, जैसे—शनि और बुध आदिके मन्त्र। कहीं उस ग्रहका लिङ्ग देखकर वह मन्त्र रखा गया, जैसे—भौम और केतुका। कहीं उनके देवताका लक्ष्य

गया है, भौमका भी अत्यन्त तेजोरूप और रक्तता होनेसे अग्निकी भांति मर्ष होता है; तब भौमका भी अनुग्रह होनेसे अग्निदेवतावाले मन्त्रमें उसका वर्णन संगत है। 'दिवः ककुत्'- आकाशका यह भूषण है, 'अपां पतिः' भी भौम ठीक है। ज्योतिषमें प्रसिद्ध है—'चलत्यङ्गारके वृष्टिः' यह वृष्टिकर्ता होनेसे 'अग्नेरापः' इस कथनसे 'अपां पतिः' ठीक ही कहा गया है, तब इस मन्त्रका भौमकी पूजामें विनियोग क्यों न हो? इस प्रकारके सम्बन्ध भी शास्त्रीय होते हैं। जैसे कि निरुक्त (३।११।१) के अनुसार 'कुत्स' ऋषिमें वधार्थक 'कृत्' धातुकी चरितार्थता उसके सखा इन्द्रके द्वारा शुष्ण असुरका वध करनेसे मानी गई है। मारा था इन्द्रने असुरविशेषको; पर उसके मारनेका सम्बन्ध उस असुरको न मारने वाले भी उस (इन्द्र) के सखा कुत्स ऋषिके साथ वेदने कर दिया। 'कुत्स' वैदिक-निघण्टुका शब्द है।

४ 'उद्बुध्यस्वाग्ने'! (यजुः १५।५४ इस बुधके मन्त्रके विषयमें पहले कहा ही जा चुका है। ५ 'बृहस्पते ! अति यदर्यो यजुः २६।३) इस मन्त्रमें बृहस्पतिका स्पष्ट ही वर्णन है और नाम भी आया है, तब इस मन्त्रमें भी कोई असङ्गति नहीं पड़ती; वह बृहत्-पति सब ग्रहोंसे बड़ा होनेसे माना जाता है, इसीलिए उसे देवगुरु कहते हैं। दूसरा—'वाग् हि बृहती, तस्या एष पतिः' (छान्दोग्योप० १।२।११) यह वाणीका अधिष्ठाता भी है। 'कुकुस्त्यादीनामपडादिषु' (वा० ६।३।३५) से पुंवद्भाव हुआ है। इसलिए ज्योतिषमें बृहस्पतिको विद्याका अधिष्ठाता ग्रह माना गया है, तब इस मन्त्रसे बृहस्पतिके ग्रहणमें भी कोई अनुपपत्ति नहीं। ६ 'अन्नात्परिस्रुतो रसं ... क्षत्रं' 'ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रम्' (यजुः १६।७५) इन मन्त्रोंके 'ब्रह्म देवताः' कहे गये हैं। और 'शुक्र' शुक्रको कहते हैं, शुक्र-ग्रहका भी शुक्र वर्ण है, वह बहुत चमकीला होता है, वह प्रत्यक्ष है। तब इस मन्त्रमें शुक्रका वर्णन भी असंगत नहीं। लिङ्गसे भी लिङ्गीका ज्ञान

करा दिया जाता है। ७ शनिके मन्त्रके विषयमें पूर्ण—विवेचना पूर्व दी ही जा चुकी है। 'वैदिक ज्योतिषशास्त्र' में आर्यसमाजी विद्वान् श्री ब्रह्ममुनिजी लिखते हैं—"शनिको 'असित' भी कहते हैं—'असितः शनिग्रहः' इति हलायुधः। शनिके चारों ओर कुण्डल (घेरा) होनेसे इसे सर्पका रूपक दिया गया है। असित कृष्ण-सर्पको भी कहते हैं—…। वेदमें इसका वर्णन असित नामसे आता है—'अभूदु भा उ अशवे हिरण्यंप्रति सूर्यः। व्यख्यज्जिह्वयाऽसितः' (ऋ० १।४६।१०) जब सूर्य उत्पन्न होते समय किरण फैलानेके लिए देदीप्यमान बना, तब शनिग्रह जिह्वाके साथ प्रकट हुआ। इस मन्त्रमें *शनिग्रहकी प्रकटता* सूर्यसे बतलाई है। अतएव शनिको ज्योतिषके ग्रन्थोंमें सौरि, सूर्यपुत्र कहा गया है। ऋ० ४।५१।६ इस मन्त्रमें कहा गया है।...मन्दगामी होनेसे इसका नाम शनैश्चर भी है।"

८ राहुके विषयमें दो मन्त्र प्रसिद्ध हैं, एक 'काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती' (यजुः १३।२०) दूसरा 'कयानश्चित्रः' (यजुः २७।३९) इसमें 'काण्डात् काण्डात्' यह मन्त्र दूर्वाका है। क्योंकि—इसका देवता वही है। 'उदुम्बरः शमी, दूर्वा, कुशाश्च समिधः क्रमात्' (याज्ञवल्क्य० आचाराध्याय ३०१) इस पद्यके अनुसार राहुकी होमद्रव्य दूर्वा है। तब 'यद्दैवत: स यज्ञो यज्ञाङ्गं' वा तद्-देवता भवति' (७।४।२) निरुक्तके इस कथनके अनुसार—जिसका अर्थ श्रीदुर्गाचार्यने यह किया है—'यद्दैवतः स यज्ञः—यद्दैवतप्रधानं हविः' तब दूर्वाके भी राहुकी हवि होनेसे यह मन्त्र भी राहु-दैवत सिद्ध हो गया, और 'कयानश्चित्रः' इस मन्त्रका शिष्टाचार-परम्परासे राहुमें विनियोग है, क्योंकि—'शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा' (अथर्व० १९।९।१०) इस वेद-मन्त्रमें राहुसे कल्याणकी प्रार्थना स्पष्ट है। 'कयानः' मन्त्रका देवता इन्द्र है और इन्द्रको 'इन्द्रः सर्वा देवताः' (शतपथ३।४।२।२, सर्वदेवात्मक माना

गया है'। 'माहाभाग्याद् देवताया *एक आत्मा बहुधा* स्तूयते' (निरुक्त ७।४।८) इसके अनुसार उससे राहु भी गृहीत हो सकता है। ६ केतुके मन्त्रके विषयमें पूर्व कहा ही जा चुका है। राहुकी छाया केतु होता है; पर इतने-मात्रसे उसको अभिन्न भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि—इनमें परस्पर ७ राशिका अन्तर रहा करता है, यह पूर्व संकेतित किया ही जा चुका है। छायाका भाव है—तदनुसारी।

इस प्रकार इन नवग्रह-मन्त्रोंका ग्रहोंसे अर्थ-सम्बन्ध भी सिद्ध हुआ। शब्द-सम्बन्ध हो तब भी कोई आक्षेपार्हता नहीं; क्योंकि—वेद भी शब्द-प्रधान होते हैं। तभी तो विवाहादि-संस्कार वेदके शब्दोंसे कराये जाते हैं, वेदके अनुवाद वा *अर्थसे नहीं।* वेदका एक-एक अक्षर वा शब्द वा स्वर वा स्वन भी *निरर्थक नहीं*—यह अवश्य स्मरण रखनेकी बात है। तभी तो 'भूतं, भवद्, भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' (१२।९७) यह मनुजीका वचन सार्थक है। विनियोग तो अर्थ-सम्बन्ध न होने प भी हो जाता है—यह याज्ञिक कर्मकाण्ड-सम्प्रदायमें प्रसिद्ध है—इसमें वादी लोग अपनी 'संस्कारविधि' भी देख सकते हैं। आर्यसमाजी विद्वान् श्रीराजारामशास्त्रीने अपने अथर्ववेदभाष्यकी भूमिकामें लिखा है—'श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रोंमें मन्त्रोंके जो विनियोग बतलाए हैं, उनसे भी मन्त्रोंके अर्थों पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है, क्योंकि—विनियोग भी अर्थ-सम्बन्धको देखकर ही किये जाते हैं। पर ऐसे विनियोग भी हैं, *जहाँ मन्त्रका मुख्य अर्थ नहीं घटता*' (पृ० २२) इससे स्पष्ट है कि—मन्त्रार्थसे असम्बन्धित भी विनियोग हुआ करते हैं, नहीं तो एक मन्त्रके भिन्न भिन्न विनियोग न होते'। 'शनिराहुकेतुरगणो' (७।६) इस मैत्रायणीय-आरण्यकमें भी शनि-राहु-केतुका वर्णन आया है।

मुनियोंने किया। उनके ग्रन्थ न होते, तो वेदका अर्थ भी न जाना जाता।

वेदमें जैसे ग्रहोंसे कल्याणकी प्रार्थना आई है, वैसे नक्षत्रोंसे भी। जैसे कि—अथर्ववेद (शौ०) संहितामें—'सुहवमग्ने! १ कृत्तिका २ रोहिणी चास्तु, भद्रं ३ मृगशिरः शम् ६ आर्द्रा। ७ पुनर्वसू सूनृता, चारु ८ पुष्यो भानुराश्लेषा ६ अयनं मघा १० मे (१९।७।२) पुण्यं ११ पूर्वा १२ फल्गुन्यौ चात्र १३ हस्त, १४ चित्रा शिवा १५ स्वाति सुखो मे अस्तु। राधे १६ विशाखे सुहवानुराधा १७, ज्येष्ठा १८ सुनक्षत्रमरिष्ट १९ मूलम्' (३) अन्नं पूर्वा रासतां मे २० अषाढा, ऊर्जं देवी २१ उत्तरा आवहन्तु। अभिजिद् २२ मे रासतां पुण्यमेव २३ श्रवणः श्रविष्ठा (धनिष्ठा २४) कुर्वतां सुपुष्टिम् (४) आ मे महत् २५ शतभिषग् वरीय आ मे २६-२७ द्वया प्रोष्ठपदा (पूर्वा उत्तरा भाद्रपदा) सुशर्म। आ २८ रेवती च १ अश्वयुजौ (अश्विनी) भगं मे आ मे रयिं २ भरण्य आवहन्तु' (अथर्व० १९।७।५)। तब ग्रह-नक्षत्रपूजा कभी वेद विरुद्ध अथवा अर्वाचीन नहीं हो सकती, किन्तु वेदानुकूल है, तब उनकी पूजाके मन्त्र भी वेदके ही हो सकते हैं—ऋषि मुनियोंने उन्हें वेदसे दुहकर निकाला—उनका संक्षिप्त रहस्य हम इस निबन्धमें दिखला ही चुके हैं। सनातन हिन्दु-धर्म जब वेद तथा वेदाङ्ग, उपवेदको मानता है, और वेदकी ११३१ संहिता मानता है, उसी वैदिक साहित्यमें वर्णित ग्रहपूजा आदिको यदि कोई हिन्दु मानने को तैयार नहीं, तो उसका हिन्दुधर्मके मुख्य ग्रन्थ वेद पर तथा हिन्दुधर्म पर भी कोई अधिकार नहीं।

वेदका विषय यज्ञ होता है, जैसे कि—'यज्ञो मन्त्र-ब्राह्मणस्य' [वेदस्य] (न्यायदर्शन ४।१।६२) 'चत्वारो वै वेदास्तैर्यज्ञस्तायते' (गोपथ-

ऋा० १।४।२४) 'वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ताः' (सिद्धान्त-शिरोमणि गणिताध्याय मध्यमाधिकार, कालमानाध्याय ६) 'दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ-मृग्यजुः-साम-लक्षणम्' (मनु० १।१३) 'पदमगन्म देवयजनम् ऋक्-सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भिः (यजुः वा० सं० ४।१) 'वेदे मन्त्रा अवश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः' यज्ञे कर्मणि स वेदप्रोक्तो नियमः' (महा० पस्पशा०) इत्यादि इस विषयके बहुत प्रमाण हैं, वेदमें भी यज्ञ-विषय सुस्पष्ट है।

'यज्ञ' यजधातुसे बनता है, यजधातुका अर्थ है देवपूजा, जैसे कि वेदमें भी कहा है—'*यज्ञे-यज्ञे स मर्त्यो देवान् सपर्यति* (पूजयति)' (ऋग्वेद १०।६३।२) सूर्य-चन्द्र आदिको वेद देवता मानता है, तब वेदमें देवपूजाका विषय होनेसे उसमें ग्रहपूजा भी सिद्ध हो गई। ग्रहपूजक वेदने प्रत्येक ग्रहोंकी पूजाके मन्त्र न रखे हों—यह कैसे सम्भव है? बृहत्पराशरस्मृतिमें कहा है—'वेदमन्त्रैर्विना कश्चिद् विधिर्नास्ति द्विजन्मनाम्' (३।६७)। गृह्यसूत्रोंमें ग्रह-यज्ञ भी आये हैं; आहुति देते समय उस-उस देवताका मनसे ध्यान करना पड़ता है, जैसा कि निरुक्त (८।२२।११) और ऐतरेयब्रा० (३।८।१) में कहा है और तत्तद्देवताका मन्त्र भी अवश्य बोलना पड़ता है; तब नवग्रह किसी मंत्रके देवता भी सिद्ध होगये, उनकी पूजा भी उस मंत्रसे सिद्ध हो गई; तब गृहपूजा वैदिक-कालमें स्वतःसिद्ध हुई। केवल वेदका आग्रह आप करें, तो, आर्यावर्त, गुरुकुल आदि शब्द भी वेदमें न होनेसे आपको छोड़ने पड़ेंगे, आपके अनुसार पाँच सहस्र-वर्षके ग्रन्थोंमें इनका वर्णन होनेसे इन्हें अवैदिक मानना पड़ेगा, इनका प्रचार बन्द करना पड़ेगा।

पुराण भी वेदके साथ ही उत्पन्न हुए हैं; इसलिए वेदमें भी उनका वर्णन आया है—'*पुराणं* यजुषा सह । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे' (अथर्व०

१।१।६ (७) २४ । इत्यादि । केवल उन (पुराणों) की रचना पौरुषेय है, वैसे वे अनादि हैं। व्यासजीने उन्हें बनाया नहीं ; उनका वे प्रतिद्वापरमें वेद संहिताओंकी भान्ति सम्पादन करते हैं। ग्रहपूजा जो वैदिक परम्परासे आ रही थी, पुराणोंने भी उसी परम्पराको सुरक्षित करके हमें वैदिक कालके साक्षात् दर्शन करा दिये हैं। 'पुराण' पुरा नव होते हुए भी पुराने ही रहते हैं— क्योंकि वे अनादि हैं। जब यह प्रकट हुए तब भी 'पद्मपुराण' आदि नामसे कहे जाते थे, 'पद्मनवीन' आदि नामसे नहीं। यदि पुराण न होते, तो हम आज वेदोंकी महत्ता भी न जान पाते, और हमारा आज अस्तित्व भी न होता, हमें वैदेशिक जातियाँ निगल लेतीं। यह उन्हीं पुराणोंका ही प्रभाव है कि हमें कोई भी नवीन-मत अस्तित्वसे च्युत न कर सका। तब समाधि समधिगतवेदतत्त्व वाले ऋषि मुनियोंकी बातको पाच हजार वर्षका बताना अपने आपको अंग्रेजी-दृष्टिकोणका मानसिक दासमात्र सिद्ध करना है। वेदको एक अर्ध वर्षसे बताना और उनके अङ्गोंकी पाच हजार वर्षमें उत्पत्ति मानना यह सदोष दृष्टिकोण है। वस्तुतः वेद भी एक अर्व वर्षके नहीं, किन्तु अनादि हैं, इसी प्रकार उनके अङ्ग उपाङ्ग भी अनादि हैं, उन्हींमें प्रोक्त अनादि-ग्रहोंकी पूजा भी अनादि सिद्ध है।

ग्रहपूजा न होनेसे सती विवाहका परिणाम अच्छा न हुआ, जैसे कि शिवमहापुराण पार्वती खण्डमें पार्वतीने शिवजीको कहा था—'दक्षकन्या यदाऽहं वै पित्रा दत्ता यदा तव। यथोक्तविधिना तत्र विवाहो न कृत स्त्वया। न ग्रहाः पूजितास्तेन दक्षेण जनकेन मे। ग्रहाणां विषयस्तेन सच्छिद्रोऽय महानभूत्' (२६।१२-१३) आदिकाव्य श्रीवाल्मीकिरामायणमें—'नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सह दैवतैः [शान्तु स्वा पुत्र !]'

(अयोध्याकाण्ड २४।१४) में ग्रहोंसे रक्षाकी प्रार्थना की गई है। प्रार्थना पूजाका ही अङ्ग होता है। इससे ग्रहोंकी प्रतिकूलतामें दुष्फलकी सिद्धि भी होती है। वेदमें 'ग्राह्या, गृहाः संसृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः' (अ० १२।२।३९। यहां पर ग्रहोंके ग्राही(विशेष गृहकी दशा)से मिलने पर स्त्रीका विधवा होना बताया है। इससे गृहोंका फल वैदिक सिद्ध होता है। उनको शान्त करनेके लिए ही वेदने '*शं नो दिविचरा ग्रहाः*'(अ० १९।९।७) ग्रहोंकी पूजा-प्रार्थना बताई है। अन्य उपाय भी शास्त्रोंमें बताये गये हैं। जैसे कि – 'ये चास्य दारुणाः केचिद् *ग्रहाः सूर्यादयो* दिवि। ते चास्य *सौम्या* जायन्ते *शिवाः* शिवतराः सदा (३।२००।८४) यहाँ गायत्रीजपसे क्रूरग्रहोंका सौम्य हो जाना बताया है। उपवेद (सुश्रुतसं० शारीर० १०।४०-४१) में भी ग्रह-गृहीत बच्चेका स्तन न पीना, दांत-कटकटाना, निरन्तर रोना आदि कहा है। शातातपस्मृति (६।२७, १।२०) में भी जप-होमादिसे गृहोंकी सौम्यता बताई है। तब 'सत्यार्थ-प्रकाश' ११ समुल्लास २१६ पृष्ठमें ग्रह-फलाफल पर उपहास करते हुए स्वा०द०जीका भी वेदोपवेदादिसे अपूर्ण परिचय सिद्ध हुआ। यह सब वैदिक एवं शास्त्रीय-सिद्धान्त है। आशा है पं० जी भी वैदेशिक एवं त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोणसे देखने की अर्वाचीन एवं कृत्रिम दृष्टिको हटाकर शुद्ध भारतीय-दृष्टिको अपनावेंगे।

—००—

(२०) ग्रहण और उसका सूतक

ग्रहपूजाके प्रकरणवश ग्रहण तथा उसके अशौच विषय पर भी यहां निबन्ध दिया जाता है। सूर्यग्रहण एवं चन्द्रग्रहण असुर राहु-केतु द्वारा हुआ करते हैं—यह वेदादि सब शास्त्रोंका सिद्धान्त है। आजकलके अर्वाचीन विचार वाले व्यक्ति राहु-केतु ग्रहको माननेके लिए उद्यत नहीं होते। कारण यह है कि—वे पाश्चात्योंके अनुगामी हैं। जो बात पाश्चात्य विद्वान् कह दें, वे उसे पत्थरकी लकीर मानने लग जाते हैं; पर इस स्वराज्यके अवसरमें यदि वे दास्यमनोवृत्ति नहीं छोडना चाहते, तो यह स्वतन्त्र भारतके लिए परितापका विषय है। वे लोग केवल चन्द्रकी छायासे सूर्यग्रहण तथा पृथिवीकी छायासे चन्द्र-ग्रहण मानते हैं, उसमें राहु केतुका सम्बन्ध सर्वथा नहीं मानते। वे इस विषयमें 'छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभा.' (४।४) इस ग्रहलाघवके वचनको 'सिद्धान्त-शिरोमणि' के नामसे देकर (देखिये सत्यार्थप्रकाश ११ समु० पृष्ठ २१७) अपने मतको पुष्ट करना चाहते हैं, और राहु-केतुको पुराणकल्पना-प्रसूत मानते हैं। पहले हम इस विषयमें शास्त्रीय तथा वैदिक प्रमाण उपस्थित करते हैं।

जो लोग ग्रहणमें राहुका संयोग सर्वथा नहीं मानते, वे लोग अपने मान्य प्रसिद्ध ज्यौतिष-ग्रन्थ 'सिद्धान्त शिरोमणि' के निम्न वचनको स्मरण रखें—

दिग्देशकालावरणादिभेदान्न च्छादको राहुरिति ब्रुवन्ति।
यन्मानिनः केवलगोलविद्यास्तत् संहिता-वेदपुराणबाह्यम्'।
(गोलाध्याय ग्रहण-वासना ६)

'राहुः कुभामण्डलगः शशाङ्कं, शशाङ्कगश्छादयतीन (सूर्य) बिम्बम्।
तमोमयः शम्भुवरप्रदानात्, सर्वागमानामविरुद्धमेतत् (१०)

यहां पर राहु-ग्रह-द्वारा ग्रहण कहा गया है। पृथिवीकी छायामें स्थित होकर राहु चन्द्र-ग्रहण करता है, चन्द्रमामें स्थित होकर राहु सूर्य-ग्रहण करता है। जो लोग राहुको आच्छादक नहीं मानते, उनको श्रीभास्कराचार्यने ज्यौतिष-संहिता तथा वेद-पुराणसे अनभिज्ञ बताया है।

न केवल वेदाङ्ग (ज्यौतिष) ही राहु-ग्रह द्वारा ग्रहण मानता है; प्रत्युत वेद भी ग्रहणमें कारण 'राहु' को मानता है। देखिये—'स्वर्भानुर्ह वा आसुरः सूर्यं तमसा विव्याध' (५।३।२।२) यह शतपथ-ब्राह्मणका वचन है। ऐसा ही गोपथ-ब्राह्मण (२।३।१९) ताण्ड्य-ब्राह्मण (४।६।१३) शाङ्खायन-ब्राह्मण (२४।३) में है। अब मन्त्रभागमें भी पाठक देखें—

'यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाऽविध्यदासुरः' (ऋग्वेद ५।४०।६)।

यहां पर असुर 'स्वर्भानु' के द्वारा सूर्यका ग्रहण माना गया है। 'स्वर्भानु' राहुको कहते हैं, देखिये—'अमर-कोष'—'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः' (१।३।२६) कई आर्यसमाजीगण यदि हमारी बात न मानें; तो वे स्वामी दयानन्दजीकी साक्षी भी देख लें। 'उणादिकोष' (३।३२) सूत्रकी व्याख्यामें स्वामीजीने लिखा है—'स्वर्भानुः-राहुः' (पृष्ठ ९५)। इसमें आर्यसमाजके विद्वान् श्रीप्रियरत्नजी आर्ष (अब स्वामी ब्रह्म-मुनिजी) की साक्षी भी देखें। 'वैदिक-ज्योतिष-शास्त्र' (पृ० १४०-१४१) में वे लिखते हैं—"वेदमें सूर्य-ग्रहणका वर्णन है। 'यत् त्वा सूर्य ! स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः' हे सूर्य ! स्वर्भानु नामक मेघ-सदृश आच्छादकने तुझे अन्धकारसे ढक दिया" मन्त्रमें 'स्वर्भानु' शब्द सूर्य-

के छादक राहुके लिए आया है। ज्योतिष ग्रन्थोंमें भी सूर्यग्रहण करने वाले राहुको 'स्वर्भानु' कहा है—'स्वर्भानोर्वैकृतस्थाप्' (सूर्य-सिद्धान्त १२।२६) 'वाल्मीकिरामायण' ने भी सूर्य-ग्रहण करने वाले छादक राहुको 'स्वर्भानु' नाम दिया है—'स्वर्भानुरिव भास्करम्' (१०२।३)।" इस प्रकार महाभारत (वनपर्व ११।६३) में भी है। 'स्वर्भानु' का अर्थ है 'स्वः-स्-र्गे भानव -किरणा यस्य नतु भूलोके' अर्थात् जिसकी किरणें आकाशादिमें रहती हैं, भूलोकमें नहीं।

जहां पर स्वर्भानु शब्दसे 'राहु' तथा उसके द्वारा ग्रहण आधुनिक-विद्वत्सम्मत है, वहां पर वेदको भी सम्मत है; यह पूर्व बताया जा चुका है। अब वेदकी अन्य साक्षी भी देखिये—

'शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा' (अथर्ववेद १९।९।१०)

यहां पर राहुसे ग्रस्त सूर्यका कल्याणकारी होना प्रार्थित किया गया है। 'ऋग्वेद' के उक्त मन्त्रमें 'स्वर्भानु' तथा 'सूर्य' शब्द आये थे; पर 'अथर्ववेद' के इस मन्त्रमें उनके पर्यायवाचक 'राहु' तथा 'आदित्य' आये हैं। 'उणादिकोष' के 'दमिजनि . रहिभ्यो उण्' (१।३) इस सूत्रके अर्थमें स्वा० दयानन्दजीने 'राहुः ग्रहविशेष.' (पृ० ४) यह लिखकर राहुको ग्रहविशेष मान लिया है। सूर्यसिद्धान्तमें भी 'पाता राहुः स्वरहसा' (८।६) राहुकी सिद्धि होती है। व्याख्याता रङ्गनाथने वहां लिखा है—'पातस्थानाधिष्ठात्री देवता राहुर्जीवविशेषः, चन्द्रपातस्तु दैत्यविशेषो राहुः, रहति-त्यजति ग्रहमिति राहुः'।

आर्यसमाजके विद्वान् श्री ब्रह्ममुनिजीने उक्त मन्त्रका अर्थ इस प्रकार किया है—'चन्द्रमाके ग्रहण सुखदायक हों, राहुके साथ सूर्य भी सुखदायक हो। ...सर्व-सूर्यग्रहणका नाम 'स्वर्भानु' है; क्योंकि—सूर्यका सर्वग्रास होनेसे 'स्वः' द्युलोकमें 'भानु' अर्थात् सूर्य जिस

छादकसे [छिद्र] होता है; यह सब सूर्यग्रहण 'स्वर्भानु' कहलाता है, शेष सब प्रकारके सूर्यग्रहण 'राहु' नामसे कहाते हैं।' (वैदिक ज्योतिष पृ० १४१) आर्यसमाजी अथर्ववेदभाष्यकार श्री क्षेमकरणदासजीने इसका अर्थ यों किया है—'सूर्य राहु—ग्रहविशेषके साथ शान्तिदायक हो।' 'पौर्णमासीमिव निशां राहुग्रस्तनिशाकराम्' (वनपर्व ६८।१४) यहां भी राहु द्वारा चन्द्रग्रहणका वर्णन आया है।

'राहोश्छाया स्मृतः केतुः यत्र राशौ भवेद्यम्। तस्मात्सप्तमके केतू राहुः स्याद् यत्र चांशके' (भुवनदीपक २१ श्लोक) इस शास्त्रके प्रमाणसे 'राहु' से 'केतु' ग्रहका भी ग्रहण हो जाता है। स्वामी दयानन्दजीने अपने 'उणादिकोष' (१।७४ सूत्रकी व्याख्या) में लिखा है।—'केतुः—ग्रहः' (६.१८) अथर्ववेदके उक्त मन्त्रका उत्तरार्ध यह है—

'शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः' (अ० १९।९।१०)

इसका अर्थ आर्यसमाजी भाष्यकार श्री जयदेवजीने यों लिखा है—'जनोंके मृत्युके कारण धूमकेतु-ग्रह हमारे लिये शान्त रहें। तीक्ष्णप्रकाश वाले प्रजाके रुलाने वाले केतुग्रह . शान्त रहें।' इससे 'केतु' ग्रह भी वेदोक्त सिद्ध होता है, तब उससे ग्रहण भी वैदिक सिद्ध हुआ। अन्य भी सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहणके विषयमें बहुतसे प्रमाण मिलते हैं, पर प्रधान-ग्रन्थ वेदोंके प्रमाण आजानेसे 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः' के अनुसार शेष पुस्तकोंके प्रमाण उपस्थित करना आवश्यक नहीं समझा गया।

'ग्रहलाघव' के प्रमाणके विषयमें यह जानना चाहिये कि वादी लोग इसके पूर्व प्रकरणको छिपा देते हैं। 'छाद्यत्यर्कमिन्दुः' (४।४) से पहले यह शालिनी छन्दका श्लोक चन्द्रग्रहणाधिकारमें आया है—'पूर्व पर्वान्ते वि-राहर्क-बाहोरिन्द्वाल्पांशाः सम्भवश्चेद् ग्रहस्य (४।२) इसमें

'विराहु' का अर्थ है—'विगतो राहुर्यस्मात्, स विराहु अर्क मर्यं, तस्य बाहो भुजात्' अर्थात् सूर्यकी राशिसे राहुकी राशि घटाओ, शेष व्यर्ध होता है, उसका भुज और उसके अंश बनाओ। १४ अंशसे न्यून होने पर ग्रहणका सम्भव होता है। तब स्वा० ब० जीसे प्रमाणित इस पुस्तकसे भी ग्रहणमें राहुकी सत्ता सिद्ध हुई। 'शैला द्वौ सागरा अगो' ७) इस पद्यमें राहुका ७२।६० ध्रुव बताया गया है। ११ पद्यमें मध्यम राहुके आनयनकी रीति कही गई है।

प्रकरणवश यहां पृथिवीकी स्थिरता भी शास्त्रीय दृष्टिकोणसे दिख-लाई जाती है। राहु केतुको न मानने वाले ही भूभ्रमण भी माना करते हैं, पर यह बात शास्त्र परम्परासे विरुद्ध है। (१) प्राचीन पुस्तक 'सूर्य सिद्धान्त' के 'मध्ये समन्तादण्डस्य *भूगोलो* व्योम्नि *तिष्ठति*। बिभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम्' (१२।३२) इस पद्यमें पृथिवीकी स्थिरता ही दिखलाई है, भ्रमण नहीं। आर्यभटीयकी (४।११ पद्यकी) टीकामें श्री उदयनारायण वमाने इस पद्यका अर्थ करते हुए '*भ्रमण करता हुआ* अवस्थित है' यह अर्थ स्वकपोलकल्पनासे प्रक्षिप्त कर दिया है। इस कारण रङ्गनाथकी टीकामें इस पद्यकी अवतरणिकामें लिखा है—'*भूम्यवस्थानमाह*'।

(२) कई साहसी 'सव्यं *भ्रमति* देवानाम् अपसव्यं सुरद्विषाम्। उपरिष्टाद् *भगोलोऽयं*' (१२।५५) इस सूर्य सिद्धान्तके पद्यसे पृथिवीका भ्रमण सिद्ध करते हैं, पर यह अशुद्ध है, भगोलका अर्थ 'नक्षत्रगोल' है, भूगोल नहीं। 'भूगोल' यह पाठ भी सम्भव नहीं, अन्यथा छन्दो भङ्गका प्रसंग आता है। रङ्गनाथने भी 'नक्षत्राधिष्ठित-मूर्तगोल' यही अर्थ किया है।

(३) श्री भास्कराचार्य-रचित 'सिद्धान्त-शिरोमणि' के गोलाध्याय (४) भुवनकोश निरूपणमें 'मरुच्चलो भूरचला स्वभावतः' (१) 'भूमेः पिण्डः ...नान्याधारः स्वशक्त्यैव वियति नियतं तिष्ठति' (२) पृथ्वीकी स्थिरता ही मानी है—'ष्ठा गतिनिवृत्तौ'। (४) पृथिवीके नाम भी 'अचला, स्थिरा' (अमरकोष २।१।१) इसी कारण प्रसिद्ध हैं। (५) निघण्टुमें जो पृथिवीका नाम 'गौ' है, वहां पर 'गच्छति-इति गौः' यह निर्वचन श्री यास्कने नहीं किया, किन्तु 'दूरं गता भवति' किया है— 'नहि अस्या अन्त उपलभ्यते' यह श्री दुर्गाचार्यने उसका तात्पर्य दिखलाया है। 'यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति' (निरुक्त २।२।२) इस निर्वचन से पृथिवी पर प्राणियोंके गमनसे उसे 'गौ' बताया है, अपने चलनेसे नहीं। इसी प्रकार वहीं 'गातेर्वा' यह धातुभेद है, अर्थभेद नहीं, निर्वचन पूर्ववत् है। नहीं तो जब 'गच्छतीति गौः', यह सीधी व्युत्पत्ति इसकी हो सकती थी; तब पूर्वोक्त व्युत्पत्तियोंकी क्या आवश्यकता थी? बल्कि—'गच्छतीति गौः' यह व्युत्पत्ति श्रीयास्कने सूर्य अर्थ वाले 'गो' शब्दमें रखी है, देखिये निरुक्त (२।१४।४)। तब पृथिवी अर्थ वाले 'गो' शब्दमें 'गम्यते, अथवा गम्यते अनया' यही व्युत्पत्ति सिद्ध हुई। (६) वेदमें भी 'अस्थात् पृथिवी' (अथर्व० ६।४४।१) ध्रुवा [निश्चला] पृथिवी' ऋ० ६।८८।१) 'तस्थतुः [द्यावापृथिव्यौ]' (ऋ० ४।२६।२) 'द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः' (ऋ० १०।८।२) इत्यादि बहुत मन्त्रोंमें पृथिवीकी स्थिरता बताई है।

(७) जो कि स्वा० द० जीने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकामें 'आयं गौः पृश्निरक्रमीद् असदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः' इस मन्त्रसे पृथिवीका भ्रमण सिद्ध किया है; यह ठीक नहीं—(क) इस मन्त्रका देवता पृथिवी नहीं, तब उसका अर्थ यहां कैसे हो सकता है? अजमेरी वैदिक यन्त्रालयकी यजुर्वेद सं० (३।६) में इसका देवता 'अग्नि' लिखा

है, और वहींकी ऋ०१० (१०।१८६।१) में इसका 'सूर्य' देवता लिखा है। जिस मन्त्रमें जो देवता होता है, उसमें उसीकी स्तुति होती है, देखिये निरुक्त (७।१।४); तब यहां पृथिवीका वर्णन कैसे हो सकता है? (ख) पृथिवी वाचक 'गौ' स्त्रीलिङ्ग होता है, यहां 'अय गौ' पुंलिङ्गमें आया है, भूगोल अर्थ करने पर भी 'गो' शब्द स्त्रीलिङ्ग ही रहा करता है, तब यहांके पुंलिङ्ग 'गो' शब्दका 'पृथिवी' अर्थ कैसे हो सकता है? (ग) 'गो' शब्दका विशेषण उक्त मन्त्रमें 'पृश्नि' है, अत. यहां 'सूर्य' ही अर्थ है। निरुक्तमें भी कहा है—'गौरादित्यो भवति गच्छति अन्तरिक्षे' (२।१४।४) 'पृश्नि' भी पृथिवीका नाम नहीं होता, किन्तु सूर्यका। जैसे कि 'पृश्निरादित्यो भवति, प्राश्नुवते एनं वर्णः' (निरु० २।१४।२)

(घ) जो कि ऋ० भा० भू० के १३६ पृष्ठमें स्वा० द०जीने 'पृश्निः' इस 'गौ' के विशेषण प्रथमान्तपदका 'पृश्निम्—अन्तरिक्षम् आक्रमणं कुर्वन्' इस प्रकार द्वितीयान्तता कर दी है, यह उनका वेद पर आक्रमण है। (ङ) फिर 'स्व—सूर्ये पितर पुर—पूर्व' यहा पर 'सूर्यस्य परितो याति' यह पद स्वामीजीने वेदमें स्वय 'प्रक्षिप्त' कर दिये है।

(च) 'पूर्वं' का 'परित' (चारों ओर) अर्थ कैसे हो सकता है? यह है स्वामीजीके वेदार्थका आदर्श। उक्त पाश्चात्य मतको वेद पर लादना एक वैदिकम्मन्यको शोभित नहीं होता। (छ) पृथिवी-अर्थ करने पर मातर, पितर, स्व' यह मन्त्रके पद असम्बद्ध हो जाते हैं। सूर्य अर्थ होने पर तो वे सम्बद्ध रहते हैं, 'मातर' का अर्थ है यहां 'पृथिवीम्' और 'पितर' का अर्थ है 'द्युलोक'। जैसे कि—द्यौष्ट्वा पिता, पृथिवी माता (अ० १।२८।४) 'भूमिर्माता द्यौ न पिता' अ० ६।१२०।२) 'द्यौष्पित. ! पृथिवि ! मात' (ऋ० ६।५१।५) 'द्यौर्नः पिता माता पृथिवी' (अ० ६।१२।१२)।

अब उक्त मंत्रका अर्थ यह हुआ। 'गौः-गमनशीलः, पृश्निः-प्राप्तवर्णो व्याप्ततेजा अयं सूर्यः, आक्रमीत्-आक्रान्तवान्। आक्रम्य पुरः-पुरस्तात्, पूर्वस्यां दिशि परिदृश्यमानः, मातरं—सर्वभूतजातस्य जननीं भूमिम् असदत्-व्याप्नोत्। ततः पितरं—वृष्टिलक्षणस्य रेतसो निषेकेण सर्वस्य जगत उत्पादकं स्वः-स्वर्गलोकं, चकारादन्तरिक्षं च, प्रयन्-गच्छन्। स [सूर्य] एव वृष्ट्युदकलक्षणस्य अमृतस्य दोहनाद् गौः'। (अथर्व० ६।३१।१) (ऋ० १०।१८९।१) यह सायणाचार्यका कैसा सम्बद्ध अर्थ है? इससे सूर्यका भ्रमण ही स्पष्ट सिद्ध हो रहा है। अन्य अर्थ करने पर क्लिष्ट-कल्पना और वेदके गले पर छुरी फेरनी पड़ती है।

(ज) जो कि-श्री ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने स्वा० द० के यजुर्भाष्य-विवरणकी योजनाके संक्षिप्त विवरण २-३ पृष्ठमें लिखा है—'सम्भवतः सन् १९२९ के दिसम्बर-मासकी बात है, जब मैं अपने आश्रममें बैठा यजुर्वेदभाष्यके 'आयं गौः' (यजुः ३।६) मन्त्र पर विचार कर रहा था, उसमें श्री स्वामीजी महाराजने 'गौ' का अर्थ किया—'गौरिति पृथिवी नामसु पठितम्-गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरंगता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति (नि० २।५) यहां 'गौ' का अर्थ पृथिवी स्वामीजीने निघण्टु तथा निरुक्तके उपर्युक्त प्रमाणसे किया और 'पृथिवी घूमती है' इस विषयका प्रतिपादन किया। मैंने स्वयं ही स्वामीजीके उपर्युक्त अर्थ पर अपने मनमें प्रबल पूर्वपक्ष उठाये कि—स्वामीजीका यह अर्थ करना ठीक नहीं; क्योंकि उसी निरुक्तमें 'आदित्योऽपि गौरुच्यते' (२।६) सूर्यको भी 'गौ' कहा है, निरुक्त २।१४ में भी यास्क ऐसा ही मानते हैं—'गच्छत्यन्तरिक्षे', तो फिर यहां इस मन्त्रमें 'गौ' का अर्थ पृथिवी कैसे है? आदित्य क्यों नहीं? उधर जब ऋ० सा० अथर्व० तै० सं० आदिमें अनेक स्थलों पर इस मन्त्रका सायणाचार्यका अर्थ देखा तो इन सबमें 'गौ' का अर्थ 'सूर्य' ही मिला और सूर्य पृथिवीके चारों ओर

घूमता है' * सब जगह ऐसा ही अर्थ पाया। अब इतने प्रबल पूर्वपक्षको उठाकर आत्मामें शान्ति कैसे हो सकती थी। निरन्तर सप्ताह भर इसी पर विचार करते-करते बडी ही व्याकुलता रही। अन्तमें अथर्ववेदका 'वर्षेण भूमि पृथिवी वृताऽऽवृता' (१२।१।५२) मन्त्र मिला अर्थात् वर्ष भरमें भूमि अपना चक्र काटकर पूरा करती है जिससे ... विषय स्पष्ट होकर शंका निर्मूल हो गई। पाठक वृन्द ! सत्य समझो, समाधान आने पर जो अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ उसका वर्णन वाणीसे नहीं हो सकता'।

श्रीब्रह्मदत्तजीके हृदयमें जो पूर्वपक्ष उदय हुआ था, ... वास्तवमें उत्तरपक्ष था, और वेदसम्मत था। पर वैसा मानने पर स्वा० दयानन्दके पक्षमें आघात पडता, श्रद्धामें ठेस पडती, श्रुतिसे बलात्कार करना पडे तो कोई बात नहीं, स्वामीका अर्थ किसी प्रकार सिद्ध हो जावे। 'आलोक' पाठकोंने यह अच्छी तरहसे भापा होगा। यास्कके मतसे 'गो' का अर्थ 'चलने वाली' जब नहीं है—यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं, तब स्वामीजीका पक्ष उससे कैसे सिद्ध हुआ ? वदमें सूर्यके चल तथा पृथिवीके अचला होनेमें बहुत मन्त्र हैं, कुछ हम दिखला चुके हैं।

(क) 'वर्षेण भूमि पृथिवी वृतावृता' इस मन्त्र मिलनेसे जो श्रीजिज्ञासुजीको अत्यन्त प्रसन्नता हुई, वह भी व्यर्थ है, क्योंकि इस मन्त्रका तत्सम्मत अर्थ निकलता ही नहीं, किन्तु यह अर्थ है—'या भूमि,

---

* यह अर्थ वेदानुकूल है, जैसेकि 'ययेमे द्यावापृथिवी सद्य पर्येति सूर्य' (अथर्व ६।८।३) यहां 'द्यावापृथिवी कर्म हैं, सूर्य 'पर्येति' क्रियाका कर्ता है।

वर्षेण-वृष्ट्या, वृता-युक्ता, आवृत-आच्छन्ना च भवति' जो पृथिवी वृष्टिसे युक्त एवम् आच्छन्न है। 'वर्षा' शब्द स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनमें वर्षा-ऋतु वाचक होता है, वर्षं वर्षणमत्र अस्ति, अर्शआद्यच् (पा० ५।२।१२७) टाप्; देखिये अमरकोष (१।४।१९)। नपुंसकलिङ्ग वाला 'वर्ष' शब्द वृष्टिका वाचक होता है, जैसे कि—'वृष्टिर्वर्षम्' (अमर० १।३।११) और जैसे निरुक्तके 'वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीम्' (२ अ० २ पा०) इस वाक्य-में। इसकी सिद्धि 'भयादीनामुपसंख्यानम् (नपुंसके क्तादिनिवृत्त्यर्थम्) (३।३।५६) इस वार्तिकसे होती है। वेदमें उसका प्रयोग सम्भवतः सर्वत्र होता भी वृष्टिवाचक ही है। तब उक्त मन्त्रमें वृष्टिका ही वर्णन सिद्ध हुआ। उक्त मन्त्रके पूर्वार्धमें 'यस्यां भूम्याम् अहोरात्रे संहिते क्रमश आगच्छतः' कहनेका आशय यह है कि भूमिलोकमें यही क्रम है, स्वर्गादिलोकमें नहीं। तब यह स्वामीमें अत्यन्त-श्रद्धाका ही परिणाम है कि उन्होंने वर्षका अर्थ वहां 'साल' कर दिया और पृथिवीकी गति वहाँ बलात् निकाल दी। निरुक्तादिमें कहीं ऐसा नहीं। 'वृता, आवृता' का 'गच्छति-अन्यामच्छति' यह उनका किया अर्थ सर्वत्र निर्मूल है। फलतः आर्षशास्त्रोंमें पृथिवीका भ्रमण कहीं भी नहीं। ग्रहनक्षत्र आदि पश्चिमसे पूर्वमें अपनी गतिसे जा रहे हैं, परन्तु प्रवह-वायुके कारण पूर्वसे पश्चिममें जाते हुए दीखते हैं, यह बात योगदर्शन व्यासभाष्य (३।२६) में सूर्य-सिद्धान्त (१२।७३) तथा आर्यभटीय (४।१०) सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याय मध्यमगतिवासनामें निरूपित है। यदि पृथिवीका भ्रमण हमारे शास्त्रोंसे सिद्ध हो जाए तो हमें बड़ी प्रसन्नता होगी; परन्तु हमें बहुत अन्वेषण करने पर भी नहीं मिला। आर्यभटीयके मूलमें भी नहीं मिला। जो इतनी बड़ी पृथिवीका आकाशमें उड़ना मानेगा, वह पुराणोक्त पर्वतोंके उड़नेमें आक्षेप कैसे कर सकता है?

अब ग्रहणकालके अशौच पर लौकिक-दृष्टिसे विचार किया जाता है। जब सूर्य-ग्रहण वा चन्द्रग्रहण होता है, तो उस समय दूरबीन

या अणुवीक्षण आदि यन्त्रोंसे देखा गया है कि कई सूक्ष्म कीटाणु जहां-तहां फैल जाते हैं। वे आस, मुख, नासिका आदि द्वारा हम लोगोंके भीतर घुस जाते हैं। इसीसे हम अशुद्ध हो जाते हैं। इसी कारण 'मनुस्मृति' में 'राहोश्च सूतके (४।११०) इस पद्यमें राहु दर्शनका सूतक (अशौच) माना गया है। उस समय यदि भोजन किया जाय, तो उन कीटाणुओंके बाहर भीतर व्याप्त होनेसे उदराग्नि विकृत हो जाती है। इधर भोज्य वस्तुओंमें भी कीटाणु स्थित होते हैं। उनके खानेसे खाने वालेके शरीर, मन, बुद्धिकी हानि हुआ करती है। इसी कारण शास्त्रोंमें उस समय भोजनका निषेध किया गया है। जैसेकि—बृहद्विष्णु स्मृतिमें कहा गया है 'चन्द्रार्कोपरागे नाश्नीयात् (६८।१) स्मृतिचन्द्रिकाके आह्निककाण्डमें भी कहा है—

सूर्यग्रहे तु नाश्नीयात् पूर्वं याम चतुष्टयम्।
चन्द्रग्रहे तु यामांस्त्रीन् बालवृद्धातुरैर्विना'।

उसमें प्रमाण यह है कि—बादलोंमें ढकी वर्षा-ऋतुमें सूर्यमण्डलके बादलासे ढके होनेसे उसमें भी कीटाणु फैल जाते हैं, जिन्हें सूर्य नष्ट किया करता था। तेज 'उष्ण स्पर्श' वाला हुआ करता है, उससे कीटाणु नष्ट हो जाते हैं, पर उस तेजमें आवरण पड़नेसे उष्माकी कमीके कारण कीटाणुओंकी व्यापकता अनिवार्य हो जाती है। इसी कारण वर्षाऋतुमें भी हमारी उदराग्निमें विकृति हो जानेके कारण परिपाकशक्तिकी न्यूनतावश भोजनादि करनेसे मलेरिया रोग फैल जाता है। इसीलिए ही हमारे संस्कृत-साहित्यमें बादलोंसे ढके दिनका नाम 'दुर्दिन' मिलता है। 'दुष्टं दिनम्' यह इसका विग्रह है। दुष्टता यही है कि—मेघों द्वारा सूर्यके ढके होनेसे कीटाणु उत्पन्न होकर हमें हानि पहुँचाते हैं। इसी कारण उन दिनों हमारे शास्त्रकारोंने चातु

मांस्य-व्रतोंका आयोजन किया है। 'व्रतोपवासोंसे हमारे शरीरमें ऊष्मा बढ़ जाती है; जिससे भीतर पहुँचे हुए कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए कई हमारी वृद्धा माताएँ जब तक सूर्य दर्शन नहीं कर लेतीं; तब तक भोजन नहीं करतीं।

इसी प्रकार ग्रहणमें भी सूर्यके तेजके ढक जानेसे सूक्ष्म कीटाणु फैलकर हमारे शरीरको काटते हैं; जिससे हमारे शारीरिक या मानसिक रोगकी आशङ्का रहती है। इसलिए हमारे वैज्ञानिक शास्त्रकारोंने उस समय भोजन निषिद्ध कर दिया है। इसी कारण ही हमारी धर्मनिष्ठ स्त्रियां रातको दीपककी साक्षीमें भोजन कर रहे होने पर वायुसे दीपक बुझ जाने पर भोजनको तत्काल छोड़ देती हैं। उसमें भी यही रहस्य है कि दीपकका प्रकाश भी 'तेज' है, वह भी उष्णस्पर्शवाला होनेसे कीटाणुओंको नष्ट करता है। दिया बुझ जाने पर उष्णस्पर्श तेज हट जाने पर कीटाणुओंकी उत्पत्ति हो जानेसे वह अन्न भक्षण-योग्य नहीं रहता। इसीलिए ही जिस घरमें न कभी अग्नि जली हो, न सूर्यका प्रकाश आदि पहुंचता हो, न दीपक जलता हो, उस घरमें भूत-प्रेतोंका प्रवेश होनेसे रहना भी उचित नहीं समझा जाता है। यह स्थूल ग्रहणका फल है; वेधमें वे ही बातें सूक्ष्मतया होती हैं।

ग्रहणके बाद शास्त्रकारोंने स्नानकी भी आज्ञा दी है, क्योंकि इससे बाहर-भीतरकी शुद्धि हो जाती है। 'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, (मनु० ५।१०९) इसमें कारण यह है कि—स्नान करनेसे हमारे अन्दर गर्मी का उद्गमन होता है, जिससे शरीरके बाहिर-भीतर पहुँचे हुए कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जो लोग सर्दीमें प्रातःस्नान नहीं करते, उनको सर्दी बहुत लगती है, क्योंकि रात्रिमें उष्णताभाववशसे उत्पन्न कीटाणु हमारे शरीरको काटकर सर्दी लगवाते हैं। स्नान करनेसे अन्दर

गर्मीका उद्गम हो जानेसे वे कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। गर्मीमें यद्यपि स्नान करनेमें बाहर शीतलता प्रतीत होती है परन्तु उस समय भी भीतर गर्मीका ही उपजन होता है, इसीलिए ही गर्मीमें जो लोग अधिक नहाते हैं, उनको तापकी व्याधि हो जाती है।

यह भी सोचना चाहिए कि रातको हमें मूर्छारूप नींद क्यों आती है? उसमें कारण यही है कि सूर्यके अदर्शनसे इस प्रकारके कीटाणु निरन्तर उत्पन्न होते जाते हैं, जिनसे हमारे शरीरकी दंशन-क्रिया होनेसे सूर्य मूलक बुद्धिरूप-चेतनाके ह्रासवश उस विषसे हम मूर्छित हो जाते हैं जिसकी परिभाषा 'निद्रा' होती है। सूर्योदय निकट होने पर उन कीटाणुओंकी शक्ति क्रमशः क्षीण होने लगती है, जिससे हमारी मूर्छा क्रमशः हट जाया करती है इसकी परिभाषा 'जागरण' है। सूर्य निकलने पर बाहरके कीटाणु नष्ट होने पर भी शरीरान्त स्थित कीटाणुओंको ऊष्मासे नष्ट करनेके लिए प्रातःस्नान करना पड़ता है। मूर्छा होती है चेतना लुप्त होने पर। बुद्धिरूप चेतनाको देने वाला सूर्य होता है, इसलिए सूर्यके तेजसे—'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्' (यजु ३।३५)—बुद्धिकी प्रार्थना की जाती है। 'इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपा स मा धीरः (ऋ० १।१६४।२१) इस मन्त्रमें सूर्यको 'धीर' (धियं राति-ददाति) बुद्धिप्रद माना जाता है। इस प्रकार ग्रहणके समय भी भोजन नहीं किया जाता और स्नान किया जाता है। परन्तु इस स्नानकी ऊष्मासे सूक्ष्म-शरीरसे शूद्रोंकी ही अशुद्धि दूर होती है, सूक्ष्मशरीरकी अशुद्धिवाले अन्त्यजोंकी शुद्धि स्नानसे नहीं होती। सूर्यग्रहण रात्रिके परिमाणका बहुत समय तक तो नहीं होता, अब वहां पर स्थूल-मूर्छा तो नहीं हो सकती, पर बुद्धिप्रद सूर्य तथा हमारी बुद्धिमें राहुका आवरण पड़ जानेसे मानसिक मूर्छा आशासित होती है। अतः उस समय व्रत स्नानादि करना पड़ता है।

इसमें हिन्दुओंका विज्ञान-ज्ञान ही कारण है कि वे तब भोजन नहीं करते और स्नान करते हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण अन्य लीजिये। किसीका कोई पड़ोसी मर जाय, जब तक उसका शव घरमें पड़ा है, तब तक कोई भी हिन्दू भोजन नहीं पकाता तथा खाता, चाहे रात भी हो जाय। शवके निकल जाने पर गलीकी जलसे शुद्धिकी जाती है। इसमें क्या कारण है? इसमें कारण है हिन्दुओंको विज्ञानका ज्ञान। शवमें आत्मा न होनेसे भीतर ऊष्मा न होनेसे कीटाणु उस शवपर आक्रमण करते हैं। वहांसे इधर-उधर फैल जाते हैं, इसलिए मुर्दे पड़े रहने तक कोई भोजन नहीं करता। जैसे शवसे कीटाणुओंका फैलाव हो जाता है, वैसे ही ग्रहणके समय सूर्यके ढके होनेसे कीटाणुओंके जहां-तहां फैल जानेसे शास्त्रकारोंने भोजन करना भी निषिद्ध कर दिया है। उसके बाद अपनी शुद्धि भी आदिष्ट की है।

शवके गलीसे निकल जानेपर लोग जलसे गलीकी शुद्धि क्यों करते हैं इसमें भी रहस्य है। पृथ्वीके अन्दर भी ऊष्मा होती है। उसके ऊपर जल डालनेसे पृथ्वीसे भापका उद्गम होता है, उस गर्मीसे उस पर स्थित शवके कीटाणु नष्ट हो जाते हैं, इस प्रकार पृथ्वीकी शुद्धि हो जाती है। इसी कारण ही रात्रिकी समाप्तिके बाद पाकशालाकी शुद्ध्यर्थ जलयुक्त मिट्टीसे लेप किया जाता है, जलयुक्त मिट्टीके लेपसे पृथ्वीसे निकली हुई गर्मी फैल जाती है, जिससे पाकशालाकी भूमिपर रहे हुए रात्रि-मूलक कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इसलिए वह भूमि पाकयोग्य हो जाती है। नहीं तो वहां कीटाणुओंके प्रेमसे, मक्खियां बहुत बैठती हैं। सनातनधर्मकी सन्ध्यामें जोकि गायत्री-मन्त्रसे अभि-मन्त्रित करके जलका वेष्टन किया जाता है और जोकि प्रत्येक वस्तुके स्पर्शके समय हाथ धोए जाते हैं, जोकि सन्ध्यामें मार्जन तथा जलसे अङ्गस्पर्श वा इन्द्रियादि-स्पर्श किया जाता है। सन्ध्या आदिके आरम्भमें जोकि

पादप्रक्षालन किया जाता है. उन सबका रहस्य यही है जो बतलाया जा चुका है कि ऐसा करनेसे भीतरसे उष्माका उद्गम होता है। जिससे वहाँ ठहरे हुए कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। हमारे मुलतानकी स्त्रियां जब अपने छोटे लडके को अस्पृश्य (अन्यज) से छुआ हुआ देखती हैं, तो उसकी शुद्धिकी प्रयोजनीयता होने पर भी उससे शीतादि-जन्य-हानिका विचार कर अपने कानके सुवर्ण भूषणसे जलको छूकर उस लडके पर डालती हैं, और उसे पवित्र समझ लेती हैं; वहा भी रहस्य यही है कि सुवर्ण आकरज (खानसे उत्पन्न होने वाला) होनेसे तेजका विषय है, उस तेजसे तथा कभी अपवित्र न होने वाले आकाशके अंश-भूत दाहिना कान जिसमें शास्त्रानुसार देवताओंका निवास माना जाता है—से स्पृष्ट जल, पवित्र होनेसे उस लडकेके अस्पृश्यसे प्राप्त कीटाणुओंको पूर्वरीतिसे ऊष्मा द्वारा नष्ट कर देता है। फलत ग्रहणके बाद शुद्ध्यर्थ स्नान करनेका यही रहस्य है।

रात प्रतिदिन आती है। उसमें असुर-राहुका कोई सम्बन्ध नहीं इस प्रकार वर्षा ऋतु भी अपने समय पर आती है, अत उसमें अप्राकृतिकता नहीं। तब उसमें लम्बा समय होनेसे निरंतर भोजन निषेध न भी किया जा सके, पर सूर्य आदिका ग्रहण तो सदा नहीं होता। इधर उसमें असुर-राहुका सम्बन्ध भी है, अत वहां अप्राकृतिकतावश कीटाणु बहुत प्रादुर्भूत हो जाते हैं, अत उसमें भोजन सर्वथा निषिद्ध है। प्राकृतिक मैथुनमें उतनी हानि नहीं होती, जैसी अप्राकृतिक मैथुनमें। अत ग्रहणके थोडेसे समयमें भोजन छोडनेसे कुछ कष्ट भी अनुभूत नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि 'सुधारक लोग ग्रहणके समय भोजन कर लेते हैं, स्नान भी ग्रहणके बाद नहीं करते, उनको तो हानि कुछ भी नहीं

होती, इस पर जानना चाहिए कि उस समयके कीटाणु उनके शरीर या मन पर भी अवश्य दुष्प्रभाव करते हैं। तभी तो उनमें अश्रद्धा, हठ, कुविचार-आदिका आधिक्य होता है। भोजनका सम्बन्ध मनसे होता है। तभी तो कहा जाता है 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन'। इसलिए 'छान्दोग्य-उपनिषद्' में कहा गया है—'योऽणिष्ठः [अन्नस्य भागः] तन्मनः' (६।५।१) 'अन्नमयं हि सोम्य ! मनः' (६।५।४) 'अन्नस्य अश्यमानस्य योऽणिमा, स ऊर्ध्वं समुदीषति, तन्मनो भवति' (६।६।२) 'यो मध्यमस्तन्मांसम्' (६।५।१)।

यहां पर अन्नके स्थूल भागसे मांस तथा सूक्ष्म भागसे मनका निर्माण कहा गया है। तब सुधारक लोग ग्रहणादिमें भोजन कर लेनेसे मन तथा शरीरमें मालिन्य हो जानेसे छल, अश्रद्धा तथा असत्य-ग्रहणके स्वभाव वाले हो जाते हैं; तभी वेदादि-शास्त्रोंके सत्य अर्थको छोड़कर छल-कल्पित असत् अर्थ करने लग जाते हैं।

यदि कहा जावे कि—'ग्रहणके समय स्नान न करने वाले प्रत्युत खाते हुए सुधारकोंसे भिन्न पुरुषोंकी भी तो कुछ हानि नहीं देखी जाती; तब उस समय स्नान और अनशन आदिष्ट करने वाले शास्त्रको अप्रमाण क्यों न माना जाए'? इस पर यह जानना चाहिये कि—आयुर्वेदमें कई सब्जियोंके खानेका निषेध किया है और कई व्यवस्थाओं-के पालनेकी आज्ञा है, जैसे कि—भोजन करके तेज़ चलना निषिद्ध है, आलु आदि खानेमें दोष बताया है; परन्तु आजकलके छात्र एवं अध्या-पक शीतकालमें प्रायः भोजन करके ही शीघ्रगतिसे विद्यालयके प्रति दौड़ते दौड़ते हैं, जिससे देर न हो जावे। इस प्रकार आयुर्वेद निषिद्ध सब्जियोंको खाने वाले भी बहुतसे दीखते हैं, तब क्या यह लोग आयु-र्वेदके स्वस्थ-वृत्तके सेवन न करनेसे प्रतिदिन बीमार ही रहते हैं ? यदि

नहीं, तब क्या शङ्काकर्ता दृष्टशास्त्र आयुर्वेदको ही असत्य मान लेगा? यदि नहीं, तब यहां भी वैसा क्यों नहीं सोचा जाता?

जैसे आयुर्वेदकी पूर्वोक्त आज्ञाओंके पालन न करने पर उस समय स्थूलरूपसे तो हानि नहीं दीखती, पर अग्रिम समयमें वह सूक्ष्मरूपसे हो ही जाती है, अर्थात् वह दोष अवहेलनावश अन्दर सञ्चित हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः आयुर्वेद नियमोंके अतिक्रमण करने पर वे दोष क्रमसे सञ्चित होकर शक्ति ह्रास होते होते, समय पर ज्वर आदि रूपसे प्रकट हो जाते हैं, वैसे ही ग्रहणादिके समय शास्त्राज्ञाके व्यतिक्रमसे सूक्ष्मरूपसे सञ्चित दोष क्रमशः इकट्ठे होकर कालान्तरमें धार्मिक शक्तिका ह्रास तथा आचार विचार भ्रष्टता, बुद्धिमन्दता, अल्पायु, पुनः पुनः व्याधि होना—इत्यादिरूपसे प्रकट हो जाया करते हैं। इसी लिए मनुजीने भी कहा है—धर्मातिक्रमणका फल सद्यः नहीं मिल जाता, किन्तु कालान्तरमें प्रकट होकर सब कसर पूरी कर लेता है—'नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव। शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति' (४।१७२) यदि नात्मनि पुत्रेषु, न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु। न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः (१७३) अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति' (४।१७४)।

ग्रहणके समय कुशा आदि रखने तथा गुग्गल धूपादिके धुएं तथा रेशमी वस्त्रोंके पहननेका यही रहस्य है कि जहां इनकी स्थापना होती है, वहां इस प्रकारके कीटाणु नहीं बैठ पाते। इनसे दूसरेकी विद्युत्का सङ्क्रमण भी रुक जाता है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णने ध्यानके समय 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' (गीता ६।११) ऐसा आसन माना है। इनमें दूसरेकी विद्युत् तथा कीटाणुओंके रोकनेमें अपूर्व शक्ति है, इसलिए

बिजलीकी तार पर रेशम लपेटा जाता है। उस समय गोबरसे लेपन भी करना पड़ता है; गोबरसे भी कीटाणुओंका विनाश प्रसिद्ध है।

पीतल आदि धातुके पात्रोंमें ग्रहणादिके समय अग्नि इस कारण डाली जाती है जिससे तापवश कीटाणु वहांसे हट जाते हैं। इसीलिए वेदादिमें अग्निको भूत-प्रेत आदिको हटाने वाला माना गया है। मिट्टीके जूठे पात्रोंमें कीटाणुओंका अतिशय प्रभाव होता है; इस कारण अस्पृश्यतामें उन्हें गिरा दिया जाता है। उनकी अपेक्षा पीतल आदिके पात्रोंमें न्यून प्रभाव पड़ता है, इसलिए उनको भस्म तथा अग्निसे शुद्ध किया जाता है। सुवर्ण आदिके पात्रमें उन कीटाणुओंका प्रभाव पड़ता नहीं। उसका प्रमाण यही है कि—शेरनीका दूध अन्य पात्रोंमें कीटाणुओंके प्रभाववश शीघ्र विकृत हो जाता है; परन्तु सुवर्णपात्रमें वह नहीं फटता, क्योंकि—उस पर कीटाणुओंका प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए सुवर्ण धारण करने वाले पुरुषकी आयु दीर्घ मानी गई है। देखिये इस पर 'अथर्ववेद'—

'नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते...यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यम्' (१।३५।२)। 'आयुष्मान् भवति यो बिभर्ति' । अ० १६।२६।२)। इसका कारण यह है कि वह सुवर्ण किसी अग्निसे युक्त हुआ होता है; अतः वह कीटाणुओंको दूर करता रहता है। स्त्रियों पर इन अणुस्वरूप भूत-प्रेतादियोंका प्रसवादि-समयोंमें प्रभाव बहुत पड़ता है; अतः उससे बचावके लिए सनातनधर्मानुसार उन्हें सुवर्ण-भूषणोंके पहिरनेका अधिक अधिकार दिया गया है। यही लक्ष्य करके 'आपस्तम्बगृह्यसूत्र' में—'छिद्रे सुवर्णम् उत्तरयाऽन्तर्धाय उत्तराभिः पञ्चभिः स्नापयित्वा' (२।४।८) इस प्रकार वधूका स्नान भी सुवर्णस्पृष्ट जलसे बताया गया है। यही सुवर्ण-जैसा प्रभाव कई मणियोंका भी हुआ करता है।

इसीलिए 'अथर्ववेद' में कई मणियोंका बहुत महत्त्व बताया गया है। इन्हीं कारणोंसे सुवर्ण तथा मणियां बहुमूल्य हुआ करती हैं। कहा भी है—'अमेध्यादपि च काञ्चनम्' (मनु० २।२३६) यही धातु-पात्रोंकी शुद्धिमें तारतम्य है।

इस प्रकार कीटाणुओंका प्रभाव चन्द्रग्रहणमें भी जानना चाहिए। रातको यद्यपि सूर्यके न होनेसे कीटाणु हो जाते हैं, तथापि बहुतसे कीटाणुओंको चन्द्रमा भी हटाता है, क्योंकि चन्द्रमा भी सूर्यकी एक किरणसे प्रकाशित होता है। कीटाणुओंका प्रसार अन्धेरेमें होता है। बहुतसे कीटाणु प्रकाशमात्रको देखकर मर जाते हैं चाहे वह प्रकाश सूर्यका हो, चाहे चन्द्रमाका, चाहे अग्निका, चाहे दीपक वा बिजलीका। जब चन्द्रमाका ही स्वयं ग्रहण हो, तो कीटाणुओंका क्या कहना ! जब पूर्ण चन्द्रग्रहण होता है तब ६८ प्रतिशत उसकी ऊष्मा हट जाती है। शेष दो भागोंकी ऊष्मा पूर्णग्रहणकी अन्तिम कोटिमें नष्ट हो जाती है। तब कीटाणु खूब बढ़ जाते हैं। ज्यों ही चन्द्रमा राहु-केतुकी छाया-से बाहर आता है, त्यों ही उसकी ऊष्मा बढ़ जाती है। तब बाहरके कुछ कीटाणु तो नष्ट हो जाते हैं; शेष भीतर-बाहरके कीटाणु नष्ट करनेके लिए स्नान करना पड़ता है।

चन्द्रग्रहणके लिए यह जानना चाहिये कि 'चन्द्रमा मनसो जात' (यजु २१।१२) 'चन्द्रमा, पातु ते मन' (सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान ५।२७) 'मनसि तृप्ते चन्द्रमास्तृप्यति' (गोपथब्रा० १।२।२२) 'किमसुभिर्ग्लपितर्जड ! (चन्द्र !) मन्यसे मयि (चन्द्रे) निमज्जतु भीमसुतामनः' (नैषधीयचरित ४।४२) इन प्रमाणोंसे मनका चन्द्रमासे सम्बन्ध सिद्ध होता है। सूर्यसे बुद्धिका सम्बन्ध होता है, यह पहले संकेतित किया जा चुका है। ग्रहण समयमें सूर्य-चन्द्रमासे बुद्धि एवं मानसिक शक्तिके

आदान-प्रदानमें कुछ व्यवधान हो जानेसे हानिकी आशंकाका लक्ष्य करके शास्त्रकारोंने उस समयमें दान-ध्यानकी ओर प्रवृत्ति कराई है, जिससे आसुरी माया नष्ट हो जावे।

जिसकी जैसी प्रकृति हो, वहां वैसी विकृति हानि नहीं पहुँचाती। जैसे कि हम दुर्गन्ध प्राप्त करते हैं, तो नासिकाको घृणासे सिकोड़ लेते हैं। उसके कीटाणु हमारे मस्तिष्कको विघूर्णित कर देते हैं; पर भंगी आदि विष्ठाकी, चमार चमड़ेकी, मुसलमान मांस पकनेके समयकी गन्ध से वैसी हानि प्राप्त नहीं करते; जैसे कि हम, क्योंकि विषका कीड़ा विषसे नहीं मरता। इसलिए 'श्रीमद्भागवत' में भी कहा है—

'समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम्।
औत्पत्तिको गुणः सङ्गो न शयानः पतत्यधः' (११।२१।१७)।

अतः हम कृष्णपक्षकी रात्रिमें वैसी प्रकृति वाले होनेसे वैसी हानि प्राप्त नहीं कर सकते; जैसे कि ग्रहणके समय प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि राहु-केतुके सम्बन्धसे ही कीटाणुओंकी हानिजनकता विशेष हुआ करती है। स्वाभाविक अन्धकार अन्य होता है; राहु-केतुकृत अन्य। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो कभी भी स्नानादि नहीं किया करते, और दुर्गन्ध आदिसे ओत-प्रोत हैं, वे पहलेसे ही वैसे कीटाणुओंकी स्थितिवश ग्रहण-जन्य कीटाणुओंसे वैसी हानि प्राप्त नहीं करते; जैसे कि हम।

ग्रहणमें बाल, वृद्ध, आतुरोंको जो कि अस्पृश्यतादोष नहीं लगाया जाता; उसमें भी रहस्य है। ग्रहण-कीटाणु रक्त-द्वारा ही शरीरको दूषित करते हैं। बच्चों और वृद्धोंमें रक्ताणु अत्यन्त न्यून होते हैं; इस कारण वहां कीटाणु अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। आतुर (बीमार)

के अन्दर भी ऊष्मा होती है, कीटाणु उस पर भी प्रभाव नहीं कर सकते। अथवा उस स्नान कराया जाय, तो उसकी हानि आशंकित होती है, उपवास वह कर ही रहा होता है। स्वास्थ्यमें उसने स्नान करना ही होता है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' इससे पूर्वका उसका विधिव्यतिक्रम सह्य होता है।

जो स्त्री सद्यो गर्भिणी हो, उसे भी ग्रहणदर्शनका निषेध होता है, उसमें कारण यह है कि—स्त्रीके गर्भाशयमें इस प्रकारकी आकर्षण-शक्ति होती है जो फोटोग्राफके शीशेमें होती है। इसीसे आयुर्वेदमें गर्भिणीकी सर्वविध रक्षाके लिए विविध उपाय बताये गये हैं। ग्रहण दर्शनमें भी गर्भमें उसका आकार सङ्क्रमण न हो जाए, अत उसका दर्शन निषिद्ध किया जाता है। इसमें एक अंग्रेजके काले लड़केका उदाहरण प्रसिद्ध ही है। उसने अपने काले लड़केको पैदा हुआ देखकर अपनी स्त्रीको व्यभिचारिणी समझा, पर पीछे देखा गया कि—उस स्त्रीके शय्यास्थलमें एक काले हब्शीका चित्र लगा हुआ था। उसी पर सतत दृष्टि पड़नेसे उसके संस्कार-सङ्क्रमणवश, पैदा होने वाले लड़के-का भी वैसा आकार हो गया। उस समय परमात्माके ध्यानके अतिरिक्त पति पत्नीको कोई बात नहीं करनी पड़ती। वे स्थिर होकर बैठें, यहां तक कि खुजलें भी नहीं, कुछ लिखें भी नहीं। आजकल ग्रहणके चिन्ह उत्पन्न होते हुए बालकोंमें कभी देखे भी जाते हैं—उसमें दम्पतिकी असावधानता ही कारण होती है।

जैसे ग्रहण-समयके अशौचमें तत्त्व है, वैसे सभी अशौचोंमें तत्त्व जान लेना चाहिये। मरणाशौच तब होता है, जबकि किसीकी मृत्यु हो। आजकल आर्यसमाजी इस अशुद्धिको नहीं मानते, परन्तु उनके स्वामीजी मान गये हैं। उन्होंने लिखा है—'जब गुरुका प्राणान्त हो,

तब मृतक-शरीर जिसका नाम प्रेत है, उसका दाह करने द्वारा शिष्य प्रेतहार अर्थात् मृतकको उठाने वालोंके साथ दशवें दिन शुद्ध होता है, (स० प्र० २ समु० पृष्ठ १५) यहां वे दशवें दिन मरणाशौचकी शुद्धि मानते हैं; अतः यह पद्य स्वामीजीके मतमें प्रक्षिप्त नहीं। परन्तु आजकल आर्यसमाजी इतने-दिनकी अशुद्धि नहीं मानते। 'विज्ञायते, तस्य द्वौ अनध्यायौ यद्-आत्मा अशुचिः, यद् देशः'. (आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।४।१) यहाँ सूतक आदिकी अशुद्धिसे ब्रह्मयज्ञ भी निषिद्ध किया गया है।

मृत्यु-समयमें भीतर गर्मी न होनेसे कीटाणु शव पर आक्रमण करते हैं; तब शवके स्पर्श तथा उसके कीटाणुओंके इतस्ततः फैलनेसे जीवितोंका शरीर भी अशुद्ध हो जाता है—इसलिए शव उठाने वाले शव-दाहके बाद स्नान करते हैं, परन्तु सम्बन्धियोंकी तो अशुद्धि 'दशाहं सपिण्डेषु' (आश्व०गृ० ४।४।१८) कई दिन तक रहती है। उसमें कारण यह होता है कि—सम्बन्धियोंमें सदृश-रुधिर होनेसे उन कीटाणुओंका उन पर विशेष आक्रमण होता है और नियत समय उनमें स्थिति रहा करती है। इसीलिए बोधायन-धर्मसूत्रमें कहा है—'सपिण्डेषु आदशाहमाशौचमिति जनन-मरणयोरधिकृत्य वदन्ति' (१।११।१)। वैखानसगृह्यसूत्रमें भी कहा है—'कुमारस्य कुमार्याश्च जनने सपिण्डानां दशाहमाशौचं विधीयते, पुरुषस्य सपिण्डता सप्त-पुरुषावधिः, कन्यायास्त्रिपुरुषावधिर्भवति। स्वाध्यायदानप्रतिग्रहाणि च वर्जयति' (६।४) यहाँ पर इस अशौचके समय सन्ध्या-आदिका न करना भी कहा है।

उसमें भी जो कि ब्राह्मणादिकी अशुद्धिके हटनेमें वर्णोंका दिन-भेद बताया है, उसमें भी विज्ञान है। ब्राह्मण प्रायः जन्मसे ही पवित्र होते हैं, क्योंकि सात्त्विक भोजनादिसे उत्पन्न शुद्ध रजोवीर्यसे उनकी

उत्पत्ति होती है। उनका सूक्ष्मशरीर तथा भोजन भी अपेक्षाकृत शुद्ध होता है। आचार विचार-विहार भी शुद्ध होते हैं, अतः उनसे अपवित्रताके कीटाणु स्व-सदृश खाद्यकी प्राप्ति न होनेसे क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा शीघ्र ही हट जाते हैं; इस कारण उनकी शुद्धि की अवधि दस दिन तक, क्षत्रियोंकी १२ दिन तक, वैश्योंकी १५ दिन तक, और शूद्रोंकी ३० दिन तक शुद्धि कही गई है। जैसे कि—'शुध्येद् विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः। वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति' (५।८३) उसमें यही कारण है कि—निम्नजातिजातमें उत्तरोत्तर अधिक अशुद्ध परमाणु रहते हैं; क्योंकि उनका अशुद्ध भोजन होता है, और सत्त्वगुण नहीं होता। अधिक-अशुद्ध परमाणुओं में स्थित अशुद्ध कीटाणु सदृशतावश अपने खाद्यकी प्राप्तिसे उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। इसी कारण दो चाण्डालोंके मध्यमें जाना भी निषिद्ध हुआ करता है; क्योंकि—दोनोंके कीटाणु वा विजलियां दोनोंके मध्यम गर्भमें भी सदृशतासे व्याप्त हो जाते हैं, इस कारण मास तक क्रमशः शुद्धि करने पर तभी वे शव-कीटाणु शूद्रसे हटते हैं, तब उसके अपने ही कीटाणु बच जाते हैं, वे स्नानसे भी नहीं जाते, स्नानके पीछे फिर शुरू हो जाते हैं।

विदेशमें होने पर भी पिताकी मृत्युमें पुत्रको अशुद्धिका कारण यह है कि पिताके मरने पर उसके कीटाणु वा विजली विदेशमें स्थित भी उसके पुत्रमें व्याप्त हो जाते हैं। जैसेकि आतशक वाले पिताके मरने पर भी उसके अग्रिम सात पुरुषोंको वे आतशकके परमाणु नहीं छोड़ते। अथवा बिच्छू काटकर हमें अपना रुधिर दे जाता है, जितना-जितना वह भिन्न देशमें भी दौड़ता है, उतना उतना ही उसका रुधिर भी हममें चलता है जिससे नियत समय तक हमें उसकी पीड़ा रहा करती है। जैसेकि—पिताकी लाभ-हानिमें विदेश-स्थित पुत्रका भी

दाहिना-बायाँ अङ्ग फड़क उठता है, वैसे विदेश-स्थित पुत्रमें भी नियत समय तक अशुद्धि संक्रान्त रहती है। अथवा-इसमें यह जानना चाहिये कि—कोई रेडियो-यन्त्र पर बोल रहा है, यद्यपि उसके भाषणके परमाणु सर्वत्र व्याप्त हो जाया करते हैं, तथापि उनका आकर्षण बहुत दूर विदेशोंमें भी ठहरे उस जातिवाले रेडियो-यन्त्रमें हो जाता है, अन्यत्र नहीं। चाहे उसमें टेलीफोनकी तरह तारका सम्बन्ध नहीं भी होता। इस प्रकार मृत्युके समयके परमाणु भी यद्यपि सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं, तथापि उनका आकर्षण उस जाति वालोंमें ही होता है—चाहे वे दूर देशोंमें भी होवें, क्योंकि उनके कर्मोंका परस्पर सम्बन्ध सर्वत्र रहता है। यदि दूरस्थित उन जाति वाले सम्बन्धियोंका पारस्परिक परमाणु-सम्बन्ध विच्छिन्न माना जावे, तब तो भ्राता अपनी बहिनसे दूर-देशमें स्थित होने पर अपनी बहिनके विवाहमें अधिकृत भी हो जावे! पर नहीं होता, क्योंकि—दूर स्थित होने पर भी उसमें बहिनसदृश ही परमाणु रहा करते हैं, अथवा उन दोनोंके परमाणुओंका परस्पर आदान-प्रदान रहा करता है, वैसे ही अशौचके परमाणुओंका भी। पर फिर इसका अपवाद यह होता है कि—जब उस बहिनका वेदमन्त्रों द्वारा विवाह हो जाता है, तब मंत्र-शक्तिसे भ्राताका गोत्र-सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, तब समीपमें स्थित भी उसे हमारी सूतकादि-अशुद्धि प्राप्त नहीं होती। यदि विशिष्ट-विज्ञानवश हमारे रेडियोमें किसी देशके अंशके साथ सम्बन्धसूत्र त्रुटित हो जावे; तो उस देशके शब्दको हमारा यन्त्र नहीं खींच सकेगा। उस समय दूसरेकी लड़कीसे विवाह-सम्बन्ध हो जाने पर उससे हमारा

स्पृश्याऽस्पृश्यता-सम्बन्ध शुरू हो जाता है। इस प्रकार अस्पृश्यता-विज्ञान समूलक सिद्ध हो गया।

मृत्युकी भांति प्रसवमें भी अशौचका रहस्य जान लेना चाहिये। तब प्रसव-समयमें निकले हुए अशुद्ध रुधिरके कीटाणुओंका भी आक्रमण विशेषतः माता पिता पर होता है, अतः अधिक-अशुद्धि भी उन्हींमें रहती है, अतः श्रीमनुजीने कहा है—'सर्वेषां शावमाशौचं, *माता-पित्रोस्तु सूतकम्*' (५।६२)। बोधायन-धर्मसूत्रमें भी कहा है—'जनने तावन्मातापित्रोर्दशाहमाशौचम्' (१।११।१७) उसमें भी कीटाणुओंका जितना माता पर आक्रमण होता है, उतना पिता पर नहीं। इसीलिए मनुजीने कहा है—'सूतकं मातुरेव स्याद् उपस्पृश्य पिता शुचिः' (५।६२) परन्तु समान-रुधिरवश उन कीटाणुओंका साधारण आक्रमण सम्बन्धियोंपर भी हुआ करता है—जैसाकि 'मनुजीने कहा है—'अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते (५।५८)। यदि वे सम्बन्धी अपनी पूर्ण शुद्धि चाहें; तो वे जननी-जनककी भान्ति सूतक रखें, मर्यादाके बाद अपनी शुद्धि करें। इसलिए मनुजीने कहा है—'यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते। जननेऽप्येवमेव स्याद् *निपुणं शुद्धिमिच्छताम्*' (५।६१)। इसलिए स्वा० द० जीने भी उत्पन्न हुए लड़केका ११वें दिन नामकरण कहा है (संस्कार विधि पृ० ६३) उसमें सूतकाऽशुद्धि ही कारण है अन्य नहीं। इसीलिए १।१७।१ पारस्कर-गृह्यसूत्रके हरिहर-भाष्यमें कहा है—'अत्र दशम्यामिति *सूतकान्तोपलक्षणार्थम्*। ततश्च यस्य [वर्णस्य] यावन्ति दिनानि सूतकम्, तदन्तदिने सूतकोत्थापन-मित्यर्थः, अपरदिने च नामकरणम्।' इस प्रकार श्रीमेधातिथिने भी 'नामधेयं दशम्यां तु' (२।३०) इस मनुवचनमें लिखा है—'इह केचिद् दशमी-ग्रहणमशौचनिवृत्तिरित्युपलक्षणार्थं वर्णयन्ति, अतीतायामिति च अध्याहारः। दशम्याम् अतीतायां ब्राह्मणस्य, द्वादश्यां क्षत्रियस्य,

पञ्चदश्यां वैश्यस्येति'। श्रीकुल्लूकभट्टने भी लिखा है—'अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति शङ्खवचनाद् दशमेऽहनि अतीते एकादशेऽहनि'। राघवानन्दने भी लिखा है—'दशम्यामिति पूर्वाशौच-निवृत्तिपरम्'। प्रसङ्ग होनेसे हमने यहां यह वर्णन किया है।

अब ग्रहण-समयमें दान-पुण्यकी कथा सुनिये—उस समय तमः के आवरणसे पापका साम्राज्य बढ़ रहा होता है; हमें उसे हटानेके लिए पुण्यका साम्राज्य बढ़ाना पड़ता है, जिससे पाप-राज्यका दमन हो जाय। दान-ध्यान आदिसे पुण्यका राज्य बढ़ता है-यह सर्वसम्मत है। उसका प्रमाण यह है कि रातको पापराज्यके बढ़नेसे हम प्रातःकाल उठकर स्नान करते हैं, फिर सन्ध्या करते हैं। इस प्रकार देवपूजनसे रात्रि-स्थित पापराज्यका निराकरण होता है; वैसे ग्रहणान्तमें भी जानना चाहिये। शीतकालके अन्त तथा गर्मीके आरम्भमें, ग्रीष्मके अन्त तथा शीतके आरम्भमें दोनोंकी सन्धि होनेसे रोग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार दिनके अन्त तथा रात्रिके आरम्भमें, रात्रिके अन्त तथा दिनके आरम्भमें भी दोनों कालोंकी सन्धि होती है। उसमें स्थूल रोग तो नहीं, परन्तु सूक्ष्म मानसिक रोगोंकी आशङ्का रहती है। इस प्रकार प्रातःकी शीतलताके अन्त तथा मध्याह्नकी उष्णताके आरम्भमें दोनोंकी सन्धि होती है। इन तीनों कालोंकी सन्धिसे उत्पन्न होने वाली मानसिक विषमताके दूरीकरणार्थ जैसे त्रिकालसन्ध्या की जाती है, वैसे ही ग्रहणके समयमें भी प्रकाश एवम् अन्धकारकी सन्धिके समय आशङ्कित मानसिक-विषमताके दूरीकरणार्थ जप-तप आदि किया जाता है। तभी सिद्धान्तशिरोमणिके गणिताध्याय (चन्द्रग्रहणाधिकार) प्रथम-पद्यमें कहा गया है—

'बहुफलं जपदानहुतादिके स्मृतिपुराणविदः प्रवदन्ति हि'। यहां स्मृति एवं पुराणके वचन ये दिये गये हैं—'स्नानं स्याद् उपरागादौ

मध्ये होमसुरार्चने। सर्वस्वेनापि कर्तव्यं श्राद्धं वै राहुदर्शने। अकुर्वाणस्तु नास्तिक्यात् पङ्के गौरिव सीदति। स्नानं दानं तपः श्राद्धमनन्तं राहुदर्शने'। श्रीवराहमिहिरकी 'बृहत्संहिता' में भी कहा है—'योऽसौ असुरो राहुस्तस्य वरो ब्रह्मणाऽयमाज्ञप्तः। आप्यायनमुपरागे दत्तहुतांशेन ते भविता'। इस प्रकार ग्रहण-समयमें दान, हवन, स्नान आदि शास्त्रीय सिद्ध हुए। इसलिए ग्रहणके समयकेलिए प्रामाणिक ग्रन्थ 'सूर्यसिद्धान्त' में भी कहा है—'स्नानदानजपश्राद्धव्रतहोमादि-कर्मभिः। प्राप्यते सुमहच्छ्रेयस्तत्काल-ज्ञानतस्तथा' (११।१८)। ग्रहणके समयमें जो दान दिया जाता है; वह अशुद्ध होता है अतः उस समय शुद्ध-ब्राह्मण तो नहीं लेते। या तो उसे शनिदानोपजीवी-ब्राह्मण लेते हैं; या अन्त्यज लिया करते हैं। इससे उनकी सहायता भी हो जाती है।

इधर ग्रहण-समयमें कभी ग्रहोंके परस्पर आकर्षण-विकर्षणके समय आकर्षणकी शक्तिके सामञ्जस्य हट जानेसे ग्रहोंके पतनसे प्रलयकी आशंका भी उपस्थित हो जाती है। बहुतसे आकाशस्थ ग्रह हमारी पृथिवीसे भी बड़े होते हैं, यह बात निर्विवाद है। ग्रहण-समयमें आकर्षण-विकर्षण स्वाभाविक होनेसे यदि उसमें असामञ्जस्य उपस्थित हो जाय; तो ग्रहके एक अंशके गिरनेसे भी पृथिवीमें खण्डप्रलय हो सकता है। सब ग्रह तथा पात आदि, भगणोंको पूर्ण करते हुए एक बिन्दुमें जब मिल जाते हैं तब सृष्टिका अन्त या प्रलय होता है, अतः ग्रहणमें भी वैसी शंका उपस्थित होनेसे, धर्ममें बुद्धि लगाकर जप, यज्ञ आदि किया जाता है। अन्त-समयकी आशङ्कामें सभी इष्टदेवका स्मरण किया-कराया करते ही हैं। गत वर्षोंमें सात-ग्रहोंके एक-राशिमें आनेसे ही बिहारका भूकम्प हुआ-यह कौन नहीं जानता। इस प्रकार ग्रहणमें भी सम्भव है। ग्रहणका अर्थ भी आकर्षण है, वैसी आशंकामें अपने इष्टदेव को स्मरण करना ठीक ही है। सभी वेदमें

शमादित्यश्च राहुणा' (अथर्व० १९।९।१०) राहु-द्वारा (चान्द्रमसा ग्रहाः चन्द्रग्रहणानि) चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहणकी शान्त्यर्थ प्रार्थना की गई है। 'सूर्यसिद्धान्त' में भी ग्रहणके समयको दारुण कहा गया है—'आद्यन्तकालयोर्मध्यः कालो ज्ञेयोऽतिदारुणः। प्रज्वलज्ज्वलनाकारः सर्वकर्मसु गर्हितः' (११।१६)। ऐसे भयावह कालमें थोड़ा किया हुआ भी दान-ध्यानादि माङ्गलिक हो जाता है। दुर्जनतोषन्यायसे ग्रहण हानि-कारक न भी माना जाय; तो भी उस समयका किया हुआ स्नान, दान, ध्यान कभी व्यर्थ तो नहीं हो सकता; क्या किये हुए पुण्यकर्म कभी निष्फल भी हो सकते हैं ?' तब इससे सुधारकोंको व्याकुलता क्यों होती है ?

यहाँ यह भी जानना चाहिये कि—ग्रहण और भूकम्पके समय पृथिवीकी समान दशा हुआ करती है। भूकम्पके समय भी पृथिवीस्थ सभी वस्तुएँ अपनी-अपनी शक्तिको छोड़ देती हैं। ग्रहणकी आकर्षण-शक्तिका भी बड़ा प्रभाव होता है। जैसे चुम्बक-मणिको देखिये। जहाँ भूकम्प अधिक हुआ करते हैं, वहाँ चुम्बकके साथ एक सुईको रखते हैं। वह सदा उससे मिली रहती है, परन्तु भूकम्पसे कुछ पहले ही चुम्बक अपनी शक्तिको खो बैठता है, सुई उससे अलग होकर गिर जाती है। शास्त्रानुसार भूकम्प पृथिवीमें पाप-राशिके इकट्ठे होने पर पृथिवीके तेजकी क्षीणतासे होता है। आधुनिक विज्ञान यह कहता है कि—भीतरी अग्न्याप (ऊष्मा) से पृथिवीमें भूकम्प होता है, जब पाँच अँगुलियाँ मिल जाती हैं; तो मुक्का-प्रहार प्रबल हो उठता है, पर एक-एक अँगुलि वैसा कार्य नहीं कर सकती। भूकम्पका अनुभव हमें पीछे होता है, पर उसका प्रभाव उक्त सूची-द्वारा पहलेसे ही बताया जाता है। इस प्रकार जैसे भूकम्पमें पृथिवीकी शक्ति क्षीण हो जाती है, वैसे ही ग्रहणमें भी। और उसका सूक्ष्म-प्रभाव ग्रहणके वेध (छाया)

में ही होने लग जाता है, पर स्थूल दृष्टिवाले उसे नहीं जान पाते; शास्त्ररूपी सुई ही हमें बताती है। उस समय ग्रहकी प्राप्त्यर्थ ईश्वरकी उपासना दान आदि, पुरुषोंके कल्याणार्थ तथा ग्रहकी उपशमार्थ समर्थ सिद्ध होते हैं—इसी कारण शास्त्रकार तदर्थ प्रेरणा करते हैं। जो यहाँ 'पोपलीला' समझते हैं, वे विज्ञानके ज्ञानसे हीन हैं। हमारे महान् वैज्ञानिक शास्त्रकार इन विषयोंमें अत्यन्त सप्रतिभ थे।

केतुका ही एक भेद धूमकेतु होता है, उसके दुष्फल तो प्रत्यक्ष हैं। अथर्ववेद (१९।९।१०) मन्त्रमें धूमकेतुका 'मृत्यु' विशेषण आया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि—धूमकेतु मृत्यु तक भी दे देता है। तभी तो सन् १९९१ में जब यूरोपमें 'धूमकेतु' दिखाई पड़ा, तो उसके फलस्वरूप वहाँ पर दाग वाला ज्वर फैला, उसके बाद प्लेग फैला, जिससे बहुत मृत्युएँ हुईं। इसी तरह १६८२ तथा १७५८ में भी वहां धूमकेतु दिखाई पड़ा, उसके फलस्वरूप समस्त यूरोपमें महामारी फैलनेसे बहुत सी मृत्युएँ हुईं। जब इस विषयमें वेदका तथा प्रत्यक्षका अनुग्रह हुआ, तब उसके फलका अपलाप कैसे किया जा सकता है? इसीलिए स्वा०द०जीने भी अपने 'उणादि-कोष' (१।७४ सूत्रकी व्याख्या) में 'धूमकेतु उत्पात' (पृष्ठ १८) इस प्रकार धूमकेतुको उत्पात (उपद्रवजनक) माना है। 'मनुस्मृति' (१।३८) में भी केतुओंकी सृष्टि कही है। इस पर कुल्लूक भट्टने लिखा है—'केतव -शिखावन्ति ज्योतींषि उत्पातरूपाणि'। यह ठीक भी है। धूमकेतुओंकी शिखाओंके झर जानेसे जहाँ जहाँ उसकी भस्म गिरती है, वा उसकी वायु प्रभाव डालती है, वहाँ वहाँ बहुत समय तक बीमारी फैली रहती है, क्योंकि—धूमकेतुमें हानिकारक गैसोंका सम्मिश्रण पाश्चात्य वैज्ञानिक भी मानते हैं।

आर्यसमाजी विद्वान् श्रीप्रियरत्नजी आर्ष भी अपने 'वैदिक-ज्योतिष-शास्त्र' पृ० १७३-१७४ में लिखते हैं—"वेदमें धूमकेतु नामक पुच्छवाले ज्योतिष्पिण्डोंका वर्णन आता है। 'शं नो मृत्युधूमकेतुः' मन्त्रमें धूमकेतुका मृत्यु-मारक विशेषण इसलिए है कि—इसमें विषैले पदार्थ होते हैं। 'सौर-परिवार' (पृष्ठ ६८१) में लिखा है—'उनकी पुच्छोंमें कार्बन एकौषिद् विषैले गैस अवश्य होते हैं। हमारा वायुमण्डल इतना कलुषित हो जावे कि—हम सब मर जावें'। (पृष्ठ १७३) 'स नो महान् अनिमानो (अपरिमित आकारवाला) धूमकेतुः (पुच्छल-तारा) पुरुश्चन्द्रः। धिये वाजाय हिन्वतु' (ऋ० १।२७।११) (पृष्ठ १७६) 'नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः' (अ० १९।९।९) यहाँ उल्काओंसे घिरे हुए जड-नक्षत्रको कहा गया है। ऐसा नक्षत्र धूमकेतु ही हो सकता है, धूमकेतु-उल्काओंको छोड़ते हैं"।

इसी तरह राहु-केतु द्वारा सूर्य-चन्द्रके ग्रहणमें भी दुष्फल हुआ करता है—यह हमारे पौरस्त्य ज्योतिषी जानते थे, अतः उस विषाक्त-समयकी अस्पृश्यता तथा उसके बाद अपनी शुद्धि यदि हमारे उन पूर्वजोंने लिखी है—उसे निर्मूल मानना या उसकी हँसी उड़ाना अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है, अथवा अपनेको लार्ड मैकालेका मानसिक दास सूचित करना है।

जो वे हमारे पौरस्त्य ज्योतिषी दूरस्थ आकाशकी बात बता देते हैं; तो वे यहांकी सूक्ष्म बात बता देनेमें समर्थ क्यों न हों? जिस दिन

विशेष सूचना

हिन्दुधर्म-सनातनधर्मका निरूपक यह भाग बड़ा हो जानेसे यहीं समाप्त किया जाता है शेष सनातनधर्मके विषयोंको अग्रिम पुष्पमें प्रकाशित किया जायगा, पर यह जनताके सहयोग पर निर्भर है। इस प्रकारके एक पुष्पको प्रकाशित करनेमें एक सहस्र रुपयेसे अधिक ही व्यय बैठता है, यदि कोई महोदय न्यून-से न्यून एक हजार रुपये दें, तो अग्रिम भागमें पर्याप्त विषय आ सकता है। और इससे वे महोदय हमारी इस 'श्रीसनातनधर्मालोक'-ग्रन्थमालाके संरक्षक भी माने जावेंगे, उनका चित्र भी छपेगा। उनका प्रत्येक प्रकाशनमें नाम भी प्रकाशित होता रहेगा। इस बार श्रीमान् प० मुरारीलालजी मेहता महोदय (७०, विवेकानन्द रोड कलकत्ता) एक सहस्र रुपया देकर इस ग्रन्थमालाके सर्वप्रथम संरक्षक बने हैं, यह चतुर्थ पुष्प उन्हींके रुपयेसे प्रकाशित हुआ है—इससे हिन्दु जनताका तथा सनातनधर्मियोंका कितना उपकार होगा—यह अनुभवी विद्वान् ही जान सकते हैं। इस प्रकार दस महोदय भी एक-एक सहस्र रुपया अर्पण कर दें, तो हमारा दस सहस्र पृष्ठका 'श्रीसनातनधर्मालोक' नामक महाग्रन्थ इस प्रकार ग्रन्थमालाके रूपमें अधिकांश प्रकाशित हो सकता है। इसमें जो महोदय स्वयं भाग नहीं ले सकते, वे प्रेरक बनकर समर्थ पुरुषोंसे एक सहस्र रुपयेकी सहायता दिलवावें, तो यह ग्रन्थमाला शीघ्र प्रकाशित हो सकती है। जो यह भी नहीं कर सकते, वे एक-एक सौ रुपयेके सहायक तो बहुत बनवा सकते हैं—उससे भी ग्रन्थमालाको शीघ्र निकलनेकी सहायता प्राप्त होगी। यह बात पाठक अवश्य याद रखें कि हमें जो कुछ भी धन इस ग्रन्थमालाकेलिए तथा मालासे मिलता है या

मिलेगा, वह सभी इसी ग्रन्थमालामें व्यय किया जावेगा। हमारे निजी कार्यमें उसका उपयोग नहीं होगा। अतः कोई भी पाठक इस ग्रन्थमालाको अमूल्य न लें। प्रत्युत इसका प्रचार करवा कर प्रचुर-मात्रामें द्रव्य-साहाय्य दिलवावें।

अन्तमें हम सनातनधर्मके दृढव्रती 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्' इस कथनको पूरा चरितार्थ करने वाले, धन्तर्बहिःनिश्छल श्रीमान् पं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठि-महाभाग (भूतपूर्व 'सिद्धान्त' 'सन्मार्ग' के सम्पादक) का यदि यहाँ नाम न लें, तो यह हमारी कृतघ्नताकी परा-काष्ठा होगी। वे हमारे प्रत्येक कार्यमें जो सहयोग दिया करते हैं, उसका वर्णन करनेमें हमारी वाणी वा लेखनीमें क्षमता नहीं। केवल हृदयमें कृतज्ञता-स्वीकार तथा उनको सुखी रखनेकी परमात्मासे प्रार्थना करनेके अतिरिक्त हम अन्य कर ही क्या सकते हैं? यह चतुर्थ पुष्प यहाँ समाप्त किया जाता है—अग्रिम पुष्पके प्रकाशनमें सहायता करनेके लिए पाठकों, अनुग्राहकों एवं हिन्दुधर्म-प्रेमियोंको अनुरोध करके हम पाठकोंके पुनर्दर्शनार्थ अब विदा लेते हैं।

—※०※—

मिलेगा, वह सभी इसी ग्रन्थमालामें व्यय किया जावेगा। हमारे निजी कार्यमें उसका उपयोग नहीं होगा। अतः कोई भी पाठक इस ग्रन्थमालाको अमूल्य न लें। प्रत्युत इसका प्रचार करवा कर प्रचुर-मात्रामें द्रव्य-साहाय्य दिलवावें।

अन्तमें हम सनातनधर्मके दृढव्रती 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं *महात्मनाम्'* इस कथनको पूरा चरितार्थ करने वाले, अन्तर्बहिःनिश्छल *श्रीमान् पं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठि-महाभाग* (भूतपूर्व 'सिद्धान्त' 'सन्मार्ग' के सम्पादक) का यदि यहाँ नाम न लें, तो यह हमारी कृतघ्नताकी परा-काष्ठा होगी। वे हमारे प्रत्येक कार्यमें जो सहयोग दिया करते हैं, उसका वर्णन करनेमें हमारी वाणी वा लेखनीमें क्षमता नहीं। केवल हृदयमें कृतज्ञता-स्वीकार तथा उनको सुखी रखनेकी परमात्मासे प्रार्थना करनेके अतिरिक्त हम अन्य कर ही क्या सकते हैं? यह चतुर्थ पुष्प यहाँ समाप्त किया जाता है—*अग्रिम* पुष्पके प्रकाशनमें सहायता करनेके लिए पाठकों, अनुग्राहकों एवं हिन्दुधर्म-प्रेमियोंको अनुरोध करके हम पाठकोंके पुनर्दर्शनार्थ अब विदा लेते हैं।

—※○※—